मनोविज्ञान

प्रकृत और अप्रकृत

(Normal and Abnormal)

लेखक

मधुकर

सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद

१९५७

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक में मैंने मनोविज्ञान के अध्ययनक्षेत्र—मनुष्य के व्यवहार—के प्रकृत और अप्रकृत दोनो पक्षो का निरूपण करने का प्रयास किया है। ऐसा दो उद्देश्यो से किया गया है। हिंदी में अब तक प्रकृत और अप्रकृत मनोविज्ञान विषयक साहित्य का नितान्त अभाव है। मेरा पहला उद्देश्य एक तरह से उसी अभाव की पूर्ति कर देना है। दूसरा उद्देश्य मेरे इस विश्वास का कार्यरूप है कि प्रकृत मनोविज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए अप्रकृत मनोविज्ञान को भी समझ लेना बहुत आवश्यक है। प्रकृत और अप्रकृत व्यवहार की कसौटी सापेक्षिक होती है और दोनो को अच्छी तरह जान लेने के बाद ही उनमें कोई विभाजन रेखा खीची जा सकती है। अप्रकृत मनोविज्ञान का क्षेत्र आज-तक विवादग्रस्त बना हुआ है। मैंने अप्रकृत मनोविज्ञान का वही रूप प्रस्तुत किया है जो लगभग निश्चित-सा बन चुका है।

एक समय था जब मनोविज्ञान का अध्ययन निश्चित दृष्टिकोणो के आधार पर किया जाता था। आज उन दृष्टिकोणो का केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। मनुष्य का व्यक्तित्व इतना विभिन्न और विचित्र होता है कि उसे किसी एकात दृष्टिकोण से नही समझा जा सकता। व्यक्तित्व के अनेक पक्षो की व्याख्या जिस दृष्टिकोण से अच्छी तरह हो सकती है उसे निस्सकोच स्वीकार करना चाहिए। मेरा लक्ष्य किसी विशेष दृष्टिकोण का समर्थन या प्रतिपादन न करके केवल मनुष्य को समझना रहा है। मनोविज्ञान के आधुनिक स्वरूप में मनुष्य को मनोभौतिक प्राणी मानकर उसके व्यक्तित्व को निर्धारित करने वाले जन्मजात, गत्यात्मक और अर्जित सभी प्रकार के प्रभावो और उनके सापेक्ष सम्बन्धो का अध्ययन किया जाता ह। मैंने मनुष्य पर पडने वाले उपर्युक्त सब प्रभावो का अलग-अलग खण्डो में विवेचन करके इस बात पर विशेष जोर दिया है कि मनुष्य का व्यक्तित्व उन सब प्रभावो से निर्धारित और सगठित होने वाली इकाई होता है और उसकी अभिव्यक्ति व्यवहार के माध्यम से होती है।

अन्य वैज्ञानिक विषयो की तरह हिंदी में उपयुक्त मनोवैज्ञानिक शब्दो की भी बडी कमी है। इस कमी को दो तरह से पूरा किया जा सकता है. एक तो अँग्रेजी शब्दो का भाषान्तर करके, दूसरे सज्ञावाचक शब्दो को ज्यो का त्यो अपनाकर। सज्ञावाचक शब्दो का भाषान्तर तभी करना चाहिए जब उनकी मौलिक अर्थ-योग्यता नष्ट न होती हो। हर शब्द का जबर्दस्ती भाषान्तर

करके हिन्दी प्रेम तो दिखाया जा सकता है लेकिन हिन्दी में विज्ञान को प्रतिष्ठित नही किया जा सकता। मेरी समझ से हिन्दी-प्रेम की तुलना में विज्ञान बड़ा है और हिन्दी में विज्ञान को प्रतिष्ठित कर देना ही हिन्दी की सबसे बड़ी सेवा है।

इस पुस्तक में मैने अँग्रेजी के अनेक सज्ञावाचक शब्दो को ज्यों का त्यो अपनाया है क्योकि भाषान्तर से उनकी मौलिक अर्थ-योग्यता नष्ट हो रही थी। भाषान्तर वही किया गया है जहाँ शब्द की अर्थ-योग्यता सुरक्षित रह सकी है। हिन्दी में illusion शब्द का पर्याय 'भ्रम' है किंतु hallucination और delusion का कोई उपयुक्त पर्याय नही है। मैंने hallucination के लिए मतिभ्रम और delusion के लिए हठभ्रम शब्दो का प्रयोग किया है जिनमें अँग्रेजी शब्दो की अर्थयोग्यता सुरक्षित है। हिंदी के मनोविज्ञान साहित्य में प्रचलित कतिपय शब्द अँग्रेजी शब्दो का ठीक पर्याय नही है। उदाहरण के लिए perception शब्द को ले लीजिए। हिंदी मे इसका पर्यायवाची शब्द 'प्रत्यक्ष' माना जाता है। किंतु perception और प्रत्यक्ष शब्दो के अर्थ मे बहुत भेद है। Perception का अर्थ होता है 'मानसिक प्रक्रिया द्वारा वस्तुओ को नाम, रूप, गुण, भेद से सविशेष बनाकर जानना' जबकि प्रत्यक्ष (प्रति + अक्ष) का अर्थ है 'आँख के सामने पड़ना।' स्पष्ट है कि perception शब्द जिस मानसिक प्रक्रिया की ओर सकेत करता है उसके लिए प्रत्यक्ष शब्द बिल्कुल अनुपयुक्त है। इसलिए मैंने perception का पर्याय 'सज्ञा करना' ज्यादा उपयुक्त समझा है। दोनो शब्दो की अर्थ-योग्यता का अन्तर व्यावहारिक दृष्टि से भले ही नगण्य क्यो न हो किंतु वैज्ञानिक दृष्टि से उसका महत्व निर्विवाद है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष प्रो० रामनाथ कौल और डा० शशधर दत्त के आशीर्वाद और सौहार्दपर्ण पथ-प्रदर्शन को मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। ए० के० कालेज, शिकोहाबाद, के दर्शन-विभाग के अध्यक्ष प्रो० मदनसिंह ने अपने स्नेहमय आग्रह से मुझे सदा प्रोत्साहन दिया है। पुस्तक के दूसरे खण्ड के अध्यायो को लिखने में मैंने इलाहाबाद के मनोहरदास राजकीय नेत्रचिकित्सालय के अध्यक्ष नेत्रविशेषज्ञ डा० दानबहादुर चन्द्र, एम० एस०, पी० एम० एस०, के सत्परामर्श से यथाशक्ति लाभ उठाया है। पारिभाषिक शब्द-निरूपण और अन्य दुरूह स्थलो पर डा० रमेशचन्द्र, एम० ए०, आयुर्वेदालकार, से मुझे अमूल्य सहायता मिली है। इन सब महानुभावो के प्रति अपने आभार को शब्दो द्वारा प्रकट कर सकने में मै अपने को असमर्थ पाता हूँ। मै उन सब लेखको का अत्यन्त ऋणी हूँ जिनकी कृतियो से मैंने

पुस्तक लिखने में सहायता ली है। मैं अपने उन सब विद्यार्थियो का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ जिन्होने समयासमय का कोई विचार न करके मुझे हर तरह से सहयोग दिया है और जिनकी जिज्ञासा मेरी प्रेरणा का मूल रही है।

परिस्थितियो की प्रतिकूलता, अध्ययन की अनेक असुविधाओ और अपनी सीमाओ के कारण मैं पुस्तक को इच्छाभर पूर्ण नही बना सका हूँ। इसके लिए मुझे यही समझकर सन्तोष कर लेना पड़ा है कि जब ईश्वर की कृति मनुष्य ही पूर्ण नही है तो स्वयं मनुष्य की कृति कैसे पूर्ण हो सकती है! फिर भी अपने उत्तरदायित्व के प्रति मैं सजग अवश्य रहा हूँ।

इलाहाबाद
जून, १९५७

—मधुकर

The proper study of mankind is man.

—Pope

विषयक्रम

भूल-सुधार

पृष्ठ २२७ पर असावधानी से अन्तिम दो पंक्तियाँ गलत छप गईं हैं। उनकी जगह निम्नलिखित पंक्तियाँ पढिए :

चूक-चेष्टा द्वारा सीखने की व्याख्या करने के लिए थार्नडाइक
द्वारा प्रतिपादित 'प्रभाव के नियम' पर आक्षेप उठाया
गया है । न्यूरोनीय व्यवस्था पर उन्हीं क्रियाओं की
छाप गहरी पड़ती है जो बार बार की जाती हो ।

पृष्ठ १८८ पर ऊपर से छठी पक्ति में पहले शब्द 'अवरुद्ध' के स्थान पर 'अवरोधी' पढ़िए ।

पहला खण्ड

सामान्य परिचय

१

मनोविज्ञान क्या है ?

मनोविज्ञान शब्द दो शब्दो से मिलकर बना है, मन और विज्ञान। व्युत्पत्ति के अनुसार मनोविज्ञान का अर्थ मन का विशिष्ट या विधिवत् ज्ञान है। मन् शब्द सस्कृति की 'म' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'नापना'। मन ही मनुष्य के सारे ज्ञान और अनुभव को नापता है इसलिए मनोविज्ञान मन की उन क्रियाओ का विधिवत् अध्ययन है जो सारे ज्ञान और अनुभव को नापती है।

यो तो मनोविज्ञान का प्रारम्भ मनुष्य के साथ ही हुआ है किन्तु उसका विधिवत् वैज्ञानिक अध्ययन पाश्चात्य देशो में १९वी शताब्दी से शुरू हुआ था और आज तक हो रहा है। इस अर्थ मे मनोविज्ञान का अतीत तो बहुत बडा रहा है किन्तु उसका इतिहास बहुत छोटा है। मनोविज्ञान को अँग्रेजी भाषा में साइकोलॉजी (Psychology) कहा जाता है। साइकोलॉजी शब्द यूनानी भाषा के दो शब्दो साइकी (Psyche) और लॉगास (Logos) से मिलकर बना है। साइकी शब्द का अर्थ आत्मा और लॉगास शब्द का अर्थ विचार करना है। अतएव साइकोलॉजी में मनुष्य की आत्मा का अध्ययन किया जाता है।

अपने मानवी रूप में साइकी एक राजा की तीन लडकियो में सबसे छोटी और सबसे सुन्दर थी। उसकी सुन्दरता से सौंदर्य की देवी अफ्रोडाइट को ईर्ष्या हुई। देवी ने प्रेम के देवता क्यूपिड को आज्ञा दी कि वह साइकी के अन्दर सबसे घृणित मनुष्य के लिए प्रेम जाग्रत कर दे। किन्तु साइकी की सुन्दरता देखकर क्यूपिड स्वय ही उस पर मोहित हो गया और छिपकर हर रात को उससे प्रेमालाप करने को जाने लगा। साइकी की बहनें भी उसके सौंदर्य से ईर्ष्या करती थी और उन्होने साइकी को यह विश्वास दिलाया कि वह रात में एक कुरूप दानव से प्रेमालाप करती है। इस पर साइकी ने एक दिन रात को दिए के प्रकाश में सोते हुए क्यूपिड को देखा और उसको सुन्दर पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। किन्तु सयोगवश उसके दिए के तेल की एक गर्म बूँद सोते हुए क्यूपिड पर गिर पडी जिससे वह जाग गया और साइकी के अविश्वास करने पर अत्यन्त क्रोधित हुआ और उसे छोड़कर चला गया।

साइकी के सुख के दिनो का अन्त हो गया और वह जगह-जगह अपने प्रेमी की खोज करने लगी। अन्त मे वह अफ्रोडाइट के महल मे पहुँची जहाँ उसे रोक लिया गया और उससे अत्यन्त कठोर काम करवाए जाने लगे। इस बीच क्यूपिड छिपे-छिपे साइकी की सहायता करता रहा, नही तो साइकी अवश्य मर जाती। अन्त मे साइकी अफ्रोडाइट के मन से ईर्ष्या निकाल देने में सफल हुई, उसका अपने प्रेमी से मिलन हो गया और वह अमर बन गई। इस कहानी द्वारा साइकी के रूप मे मनुष्य की आत्मा के अन्दर होने वाले संघर्षों का चित्रण किया गया है।

हाँ, तो मनोविज्ञान मे मनुष्य के मन का अध्ययन किया जाता है। मन को अनेक प्रकार से विभिन्न रूपो में समझने की कोशिश की जाती रही है जिससे मनोविज्ञान के अनेक रूप रहे हैं। मन के रूप को समझने के लिए पहले मनोविज्ञान के विभिन्न रूपो पर विचार कर लेना चाहिए।

मनोविज्ञान के प्राचीन रूप

(१) **अधिकरण (Faculty) मनोविज्ञान**—एक समय था जब मन को संवेदन, संज्ञा, याद करना, सोचना आदि विभिन्न मानसिक क्रियाओ का स्वतत्र अधिकर्त्ता और मानसिक क्रियाओ को मन के अधिकरण का परिणाम समझा जाता था। मन के विभिन्न अधिकरणो को भी एक दूसरे से स्वतत्र माना जाता था। किन्तु विभिन्न मानसिक क्रियाओ को मन के विभिन्न और एक दूसरे से स्वतत्र अधिकरण मानने से उनकी एकता स्पष्ट नही हो पाती और मानसिक क्रियाओ को समझने में कोई सहायता नही मिल पाती।

(२) **साहचर्यवाद (Associationism)**—अधिकरण-मनोविज्ञान का प्रबल विरोध साहचर्यवाद के रूप मे हुआ। ह्यूम, बेन, मिल आदि साहचर्य-वादियो के अनुसार ज्ञान सवेदन से प्राप्त होता है और सवेदन अलग-अलग इकाइयाँ होती है। ज्ञान में जो एकरूपता होती है वह साहचर्य के नियमो द्वारा आती है।

जब हम नारगी देखते हैं तो हमें पीले-लाल रंग, एक निश्चित आकार, गोलाई, मोटाई आदि के विभिन्न सवेदन होते हैं। ये सवेदन अपने आप मे नारगी का ज्ञान नही देते वरन् जब वे साहचर्य के नियमो द्वारा परस्पर सयुक्त हो जाते है तो हमें नारंगी का ज्ञान या अनुभव होता है। इस प्रकार साहचर्यवाद भी मानसिक क्रियाओ की एकता को नही मानता। उनमे जो एकता होती है वह साहचर्य के नियमो द्वारा लाई जाती है। इस प्रकार साहचर्यवाद का प्रमुख उद्देश्य अनुभव का विश्लेषण करना और अनुभव के

पीछे साहचर्य के नियमो को ढूँढना था जिनसे मानसिक क्रियाओ की एकता की व्याख्या की जा सके ।

(३) रचनावाद (Structuralism)—इस मत का प्रवर्त्तक ऊन्ट था । वह शरीर-विज्ञानी था और अनुभव या ज्ञान को प्रकाश, स्वाद, गन्ध आदि के विभिन्न सवेदनो (sensations) से निर्मित मानता था । अतएव उसके लिए अनुभव या ज्ञान की समस्या सवेदनो के परीक्षण की समस्या वन गई जिसके लिए उसने उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जर्मनी के लाइप्जिग नामक शहर मे मनोविज्ञान की सर्वप्रथम प्रयोगशाला खोली थी । अपने सवेदनो का वर्णन व्यक्ति स्वय ही कर सकता है, इसलिए तत्कालीन शरीर-विज्ञानियो ने सवेदनो का वर्णन कर सकने की व्यक्तिगत प्रणाली को अन्तर्निरीक्षण (introspection) नाम दिया और उसे एक सर्वथा मौलिक प्रणाली समझा । व्यवित के विभिन्न व्यक्तिगत सवेदनो के अनुभव के योग को उन्होने चेतनता (consciousness) कहा । अतएव उनके अनुसार मनोविज्ञान का उद्देश्य अन्तर्निरीक्षण द्वारा चेतनता की 'रचना' को जानना और उसको निर्मित करने वाले नियमो का अनुसन्धान करना था ।

(४) कार्यवाद (Functionalism)—मनोविज्ञान का कार्यवादी दृष्टिकोण उन्नीसवी शताब्दी मे डार्विन, लायड मॉर्गन आदि जीव-विज्ञानियो द्वारा प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धान्त पर आधारित है । विकासवाद के अनुसार प्राणी की मानसिक या शारीरिक क्रियाओ के पीछे कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य रहता है । प्राणी अपने सारे कार्य किसी प्रयोजन की पूर्त्ति के लिए ही करता है । विकासवाद से प्रभावित होकर विलियम जेम्स आदि मनोविज्ञानियो ने मानसिक क्रियाओ के अध्ययन मे उनके कार्य-पक्ष की ओर अधिक ध्यान दिया ।

कार्यवादियो के अनुसार मनुष्य की मानसिक क्रियाओ का उदय उसकी आवश्यकताओ को पूरा करने के प्रयोजन से हुआ है । अन्य प्राणियो का परिवेश मनुष्य के परिवेश की भाँति जटिल नही होता इसलिए उनकी मानसिक क्रियाओ में भी जटिलता नही होती । मनुष्य का परिवेश जटिल होता है और उस जटिल परिवेशजन्य आवश्यकताओ को पूरा करने के प्रयोजन से मनुष्य की मानसिक क्रियाएँ भी जटिल और उच्च स्तर की होती है । कार्यवाद के अनुसार मनोविज्ञान को मानसिक क्रियाएँ क्या है ? इसका अध्ययन न कर प्राणी के जीवन में उनके कार्य (function) के महत्व का अध्ययन करना चाहिये ।

(५) मनोविश्लेषण (Psycho-analysis)—मानसिक क्रियाओ के कार्य-पक्ष को मनोविश्लेषण से और भी अधिक बल मिला। मनोविश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की एक प्रमुख शाखा है। उसके द्वारा मन का विश्लेपण करके और उसकी गहराई तक पहुँचकर मानसिक क्रियाओ पर प्रभाव डालने वाली वातो का उद्गम समझने मे अपूर्व सहायता और सफलता मिली है। मनोविश्लेपण का विचार मनोविज्ञान में कैसे आया, इसके पीछे एक बड़ी रोचक कहानी है।

मनोविश्लेषण का उदय मनोविज्ञान की समस्याओ से न होकर औषधि के क्षेत्र से हुआ। इसकी कहानी सम्मोहन-यानी हिप्नोटिज्म (कृत्रिम साधनो से नीद की तरह लाई गई एक अवस्था जिसमे विषय बाहरी सकेतो पर अमल करता है)की कहानी से सम्बन्धित है, जिसकी ओर सन् १७८० मे मेस्मर नामक व्यक्ति ने, जिसके नाम से मेस्मेरिज्म प्रचलित है,विज्ञानियो का ध्यान आर्कषित किया था। मेस्मर को अपनी चिकित्सा के नये तरीको के कारण जो रूढिगत परम्परा से अलग थे, वियना से निकाल दिया गया था। वह सन् १७७८ मे पेरिस गया। वहाँ वह हेल और गासनर के सम्पर्क मे आया। हेल चुम्बकीय स्टील के टुकडो को शरीर पर रखकर और गासनर रोगग्रस्त भाग पर हाथ फेर कर उपचार करता था।

उनके प्रयोगो को देखकर मेस्मर ने यह सिद्धान्त बनाया कि शरीर का सचालन नसे करती है और नसो में एक तरल पदार्थ होता है। उस तरल पदार्थ की प्रकृति चुम्बकीय होती है, इसलिये जब चुम्बकीय स्टील के टुकड़े शरीर पर फेरे जाते है तो वे तरल पदार्थ का प्रवाह ठीक दिशा मे कर देते है जिससे शरीर का विकार दूर हो जाता है।

मेस्मर इस सिद्धान्त को ठोस रूप नही दे पाया था कि फ्रान्स की क्रान्ति छिड गई जिससे उसे स्विट्जरलैण्ड चला जाना पडा और वही उसकी मृत्यु हो गई।

लेकिन विज्ञानियों ने मेस्मर के सिद्धान्त को नही अपनाया। तरल पदार्थ के अनुमान की जगह रोग-निदान का असली कारण रोगी की मनोस्थिति मे कुछ परिवर्तनो को समझा जाने लगा। तत्पश्चात् हिप्नोटिज्म या सम्मोहन चीर-फाड इत्यादि के लिये भी काम मे लाया जाने लगा। सम्मोहन में रोगी को किसी चमकीली वस्तु को वरावर देखते रहने को कहा जाता है। थोडी देर मे उसकी आँखे थक जाती है और उसे नीद-सी मालूम होने लगती है। इसी बीच चिकित्सक उसकी पलको पर हाथ फेरता रहता है और कहता जाता है कि "तुम्हे नीद आ रही है।"

बाद मे सम्मोहन द्वारा रोग-उपचार करने के लिए नान्सी मे डाक्टर बर्नहाइम और पेरिस मे शारको ने चिकित्सालय भी खोले। शारको ने देखा कि सम्मोहित करने के बाद रोगियो को हिस्टीरिया (एक रोग-विशेष जिसमें रोगी कभी हँसता और कभी चिल्लाता है और गले मे घुटन सी अनुभव करता है) के दौरे आने लगते है। बाद मे शारको ने सम्मोहन को हिस्टीरिया के समझने और उसको दूर करने के लिए इस्तेमाल किया।

इन्ही दिनो पियरे जैने नामक पैरिस निवासी मन की अचेतन क्रियाओ का अध्ययन कर रहा था। १८९० से वह न्यूरोसिस (मानसिक दुविधाओ के कारण इच्छा- और क्रिया-शक्ति को जीवन की कठिनाइयाँ दूर करने मे पर्याप्त प्रेरणा न मिलना) के अध्ययन और उसके उपचार के तरीके को खोजने में बडी तत्परता से लगा हुआ था। उसने शारको के तरीके को उन्नत किया और यह पता चलाया कि सम्मोहन की अवस्था मे हिस्टीरिया का रोगी उन बातो को याद कर लेता है जो उसे जाग्रतावस्था मे भूली रहती है। जैने की यह खोज मनोविश्लेपण की वह बुनियाद थी जिस पर आगे चल कर फ्रॉयड ने अपने युगान्तरकारी सिद्धान्तो का निर्माण किया।

जिग्मुन्ट फ्रॉयड का जन्म जेकोस्लोवाकिया मे १८५६ में हुआ था लेकिन वह बचपन से ही वियना मे रहने लगा था। विश्वविद्यालय में उसने चिकित्सा की शिक्षा पाई थी। शारको का नाम सुनकर वह १८८५ में पेरिस गया और वहाँ उसने एक वर्ष शारको के साथ रहकर अध्ययन किया। वह शारको की प्रणाली से बहुत प्रभावित हुआ। एक दिन उसने शारको को यह कहते हुए सुना कि सेक्सीय (sexual) जीवन की ही कोई अडचन न्यूरोसिस का आधार होती है। फ्रायट को शारको के यह शब्द लग गए और आगे चलकर सिद्ध हुए।

वियना लौटने पर फ्रायट ने चिकित्सा को अपनाया। उसने शारको की प्रणाली का ही प्रयोग किया। इसमें उसने एक कठिनाई यह पाई कि बहुत से न्यूरोटिक रोगी सम्मोहित या हिप्नोटाइज़ नही हो पाते थे और कई सम्मोहन द्वारा अच्छे भी नही हो पाते थे। ऐसा भी होता था कि सम्मोहन द्वारा उपचार से पहले तो रोग के चिह्न मिट जाते थे लेकिन कुछ समय बाद दूसरे रोग के चिह्न प्रकट होने लगते थे।

इसी समय फ्रायट की भेंट वियना के जोजेफ ब्रायर नामक व्यक्ति से हुई जो शरीर-विज्ञान के क्षेत्र से हटकर औषधि के क्षेत्र में काम कर रहा था। फ्रायट और ब्रायर ने मिलकर न्यूरोसिस का अध्ययन शुरू किया।

ब्रायर के पास इक्कीस वर्ष की एक लडकी का केस आया। लड़की मेधावी थी किन्तु दो वर्ष की बीमारी से उसे वहुत से शारीरिक और मानसिक विकार हो गए थे। वह अपनी आँखो को कठिनता से घुमा फिरा सकती थी। उसकी ज्ञानेन्द्रियो की शक्ति भी दुर्बल हो चली थी। वह अपना सिर नही सँभाल पाती थी और प्यास लगने पर भी कई हफ्तो तक पानी नही पी सकी थी। वह अपनी भाषा भी भूलती जा रही थी। उसकी हालत शून्य-सी हो गई थी। डाक्टर ब्रायर ने शक्तिभर उसे अपनी सहानुभूति और सहायता पहुँचाने की कोशिग की। लडकी अपनी शून्यावस्था में कुछ बडवडाती-सी रहती थी। ब्रायर ने उसके शब्दो को समझने की कोशिश की और लडकी को सम्मोहित करके वार-बार उन्ही शब्दो को दुहराया जिससे उन शब्दो से सम्वन्धित कुछ वाते पता चल सकें। लडकी का बडबडाना रोग-शय्या के पास बैठी हुई किसी लडकी की कवित्वपूर्ण करुण कल्पनाएँ और आकाक्षाये हुआ करती थी। अपनी इन कल्पनाओ को कह चुकने के वाद वह कुछ स्वस्थ हो जाती थी। लेकिन कुछ देर बाद उसकी शून्यावस्था फिर लौट आती थी और उसका उपचार फिर उसी भाँति किया जाता था।

डाक्टर को अब यह सूझा कि सम्मोहन द्वारा लड़की से मन के उद्गार निकलवा देने पर उसके मन के तनाव को नष्ट कर उसको अच्छा करने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता है। एक बार सडी गर्मी पड रही थी। लडकी को वहुत तेज प्यास लगी हुई थी। कितु पानी देने पर वह गिलास जमीन पर फेक देती थी। प्यास वुझाने के लिए उसको केवल फलो का ही सहारा लेना पडता था। एक दिन वह सम्मोहन की अवस्था मे कुछ बडबडा रही थी। पता चला कि उसकी एक आया थी जिससे वह घृणा करती थी। उस आया का एक कुत्ता भी था जिससे वह और भी घृणा करती थी। एक दिन उसने उस कुत्ते को गिलास से पानी पीते देखा था। सम्मोहन की अवस्था मे इस घटना को कह डालने के वाद उसने पानी माँगा और बहुत-सा पी गई। गिलास से पानी न पी सकने का कारण कुत्ते के प्रति उसकी मानसिक घृणा थी। उस दवी हुई घृणा का दवाव कम हो जाने पर ही वह गिलास से पानी पी सकी। सम्मोहन से जागने पर उसने अपने ओठो पर पानी का गिलास लगा पाया। इसके वाद से उसकी पानी न पी सकने की कठिनाई बिल्कुल दूर हो गई। इससे ब्रायर और फ्रायट को यह अनुभव हुआ कि सम्मोहन की अवस्था मे स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी रागात्मक (affective) कठिनाइयो को केवल कह डालने भर से ही रोगी को वहुत आराम मिलता है। लोकलाज और सामाजिक भय के कारण हम अपने मन के वहुत से उद्गार नही निकाल पाते और वे दवकर मन का अचेतन (Unconscious) भाग वन जाते हैं।

अचेतन मन में हमारी दबी हुई हसरते और सेक्स सम्बन्धी बाते रहती है। जाग्रतावस्था में तो हम उन्हे भूले रहते है लेकिन सम्मोहन की अवस्था मे वे हमें याद हो आती है।

'स्वतन्त्र-कथन' द्वारा रोग की प्रारम्भिक अवस्थाएँ जानने से उसका उद्गम और कारण मालूम होने लगा। लेकिन इस प्रणाली मे चिकित्सक की सहानुभूति के परिणाम-स्वरूप रोगी चिकित्सक की ओर आकर्षित होकर उससे रागात्मक सम्बन्ध जोड लेता था। ब्रायर के व्यक्तिगत जीवन मे ऐसी ही घटना हुई जिससे उसने 'स्वतन्त्र-कथन' की प्रणाली को छोड दिया। लेकिन फ्रायट उसका प्रयोग करता रहा और उसका यह विश्वास कि हिस्टीरिया रोग सेक्सीय कठिनाइयो के कारण ही होता है दिन-प्रतिदिन पक्का होता गया।

बाद मे फ्रायट ने सम्मोहन छोडकर 'स्वतन्त्र-कथन' की प्रणाली को ही अपनाया। लेकिन रोगी को स्वतन्त्र-कथन में बाधा पडती थी। वह या तो आगे सोच नही पाता था या ऐसी बातें सोचता था जो कहने योग्य नही होती थी। अनुभव के बाद फ्रायट ने स्वतन्त्र-कथन की बाधाओ को बडा महत्त्वपूर्ण समझा। सेक्स सम्बन्धी मामलो मे वे बाधाएँ स्पष्ट थी। दुविधाओ के कारण मन मे भयकर अन्तर्द्वन्द होता रहता है जिससे बहुत सी शक्ति व्यर्थ ही नष्ट हो जाती है और उसका प्रभाव शरीर पर पडता है। मनोविश्लेषण फ्रायट का उन्ही मानसिक द्वन्दो को हटाने का प्रयत्न है जिससे मानसिक जीवन स्वस्थ, सतुलित और प्रकृत (normal) रह सके। मानसिक स्वस्थता पर ही शरीर की स्वस्थता निर्भर है।

स्वतन्त्र कथन की प्रणाली मे बहुत समय लगता था। फ्रायट चाहता था कि किसी प्रकार जल्द से जल्द अचेतन मन तक पहुँचा जा सके। यह बात उसने स्वप्नो के विश्लेषण मे पाई। फ्रायट के पहले स्वप्नो का कोई विधिवत् अध्ययन नही हुआ था। स्वप्न या तो दैवी माने जाते थे या किसी आकस्मिक घटना के सूचक। लेकिन फ्रायट ने स्वप्नो को इच्छापूर्ति का प्रतीक (symbol) बताया। लोकलाज और समाज-भय से हमारी जो इच्छाएँ जाग्रति में पूरी नही हो पाती उनकी पूर्त्ति स्वप्न द्वारा होती है। स्वप्न-सम्बन्धी अपनी खोजो को फ्रायट ने जर्मन भाषा में सन् १६०० में पुस्तकाकार प्रकाशित कराकर सभ्यता के दो हजार वर्षों के भार से दबी हुई मानव-जाति के मन का रहस्योद्घाटन किया।

फ्रायड और उसके अनेक अनुयायियो की खोजो से अचेतन मन को जानने के रूप मे मानसिक क्रियाओ के अध्ययन को न केवल एक नयी दिशा ही

मिली वरन् स्वतन्त्र-कथन और स्वप्न-विश्लेषण के रूप मे मन की गत्यात्मक प्रवृत्तियो को समझ सकने की एक मौलिक अध्ययन-प्रणाली भी मिली। यो तो मनोविश्लेषण के सैद्धान्तिक पक्षो मे अनेक सशोधन और सुधार होते रहे है और हो रहे है किन्तु अत्यधिक विवाद-ग्रस्त होने पर भी मनोविश्लेषण के मूल सिद्धान्त निर्विवाद है और उनसे मानसिक क्रियाओ पर जो नया प्रकाश पडा है वह मनोविज्ञान की स्थायी निधि है।

(६) हॉर्मिक (Hormic) मनोविज्ञान—मन के कार्य-पक्ष की हामी भरते हुए हॉर्मिक मनोविज्ञान के जन्मदाता विलियम म्कडूगल ने फ्रायट की भाँति ही मन की गत्यात्मक प्रवृत्तियो का मूल समझने पर जोर डाला। हॉर्मिक शब्द यूनानी भापा के हॉर्मी (Horme) शब्द से बना है जिसका अर्थ है प्रेरक या प्रेरणा देने वाला। अतएव म्कडूगल के अनुसार मनोविज्ञान का उद्देश्य मानसिक क्रियाओ के प्रेरको का अध्ययन होना चाहिए। मनोविश्लेपण के विपरीत म्कडूगल मानसिक क्रियाओ का प्रेरक अचेतन मन को न मानकर कुछ मूल प्रवृत्तियो (Instincts) को मानता है। उसके अनुसार "प्राणियो का निर्माण इस प्रकार से हुआ है कि वे अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए स्वभावत कुछ लक्ष्यो को पाने का प्रयत्न करते है। प्राणी की आवश्यकताएँ और उनको पूरा करने वाले लक्ष्यो को प्राप्त करने की प्रवृत्तियाँ प्राणी मे जन्मजात होती है इसलिए उन्हे मूल प्रवृत्तियाँ (Instincts) कहा जाता है। हॉर्मिक मनोविज्ञान के अनुसार अन्य प्राणियो की भाँति मनुष्य भी अपनी कुछ प्रवृत्तियाँ आनुवशिक रूप से प्राप्त करता है जो उसकी आवश्यकताओ को पूरा करने के लक्ष्य को पाने के लिए किए गए सारे प्रयत्नो का आधार होती है।" दूसरे शब्दो मे मनुष्य अपनी आवश्यकताक्षो को पूरा करने के लिए जो कुछ भी करता है वह उसकी मूल प्रवृत्तियो का स्वाभाविक लक्ष्य होता है और मानसिक क्रियाएँ उस लक्ष्य को पाने मे सहायक होती है।

इस प्रकार म्कडूगल मानसिक क्रियाओ को मूल प्रवृत्तियो का सेवक बना देता है। हॉर्मिक मनोविज्ञान के अनुसार प्राणी की सारी मानसिक क्रियाओ की गत्यात्मक प्रवृत्ति मूलप्रवृत्तियो द्वारा निर्धारित होती है। म्कडूगल की यह मान्यता अतिरजित है। मूल-प्रवृत्तियाँ लक्ष्यो को सदा निर्धारित नही करती और न सारे व्यवहार की मूल प्रेरक होती है। मन कभी-कभी मूल-प्रवृत्तियो का पथ-प्रदर्शन करता है और उन पर नियत्रण रखता है। मनुष्य का व्यवहार केवल मूल-प्रवृत्तियो से ही निर्धारित नही होता, वह उसकी अर्जित कुशलताओ, चिंतन, कल्पना आदि से भी निर्धारित होता है। सामाजिक प्राणी होने से मनुष्य को बहुत-कुछ सीखना पडता है जिससे उसकी

बहुत सी मूल प्रवृत्तियो मे संशोधन हो जाता है और वे उसके सोच विचार के अनुशासन मे काम करती है।

(७) व्यवहारवाद (Behaviourism)—मन के विषय मे विभिन्न धारणाओ से असन्तुष्ट होकर व्यवहारवाद के जन्मदाता वाटसन ने मनोविज्ञान को मन का विज्ञान न मानकर व्यवहार का विज्ञान माना। मन का निरीक्षण नही किया जा सकता और वाटसन के अनुसार जिसका निरीक्षण और परीक्षण न हो सके उसे विज्ञान नही कहा जा सकता। हम मनुष्य के मन को न देखकर उसके व्यवहार को ही देख पाते है और व्यवहार का वैज्ञानिक निरीक्षण और परीक्षण भी किया जा सकता है। व्यवहार-परिवेश के प्रति प्राणी की सारी शारीरिक क्रिया होती है। मनुष्य अपने परिवेश के प्रति व्यवहारो का समूह-मात्र ही होता है। अतएव वाटसन मनोविज्ञान को उत्तेजनाओ-प्रतिक्रियाओ के अध्ययन तक ही सीमित कर व्यवहार को समझने के लिये अनुभव, चेतनता और अन्तर्निरीक्षण द्वारा प्राप्त सामग्री आदि को कोई स्थान नही देता। हॉर्मिक दृष्टिकोण के विपरीत व्यवहारवाद व्यवहार का प्रेरक मूलप्रवृत्तियो को न मानकर परिवेश को मानता है।

मनोविज्ञान मे अनुभव को कोई स्थान न देकर वाटसन ने यह देखने की उपेक्षा की कि व्यवहार अनुभव का ही प्रकाश होता है। व्यवहार प्राणी के अर्थपूर्ण अनुभव को प्रदर्शित करता है। मनुष्यो की अपनी शैलियाँ होती है। वे शैलियाँ परिवेश में अपनी ही विचित्र प्रतिक्रियाओ से निर्धारित होती है। मनुष्य अपने परिवेश का कठपुतला ही नही होता, वह व्यवहार द्वारा परिवेश को रूपान्तरित भी करता है। उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ के अध्ययन-मात्र से ही व्यवहार की समीचीन व्याख्या नही हो सकती।

(८) गेस्टाल्ट (Gestalt) मनोविज्ञान--रचनावादी (Structuralism) दृष्टिकोण के प्रवर्तक ऊन्ट ने अनुभव को विभिन्न सवेदनो के अवयवो (parts) से मिलकर बनने वाली एक अवयवी (whole) माना था और मनोविज्ञान का उद्देश्य अनुभव के अवयवो का विश्लेषण और उनसे मिलकर बनने वाली अवयवी के सयोग के नियमो का अध्ययन बताया था। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का उदय ऊन्ट के मत के विरोध का परिणाम था। गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण ने ऊन्ट के रचनावादी दृष्टिकोण को 'ईंट और गारे' का मनोविज्ञान कहा जो 'ईंटो' (अनुभव के अवयवो) पर अधिक जोर देता है। गेस्टाल्टवाद प्रत्येक अनुभव को एक गेस्टाल्ट मानता है जिसका रूप उसके अवयवो के विश्लेषण से नही समझा जा सकता। गेस्टाल्ट जर्मन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है समष्टि या अवयवी (whole)। गेस्टाल्टवाद के

अनुसार गति, आकृति और अन्य विशेषताओ के अनुभव की व्याख्या उत्तेजना-प्रतिक्रिया या साहचर्य (association) के नियमो से नही की जा सकती। उनका अनुभव एक समष्टि या अवयवी होता है। नारगी का अनुभव एक गेस्टाल्ट है जिसे रग, आकृति, गोलाई, मोटाई आदि अवयवो के विश्लेषण से नही जाना जा सकता। अवयवी (whole) अपने अवयवो (parts) के योग से विशिष्ट होती है। नारगी का अनुभव उसके अवयवो, रग, आकृति आदि, के योग से विशिष्ट होता है और उसका विश्लेषण उसके रूप की विशिष्टता को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार सारा अनुभव एक गेस्टाल्ट होता है और उसे समझने के लिए उसका अध्ययन उसके गेस्टाल्ट रूप मे ही किया जाना चाहिए।

गेस्टाल्टवादी दृष्टिकोण के प्रमुख समर्थक वेयरटाइमर, कीलर, किफ्का और कुर्ट लेविन है। उनके अनुसार मनुष्य का अनुभव व्यवहार में सयुक्त हो जाने वाले अवयवो (सवेदनो) द्वारा निर्मित नही होता। मनुष्य की मानसिक रचना में एक जन्मजात पूर्वव्यवस्था अन्तर्निहित होती है जिसके अनुसार ही वह परिवेश से अपने व्यवहार को व्यवस्थित करता है। मानवी व्यवहार को गेस्टाल्टवादी 'रिक्ति-पूर्त्ति' (filling the gap) के नियम से समझाते हैं। उनके अनुसार रिक्ति-पूर्त्ति करना मन की रचना का स्वाभाविक परिणाम है। रिक्त अनियमित आकृति देखने पर मन में असतुलित तनाव (unbalanced tension) उत्पन्न हो जाता है और रिक्ति-पूर्त्ति के बाद मन का सतुलन फिर स्थापित हो जाता है। अनुभव स्वभावत ही मन के सन्तुलन की दिशा में होता है। एक उदाहरण लीजिए। आप अपनी जेब मे एक पत्र पोस्टबाक्स में छोड देने के उद्देश्य से रखते है। पत्र को जेब मे रखते समय आपके व्यवहार में एक रिक्ति (gap) उत्पन्न हो जाती है जिससे आपके गत्यात्मक प्रबन्ध (Dynamic system) में असतुलन आ जाता है। उस गत्यात्मक असतुलन से बाध्य होकर जब आप पत्र पोस्टबाक्स में छोड़ देते हैं तो सतुलन फिर स्थापित हो जाता है। इस प्रकार हमारा सारा अनुभव और व्यवहार गत्यात्मक प्रबन्ध में उत्पन्न होने वाले तनावो का शमन होता है।

अनुभव और व्यवहार का अध्ययन गेस्टाल्ट दृष्टिकोण से करके गेस्टाल्टवाद ने मनोविज्ञान को एक नयी दिशा तो दी किंतु उसने गेस्टाल्टो के स्वरूप की व्याख्या करने का कोई प्रयत्न नही किया और मनुष्य की गत्यात्मक प्रवृत्ति और लक्ष्य-प्राप्ति के प्रयत्न का उसके अनुभव के गेस्टाल्टो पर क्या प्रभाव पडता है इसको भी स्पष्ट नही किया। नारगी को बच्चा पहली नजर मे गेंद और स्त्री लाल ऊन का गोला क्यो समझ बैठती है? अवश्य ही

अपनी गत्यात्मक प्रवृत्ति के कारण। दूसरे, विश्लेपण का एकदम वहिष्कार कर देना भी ठीक नही है। वैज्ञानिक अध्ययन मे विश्लेषण का महत्व होता है और विश्लेपण न करने पर तथ्यो की व्याख्या अनर्गल वन सकती है।

मनोविज्ञान का आधुनिक रूप

मनोविज्ञान के उपर्युक्त प्राचीन रूपो मे मनुष्य के मन की क्रियाओ का अध्ययन अनुदारतापूर्ण एकागी दृष्टिकोण से किया गया मिलता है। आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओ की जटिलता को स्वीकार करते हुए उनके अध्ययन के लिए किसी एकागी दृष्टिकोण को नही अपनाता। वह मनुष्य के मन को समझने और उसकी क्रियाओ की व्याख्या करने के लिए उन सव मान्यताओ को स्वीकार करता है जिनसे मानसिक क्रियाओ की समीचीन व्याख्या हो सके। इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान किसी निश्चित दृष्टिकोण का समर्थन न कर सर्वांगी दृष्टिकोण अपनाता है। चूँकि मनुष्य की मानसिक क्रियाओ का प्रदर्शन उसके व्यवहार मे होता है इसलिए आधुनिक मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओ का अध्ययन व्यवहार के प्रसग में करता है। किन्तु व्यवहारवाद (Behaviourism) के विपरीत आधुनिक मनोविज्ञान व्यवहार की जटिलता की व्याख्या करने के लिए उत्तेजना-प्रतिक्रिया के अतिरिक्त मनुष्य के अनुभव के अध्ययन को भी उचित स्थान देता है और यही उसका व्यवहारवाद से प्रमुख भेद है।

ससार के प्रत्येक प्राणी को व्यवहार करना पडता है। प्राणी के सामने कुछ ऐसी आवश्यकताएँ और समस्याएँ होती है जिनको पूरा करने और सुलझाने के लिए वह अपने व्यवहार द्वारा निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। अन्य प्राणियो की भाँति मनुष्य का भी सारा व्यवहार आवश्यकताओ को पूरा करने और अपनी समस्याओ को सुलझाने का एक अविकल प्रयत्न है। मनुष्य की सभ्यता का इतिहास विभिन्न उत्तेजनाओ के प्रति की गई प्रतिक्रियाओ की ही एक लम्बी कहानी है।

व्यवहार के अध्ययन के विभिन्न प्रसंग

व्यवहार का अध्ययन अनेक प्रसगो में किया जा सकता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है और सामाजिक प्राणी होने के नाते वह समाज के अन्य व्यक्तियो से सम्पर्क रखता है और सामाजिक आवश्यकताओ के अनुरूप व्यवहार करता है। सामाजिक व्यवहार मे मनुष्य की अपनी आवश्यकताएँ और समस्याएँ उतनी प्रमुख नही रहती जितनी कि उसकी सामाजिक आवश्यकताएँ और समस्याएँ। मनुष्य समाज के प्रसग में किस तरह व्यवहार करता है ? सामाजिक व्यवहार की उत्पत्ति और उसका विकास कैसे होता है ?

किसी समाज की मानसिक विशेषताएँ क्या होती है ? समाज का प्रभाव लोगो पर कैसे और किस रूप मे पड़ता है ? इन बातो का अध्ययन समाजशास्त्र (Sociology) मे किया जाता है। समाजशास्त्र विभिन्न देशो, जातियो और लोगो की परम्पराओ, प्रथाओ, जीवन-शैलियो और रुचियो का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र इस बात का ज्ञान कराता है कि समाज के साँचे मे ढलकर मनुष्य जो कुछ है वह कैसे और क्यो बन जाता है।

व्यवहार शरीर के माध्यम द्वारा ही होता है इसलिए व्यवहार का अध्ययन शारीरिक प्रसग मे भी किया जा सकता है। शरीर और उसके विभिन्न अगो का निर्माण और विकास कैसे होता है ? विभिन्न शारीरिक अगो के काम क्या है और वे उन कामो को कैसे करते है ? अगों को काम करने के लिए शक्ति कहाँ से और कैसे मिलती है ? व्यवहार करते समय प्राणी की शारीरिक स्थिति क्या होती है ? शारीरिक स्थिति का व्यवहार पर कैसा प्रभाव पडता है और व्यवहार और शारीरिक स्थिति में क्या सम्बन्ध है ? इन बातो का अध्ययन शरीर-विज्ञान (Physiology) मे किया जाता है।

व्यवहार का अध्ययन व्यवहार मे सन्निहित आदर्शों के प्रसग मे भी किया जा सकता है। मनुप्य प्रकृति का एक अविभाज्य अग और प्राकृतिक उद्देश्यो का अन्धानुसरण करने वाला प्राणी ही नही है। उसे प्रकृति का अग होने और प्राकृतिक नियमो द्वारा शासित होने की चेतनता और अपने और अपनी परिस्थितियो के बीच के सम्बन्ध का ज्ञान भी होता है। इस ज्ञान के आधार पर वह अपने कर्मो पर निर्णय देता है, उनको शोभन और अशोभन, उचित और अनुचित ठहराता है। मानवी व्यवहार की परख और मूल्याकन किसी आदर्श या मापदड की तुलना मे किया जा सकता है। शोभन और अशोभन क्या है ? उचित और अनुचित क्या हैं ? मानवी व्यवहार में व्याप्त आदर्श क्या है ? उनका उच्चतम रूप क्या है ? इन वातो का विवेचन नीतिशास्त्र (Ethics) में किया जाता है। नीतिशास्त्र में व्यवहार के स्वाभाविक रूप का अध्ययन नही किया जाता बल्कि व्यवहार को होना कैसा चाहिए यह देखा जाता है। नीतिशास्त्र मानवी व्यवहार को किसी आदर्श के अनुसरण के रूप में देखता है और व्यवहार का मान निरूपित करता है। नीतिशास्त्र मनुष्य और प्रकृति के अगागिभाव सम्वन्ध को देखने से ही सन्तुष्ट नही होता, वह मनुष्य को इस सम्बन्ध के जानने वाले के रूप में भी देखता है। नीतिशास्त्र व्यवहार का नैतिक मूल्याकन करता है।

प्राणी को उसके व्यवहार द्वारा ही समझा जा सकता है। व्यवहार का सबसे साधारण रूप दो व्यक्तियो के आपसी सम्बन्ध में मिलता है। सुखमय दाम्पत्य या पारिवारिक जीवन दो व्यक्तियो के सतुलित सम्बन्ध पर ही निर्भर होता है। सतुलित सम्बन्ध के अभाव मे पति-पत्नी मे, पिता-पुत्र में तरह-तरह के पारिवारिक झगडे होते रहते हैं। घर मे या घर के बाहर मनुष्य की सफलता और सुख बहुत बडी सीमा तक उसकी अन्य व्यक्तियो से सतुलित व्यवहार कर सकने की क्षमता की अपेक्षा रखते है।

व्यक्तिगत जीवन के अतिरिक्त मनुष्य को सामूहिक जीवन भी बिताना पडता हैं। घर से निकल कर सडक पर आते ही मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन समाप्त होकर उसका सामूहिक जीवन प्रारम्भ हो जाता हैं। अपनी बिरादरी में, अपने विद्यालय मे, अपने राजनीतिक सम्प्रदाय मे मनुष्य का जीवन सामूहिक होता है। सामूहिक जीवन में सफल होने और सतुलित सम्बन्ध बनाए रखने के लिए मनुष्य को अपने समूह का साथ और सहयोग देना चाहिए। बन्दीघर ऐसे व्यक्तियो के उदाहरण है जो अपने समूह से सफल सम्बन्ध स्थापित नही रख पाते।

हर समूह का अन्य समहो से भी सम्बन्ध होता है और समूह-समूह में भी संतुलन की समस्याएँ रहती है। जब दो समूहो का सतुलन और सम्बन्ध सफल नही रह पाता तो युद्ध के बादल मँडराने लगते है। यही नही, बहुत से राष्ट्रीय झगडे तो विभिन्न राजनीतिक सम्प्रदायो की आपसी अशाति के कारण होते रहते हैं। मजदूर और पूँजीवादी वर्ग का सघर्ष, साम्यवादियो असाम्यवादियो और रूढिवादियो के राजनीतिक कलह, हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की अन्यमनस्कता दो समूहो के असतुलित सबधो का ही परिणाम है। मनोविज्ञानियो का विश्वास है कि समूहों के असतुलित सम्बन्धो का हल उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार व्यक्ति के असतुलित सम्बन्धो का किया जाता है।

मनुष्य की सुख-समृद्धि मनुष्य-मनुष्य और मनुष्य-समूह के सफल सम्बन्ध के अतिरिक्त भौतिक जगत के नियन्त्रण पर भी आधारित होती है। भौतिक जगत में होने वाले परिवर्तनो से मनुष्य के मानसिक दृष्टिकोण का भी परिवर्तन होता है और उसकी समस्याओ का रूप बदल जाता हैं। हमारी आज की समस्याएँ वैदिक काल के लोगो की समस्याओ से अलग है क्योकि हम स्वय वैज्ञानिक युग के प्राणी होने के कारण उन लोगो के मानसिक दृष्टिकोण से बहुत दूर हट चुके है। बीसवी शताब्दी में व्यक्ति की सफलता और सुख इसी बात में है कि वह प्राचीनता का ढोल बजाना बन्द कर वैज्ञानिक युग के भौतिक

परिवेश के प्रत्येक परिवर्तन से अपना समुचित सतुलन कर अपने मानसिक दृष्किोण को बदल डाले ।

मनोविज्ञान के अध्ययन का विषय

मनोविज्ञान इन विभिन्न मानवी सम्बन्धो पर निर्भर मानवी व्यवहार-विभिन्नता के हर पक्ष के पीछे मनुष्य की क्षमताओ, योग्यताओ, उद्देश्यो, भावो और क्रियाओ का अध्ययन करता है और मनुष्य की व्यवहार विभिन्नता को समझने, उसकी व्याख्या करने और उसे वाछनीय दिशा की ओर अग्रसर कर नियत्रित कर सकने की कोशिश करता है। मनोविज्ञान मे मनुष्य को प्रधानतया एक प्रतिक्रियात्मक प्राणी मानकर विभिन्न उत्तेजनाओ के प्रति की गई उसकी प्रतिक्रियाओ का अध्ययन किया जाता है ।

हर प्राणी का व्यवहार उत्तेजना और प्रतिक्रिया से निर्मित होता है । अतएव प्राणी के व्यवहार को समझने के लिए उसकी उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ को उसके परिवेश के प्रसग में जानना पडता है । प्राणी का संतुलन वाह्य शक्तियो द्वारा प्रतिक्षण नष्ट होता रहता है और वह अपनी प्रतिक्रियाओ द्वारा निरन्तर नया सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता रहता है । सतुलन स्थापित करने के प्रत्यन मे प्राणी के सभी अग क्रिया करते है और उनकी क्रिया असम्वद्ध न होकर एक सगठित इकाई होती है । विभिन्न अगो की क्रयाओ का सगठन मनस् (Mind) द्वारा होता है, इसलिए विभिन्न अगो की क्रियाओ के सगठन को मानसिक क्रिया कहा जा सकता है । मनोविज्ञान प्राणी की मानसिक क्रियाओ का अध्ययन करता है ।

मनस् का जितना अच्छा विकास मनुष्य में हुआ है उतना ससार के अन्य प्राणियी में नही हुआ है इसलिए मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र मनुष्य ही है । मनोविज्ञान मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन मनुष्य के सामाजिक, नैतिक या शारीरिक प्रसग मे न कर उसके व्यक्तिगत प्रसग में करता है । मनुष्य समाजशास्त्र और नीतिशास्त्र के क्षेत्रो से वाहर भी अनेक तरह के व्यवहार करता है और मनोविज्ञान में मनुष्य के उन व्यवहारों के महत्व को स्वीकार कर उनका अध्ययन किया जाता है।

मनुष्य के व्यवहार मे वडी जटिलता होती है जिससे उसे समझने में कठिनाई पडती है । व्यवहार का अपेक्षाकृत सरल रूप जानवरो में मिलता है और पहले यदि व्यवहार के सरल रूप को समझ लिया जाय तो व्यवहार के जटिल और अधिक विकसित रूप को अच्छी तरह समझने मे सुविधा और आसानी हो सकती है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान मे जानवरो के व्यवहार का भी अध्ययन किया जाता है किन्तु केवल एक साधन की भाँति, साध्य की भाँति नही । मनोविज्ञान का साध्य तो केवल मनुष्य के व्यवहार को समझना

है और उसको समझने के लिए जिन-जिन विज्ञानो से सहायता मिल सकती है मनोविज्ञान उन सब विज्ञानो की खोजो से लाभ उठता है।

मनस् क्या है?—मनस् उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ को विभिन्न प्रकार से संगठित करता है जिससे मानवी व्यवहार मे अनेकरूपता और जटिलता आ जाती है। जिन मानसिक क्रियाओ को सज्ञा, सवेदन, अवधान, कल्पना, स्मृति चिन्तन आदि नाम दिए जाते है वे मनस् द्वारा उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ का एक विशेष तरह से होने वाले सगठन-मात्र ही होते हैं। मनस् अपने आप में कोई विशिष्ट वस्तु न होकर प्राणी और परिवेश के बीच होने वाली क्रियाओ की सज्ञा है। मनोविज्ञान का विषय प्राणी और परिवेश के बीच होने वाली क्रियाओ के विविध प्रकार के सगठन के आधार, रूप, नियमो और उस सगठन के भेद के कारणो की खोज करना और उनको समझना है। मनोविज्ञान में प्रयुक्त होने वाले शब्द जैसे कल्पना, स्मृति, बुद्धि, चेतनता, मनस् आदि यद्यपि सज्ञाओ की भाँति व्यवहृत किए जाते है किन्तु वे वास्तव में सज्ञासूचक न होकर क्रियासूचक होते हैं।

प्रकृत और अप्रकृत व्यवहार—मानवी व्यवहार के दो पक्ष होते है। व्यवहार द्वारा मनुष्य परिवेश से अपना संतुलन कर भी सकता है और नही भी कर सकता है। सतुलन स्थापित करने की दिशा में किए गए सफल व्यवहार को प्रकृत (normal) और असफल व्यवहार को अप्रकृत (abnormal) कहा जाता है। व्यवहार के प्रकृत होने का अर्थ यह है कि कोई व्यक्ति अपनी सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओ के प्रति प्रत्याशित रूप से सतुलन स्थापित करता है और उसके संतुलन करने की चेष्टाएँ सामाजिकता के अनुकूल होती हें। एक साल के बच्चे का काला छाता देखकर डर जाना प्रकृत व्यवहार कहा जायगा लेकिन बीस साल के आदमी का अप्रकृत। धुएँ को देखकर कोई नही डरता या धुएँ के प्रति उसके व्यवहार मे कोई परिमाणात्मक परिवर्तन नही होता। किन्तु जो व्यक्ति धुएँ को देखकर डर जाता हो उस व्यक्ति के व्यवहार की अन्य व्यक्तियो के व्यवहार से कोई परिमाणात्मक तुलना नही की जा सकती और उसके व्यवहार को अप्रकृत कहा जाता है। अप्रकृत व्यवहार अप्रकृत रूप से होने वाले मानसिक संगठन का सूचक होता है। अप्रकृत व्यवहार में प्रकट होने वाले अप्रकृत मानसिक सगठन के अनेक कारण होते है जिन पर यथास्थान प्रकाश डाला जाता रहेगा।

मानसिक क्रियायें—मनोविज्ञान में स्नायु प्रबन्ध (Nervous System) का बहुत महत्त्व है। सारी मानसिक क्रियाएँ स्नायु प्रबन्ध द्वारा ही होती हैं।

सर्वसाधारण शारीरिक और मानसिक क्रियाओ मे भेद करते है और सामान्यत उन्हे एक दूसरे पर निर्भर नही मानते। उनके लिए शारीरिक क्रियाएँ वे है जिन्हे देखा जा सकता है और जिनमे शरीर का कोई-न-कोई अग अवश्य भाग लेता है, जैसे चलना, दौड़ना आदि। मानसिक क्रियाएँ उनके लिए वे क्रियाएँ होती है जिनमे शरीर का कोई अग भाग नही लेता। इस अर्थ मे मानसिक क्रियाओ का कोई भौतिक आधार नही होता और वे अगोचर होती है।

मानसिक क्रियाओ के इस प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार देखना, याद रखना, कल्पना या चितन आदि क्रियाओ को ही मानसिक कहा जायगा क्योकि वे अगोचर होती है और उनका भौतिक आधार नही होता। मनोविज्ञान में मानसिक क्रियाओ के इस प्रचलित सकुचित अर्थ को स्वीकार नही किया जाता। मनोविज्ञानी मानसिक क्रियाओ मे उन क्रियाओ को भी शामिल करते है जिन्हें बाहर से देखा जा सकता है और जिनको करने मे शरीर के किसी-न-किसी अग का भाग रहता है। इस प्रकार मनोविज्ञानी बातचीत करने, लिखने, हँसने आदि को भी मानसिक क्रियाएँ ही समझते है।

शारीरिक और मानसिक क्रियाओ के उपर्युक्त प्रचलित द्वैत को न मानने से मनोविज्ञान मे मनुष्य को एक मनोभौतिक (Psycho-physical) प्राणी के रूप मे देखा जाता है। मानसिक और शारीरिक क्रियाओ मे अन्तर्सम्बन्ध होता है, अतएव मानसिक क्रियाओं के अध्ययन मे शारीरिक क्रियाओ की उपेक्षा नही की जा सकती। मनुष्य देखने, सुनने, सोचने, याद रखने, कल्पना करने, हँसने, दौडने आदि मानसिक क्रियाओ द्वारा परिवेश से सम्पर्क स्थापित करता है। परिवेश से सम्पर्क स्थापित कर व्यक्ति या तो परिवेश से प्रभावित होता है या परिवेश को प्रभावित करता है। मानसिक क्रियाएँ स्नायु-प्रवन्ध (Nervous System) द्वारा की जाने वाली क्रियाएँ ही होती है। मनुष्य परिवेश से अपने ग्राहको द्वारा प्रभावित होता है और परिवेश को अपने प्रभावको द्वारा प्रभावित करता है। ग्राहको और प्रभावकों की क्रिया से स्वतन्त्र किसी मानसिक क्रिया को नही जाना जा सकता।

मानसिक क्रियाएँ ग्राहको के उत्तेजित होने पर शुरू होती है और प्रभावको द्वारा प्रतिक्रिया हो चुकने के वाद समाप्त होती है। हम किसी चीज को रख कर भूल जाते है। एकाएक उसकी याद आते ही हमारी मानसिक क्रियाएँ शुरु हो जाती है। हम उस चीज को इधर-उधर ढूँढते है, घरवालो से पूछते है कि उन्होने तो नही देखी, सोचते है कि हमने उसे कहाँ रक्खा होगा। किन्तु जव वह चीज मिल जाती है तो उस चीज से सम्वन्धित हमारी मानसिक क्रियाएँ रुक जाती है। मानसिक क्रियाओ मे स्नायु-प्रवन्ध के स्थान की महत्ता

का विस्तृत अध्ययन 'परिधीय और केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध' के प्रसग में किया जायगा।

मानवी व्यवहार मनुष्य के जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक पक्षो से निर्धारित होता है। सामान्य परिचय के बाद अलग-अलग खण्डो मे व्यवहार के निर्धारक तीनो पक्षो का विवेचन किया जायगा। उसके बाद अप्रकृत व्यवहार के कारणो, उनसे मानसिक सगठन मे उत्पन्न होने वाली विचित्रता के रूपो और लक्षणो पर विचार किया जायगा।

२

अध्ययन प्रणालियाँ तथा क्षेत्र

हमने मनोविज्ञान को विज्ञान कहा है। मनोविज्ञान को वैज्ञानिक रूप मिले सौ वर्ष से अधिक नही हुए है। शरीर-विज्ञान और जीव-विज्ञान (Biology) की खोजो से प्रभावित होकर ही आधुनिक मनोविज्ञान वैज्ञानिक स्तर पर प्रतिष्ठित हो सका है। किंतु अपने अवैज्ञानिक रूप में मनोविज्ञान प्राचीन विचारको की रुचि और अध्ययन का विषय अवश्य रहा है।

प्राचीन काल में मनोविज्ञान का अध्ययन दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता था। दर्शनशास्त्र के मुख्य प्रश्न यह थे : मन अपने-आप में क्या होता है ? जगत मनुष्य की कल्पना का परिणाम है या उसकी कल्पना से अलग है ? जगत का ज्ञान कैसे होता है ? जगत की वस्तुओ और अन्य लोगो का अनुभव हमें कैसे होता है ? इन प्रश्नो का उत्तर यह कहकर दिया जाता था कि मनुष्य के शरीर के अन्दर कोई शक्ति होती है जो देख, सुन और याद रख सकती है। यह शक्ति शरीर के ग्राहको (receptors) द्वारा अनुभव करती है और आवश्यकता पडने पर प्रभावको (effectors) द्वारा क्रिया करती है। निश्चय ही ऐसे उत्तरो से मनुष्य अपने अनुभव और व्यवहार को समझ सकने में कोई विशेष प्रगति नही कर सका था।

विज्ञानो को तीन कोटियो मे रक्खा जा सकता है . भौतिक (Physical), जैविक (Biological) और मानसिक (Mental)। भौतिक विज्ञान वस्तु जगत के पदार्थों के स्वभाव और प्राकृतिक शक्तियो के सिद्धान्तो का अध्ययन करते हैं। भौतिकी (Physics), रसायन, खगोल आदि भौतिक विज्ञान हैं। जैविक विज्ञान जीवो या प्राणियो का अध्ययन करते हैं। वनस्पतिशास्त्र (Botany), जीव विज्ञान (Biology) और शरीर विज्ञान जैविक विज्ञान हैं। मानसिक विज्ञान मानसिक क्रियाओ का अध्ययन करते हैं। मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र (Ethics) और सौन्दर्यशास्त्र (Aesthetics) मानसिक विज्ञान है। किन्तु मनोविज्ञान और अन्य मानसिक विज्ञानों में भेद है। तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र नियामक (regulative) मानसिक विज्ञान हैं। वे तर्क करने, उचितानुचित में भेद करने और सौंदर्य

की अनुभूति करने के आदर्शों को निर्धारित करते हैं। किन्तु मनोविज्ञान में व्यवहार का अध्ययन व्यवहार के आदर्श निर्धारण की दृष्टि से न किया जाकर विधायक (positive) दृष्टि से किया जाता है। मनोविज्ञान में आदर्श व्यवहार का निरूपण नही किया जाता बल्कि वास्तविक व्यवहार में अपेक्षित मानसिक सगठन और उसकी क्रियाओ का अध्ययन किया जाता है।

विज्ञान और प्रणाली—विज्ञान में किसी विषय का विधिवत् विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए किसी अध्ययन प्रणाली का सहारा लिया जाता है जिससे विभिन्न वस्तुओ और घटनाओ के आपसी सम्बन्ध को समझा जा सके और उसके आधार पर कुछ सामान्य नियम बनाए जा सके। अध्ययन के विषय को नियमित और सार्थक बनाने के लिए नियमो की खोज आवश्यक होती है। नियमो की खोज करने के लिए अध्ययन-क्षेत्र की प्रासगिक बातो को पहले समानता और भेद के अनुसार अलग-अलग वर्गों में रक्खा जाता है। इसे वर्गीकरण करना कहते है। वर्गीकरण कर लेने के बाद किसी वर्ग के सदस्यो में जो सर्वव्यापक गुण होते है उनका सामान्यीकरण (generalisation) किया जाता है। सामान्यीकरण का अच्छी तरह से निर्धारण कर लेने के बाद नियम बना लिए जाते है। किन्तु विज्ञानी का काम केवल अपने पक्ष के मण्डन के लिए पर्याप्त प्रमाणो की खोज कर लेने तक ही सीमित नही होता। पक्ष का मण्डन कर लेने के बाद पक्ष का खण्डन करने वाली बातो की खोज में लगे रहना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। विज्ञान का लक्ष्य कार्य-कारण-सम्बन्ध जानना होता है और यदि वाद का प्रतिवाद न हो सके तो विज्ञानी अपना लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

वैज्ञानिक अध्ययन का उद्देश्य विभिन्न चीजो के आपसी सम्बन्ध को समझना होता है। प्रत्येक वस्तु का धर्म अलग-अलग होता है और हर वस्तु का व्यवहार उसके अपने धर्म पर निर्भर होता है। वस्तुओ का धर्म किसी विशेष स्थिति में कुछ अपेक्षनीय साधनो के रहने पर ही प्रकट होता है। दूध का धर्म दही बनना है, किन्तु दूध यदि कच्चा या फटा हुआ हो तो वह दही नही बनेगा। अपेक्षनीय साधन (खटाई) के बिना भी दूध अपने स्वाभाविक धर्म (दही बन जाने) को प्रकट नही कर सकता। मनुष्य का व्यवहार भी अपेक्षनीय साधनो द्वारा अनुकूल स्थिति मे ही अपने स्वाभाविक रूप में प्रकट होता है।

अन्य विज्ञानो में नियमो का अर्थ व्यवहार का नियमित होना लिया जाता है। यदि नियमो का यह अर्थ लगाया जाय तो मनोविज्ञान में कोई भी

नियम नही बन सकता। व्यक्तिगत विशेषताओ के कारण हर मनुष्य के व्यवहार मे कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है कि उनके विषय मे कोई सामान्य नियम नही बनाया जा सकता। परन्तु फिर भी मानवी व्यवहार में जो भी प्रत्याशित समानता पाई जाती है उसके आधार पर कुछ नियम अवश्य बनाए जा सकते है। मनुष्य का व्यवहार आत्मनिर्धारित और विशिष्ट होते हुए भी अन्य मनुष्यो के व्यवहार से इतना विलक्षण नही होता कि उसके विषय मे सामान्यीकरण बिलकुल ही न किया जा सके।

(१) **किंवदन्ति (Anecdotal) प्रणाली**—वैज्ञानिक रूप मिलने तक मनोविज्ञान में किवदन्ति प्रणाली का ही अधिक उपयोग किया जाता रहा था और किसी बात को साबित करने के लिए उससे सम्बन्धित कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर दिए जाते थे। उन उदाहरणो को सिद्ध की जाने वाली बात का यथेष्ट प्रमाण मान लिया जाता था और उनकी वैज्ञानिक ढंग से कोई परीक्षा नही की जाती थी। आज भी भूत-प्रेतो की चर्चा चलने पर जब कोई व्यक्ति उनकी सत्ता सिद्ध करने के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभवो का उदाहरण देता है तो उन्हे बिना आलोचनात्मक परीक्षा किए हुए मान लिया जाता है और सच भी समझ लिया जाता है। मनोविज्ञान मे जब तक ऐसे दृष्टिकोण की प्रधानता रही थी तब तक कोई विशेष उन्नति नही हो सकी थी और फलत. उसे वैज्ञानिक रूप भी नही मिल सका था। लोगो की किवदन्तियो पर यो ही विश्वास कर लिया जाता था। यह परीक्षा नही की जाती थी कि उनके किसी अनुभव में उनके अंधविश्वासो और घटनाओं को गलत तरीके से देखने का कितना हाथ रहता है।

किवदन्ति प्रणाली मे अनेक कमियाँ है जिनके कारण इस प्रणाली द्वारा उपलब्ध होने वाली सामग्री को वैज्ञानिक रूप देने मे बडी कठिनाई पड़ती है। पहली कमी यह है कि किवदन्ति कहने वाले व्यक्ति की स्मृति पर पक्का विश्वास नही किया जा सकता क्योकि स्मृति व्यक्ति को अनेक तरह से धोखा देती रहती है जिससे घटना का ठीक तरह से क्रमबद्ध वर्णन कर सकना बहुत ही कठिन होता है। दूसरे किवदन्तियाँ किसी घटना की परीक्षा या व्याख्या करने के लिए नही बनाई जाती। वे कौतूहल-प्रधान ही होती है, जिज्ञासा प्रधान नही। किवदन्ति कहने वाला व्यक्ति अपने और दूसरो के कौतूहल को शान्त करने के लिए अतिरजित वर्णन करता है और इस प्रकार घटना की प्रधान बातो को महत्व नही दे पाता। तीसरे बहुत से लोगो की अपनी कोई-न-कोई पूर्व निश्चित धारणाएँ हुआ करती है जिससे वे उन बातो को देख सकने में असमर्थ रहते हैं जिनसे उनकी किसी धारणा का

खण्डन हो-रहा होता है। वे केवल उन्ही बातो की ओर ध्यान देते है जो उनकी धारणाओ का मण्डन करती है।

(२) **अवलोकन**—मनुष्य को समझने के लिए उसके व्यवहार का अवलोकन किया जाता है। किन्तु साधारण तथा वैज्ञानिक अवलोकन में बडा अन्तर होता है। साधारण अवलोकन असगठित और निरुद्देश्य होता है जबकि वैज्ञानिक अवलोकन के पीछे निश्चित उद्देश्य रहता है और उस उद्देश्य के अनुसार अवलोकन को एक सगठित रूप मिलता है।

मनुष्य की मनोवृत्तियो का प्रकाश चूँकि व्यवहार में होता है इसलिए व्यवहार का अवलोकन करके मनुष्य की मनोवृत्तियो और व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले विशिष्ट मानसिक सगठन का परोक्ष अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति नाक-भौ सिकोड कर मुँह फेर लेता है तो हमे यह समझने मे देर नही लगती कि उस व्यक्ति मे घृणा की मनोवृत्ति का सचार हो रहा है। किन्तु व्यवहार को देखकर व्यक्ति की मनोवृत्ति का सही सही अनुमान तभी किया जा सकता है जब हमें उसके व्यवहार द्वारा व्यक्त होने वाली मनोवृत्ति का अनुभव पहले से ही हो चुका हो। व्यवहार द्वारा मनुष्य की मनोवृत्तियो को ठीक-ठीक समझ सकने के लिए अवलोकनकर्त्ता का अपना पूर्व अनुभव बहुत महत्व रखता है।

अवलोकन प्रणाली में बहुत सी कमियाँ होती है। हम दूसरे लोगो को प्राय अपनी ही तरह से देखने की कोशिश करते है। दूसरो के व्यवहार की व्याख्या अपने अनुभव के सादृश्य पर निर्भर होती है। ईमानदार आदमी दुनियाँ के हर आदमी को ईमानदार समझता है। यदि अवलोकनकर्त्ता और अवलोकित व्यक्ति के अनुभव में सादृश्य न हो तो अवलोकन-प्रणाली से दूसरे व्यक्ति के विषय मे सही बात का पता नही चल सकता। ऐसी दशा में अवलोकन अनिश्चित बन जाता है और वैज्ञानिक अध्ययन में अनिश्चित बात को मान्यता नही दी जा सकती।

अवलोकन निश्चित तभी बन सकता है जब रचनात्मक कल्पना और अनुमान का सहारा लिया जाय। विज्ञानी के अपने अनुभव मे वे सब सघटक तत्व मौजूद रहते है जिनके द्वारा दूसरो के व्यवहार को समझा जा सकता है। दूसरो के व्यवहार की ठीक व्याख्या करने के लिए विज्ञानी को चाहिए कि वह अपनी जटिल मानसिक क्रियाओ का विश्लेषण उसके सघटक तत्वो मे करके ही व्यक्ति-विशेष को समझने की चेष्टा करे। उदाहरण के लिए बच्चो को समझने के लिए विज्ञानी को बुद्धि और चिंतन शक्ति का आश्रय न लेकर नैसर्गिक

प्रवृत्तियों और अनुकरण की सहायता लेनी चाहिए। तभी वह बच्चों के व्यवहार की व्याख्या अच्छी तरह से कर सकेगा।

दूसरो के अवलोकन में विज्ञानी अपने पक्षपात से प्रभावित हो सकता है। अतएव अवलोकन को निष्पक्ष बनाने के लिए विज्ञानी की प्रवृत्ति निष्पक्ष होनी चाहिये। उसमें अपने आप को उस स्थिति मे रख सकने की क्षमता होनी चाहिए जिसका वह अवलोकन कर रहा हो।

सही अवलोकन में कभी-कभी अवलोकित व्यक्ति स्वय बाधाएँ उत्पन्न कर देता है। बहुत से लोग अपने व्यवहार को इस तरह प्रकट करते है जो उनकी मनोवृत्तियो का सही प्रकाशन नही होता। ऐसी दशा में व्यवहार का अवलोकन विविध रूपो से करना चाहिए। कपटपूर्ण व्यवहार को सही सही समझने मे सावधानी तथा परिदर्शन से बहुत सहायता मिलती है।

(३) अन्तर्निरीक्षण (Introspection)—अन्तर्निरीक्षण अपने व्यक्तिगत अनुभव पर ध्यान केन्द्रित करने को कहते है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाओ का अवलोकन स्वय करके उन्हे समझने की कोशिश करता है। अवलोकन से तो व्यवहार के आधार पर मानसिक क्रियाओ को समझने का प्रयत्न किया जाता है किन्तु अन्तर्निरीक्षण द्वारा मानसिक क्रियाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जाता है। अन्तर्निरीक्षण मनोविज्ञान की ही मौलिक प्रणाली है। अन्य विज्ञानो में इस प्रणाली का कोई स्थान नहीं है। मानसिक क्रियाएँ इतनी वैयक्तिक होती है कि उन तक किसी दूसरे की पहुँच नही हो सकती। हमारे मन में क्या हो रहा है इसका ज्ञान केवल हमें ही हो सकता है। दूसरो को हमारे मन का ज्ञान केवल हमारे बताने पर ही हो सकता है। मानसिक क्रियाओ का विज्ञान होने से मनोविज्ञान में अन्तर्निरीक्षण का विशेष महत्व है। व्यक्ति की मानसिक क्रियाएँ उसके साथ सदा रहती है और वह जब चाहे तब उनका अन्तर्निरीक्षण कर सकता है। अवलोकन और प्रयोग हर समय और हर स्थिति मे नही किए जा सकते किन्तु अन्तर्निरीक्षण किसी भी समय किया जा सकता है। अन्तर्निरीक्षण अवलोकन का ही एक विशेष पक्ष होता है।

अन्तर्निरीक्षण द्वारा व्यक्ति चूँकि अपनी ही मानसिक क्रियाओ का ज्ञान प्राप्त करता है इसलिए इस प्रणाली से मानसिक क्रियाओ के सामान्य नियमों को नही जाना जा सकता। किन्तु यदि अनेक लोगो के अन्तर्निरीक्षण मे समानता हो तो उससे मानसिक क्रियाओ के नियमो को बहुत कुछ समझा जा सकता है और अवलोकन तथा प्रयोग की कसौटी पर कस कर उनकी सत्यता की वैज्ञानिक जांच की जा सकती है।

कुछ मानसिक दशाएँ इतनी प्रबल होती है कि उनके रहने के समय मन उस परिस्थिति मे ही उलझा रहता है जिनकी वे पृष्ठभूमि होती हैं। अगर मन किसी मानसिक दशा को उत्पन्न करने वाली बाहरी परिस्थिति मे ही उलझा रहे तो उस मानसिक दशा का यथोचित अन्तर्निरीक्षण नही किया जा सकता। किसी बेहद मोहक घटना को देखते समय हमारा मन घटना के पात्रो आदि की ओर ही इतना लगा रहता है कि हमे उस घटना से उत्पन्न होने वाली अपनी मानसिक दशा का अन्तर्निरीक्षण कर सकने की फुर्सत ही नही मिलती।

अनेक मानसिक दशाएँ ऐसी भी होती है जो अन्तर्निरीक्षण करने के समय रहती ही नही। डर आदि किसी सचारीभाव (emotion) का जब अन्तर्निरीक्षण शुरू किया जाता है तो मन के अन्दर उस भाव का सचार होना वन्द हो जाता है। भावो के सचार के समय उन पर विचार कर सकना असम्भव-सा ही होता है। उन पर विचार करना शुरू करते ही मन की दशा वदल जाती है और जिस चीज के अध्ययन की तैयारी की जाती है वह चीज ही नही रहती। जेम्स ने इसे वडे ही सुन्दर ढग से कहा है कि "सचारीभाव को अन्तर्निरीक्षण द्वारा समझने की कोशिश करना कुछ वैसा ही है जैसे अन्धकार को देखने के लिए जल्दी में तेज प्रकाश का आयोजन करना।" ऐसी हालत में अन्तर्निरीक्षण प्राय अनुप्रेक्षण (retrospection) मात्र ही होता है। एक थोडी देर पहले की मानसिक दशा को स्मृति के सहारे जानने का प्रयत्न किया जाता है और स्मृति पर पक्का विश्वास नही किया जा सकता।

अन्तर्निरीक्षण की एक और कठिनाई मानसिक दशाओ को व्यक्त करने के लिए भाषा का अक्षम होना होती है। किसी चीज का स्वाद, किसी सुन्दर मुख की छवि, किसी मादक स्पर्श का वर्णन करते समय हमे यह लगता है कि भरसक प्रयत्न करने पर भी हम अपने भाव का ठीक-ठीक शब्द-चित्र नही वना पा रहे है। इसलिए आक्षेप किया जाता है कि अन्तर्निरीक्षण के परिणाम को दूसरो तक पहुँचाना बहुत कठिन होता है। पशु-मनोविज्ञान, वाल-मनोविज्ञान और अप्रकृत (abnormal) व्यक्ति के मन को समझने के लिए भी अन्तर्निरीक्षण बेकार होता है। पशु, बालक और अप्रकृत व्यक्ति अन्तर्निरीक्षण नही कर पाते। लेकिन इससे इतना ही सावित होता है कि अन्तर्निरीक्षण मनोव्यापार के एक वहुत छोटे भाग का अध्ययन करने में ही उपयोगी होता है। अप्रकृत मनोविज्ञान में व्यक्ति के मन को समझने के लिए कुछ विशेष प्रणालियो को काम मे लाया जाता है जिनका वर्णन अभी आगे किया जायगा।

अन्तर्निरीक्षण में उपर्युक्त कमियाँ अवश्य है किन्तु उसके द्वारा मानसिक दशाओ का जहाँ तक सही ज्ञान हो सकता है वहाँ तक उसका महत्व निर्विवाद

है। आखिर हम अन्तर्निरीक्षण द्वारा अपनी मानसिक दशाओं को कुछ न कुछ तो अवश्य समझते है। अन्तर्निरीक्षण को व्यवस्थित कर उससे उपलब्ध सामग्री पर काफी विश्वास किया जा सकता है। प्रत्येक वैज्ञानिक अवलोकन मे भूल होने की सम्भावना रहती है। उस भूल को जिस तरह अन्य विज्ञानो मे दूर करने की चेष्टा की जाती है वैसी ही चेष्टा अन्तर्निरीक्षण की भूलो को दूर करने मे भी की जा सकती है और की भी जाती है। इसलिए अन्तर्निरीक्षण को बिलकुल व्यर्थ समझ कर उसकी उपेक्षा नही की जा सकती।

(४) **प्रयोग** (Experiment)—प्रयोग भौतिक विज्ञानो की सर्वमान्य प्रणाली है। अवलोकन के विपरीत प्रयोग मे परिस्थितियो को पहले से ही निर्धारित करके उनका अध्ययन नियन्त्रित दशाओ मे किया जाता है। प्रयोग मे प्रयोगकर्त्ता का परिस्थितियो पर पूरा नियत्रण रहता है। प्रयोग करते समय अप्रासगिक परिस्थितियो को हटा दिया जाता है जिससे प्रासगिक परिथितियो का परिवेश आदि से जो सम्बन्ध होता है उसे ठीक से समझा जा सके। अवलोकन मे होने वाली घटनाओ की प्रतीक्षा करनी पडती है और घटित होने वाली परिस्थितियो पर कोई नियत्रण नही किया जा सकता। अवलोकन द्वारा केवल सामान्य बातो का ही अध्ययन किया जा सकता है। प्रयोग द्वारा अवलोकन से प्राप्त सामग्री सुनिश्चित बनती है और उसका अनुमोदन होता है।

मानसिक क्रियाओ पर व्यक्ति-विशेष की भूख या थकान आदि शारीरिक स्थितियो, उसकी सीखी हुई कुशलताओ और विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओ का अलग-अलग प्रभाव पडता है। प्रयोग मे अन्य सब परिस्थितियो को अपरिवर्तनीय रखकर किसी एक परिस्थिति में नियमित ढग से परिवर्तन किया जाता है और उस परिवर्तन के परिणाम को देखा जाता है और ऐसा बार बार किया जाता है। यदि परिणाम हर बार वही हो जो पहली बार के परिवर्तन से हुआ था तो सिद्धान्त या मान्यता का समर्थन हो जाता है। प्रयोग की सत्यता का आधार यह है कि कुछ विशेष दशाओ में कोई विशेष घटना होगी और उसका वही परिणाम होगा जो होता रहा है। प्रयोग शुरू करने के पहले व्यक्ति की शारीरिक या मानसिक स्थिति और पूर्व अर्जित कुशलताओ को अच्छी तरह जान लिया जाता है। इसके बाद बाह्य और आन्तरिक उत्तेजनाओ का नियन्त्रण किया जाता है।

बाह्य उत्तेजनाओ का नियत्रण करने के लिए विशेष प्रकार के यत्रो का सहारा लिया जाता है और प्रयोग ऐसे कमरे मे किया जाता है जिसमे बाहर की बाधक उत्तेजनाओ का प्रवेश न हो सके। आन्तरिक उत्तेजनाओ का

नियत्रण करने के लिए खाना नही दिया जाता है, पेट को निकाल दिया जाता है जिससे उसकी क्रियाओ से अन्य क्रियाएँ प्रभावित न हो सके और मेरुदड का मनस् से सम्बन्ध तोड दिया जाता है जिससे शरीर के निचले भाग की प्रेरणाएँ मनस् को प्रभावित न कर सके । उपर्युक्त आन्तरिक नियत्रण अपेक्षित प्रयोग केवल पशुओ पर ही उन्हे पीडा के प्रति पहले से ही सज्ञाशून्य बनाकर किए जाते है । मनुष्यो पर ऐसे प्रयोग तभी किए जा सकते है जब उनमे किसी दुर्घटना के कारण उपर्युक्त आन्तरिक दशाएँ अपने आप ही हो गई हो ।

प्रयोग को सफल बनाने के लिए मनुष्य की प्रवृत्तियो पर भी नियत्रण करने की आवश्यकता पडती है जिससे उसकी किसी विशेष मनोवृत्ति के कारण प्रयोग दूषित न हो सके । इसके लिए व्यक्ति को पहले से ही सूचित कर दिया जाता है कि उसकी परीक्षा अमुक उद्देश्य से ली जा रही है जबकि वास्तविक परीक्षा का उद्देश्य कुछ और ही होता है । इस प्रकार प्रयोग पर व्यक्ति के मानसिक विन्यास (set) का प्रभाव लगभग नही के बराबर ही पडता है । प्रयोग मे जहाँ आनुवशिक (hereditary) बातो के नियत्रण की जरूरत पडती है वहाँ जुडवाँ लोगो पर प्रयोग करना अपेक्षित होता है यद्यपि जुडवाँ लोग आसानी से नही मिलते ।

जिस व्यक्ति पर प्रयोग किया जाता है उसे 'विषय' कहा जाता है । विषय की मानसिक या शारीरिक प्रतिक्रियाओ को आश्रित परिवर्त्य (dependent variables) कहा जाता है । विषय की प्रतिक्रियाओ को प्रभावित करने वाली शारीरिक दशाओ या उत्तेजनाओ को निराश्रित परिवर्त्य (independent variables) कहा जाता है । निराश्रित परिवर्त्य बहुत से होते है और उनमें से प्रत्येक का आश्रित परिवर्त्य पर अलग-अलग क्या प्रभाव पडता है इसे जानने के लिए बारी-बारी से केवल एक निराश्रित परिवर्त्य में परिवर्तन किया जाता है और शेष निराश्रित परिवर्त्यों को स्थायी रखा जाता है । फिर परिवर्तित किए जाने वाले हर निराश्रित परिवर्त्य का आश्रित परिवर्त्य पर जो प्रभाव पडता है उसे लिख लिया जाता है । बाद में तुलना करके यह देखा जाता है कि किस निराश्रित परिवर्त्य का आश्रित परिवर्त्य पर ज्यादा प्रभाव पडा है । ज्यादा प्रभाव डालने वाले निराश्रित परिवर्त्यों का आश्रित परिवर्त्य से ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध होगा ही ।

विषय की प्रतिक्रियाएँ तीन श्रेणियो की हो सकती है (१) सामान्य व्यवहार, (२) आन्तरिक शारीरिक क्रियाएँ जैसे हृदय की गति का बढ जाना या खून मे शक्कर की मात्रा बढ जाना जिनका ज्ञान रासायनिक परीक्षाओ

और यंत्रो की सहायता से किया जाता है, और (३) अनुभव का मौखिक वर्णन यानी विषय द्वारा अपने सोचने, संवेदन करने आदि का वर्णन करना।

मान लीजिए कि हम अच्छी विद्वत्ता के कारण जानना चाहते है। हमारा ख्याल है कि विद्वत्ता पर अध्ययन की मात्रा, उसमे लगाए गए समय, बुद्धि और जीविकोपार्जन मे लगने वाले समय का प्रभाव पडता है। प्रयोग मे विद्वत्ता आश्रित परिवर्त्य (dependent variable) होगी और उसके ऊपर प्रभाव डालने वाली उपर्युक्त बाते निराश्रित परिवर्त्य (independent variables) कहलायेगी। निराश्रित परिवर्त्यों मे से एक एक को बारी बारी से परिवर्तित करके और शेष को स्थायी रखकर यह देखा जायगा कि हर निराश्रित परिवर्त्य का आश्रित परिवर्त्य विद्वत्ता पर क्या प्रभाव पडता है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगो मे दो या दो से अधिक समूहो की आवश्यकता भी पड सकती है। प्रयोग एक समूह के ऊपर किया जाता है और दूसरे समूह के ऊपर नही किया जाता। जिस समूह के ऊपर प्रयोग नही किया जाता उसे नियन्त्रित समूह (control group) और जिस समूह के ऊपर किया जाता है उसे प्रयोगात्मक समूह (experimental group) कहते है। प्रयोगात्मक समूह पर प्रयोग करने से जो परिणाम निकलते है उनकी तुलना नियन्त्रित समूह से की जाती है और दोनो मे जो भेद होता है उसके आधार पर प्रयोग सम्बन्धी प्रश्नो का निर्णय किया जाता है।

विद्वत्ता को प्रभावित करने वाली परिस्थितियो के उपर्युक्त उदाहरण मे हम एक नियन्त्रित और एक प्रयोगात्मक समूह ले सकते है। नियन्त्रित समूह को वह जैसे रोजाना पढता लिखता है वैसे ही पढता लिखता रहने दिया जायगा। किन्तु प्रयोगात्मक समूह को पढने लिखने के लिए और ज्यादा समय लगाने को कहा जायगा। फिर प्रयोगात्मक समूह ने जो उन्नति की होगी उसकी तुलना नियन्त्रित समूह की उन्नति से की जायेगी और तब यह अच्छी तरह जाना जा सकेगा कि विद्वत्ता को प्रभावित करने मे ज्यादा अध्ययन कहाँ तक उपयोगी होता है।

प्रयोगात्मक प्रणाली से जितने अच्छे और निश्चित परिणाम भौतिक विज्ञानो को उपलब्ध होते है उतने मनोविज्ञान को नही होते। इसका कारण यह है कि मनुष्य की मनोवृत्तियो को एक सीमा के बाहर जड वस्तुओ की तरह नियन्त्रित नही किया जा सकता। दूसरे, प्रयोग के सब निराश्रित परिवर्त्यो को इच्छानुसार विस्तार से परिवर्तित कर सकना भी कठिन होता है। किन्तु फिर भी प्रयोग के महत्व से इन्कार नही किया जा सकता। प्रयोग में परिस्थितियो की पुनरावृत्ति इच्छानुसार की जा सकती है और अप्रासगिक

परिस्थितियो को हटाया जा सकता है । प्रयोग के निष्कर्षों को तत्काल लिखने से और उनकी तुलना करने से स्मृति और अवलोकन के भ्रमो से भी बचा जा सकता है। प्रयोग द्वारा शारीरिक या मानसिक क्रियाओ और भौतिक उत्तेजनाओ के परिमाणात्मक सम्बन्धो (quantitative relations) को भी ठीक से नापा जा सकता है ।

(५) विकासात्मक (Developmental) प्रणाली—इस प्रणाली द्वारा व्यक्ति की मानसिक क्रियाओ की उत्पत्ति और वृद्धि का अध्ययन विकास क्रम के अनुसार किया जाता है। विकास अन्दर से होता है और उसका अर्थ परिवेश की सहायता से व्यक्ति के अन्दर पहले से ही निहित शक्तियो का प्रस्फुटित और व्यक्त होना है। विभिन्न आयुस्तरो पर किए गए शारीरिक वृद्धि, प्रवृत्तियो, रुचियो और बुद्धि सम्बन्धी अध्ययन से मानवी व्यक्तित्व के विकासात्मक पक्ष की महत्त्वपूर्ण जानकारी हुई है ।

अप्रकृत (abnormal) व्यक्ति की मानसिक क्रियाओ का अध्ययन करने के लिए अन्तर्निरीक्षण और प्रयोग आदि प्रणालियाँ बेकार साबित होती है । अप्रकृत व्यक्ति अपना अन्तर्निरीक्षण नही कर पाता और उस पर प्रयोग करना भी निष्फल होता है। अप्रकृत व्यक्तियो की मानसिक क्रियाओ को जानने के लिए कुछ विशेष विधियो का सहारा लेना पडता है जैसे स्वतत्र सहचार (free-association) या स्वप्नो की व्याख्या करके मनोविश्लेषण करना; सम्मोहन और प्रक्षेपण (projective) विधियो का उपयोग करना। इन विशेष विधियो का विस्तृत वर्णन यथास्थान प्रसग मे किया जायगा।

मनोविज्ञान में नाप —वैज्ञानिक प्रणाली की एक मुख्य बात नाप करना होती है। पहले यह विचार किया जाता था कि मानसिक क्रियाओ को नापना असम्भव है किन्तु अब यह असत्य साबित हो चुका है। यह ठीक है कि मानसिक क्रियाओ को भौतिक क्रियाओ की भाँति नापा नही जा सकता लेकिन मनोविज्ञानियो ने मानसिक क्रियाओ को नापने के अनेक साधन ढूँढ लिए है। बुद्धि, स्मृति, सवेदन, सीखना और सचारीभाव विषयक आदि क्रियाओ को नाप सकना सम्भव बन चुका है। नापने के लिए मानसिक क्रियाओ को प्रतिक्रियाओ के रूप में देखा जाता है और प्रतिक्रियाओ की नाप हो सकती है । साथ ही साथ नाप के परिणामो का परिमाणात्मक वर्णन भी किया जा सकता है । यह विभिन्न मानसिक क्रियाओ के उल्लेख के प्रसग मे उनको नापने के लिए दिये गए अनेक प्रयोगो से अच्छी तरह स्पष्ट हो जायगा।

(६) सांख्यकीय (Statistical) प्रणाली—अनेक मनोवैज्ञानिक खोजों में प्रयोग भारी पैमाने पर करने पडते है और उनके परिणामो को ठीक से आँकने

के लिए साख्यकीय (statistical) विश्लेपण की आवश्यकता पड़ती है। परिणामो की व्याख्या करने के लिए साख्यकीय प्रणाली की बहुत आवश्यकता पडती है क्योकि उससे परिणामो मे गणितात्मक निश्चितता आ जाती है। साख्यकीय प्रणाली जटिल और गणित-प्रधान होती है इसलिए उस पर विस्तृत रूप से विचार करना यदि अनावश्यक नही है तो आवश्यक भी नही है।

अध्ययन क्षेत्र

आजकल मनोविज्ञान के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। जीवन का शायद ही कोई ऐसा महत्वपूर्ण अग हो जिसको समझने के लिए मनोविज्ञान से काम न लिया जाता हो। आखिर मनुष्य के हर कार्य-कलाप के पीछे उसकी मानसिक क्रियाओ का सचालन रहता है इसलिए मानवी कार्यों को अच्छी तरह से समझने के लिए उनका सचालन करने वाली मनोवृत्तियो को जानना बहुत आवश्यक है। इस तरह मनोविज्ञान के अनेक अध्ययन-क्षेत्र बन चुके है। हम मनोविज्ञान के कुछ प्रमुख अध्ययन क्षेत्रो का ही वर्णन करेगे।

पशु-मनोविज्ञान (Animal Psychology)—मनोविज्ञान के इस अध्ययन-क्षेत्र मे पशुओ से सम्वन्धित विशेष समस्याओ जैसे प्रक्षिप्त क्रियाओ (reflex actions) और सीखने के प्रकारो का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार में बडी जटिलता होती है जिससे उसे समझने में कठिनाई पडती है। व्यवहार का अपेक्षाकृत सरल रूप पशुओं मे मिलता है और पहले यदि व्यवहार के सरल रूप को समझ लिया जाय तो व्यवहार के जटिल और अधिक विकसित रूप को अच्छी तरह से समझ सकने मे कुछ सुविधा और आसानी हो सकती है। पशु-मनोविज्ञान का अध्ययन इसी दृष्टिकोण से किया जाता है। पशु-मनोविज्ञान तो एक साधन है, साध्य नही। मनोविज्ञान का साध्य तो केवल मनुष्य के व्यवहार को समझना होता है और उसे समझने में पशु-मनोविज्ञान की खोजो से काफी सहायता मिली है।

वाल-मनोविज्ञान—इस क्षेत्र में वच्चो के मन और उसके विकास का अध्ययन किया जाता है। वच्चो की मानसिक क्रियाओ का उदय और विकास कैसे होता है? वाल-मनोविकास पर आनुवशिकता (heredity) और परिवेश का क्या प्रभाव पडता है? वच्चा सीखता कैसे है? अनुभव और अनुकरण से वच्चो की प्रतिक्रियाओ में कैसे परिवर्तन होते है? इन महत्वपूर्ण प्रश्नो के उत्तर की खोज वाल-मनोविज्ञान में की जाती है।

व्यक्ति-मनोविज्ञान ("Individual Psychology)—इस क्षत्र में व्यक्तिगत भेदो का अध्ययन किया जाता है और विभिन्न प्रकारो की व्यक्तिगत विलक्षणताओ की खोज की जाती है। कुछ लोग भावुक होते है, कुछ विचारशील और कुछ कर्मशील। उनमे इस प्रकार की विभिन्नताये कैसे उत्पन्न होती है ? उन विभिन्नताओ को उत्पन्न करने मे किन वातो का ज्यादा प्रभाव पडता है ? आदि प्रश्नो का कारण समझने की चेष्टा व्यक्ति मनोविज्ञान मे की जाती है।

समाज-मनोविज्ञान—इस क्षेत्र में जन-समूह, भीड और अन्य सामाजिक समुदायो की मानसिक विशेषताओ का उनका निर्माण करने वाले व्यक्तियो की विशेषताओ से अलग अध्ययन किया जाता है। समाज-मनोविज्ञान मे सामाजिक सम्वन्धो, सगठनो और रीतियो का सचालन करने वाले वैज्ञानिक नियमो की खोज की जाती है। समाज-मनोविज्ञान की एक शाखा लोक मनोविज्ञान (Folk Psychology) भी होती है। लोक मनोविज्ञान मे सभ्य जातियो से अलग आदिकालीन लोगो के मनोविज्ञान का अध्ययन किया जाता है। इस क्षेत्र का मुख्य विषय आदिकालीन लोगो के जीवन, विश्वासो, लोक प्रथाओ, परम्पराओ, सस्थाओ, दन्त-कथाओ और धर्मों आदि का अध्ययन करना होता है।

शिक्षा-मनोविज्ञान—शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य के मन को एक विशेष प्रकार से परिवर्तित करना होता है। शिक्षा मनोविज्ञान मे मानसिक क्रियाओ के उस पक्ष का अध्ययन किया जाता है जिनका सीखने सिखाने पर विशेष प्रभाव पडता है। जव शिक्षा का उद्देश्य मानसिक परिवर्तन करना है तो मन का अध्ययन उन परिवर्तनो को सुगमता और शीघ्रता से करने के लिए निश्चय ही बहुत महत्वपूर्ण है। मन क्या है ? उसकी कौन कौन सी शक्तियाँ है ? उनका उपयोग किस तरह किया जा सकता है ? इन सब वातो को बिना जाने शिक्षा देना बेकार है। शिक्षा मनोविज्ञान मे बच्चो की स्वाभाविक रुचियो, उनके मन की शक्तियो और प्रवृत्तियो का विशेष अध्ययन किया जाता है और शिक्षा को इस तरह व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया जाता है जिससे बच्चो को जो कुछ सिखाना है उसे उनकी स्वाभाविक रुचियो और प्रवृत्तियो की पूर्त्ति का साधन वनाया जा सके।

औद्योगिक-मनोविज्ञान (Industrial psychology)—इस क्षेत्र मे उद्योग-धन्धो मे लगे लोगो की समस्याओ का उनके उद्योग-धंधो के प्रसग में अध्ययन किया जाता है। लोग अपना सगठन व्यावसायिक दृष्टि से कैसे करते है ? व्यावसायिक सगठनो के पीछे मनुष्य की मनोवृत्तियाँ क्या होती है ?

उनका कैसा स्वरूप होता है और उनका उदय किन परिस्थितियों मे होता है ? आदि प्रश्नो का उत्तर देने का प्रयत्न औद्योगिक मनोविज्ञान मे किया जाता है। इस अध्ययन-क्षेत्र में मनोविज्ञान के सामान्य नियमो को उद्योग धधो की व्यावहारिक समस्याओ पर लागू करने की चेष्टा की जाती है।

अप्रकृत मनोविज्ञान (Abnormal psychology)--मनोविज्ञान के इस अध्ययन-क्षेत्र में अप्रकृत व्यवहार का अध्ययन और उसके कारणो को जानने का प्रयत्न किया जाता है। व्यवहार अप्रकृत क्यो बन जाता है ? उसको अप्रकृत बनाने में व्यक्ति की जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक शक्तियो का क्या प्रभाव पडता है ? अप्रकृत व्यवहार से मानवी व्यवहार मे कौन-कौन सी विलक्षणताएँ आ जाती है ? व्यवहार को प्रकृत कैसे बनाया जा सकता है जिससे व्यक्ति जीवन की वास्तविकताओ से अपना सतुलन फिर से स्थापित कर सके ? आदि महत्त्वपूर्ण बातो की खोज अप्रकृत मनोविज्ञान मे की जाती है। आगे यथास्थान अप्रकृत व्यवहार के प्रसग मे उपर्युक्त बातो की विस्तृत व्याख्या की जायगी। किन्तु यहाँ अप्रकृत मनोविज्ञान से सम्बन्धित उन क्षेत्रो का सक्षित परिचय भी प्राप्त कर लिया जाय जिनसे अप्रकृत मनोविज्ञान को बड़ी सहायता मिलती है।

अप्रकृत-मनोविज्ञान से सम्बन्धित अन्य क्षेत्र—अप्रकृत मनोविज्ञान के अध्ययन पर मनोचिकित्सा (psychiatry), रोगोपचारी न्यूरोलॉजी (Clinical Neurology), रोगोपचारी मनोविज्ञान, मनोविकारशास्त्र (Psychopathology) और मनोविश्लेषण आदि की खोजो का बहुत प्रभाव पडा है। इसलिए उनसे परिचय करना अप्रकृत मनोविज्ञान की भूमिका तैयार करना है।

मनोचिकित्सा (Psychiatry)—मनोचिकित्सक अपने रोगियो के मानसिक विकारो की खोज और उनके निवारण के लिए प्रयत्नशील रहता है। अप्रकृत व्यवहार को समझने के लिए मनोचिकित्सको द्वारा प्रस्तुत मानसिक रोग-ग्रस्त रोगियो के वर्णन से बहुत लाभ होता है।

रोगोपचारी न्यूरोलॉजी (Clinical Neurology)—मनोचिकित्सा से अलग चिकित्सा की यह एक अन्य शाखा है जो रोगियो के स्नायु-प्रबन्ध (nervous system) के दोषो की जाँच करती है। गहरी चोट लगने, गिल्टियाँ निकलने, रक्त दूषित होने आदि अनेक प्रकार की दुर्घटनाओ से शरीर के स्नायु-प्रबन्ध या मनस् या मेरुदड को क्षति पहुँचती है जिससे प्राणी के व्यवहार सुनने, देखने, स्पर्श करने, बोलने-चालने, चलने-फिरने

आदि क्रियाओ में परिवर्तन हो जाते है : जिनके परिणाम-स्वरूप उसका व्यवहार अप्रकृत बन जाता है। न्यूरोनीय कारण जानने से शरीरजन्य कारणो से बन जाने वाले अप्रकृत व्यवहार को ज्यादा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

रोगोपचारी मनोविज्ञान (Clinical Psychology)—इस अध्ययन क्षेत्र का विस्तार मनोवैज्ञानिक नियमो और सिद्धान्तो को शिक्षा और विद्यालय सम्बन्धी समस्याओ पर लागू करने से हुआ है। मानसिक और सवेदन सम्बन्धी दोष, हीनता की भावनाएँ, रागात्मक रक्षा का अभाव, बच्चो के व्यक्तित्व का अपने साथियो, माँ-बाप या शिक्षको के व्यक्तित्वो से सघर्ष आदि समस्याओ के पीछे अनेक कारण होते है। रोगोपचारी मनोविज्ञान की परीक्षण विधियो से अप्रकृत मनोविज्ञान के अध्ययन को बहुत सहायता मिली है।

मनोविकार-शास्त्र (Psychopathology)—वास्तव में मानसिक रोगो का अध्ययन अप्रकृत मनोविज्ञान की अपेक्षा मनोविकारशास्त्र में ही विशेष रूप से किया जाता है। अप्रकृत मनोविज्ञान का क्षेत्र मनोविकारशास्त्र से बहुत बड़ा है क्योकि अप्रकृत का अर्थ मानसिक रोगो तक ही सीमित नही होता। स्वस्थ प्रकृत मनुष्य भी सम्मोहन (hypnosis) का अच्छा विषय बन सकता है। सम्मोहन का रूप और उसकी समस्याएँ मनोविकारशास्त्र के अध्ययन का विषय नही है किन्तु वे अप्रकृत मनोविज्ञान के क्षेत्र में अवश्य आती है। निस्सन्देह अप्रकृत मनोविज्ञान में मानसिक रोगो को बहुत बडा स्थान दिया जाता है। इसलिए अप्रकृत मनोविज्ञान का बहुत बडा क्षेत्र मनोविकारशास्त्र के क्षेत्र का सहगामी है।

मनोविश्लेषण (Psychoanalysis)—अप्रकृत मनोविज्ञान को फ्रायट की खोजो ने बहुत प्रभावित किया है। फ्रायट की मुख्य शिक्षाओ का यथेष्ट वर्णन यथास्थान किया जायगा। यहाँ इतना जान लेना ही काफी होगा कि फ्रायट के अध्ययन-क्षेत्र—मनोविश्लेषण—का आधार यह है कि मानवी व्यवहार का सचालन और सशोधन अचेतन (unconscious) प्रेरणाओ से होता है। इससे अप्रकृत व्यवहार में व्यक्ति की गत्यात्मक (dynamic) प्रवृत्तियो और उद्देश्यो (motives) का क्या हाथ रहता है इसकी महत्त्वपूर्ण जानकारी हो सकी है और अप्रकृत व्यवहार की गत्यात्मक व्याख्या कर सकना सम्भव बन गया है।

दूसरा खण्ड

जन्मजात पत्र

३

प्राणी की उत्पत्ति तथा विकास

मनोविज्ञान में प्राणी—मनुष्य—के प्रतिक्रियात्मक पक्ष का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य प्रतिक्रिया किसी समस्या को सुलझाने के लिए करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक प्राणी के सामने कोई न कोई समस्या किसी न किसी रूप में सदा उपस्थित रहती है और प्राणी प्रतिक्रिया द्वारा उस समस्या का समाधान करने का प्रयत्न निरन्तर करता रहता है। चूंकि प्राणी हर समय किसी न किसी समस्या से परिवेष्ठित या घिरा रहता है इसलिए वैज्ञानिक भाषा में समस्याओ की उपस्थिति को परिवेश (environment) कहा जाता है।

प्राणी और परिवेश—परिवेश के दो पक्ष होते है, आन्तरिक और वाह्य। प्राणी के शरीर के अन्दर जो शक्तियाँ काम करती है वे आन्तरिक परिवेश होती है और जिन शक्तियो का दवाव प्राणी पर वाह्य जगत से पड़ता है वे उसका वाह्य परिवेश होती है। प्राणी को प्रतिक्षण इन दोनो परिवेशो की शक्तियो से सघर्ष करके अपना सतुलन बनाए रखने की आवश्यकता पड़ती रहती है क्योकि सतुलन के भग होते ही जीवन मे व्यतिक्रम और अव्यवस्था आ जाती है। प्राणी और परिवेश में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्राणी अपनी रक्षा के लिए कठोर परिवेश से या तो बचने की चेष्टा करता है या फिर वह अपने हित के लिए परिवेश से लडता है और उसे बदल कर अपने अनुकूल बना सकने की कोशिश करता है। परिवेश एक तरह की शक्ति या दबाव होता है जो प्राणी को कुछ न कुछ करने को विवश करता रहता है। परिवेश की विवशता के कारण ही प्राणी व्यवहार करता है। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि प्राणी पूरी तौर से परिवेश के हाथ का कठपुतला होता है। निस्सन्देह वह एक सीमा तक परिवेश पर अधिकार कर सकता है, उसमे रूप परिवर्तन कर सकता है, किन्तु उसकी उपेक्षा कदापि नही कर सकता।

परिवेश पर अधिकार करके उसे अपने अनुकूल बना लेना उसे मिटा देना नही है। परिवेशजन्य परिस्थितियाँ सदा रही है। और रहेगी परिस्थि-

तियाँ प्राणी के सामने आदिम काल में भी थी, आज भी हैं और कल भी रहेगी। हाँ, उनका रूप बदलता रहा है और बदलता रहेगा। आदिम काल में मनुष्य के पास भूख थी, अन्न नही था; आज अन्न होते हुए भी मनुष्य भूखा है। आदिम काल में मनुष्य के पास आग नही थी लेकिन खून की गर्मी थी; आज आग है लेकिन खून की गर्मी नही है। आदिम काल में मनुष्य के पास वस्त्र नही थे किन्तु लज्जा थी, आज वस्त्र है किन्तु लज्जा नही है। आदिम काल मे जीवन निर्वाह की सुविधाएँ न होते हुए भी मनुष्य उतना बर्बर नही था जितना आज है।

उत्तेजना और प्रतिक्रिया—प्राणी के हर व्यवहार के पीछे किसी न किसी परिवेश की शक्ति रहती है जो उस पर दवाव डालकर उसे कुछ न कुछ करने को लाचार करती रहती है। प्राणी और परिवेश के सम्बन्ध के दो पहलू होते है। एक ओर तो परिवेश प्राणी पर दबाव डालता है और दूसरी ओर प्राणी अपने प्रयत्नो द्वारा परिवेश के उस दबाव का सामना करता है। परिवेश के दवाव को वैज्ञानिक भाषा में उत्तेजना कहा जाता है। परिवेश दबाव डालकर प्राणी को कुछ न कुछ करने को उत्तेजित करता है।

और परिवेश द्वारा उत्तेजना पाने पर प्राणी कुछ न कुछ करता है परिवेश से उत्तेजना पाकर प्राणी जो कुछ करता है उसे वैज्ञानिक भाषा . प्रतिक्रिया कहा जाता है। परिवेश प्राणी को उत्तेजना देता है और प्राणे उस उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करता है।

प्रतिक्रिया में कुछ न कुछ आयास रहता है। जिस काम मे आयास न हो उसे प्रतिक्रिया नही कहा जा सकता। प्रतिक्रिया को केवल कर्मेन्द्रियो तक ही सीमित नही समझना चाहिए। पक्षियो का कलरव सुनना, किसी चीज को देखकर वीती वातो की याद आ जाना, खिले फूलो को देखकर प्रसन्न होना आदि भी प्रतिक्रियाएँ है।

क्षीण या नीरस उत्तेजना का व्यवहार पर विशेष प्रभाव नही पडता। उत्तेजना का प्रभाव व्यवहार पर अनेक प्रकार से पड सकता है। मान लीजिए कि आप टहलने जा रहे है, सहसा पीछे से किसी गाड़ी की आवाज सुनकर आप तत्काल दौडकर सडक छोड़ एक किनारे हो जाते हैं। गाड़ी की आवाज टहलने की क्रिया में उद्दीपन कर देती है। आप धीरे-धीरे चले जा रहे हैं, सहसा एक धमाके की आवाज सुनकर आप जहाँ के तहाँ ठिठक जाते है और आपकी चलने की क्रिया का अवरोध हो जाता है। उत्तेजना में उद्दीपन (excitation) और अवरोध (inhibition) दोनो रहते है।

प्राणी और प्रतिक्रिया—प्राणी की प्रतिक्रिया उसकी उत्तेजना पर अवश्य निर्भर होती है किन्तु पूरी तरह से नही। प्रतिक्रिया में उत्तेजना के अतिरिक्त अन्य बातो की प्रधानता भी रहती है। बीस प्राणी एक ही उत्तेजना के प्रति बीस तरह की प्रतिक्रियाएँ करते है। प्रतिक्रिया को समझने के लिए उत्तेजना के साथ साथ प्राणी को समझना भी आवश्यक है।

प्राणी की सारी प्रतिक्रियाएँ उसकी आदतो, रुचियो, सस्कारो और शिक्षा आदि स्थायी विशेषताओ पर आधारित रहती है। एक ही उत्तेजना के प्रति शिक्षित और अशिक्षित मनुष्य की प्रतिक्रियाओ में आकाश-पाताल का अन्तर हो सकता है। सगीत में रुचि रखने वाले प्राणी की प्रतिक्रिया उस प्राणी की प्रतिक्रिया से अलग होगी जो सगीत में रुचि नही रखता।

प्रतिक्रिया पर प्राणी की आन्तरिक अवस्था का भी गहरा प्रभाव पडता है। खाना देखकर भूखे और भरे पेट प्राणी की प्रतिक्रिया में बडा अन्तर होता है। भूखा प्राणी खाने पर टूट पडता है किन्तु जिसे भूख नही है वह खाने पर 'टूटता' नही। नशे या बीमारी की हालत में भी प्राणी की प्रति-क्रियाओ में बडा फर्क हो जाता है।

प्राणी की प्रतिक्रिया लक्ष्य पर भी निर्भर होती है। परीक्षा का समय निकट आने पर खेलकूद में अत्यन्त रुचि रखने वाला विद्यार्थी किसी के बार बार बुलाने पर भी खेलने को नही जाता और पढता ही रहता है। अब उसका लक्ष्य परीक्षा में सफल होना रहता है जिसके करण उसकी अब तक की सारी प्रतिक्रियाएँ बदल जाती है। निर्वाचन के दिनो में नेताओ का व्यवहार भी बदल जाता है और वे हर व्यक्ति से इस तरह बातें करते है मानो वे उसके घर के पुश्तैनी नौकर हो।

इस प्रकार प्रतिक्रियाएँ प्राणी की स्थायी विशेषताओ (आदतो, रुचियो सस्कारो, शिक्षा आदि), उसकी आन्तरिक अवस्था (क्रोध, घृणा, दुख, हर्ष आदि) और उसके लक्ष्य पर निर्भर होती है। किसी प्रतिक्रिया में इन तीनो बातो में से किसकी प्रधानता रहती है इसे बता सकना कठिन है। उनकी प्रधानता अवसर-अवसर पर निर्भर होती है। पत्नी के तेवर के सामने बड़े बडे शूरवीरो के भी छक्के छूट जाते है, क्रोधोन्मत्त व्यक्ति न्यायोचित मार्ग को भूल बैठता है, दिल की ठेस या जिन्दगी की ठोकर बहुत से लोगो का लक्ष्य बदल देती है। तुलसीदास अपनी पत्नी द्वारा धिक्कारे जाने पर ही राम की भक्ति में अनुरक्त हो सके थे।

ग्राहक और प्रभावक—प्राणी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया अपनी स्थायी विशेषताओ, आन्तरिक अवस्था और लक्ष्य के अनुसार करता है। किन्तु कैसे ? परिवेश की शक्ति या दबाव का असर प्राणी की बोधेन्द्रियो (आँख, कान इत्यादि) पर पड़ता है। उत्तेजना प्राणी को अपनी बोधेन्द्रियो द्वारा मिलती है। प्राणी वाह्य जगत से मिलने वाली उत्तेजनाओ को अपनी बोधेन्द्रियो द्वारा ग्रहण करता है इसलिए बोधेन्द्रियो को ग्राहक (ग्रहण करने वाली) कहा जाता है।

उत्तेजना को ग्रहण करने पर प्राणी कुछ प्रतिक्रिया करता है। प्रतिक्रिया वह अपनी कर्मेन्द्रियो (हाथ, पैर इत्यादि) द्वारा करता है। कर्मेन्द्रियो द्वारा प्रतिक्रिया कर प्राणी परिवेश पर प्रभाव डालता है और परिवेश से अपने पहले के सम्बन्ध को बदल देता है। कर्मेन्द्रियो को प्रभावक कहा जाता है क्योकि प्राणी उनके द्वारा परिवेश पर प्रभाव डालता है। प्राणी अपने ग्राहको द्वारा उत्तेजना किस तरह ग्रहण करता है और प्रभावको द्वारा परिवेश पर प्रभाव किस तरह डालता है, इसका विस्तृत वर्णन आगे के अध्यायो मे किया जायगा। किन्तु प्राणी और उसकी प्रतिक्रियाओ को अच्छी तरह समझने के लिए पहले प्राणी की उत्पत्ति और उसके शारीरिक विकास पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

कोष—शरीर का निर्माण एक प्राणमय कोष (cell) से होता है (चित्र १)। कोष इतना छोटा होता है कि उसे आँख से नही देखा जा सकता। अणुवीक्षण यत्र से देखने पर कोष एक गाढा-सा रगहीन पदार्थ मालूम होता है। इस गाढ़े-से पदार्थ को प्रोटोप्लाज्म (protoplasm) कहते है। प्रोटोप्लाज्म शब्द दो यूनानी शब्दो से मिलकर बना है · प्रोटोस (protos = पूर्व) और प्लाज्मा (plasma = रूप), जिसका अर्थ हुआ पूर्व रूप। इस प्रकार कोष का प्रोटोप्लाज्म प्राणी के सारे शारीरिक अंगो का पूर्व रूप होता है और प्राणी के विभिन्न शारीरिक अग उसी पूर्व रूप से प्रस्फुटित होते है। प्रोटोप्लाज्म जीवन का भौतिक आधार होता है।

प्रोटोप्लाज्म में सजातीयता (homogeneity) या एकरूपता नही होती। उसमें दो भाग होते हैं, एक महीन-सी जाली और उसमें लिपटा हुआ एक तरल-सा पदार्थ। परीक्षा करके यह देखा गया है कि कोष की रचना एक निश्चित प्रकार की होती है। कोष असख्य ठोस कणो से निर्मित होता है जो प्राणमय होते हैं। कोष में हजारो रासायनिक क्रियाएँ होती रहती हैं। कोष के बीच में अन्तर्बीज (nucleus) होता है जो कोष को जीवित

रखता है और उसकी रासायनिक क्रियाओ को नियन्त्रित करता है। अन्त-र्बीज को यदि कोष से अलग कर दिया जाय, जो सम्भव हो सका है, तो कोष उसी समय मर जाता है। अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर पता चला है कि अन्तर्बीज में दो छोटे और गोल-गोल शरीर होते हैं जिनकी शक्ल हमेशा
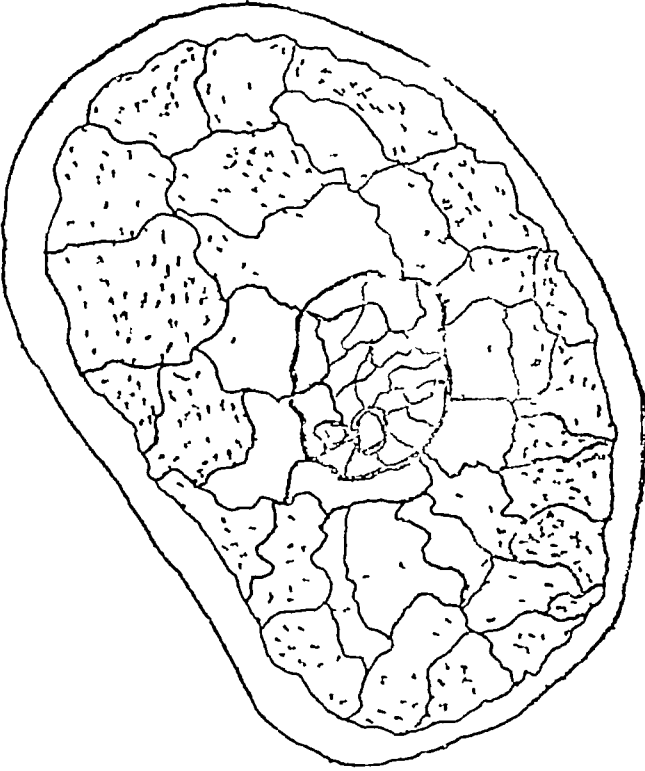
चित्र १

बदलती रहती हैं। कोष के कण लगातार इधर-उधर प्रवाहित होते रहते हैं। उनके निरन्तर प्रवाह से कोष के हर भाग को पोषक तत्व मिलते रहते हैं और नष्ट पदार्थ कोष की सतह से बाहर निकलता रहता है।

कोष की विशेषताएँ--कोष की दो प्रमुख विशेषताएँ होती हैं आकुचन क्षमता (contractibility) और सुविकारिता (irritability)। अपनी इन्ही दो विशेषताओ के कारण कोष जीवित रह पाता है। विशेष परिस्थितियो में प्रोटोप्लाज्म के रूप में परिवर्तन हो सकने को ही कोष की आकुचन-क्षमता कहा जाता है। मनुष्य के शरीर मे अनेक ऐसे कोष होते हैं जिनकी आकुचन-क्षमता बहुत ज्यादा होती है, जैसे मासपेशियो (muscles) को निर्मित करने वाले कोष।

कोष की सुविकारिता (irritability) का अर्थ अनुकूल या प्रतिकूल उत्तेजनाओ के प्रति भावात्मक या अभावात्मक प्रतिक्रिया कर सकने की

योग्यता है। कोषो की सुविकारिता के कारण ही प्राणी का शरीर परिवेश से समायोजन कर पाता है। यदि कोषो मे सुविकारिता न होती तो शरीर वाह्य आघातो को नही सह पाता और जल्द ही नष्ट हो जाता। अधिक विकसित प्राणियो के कोषो की सुविकारिता उनके विकास के अनुपात से होती है। सबसे अधिक सुविकारिता स्नायुकोषो (nerve cells) मे होती है। किन्तु सुविकारी कोष सभी उत्तेजनाओ के प्रति सक्रिय प्रतिक्रिया नही करते। आँख के कोष प्रकाश के प्रति, कान के आवाज के प्रति, नाक के गन्ध के प्रति अधिक सक्रिय प्रतिक्रिया करते है।

जीवित वने रहने के लिये कोषो को शक्ति की आवश्यकता होती है जो उन्हे भोजन से मिलती है। खाने की चीजो से प्राप्त होने वाली शक्ति रासायनिक रूप में वदल कर कोषो मे सचित होती रहती है। कोषो मे सचित शक्ति एक ओर तो विभिन्न अंगो के निर्माण मे सहायता देती है और दूसरी ओर शरीर और उसके प्रभावको को प्रतिक्रिया कर सकने के लिए वल देती है। शारीरिक क्रियाओ में शक्ति का व्यय होता है जिसके लिए मासपेशीय (muscular) शक्ति की आवश्यकता पडती है जो शरीर के अन्दर भोजन के जलने से वनती है। भोजन को जलाने के लिए ईंधन भोजन मे निहित शक्कर और मॉड (starch) से मिलता है।

मनुष्य का प्रारम्भिक जीवन--प्रत्येक प्राणी की भाँति मनुष्य भी अपना जीवन एक निरवयव कोष के रूप में शुरू करता है। निरवमव कोष अन्डे की शक्ल का होता है और उसका व्यास १/२०० इच होता है। वच्चे का जन्म स्त्री और पुरुष के समागम से होता है। स्त्री की कोख के अन्दर वाईं ओर दाहिनी ओर दो डिम्व ग्लैड (ovaries) होते है जो डिम्वो (ova) को वनाते है। प्रत्येक डिम्व ग्लैड एक डिम्व नाली (fallopian tube) द्वारा स्त्री के गर्भाशय (womb) से सम्वन्धित होता है। गर्भाशय स्त्री की दोनो जाँघो के वीच स्थित भग (vagina) कही जाने वाली एक नाली से सम्वन्धित होता ह (चित्र २)।

जव स्त्री युवा हो जाती है तो हर अट्ठाईसवें दिन उसके किसी डिम्व ग्लैड (ovaries) से एक डिम्व (ovum) छूट कर डिम्व नाली द्वारा गर्भाशय मे पहुँच जाता है। गर्भाशय में डिम्व की उपस्थिति यह सूचित करती है कि स्त्री गर्भाधान के लिए तैयार हो चुकी है। किन्तु स्त्री के डिम्व (ovum) से वच्चा तभी वन सकता है जव पुरुष के शुक्रकीटो (sperms) से डिम्व का मेल हो।
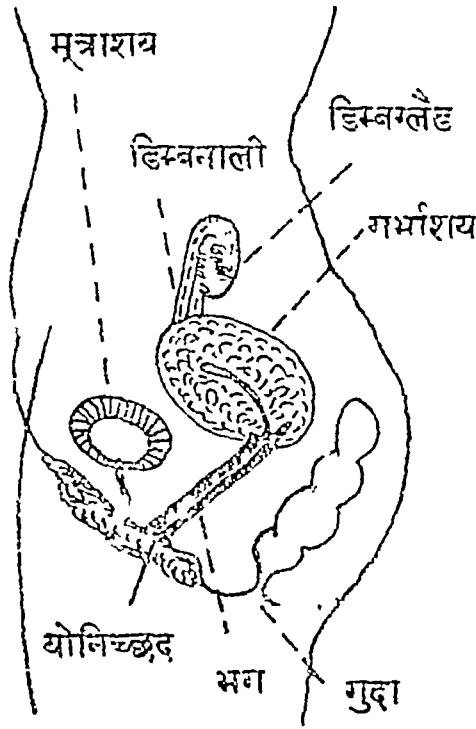
चित्र २

पुरुष के शुक्रकीट (sperms) उसके अडकोषो (testicles) मे बनते
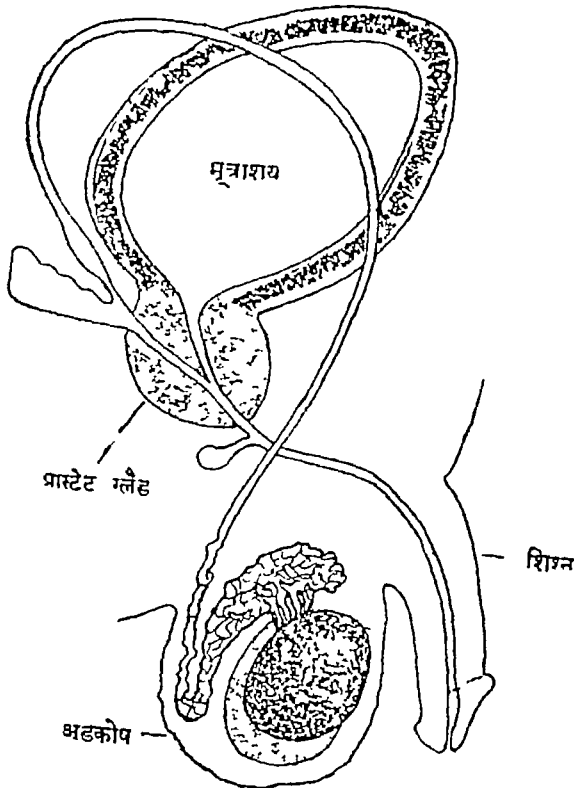
चित्र ३

है। अडकोष एक नाली द्वारा पुरुष के शिश्न से सम्बन्धित होते हैं (चित्र ३)। पुरुष का शिश्न ऐसे टिशुओ (tissues) से बना होता है जो खून के भरने से कड़े होकर तन जाते हैं जिससे पुरुष स्त्री से समागम करने योग्य बन जाता है। समागम के परिणाम-स्वरूप पुरुष के करोडो शुक्रकीट (sperms) वीर्य रूप मे स्त्री की भग द्वारा उसके गर्भाशय मे पहुँच जाते है। पुरुष के एक भी शुक्रकीट के स्त्री के डिम्ब से मिल जाने पर स्त्री के गर्भ रह जाता है। पुरुष के करोडो शुक्रकीटो मे से केवल एक ही शुक्रकीट स्त्री के डिम्ब से मिलता है, शेप मब नष्ट हो जाते है। शुक्रकीट के डिम्ब से मिलने पर डिम्ब की झिल्ली इतनी कडी हो जाती है कि फिर उसमें कोई और शुक्रकीट प्रवेश नही कर सकता।

गर्भस्थित कोष पोषक तत्वो को माँ के खून से ग्रहण करता है और अनेक रासायनिक क्रियाओ प्रतिक्रियाओ द्वारा विकसित होने लगता है। निरवयव कोष विकसित होकर दो कोपो में विभाजित हो जाता है। ये दो कोष चार
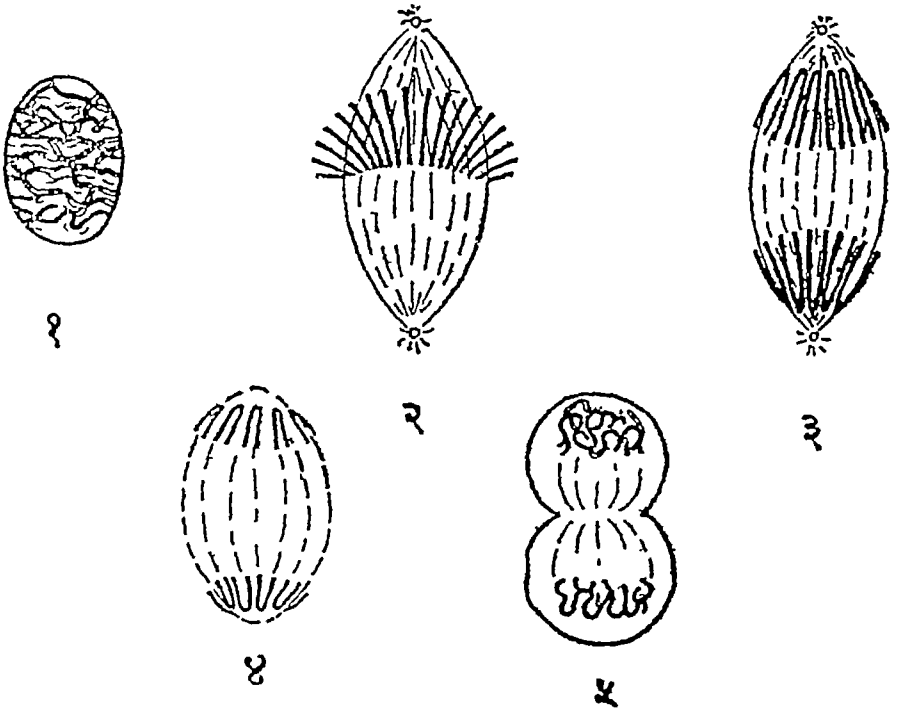
चित्र ४

मे, चार फिर आठ में, आठ फिर सोलह मे विभाजित होते-होते असंख्यक हो जाते है। कोप का विभाजन उसके मध्यभाग से होता है। विभाजन का संकेत पहले अन्तर्वीज (nucleus) में मिलता है। अन्तर्वीज मुडे हुए रेशो से बना होता है। विभाजन के समय अन्तर्वीज का मुड़ा हुआ रेशा चिमटो की शक्ल के छोटे-छोटे टुकडो मे बँट जाता है जिन्हे क्रोमोजोम्स (chromosomes) कहा जाता है। क्रोमोजोम यूनानी भापा का शब्द है जिसका अर्थ है रग

जाने वाला। अन्तर्वीज के मुडे रेशे को क्रोमोजोम इसलिए कहा जाता है कि उसे रगा जा सकता है और वह जल्द ही रग जाता है। क्रोमोजोम्स की सख्या प्रत्येक जाति के प्राणी में निश्चित रहती है। सब क्रोमोजोम्स एक-से नही होते। कुछ लम्बे और पतले, कुछ छोटे और मोटे तथा कुछ सीधे और मुडे हुए होते हैं। विभाजन के समय प्रत्येक क्रोमोजोम लम्बाई की ओर से दो टुकडो में टूट कर विरोधी दिशा में जाने लगता है। फिर सब क्रोमोजोम्स मिलकर जब कोष के दोनो सिरो पर अन्तर्वीज बन जाते है तब कोष बीचोबीच से दो भागो में टूट जाता है (चित्र ४)।

एक निरवयव कोष से उत्पन्न होने पर भी कोषो का विकास अलग-अलग दिशा मे होता है। उनकी शक्ल भी विभिन्न प्रकार की होती है। कुछ कोष छोटे, कुछ गोल और कुछ बिस्कुट के आकार के होते है। कोषो की विभिन्नता और उनकी अपरिमित सख्या आश्चर्य की बात है। प्रत्येक कोष का अपना अलग अस्तित्व होता है। विकसित होने पर कुछ कोप मासपेशियो (muscles) के कोष बन जाते है, कुछ त्वचा के, कुछ हड्डियो के और कुछ स्नायुओ (nerves) के। ये विभिन्न कोष भी प्रतिक्रिया अलग अलग तरह से करते है। मासपेशीय कोषो में प्रतिक्रिया करते समय आकुचन (contraction) होता है, ग्लैंडो (glands) में स्राव और स्नायु-कोषो में न्यूरोनीय प्रेरणा (nervous impulse) का प्रवाह। अपना अलग-अलग अस्तित्व रखते हुए भी ये सब कोष शरीर के हित के लिए एक सगठित ढग से काम करते हैं।

यद्यपि कोषो की विभिन्नता का कोई उचित कारण ज्ञात नही हो सका है, फिर भी उनकी विभिन्नता का कारण कोप के अन्दर होने वाली क्रियाओ को समझा जा सकता है। बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में कोप में तीन तहें होती हैं। त्वचा बाहरी तह से बनती है, मासपेशियाँ (muscles) और हड्डियाँ बीच की तह से बनती है और आन्तरिक अगो का निर्माण अन्दर की तह से होता है। तीनो तहें परस्पर अन्तर्क्रिया करके एक दूसरी को प्रभावित करती रहती है और अनेक तरह से मिलकर शरीर के विभिन्न अगो को उत्पन्न करती है।

बच्चा : जन्म से पहले

जन्म से पहले गर्भ में बच्चे के निर्माण की तीन अवस्थाएँ होती है। पहली अवस्था को बीजकाल (germinal period), दूसरी को बुद्बुद् काल (embryonic period) और तीसरी को भ्रूणकाल (fetus period) कहा जाता है।

(१) बीजकाल—गर्भाधान होते ही पुरुष के शुक्रकीट (sperm) और स्त्री के डिम्ब (ovum) से मिलकर बना निरवयव कोष विभाजित होने लगता है। कोष विभाजित और विकसित होकर एक कठोर गेंद-से बन जाते है। कुछ समय बाद इस गेंद मे तरल पदार्थ भर जाता है जिसके दबाव से भीतर के कोष बाहर के कोषो से अलग हो जाते है। इस प्रकार गेंद मे एक खोखला स्थान बन जाता है और भीतर के कोष तरल पदार्थ मे तैरने लगते है। बाहरी कोष एक झिल्लीदार थैली का रूप धारण कर लेते है। यह थैली तरल पदार्थ मे बीजरूप से रहने वाले कोषो की रक्षा करती है। बच्चे के जन्म होने के कुछ पहले यह थैली फट जाती है।

(२) बुद्‌बुद्‌ काल—गर्भाधान के दो सप्ताह बाद से दो महीने तक बच्चा बुद्‌बुद्‌ (embryo) अवस्था मे रहता है। इस काल मे वह अपने विकास तथा वृद्धि के लिए पोषक तत्व अपनी माँ के खून से लेता है और मल आदि को माँ के खून द्वारा बाहर निकालता है। यह काम एक पतली झिल्ली द्वारा होता है। माँ के खून के पोषक तत्व बच्चे को झिल्ली द्वारा छनकर मिलते रहते है। इस काल मे कोषो मे विभाजन और वृद्धि के साथ-साथ उनकी आन्तरिक रचना और शक्ल मे भी परिवर्तन होने लगता है जिससे विभिन्न अंगो के चिन्ह स्पष्ट होने लगते है। गर्भाधान के दो महीने बाद बुद्‌बुद्‌ (embryo) में अग-विभेदन स्पष्ट होने लगता है और आँख, कान, हाथो, पैरो, हड्डियो आदि विभिन्न अगो के निर्माण का सकेत मिलने लगता है। इस अवस्था मे सवेदनशीलता (sensitivity) और गतिबोध नही होता यद्यपि कुछ कोषो मे धडकन शुरू हो जाती है जिनसे बाद में हृदय का निर्माण होता है। अगविभेदन के परिणाम-स्वरूप दो महीने के बाद बुद्‌बुद्‌ मानवीय आकृति मे परिवर्तित हो जाता है और तब उसकी तीसरी अवस्था भ्रूणकाल का प्रारम्भ होता है जो प्रसव तक चलती है।

(३) भ्रूणकाल—इस काल में विभिन्न शारीरिक अंगो का विकास और वृद्धि बडी तेजी से होती है। मानवीय शरीर के लगभग सारे अग पूर्णतया स्पष्ट हो जाते है और फेफडो, हृदय, मासपेशियाँ (muscles), स्नायु (nerves) आदि अपनी-अपनी क्रिया करने योग्य हो जाते हैं।

बीजकाल से लेकर भ्रूणकाल तक के नौ महीनो मे बच्चे के विकास को रचनात्मक ही कहा जा सकता है। जन्म से पहले बच्चे के उन सब शारीरिक अंगो की रचना हो चुकती है जो उसे जन्म के बाद व्यवहार करने योग्य बनाते है। इस रचनात्मक अवस्था मे बच्चे के ऊपर अनेक प्रकार के प्रभाव पडते हैं जो उसके विकास की दिशा को निर्धारित करते है। कोई बच्चा अपनी माँ को

पडता है और कोई वाप को। वच्चे की आँख या देह का रङ्ग, उसकी शक्ल-सूरत, उसके गुण-अवगुण और अन्य विशेषताएँ वहुत-कुछ उसके माँ-वाप या माँ-वाप के पूर्वजो जैसी ही होती है। एक ही माँ-वाप के अनेक वच्चो मे से कुछ लडके और कुछ लडकी कैसे वनते हैं ? वे अपने माँ-वाप या उनके पूर्वजो पर कैसे पडते है ? इन महत्वपूर्ण प्रश्नो को समझने के लिए वच्चे पर पडने वाले आनुवशिकता (heredity) के प्रभाव पर विचार करना आवश्यक है।

आनुवशिकता---वच्चे का निर्माण एक निरवयव कोप से होता है। कोप के वीच में अन्तर्वीज होता है जिसमे विभिन्न लम्वाई की छडे सी रहती हैं जिन्हे क्रोमोज़ोम्स (chromosomes) कहा जाता है। क्रोमोज़ोमो की सख्या विभिन्न प्राणियो मे अलग-अलग होती है किन्तु मनुष्य मे २४ जोडे या ४८ क्रोमोजोम ही होते हैं। क्रोमोज़ोमो मे और भी छोटे-छोटे रासायनिक पदार्थ होते है जिन्हे जीन (genes) कहा जाता है। माँ-वाप से प्राप्त होने वाली वच्चे की सारी विशेपताएँ, उसका रङ्ग, शक्ल-सूरत, गुण-अवगुण आदि का भौतिक आधार जीनो (genes मे ही होता है। मानवी विशेषताओ का आधार जीन मे होने से ही शायद मनुष्यो को 'जन' कहा जाता है। लैटिन भाषा के 'जीन' शव्द और सस्कृत भाषा के 'जन' शव्द एक ही धातु से वने हैं।

वच्चे का जन्म जिस निरवयव कोप से होता है उस कोष के ४८ क्रोमोजोमो मे से वच्चा २४ माँ से और २४ वाप से प्राप्त करता है। इस प्रकार शुक्रकीट (sperms) और डिम्व (ova) जव मिलते है तो वे अपने-अपने आवे जीनो (genes) को छोड़ देते हैं जिससे माँ-वाप की अनेक विशेपताएँ नष्ट हो जाती है और वच्चे में नही जा पाती।
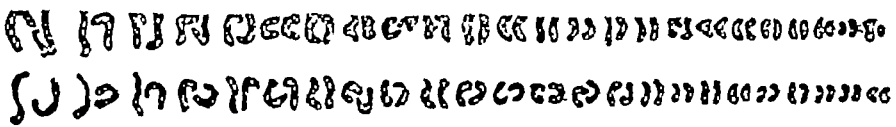
चित्र ५

चित्र ५ में ऊपर पुरुप के और नीचे स्त्री के क्रोमोज़ोमो की व्यवस्था दिखाई गई है। यहाँ उनका क्रम उनके आकार के अनुसार है किन्तु अन्तर्वीज (nucleus) मे उनका क्रम अनियमित होता है। विल्कुल दाहिनी ओर पुरुष और स्त्री दोनो के क्रोमोज़ोम के जोडे की तुलना कीजिये। उनमें जो अन्तर है उसे x और y चिह्नो से वताया जाता है। पुरुप के क्रोमोजोम का अन्तिम जोडा x y होता है और स्त्री का x x होता है। x y और x x क्रोमोजोमो के जोडे ही वच्चे के सेक्स या लैंगिक भेद के निर्धारक होते है। गर्भाधान के समय माँ के डिम्व (ovum) से २३ + x और वाप के शुक्रकीट

(sperm) से, २३ + x क्रोमोजोम मिलने पर बच्चा लड़की और माँ के डिम्ब से २३ + x और बाप के शुक्रकीट से २३ + y मिलने पर लडका बनता है (चित्र ६)। पुरुप के x या y क्रोमोजोम का स्त्री के x क्रोमोज़ोमो से मिलना सयोगपर निर्भर होता है, इसलिए बच्चे का लडका या लडकी होना सयोग की ही बात है।
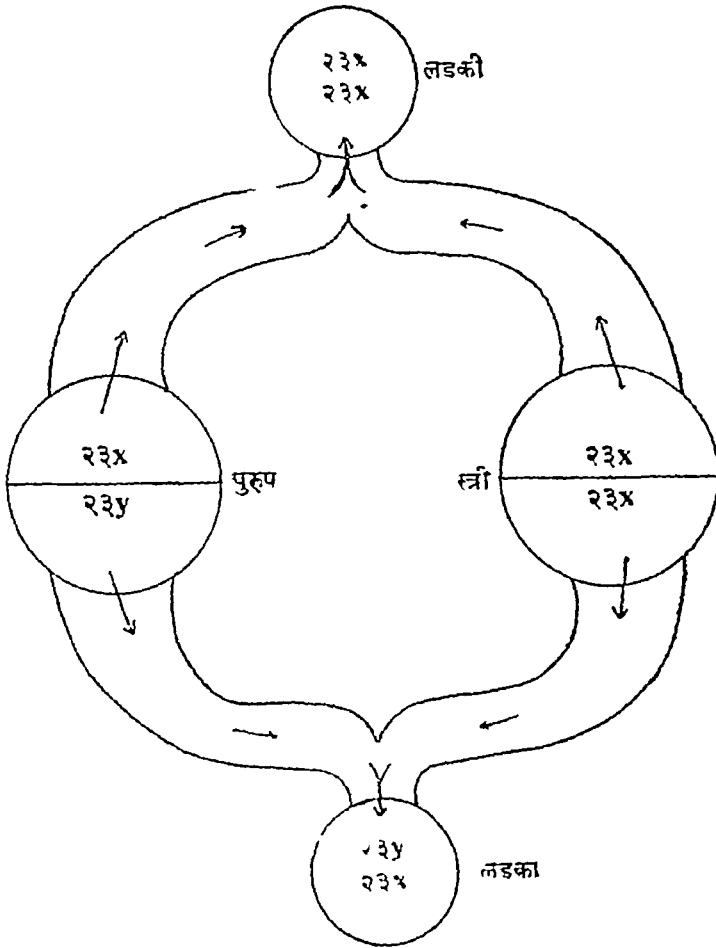
चित्र ६

माँ-बाप से प्राप्त दो तरह के क्रोमोजोम अपने को इस ढग से व्यवस्थित कर लेते है कि एक ही प्रकार की क्रिया करने वाले जीन (gene) एक दूसरे के आमने-सामने पड जाते है । वे दोनो एक ही प्रकार की क्रिया करते है। एक ही माँ से उत्पन्न अनेक बच्चो में जो विभिन्नता होती है वह जीनो (genes) की विभिन्न प्रकार की व्यवस्था और उनके अनेक प्रकार के सहयोग से होती है। प्रत्येक जीन का क्रोमोज़ोम में एक विशेष स्थान तथा आनुवशिकता मे विशेष कार्य होता है। जीनो का कार्य अलग-अलग न होकर सामूहिक होता है। हर प्रकार की शारीरिक विशेषता कई जीनो के आपसी सहयोग का परिणाम होती है। किसी भी जीन की क्रिया बदल जाने पर व्यक्ति की उस जीन से सम्वन्वित विशेपता का पूरा रूप बदल सकता है। चूँकि बच्चे के जीनो का सगठन माँ के गर्भ में होता है इसलिए माँ को 'जननी' ठीक ही कहा जाता है।

बच्चे के क्रोमोजोमो के हर जोडे में दो समान क्रिया करने वाले जीनो (genes) के प्रबन्ध का बहुत बडा महत्व है क्योंकि एक जीन के दूषित होने पर उसी जोडे का दूसरा जीन उसकी सहायता के बिना अपने काम को अकेले ही कर लेता है। बच्चे की बहुत सी विशेषताओ को जीन अकेले ही निर्धारित करते है किन्तु कुछ विशेषताएँ जीनो तथा परिवेश (environment) के पारस्परिक सहयोग से प्रस्फुटित होती है और उनका प्रस्फुटन विभिन्न लोगो में विभिन्न प्रकार से होता है।

आनुवंशिकता की व्याख्या

बच्चा अपने माँ बाप से आनुवशिक विशेषताओं को कैसे प्राप्त करता है? इसकी व्याख्या के लिए अनेक सिद्धान्त प्रचलित है। नीचे उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तो पर विचार किया जायगा।

(१) वाइसमन का सिद्धान्त—इस सिद्धान्त के अनुसार बच्चे का निर्माण करने वाले कोष के विभेदन के परिणामस्वरूप जिन असख्य कोषो का निर्माण होता है उनमें से कुछ कोप केवल पुनरुत्पादन के होते है। पुनरुत्पादक कोष शरीर रचना के काम में भाग नही लेते और एक पीढी से दूसरी पीढी को ज्यो के त्यो प्राप्त हो जाते है। पुनरुत्पादक कोपो की इस अविच्छिन्नता (continuity) की मान्यता के अनुसार माँ-बाप बच्चे को उत्पन्न करने वाले न होकर केवल पूर्वजो से प्राप्त होने वाले कोपो के सरक्षक ही होते है और वे उन कोपो को आगे की पीढी को अविच्छिन्न रूप से दे देते है।

कोपो की अविच्छिन्नता का यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। बच्चे को निर्मित करने वाले सब कोप, उनके क्रोमोजोम और जीन, एक दूसरे से प्रभावित होते रहते है और सामूहिक रूप से क्रिया करते है। अतएव यह मान लेना निराधार है कि पुनरुत्पादन करने वाले कुछ कोष बच्चे की रचनात्मक अवस्था में अन्य कोपो के प्रभाव से अछूते तथा अप्रभावित रहते है।

(२) विकासवादी सिद्धांत—लैमार्क और डार्विन ने आनुवशिकता की व्याख्या विकासवाद की पृष्ठभूमि पर करने का प्रयत्न किया। लैमार्क के अनुसार जगत की उत्तेजनाओ के प्रति की गई प्रतिक्रियाओ के परिणाम-स्वरूप व्यक्ति में कुछ परिवर्तन और सशोधन होते है जो किसी सीमा तक उसकी अगली पीढी को भी प्राप्त होते है। लगातार परिवर्तन और सशोधन होते रहने से कुछ पीढियो के बाद प्राणी सर्वथा नवीन विशेपताएँ लेकर पैदा होता है जो उसके पूर्वजो में नही पाई जाती।

लैमार्क के सिद्धान्त के अनुसार बच्चे को अपने माँ-बाप की अर्जित विशेपताएँ प्राप्त होती है। उत्तेजनाओ के प्रति प्रतिक्रिया करने से व्यक्ति में जो संशोधन

या परिवर्तन होते है वे आनुवशिक नही होते, व्यक्ति उन्हे अपने माँ-बाप से न पाकर स्वय अर्जित करता है। बच्चा अपने माँ-बाप की अर्जित विशेषताएँ भी प्राप्त करता है इसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है। प्रयोगो से यह सिद्ध हो चुका है कि माँ-बाप द्वारा अर्जित विशेषताओ का उनके जीनो पर कोई प्रभाव नही पडता। फिर उनकी संतान उनकी अर्जित विशेषताओ को कैसे प्राप्त कर सकती है ? बढई अपने बच्चे को बढ़ईगीरी सिखा सकता है किंतु उसे आनुवशिक दान के रूप मे नही दे सकता। हमारे समाज मे प्रचलित वर्ण-व्यवस्था के पीछे लैमार्क जैसे विचारको के सिद्धान्त ही रहे होगे जिनका आज कोई वैज्ञानिक आधार नही है।

डार्विन ने आने वाली पीढ़ियो में पाए जाने वाले सशोधनों तथा परिवर्तनो का कारण उनके परिवेश में माना है। परिवेश प्राणी का विरोधी होता है जिससे प्राणी को जी सकने के लिए परिवेश से निरन्तर सघर्ष करना पडता है। उस सघर्ष में दुर्बल प्राणी नष्ट हो जाते है और सबल अपने परिवेश में अनुकूल परिवर्तन करके अपना अस्तित्व बनाए रखते है। इस व्यापार को डार्विन ने प्राकृतिक चुनाव (natural selection) नाम दिया। प्राकृतिक चुनाव एक पीढी के बाद दूसरी पीढी मे लगातार होता रहता है जिससे नष्ट हो जाने वाले प्राणियो की विशेषताएँ आने वाली पीढी को प्राप्त नही होती।

(३) मेन्डेलीय सिद्धान्त— ग्रेगर मेन्डेल ने अपने प्रयोगो से डार्विन के विकासवाद और प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त पर नया प्रकाश डाला। मेन्डेल ने अपने प्रयोग मटर के पौधो पर किए थे। मटर के पौधो पर प्रयोग करने में यह सुविधा थी कि उनकी अनेक पीढियो की आनुवशिक विशेषताओ की परीक्षा की जा सकती थी। मेन्डेल ने मटर की एक पीली फली को हरी फली से गर्भित कराया। इसके परिणामस्वरूप फलियाँ पीली ही हुई। यद्यपि सब फलियो मे पीला रग प्रधान था किंतु उनमें हरे रग की झलक भी थी। पीली-हरी फलियो को आपस में गर्भित कराने पर तीन फलियाँ पीली और एक शुद्ध हरी हुई। तीन पीली फलियो में एक तो शुद्ध पीली थी और शेष दो मे पीले रग के साथ हरे रग की झलक थी। अनेक बार गर्भित कराने पर भी उनका अनुपात यही रहता था · एक शुद्ध पीली, दो पीली-हरी और एक शुद्ध हरी।

मेन्डेल के इस प्रयोग ने डार्विन के प्राकृतिक चुनाव के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया। प्राकृतिक चुनाव के अनुसार पीली और हरी फलियो को गर्भित कराने से सभी फलियाँ पीले-हरे रंग के औसत रग की होनी चाहिए थी जबकि मेन्डेल के प्रयोग में दो फलियाँ औसत रंग की और दो शुद्ध रग की हुई।

मेन्डेल ने फलियो की अन्य विशेषताओ, बडी और छोटी, गोल और झुर्रियोदार, पर भी प्रयोग करके उसी परिणाम को देखा जिसे पीली और हरी फलियो के साथ देखा था। लम्बी फली को छोटी फली के बीज के साथ गर्भित कराए जाने पर पहली पीढी में फलियाँ लम्बी हुई। फिर जब उनको आपस मे गर्भित किया गया तो तीन फलियाँ लम्बी और एक छोटी हुई। छोटी फली शुद्ध छोटी थी और उसकी सारी पीढियाँ छोटी हुई। तीन लम्बी फलियो मे एक शुद्ध लम्बी थी जिसकी सारी पीढियाँ लम्बी हुईं। शेष दो लम्बी फलियो को गर्भित कराने पर चार फलियाँ हुईं. तीन लम्बी और एक छोटी। उनको गर्भित कराने पर फिर उपर्युक्त अनुपात प्राप्त होता रहा।

अपने प्रयोगो के आधार पर मेन्डेल ने यह सिद्धान्त बनाया कि पुनरुत्पादक कोष दो विभिन्न विशेषताओ मे से केवल एक ही विशेषता का वाहक होता है। मटर के पौधो के पुनरुत्पादक कोष फलियो की बडेपन या छोटेपन और बीज के पीले या हरे रग होने की दो विशेषताओ में से केवल एक ही के वाहक होते है। पहले तो मेन्डेल के इस सिद्धात पर सन्देह किया जाता रहा किंतु लायड मॉर्गन की खोजो से बाद में मेन्डेल के सिद्धान्त की सत्यता निर्विवाद हो गई। मेन्डेलीय सिद्धान्त के अनुसार पुनरुत्पादक कोषो की विशेषतायें आगे की पीढियो को एक निश्चित अनुपात में प्राप्त होती हैं जिसका पूर्व अनुमान कर सकना सम्भव है। मेन्डेलीय सिद्धान्त मनुष्यो पर भी लागू होता है।

मेन्डेलीय सिद्धान्त की व्याख्या—गर्भाधान के समय माँ-बाप से प्राप्त होने वाले दो तरह के क्रोमोजोम अपने को इस ढग से व्यवस्थित कर लेते है कि एक ही प्रकार की क्रिया करने वाले जीन एक दूसरे के आमने-सामने आ जाते है। आमने-सामने के दोनो जीन एक ही प्रकार की क्रिया करते है चाहे उनकी क्रिया एक ही दिशा में हो या विरोधी दिशा में। क्रोमोजोम के एक जोडे के दोनो जीनो के एक ही दिशा में काम करने पर उनकी विशेषता बच्चे में प्रस्फुटित होती है, विरोधी दिशा में काम करने पर बच्चे में या तो उन दोनो जीनो की विशेषता का मध्यम रूप प्रस्फुटित होता है या एक जीन दूसरे जीन की क्रिया को बिल्कुल दबा देता है और अपनी ही विशेषता प्रस्फुटित करता है। दो जीनो में जो अधिक प्रभावशाली होता है तथा जो दूसरे जीन के रहते हुए भी अपना ही प्रभाव प्रस्फुटित करता है उसे प्रभुता-शाली (dominant) जीन कहा जाता है और जिस जीन का प्रभाव दब जाता है उसे प्रभुताहीन (recessive) जीन कहा जाता है। प्रभुताहीन जीन ज्यो-का-त्यों बना रहता है और अगली पीढी को मिलता है। अगली पीढी में यदि उसका मेल दूसरे प्रभुताहीन जीन से हो जाता है तो उसका प्रभाव प्रस्फुटित होता है।

आँखो का काला रग प्रभुताशाली होता है और नीला रंग प्रभुताहीन। बच्चा अपनी आँख के रंग के निर्धारक दो जीन प्राप्त करता है, एक माँ से और एक बाप से। यदि बच्चा अपने माँ-बाप से आँखो के काले रग को निर्धारित करने वाले दो जीन (genes) प्राप्त करे तो उसकी आँखें काली होगी और यदि एक जीन काले रग का और एक नीले रग का प्राप्त करे तो भी उसकी आँखे काले रग की होगी क्योकि काला रग प्रभुताशाली (dominant) होता है जिससे वह प्रभुताहीन (recessive) नीले रग को दबा देता है। बच्चे की आँखे नीले रग की तभी हो सकती है जब वह नीले रग के दो प्रभुताहीन जीनो को प्राप्त करे। बच्चे का अपने माँ या बाप को पडना उनसे प्राप्त होने वाले प्रभुताशाली जीनो पर निर्भर होता है। अगर बच्चा अपने माँ या बाप को नही पड़ता तो इसका अर्थ यह है कि उसने अपने माँ-बाप मे प्रकट न होने वाले ऐसे प्रभुताहीन जीनो को प्राप्त किया है जो उसके माँ-बाप के पूर्वजो मे अवश्य प्रकट रहे होगे। माँ के कुलटा होने पर ही बच्चा अपने माँ-बाप या उनके पूर्वजो को नही पडेगा।

परिवेश का प्रभाव

मनुष्य के परिवेश के दो पक्ष होते है—जन्म से पहले और जन्म के बाद। जन्म के पहले का परिवेश अन्तर्कोपीय (intercellular) होता है। मनुष्य को निर्मित करने वाले कोप एक दूसरे से घिरे रहते है और एक दूसरे को अनेक प्रकार से प्रभावित करते है। कोष न केवल एक दूसरे को ही प्रभावित करते है किन्तु वे दूरस्थ आन्तरिक शारीरिक क्रियाओ जैसे रक्त-प्रवाह आदि से स्वय भी प्रभावित होते रहते है। गर्भस्थित बच्चे को माँ की आन्तरिक शारीरिक स्थितियाँ भी अनेक प्रकार से प्रभावित करती रहती है।

जन्म के बाद बच्चा बाहरी परिवेश से अनेक तरह से प्रभावित होने लगता है। धर्म, सामाजिक प्रथाएँ, नैतिक आदर्श, राजनैतिक परिस्थितियाँ, आमोद-प्रमोद के साधन आदि का प्रभाव बाहरी परिवेश होता है। बाहरी परिवेश के प्रभावो से ही मनुष्य में व्यक्तिगत भेद पैदा होते है। व्यक्तिगत भेदो को उत्पन्न करने में आनुवशिकता या परिवेश दोनो मे किसका सापेक्षिक महत्व अधिक होता है इस प्रश्न का निर्णय करना कठिन है। जन्म के बाद का परिवेश इतना परिवर्तनीय और अकथनीय होता है कि वह व्यक्ति के विकास में आनुवशिकता और परिवेश के सापेक्ष प्रभाव के प्रश्न को और भी जटिल बना देता है। दोनो का सापेक्ष प्रभाव जानने के लिए एक उपाय यही हो सकता है कि आनुवशिकता और परिवेश मे से एक को बारी-बारी से स्थायी बनाकर दूसरे को नियमित रूप से परिवर्तित करके यह देखा जाय कि व्यक्ति के विकास पर किसका सापेक्ष प्रभाव ज्यादा पड़ता है।

किन्तु मनुष्यो पर उपर्युक्त ढंग से आनुवशिकता और परिवेश के प्रयोग कर सकना कठिन है। हाँ, जुडवाँ बच्चो पर प्रयोग करके परिवेश के प्रभाव को देखा जा सकता है। जुडवाँ बच्चो की आनुवशिकता लगभग एक-सी ही होती है। किन्तु उनका परिवेश एक-सा न होकर अलग-अलग और सदा परिवर्तित होने वाला होता है।

परिवेश को स्थायी रखकर आनुवशिक परिवर्तन करने के प्रयोग केवल पशुओ पर ही किए जा सकते है क्योकि मनुष्यो का परिवेश एक-सा और स्थायी नही होता। पशुओ के परिवेश (खाने, प्रकाश, तापक्रम और अन्य बातो) पर पूरा नियत्रण करके उसे स्थायी बनाया जा सकता है।

आनुवशिकता और परिवेश पर किए गए प्रयोगो से यह पता चला है कि दोनो में से चाहे किसी को स्थायी रक्खा जाय और चाहे किसी को परिवर्तित किया जाय लेकिन दोनो ही दशाओ मे परिवर्तन मनोवैज्ञानिक विशेषताओ मे ही होते है। किन्तु बडी सम्भावना यह है कि शारीरिक विकासगत भेदो और बुद्धि पर आनुवशिक प्रभाव ज्यादा पडता है जबकि परिवेश से व्यक्तिगत विशेषताएँ ही ज्यादा प्रभावित होती है।

बच्चे जन्मत अप्रकृत (abnormal) आन्तरिक परिवेश के दूषित होने से होते है। जन्मत अप्रकृत होने के कई कारण हो सकते है। गर्भ में बच्चे की स्थिति अगर प्रकृत विकास के अनुकूल न हो तो बच्चे के अङ्ग अप्रकृत बन जाते है। माँ के रक्त प्रवाह से उचित मात्रा में कैल्शियम न मिलने से शरीर का ढाँचा विकृत बन जाता है। ऐसे विकार आन्तरिक परिवेश की किसी दुर्घटना का ही परिणाम होते है।

बच्चो के आनुवशिक दोष अन्तर्कोषीय जटिल सम्बन्धो में कोई व्यतिक्रम होने से पैदा होते है। उदाहरण के लिए कभी-कभी किसी बच्चे मे जन्म के समय कोई अङ्ग विशेष ही नही होता और किसी-किसी मे फालतू अङ्ग भी होता है। किसी-किसी बच्चे का हृदय दाहिनी ओर होने का उदाहरण भी मिला है। कोई पुरुष-बच्चा बाद में स्त्री बन जाता है। ऐसे विभिन्न विकारो का कारण आनुवशिक ही हो सकता है।

४

परिधीय और केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध

प्राणी के पास व्यवहार करने का साधन है उसका शरीर—'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।' व्यवहार करने के लिए शरीर में स्नायु-प्रबन्ध (Nervous System) होता है जिसके दो भाग किए जा सकते है : परिधीय प्रबन्ध (peripheral system) और केन्द्रीय प्रबन्ध (central system)। परिधीय और केन्द्रीय प्रबन्ध की रचना कोषो के विभाजन और उनकी विभिन्नता से होती है। विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे जब प्राणी व्यवहार कर सकने योग्य भी नही होता परिधीय और केन्द्रीय प्रबन्धो की रचना एक टयूब की भाँति दिखाई पडने वाले अङ्ग से होती है। इस टयूब के ऊपरी भाग की रचना तीन बल्बो जैसी होती है (चित्र ७)।
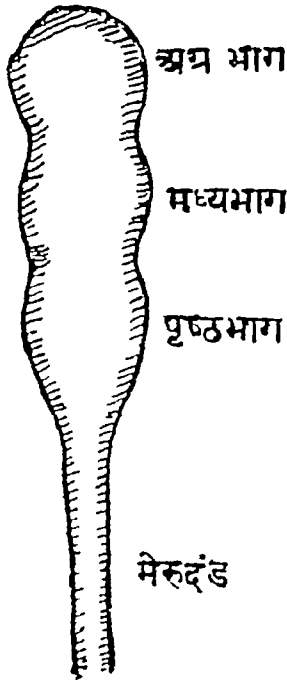
चित्र ७

केन्द्रीय रचना टयूब के बल्बो से होती है और उसके अन्तर्गत मस्तिष्क (brain) तथा उसके विभिन्न भाग आते है। टयूब के नीचे के भाग से मेरुदण्ड (spinal cord) की रचना होती है। मेरुदण्ड से असख्य स्नायु

(nerves) निकलते हैं और मानवी शरीर की सारी परिधि में फैलकर शरीर के परिधीय (peripheral) प्रबन्ध का निर्माण करते हैं। प्राणी का सारा व्यवहार उसके परिधीय प्रबन्ध के माध्यम से और व्यवहार का सचालन और नियन्त्रण केन्द्रीय प्रबन्ध द्वारा होता है।

परिधीय प्रबन्ध

शरीर की सारी परिधि मे स्नायुओ (nerves) का एक जाल-सा फैला रहता है (चित्र ८) और प्रत्येक स्नायु मेरुदड और मेरुदड द्वारा केन्द्रीय प्रबन्ध से सम्पर्क रखता है। स्नायुओ का निर्माण जिन कोषो से होता ह उन्हे स्नायु कोष या न्यूरोन (neurone) कहा जाता है और उनमें शरीर के अन्य कोषो की अपेक्षा अधिक सुविकारिता (irritability) होती है जिससे वे अनुकूल या प्रतिकूल उत्तेजनाओ के प्रति भावात्मक या अभावात्मक प्रतिक्रिया अच्छी तरह कर सकने की योग्यता रखते हैं।
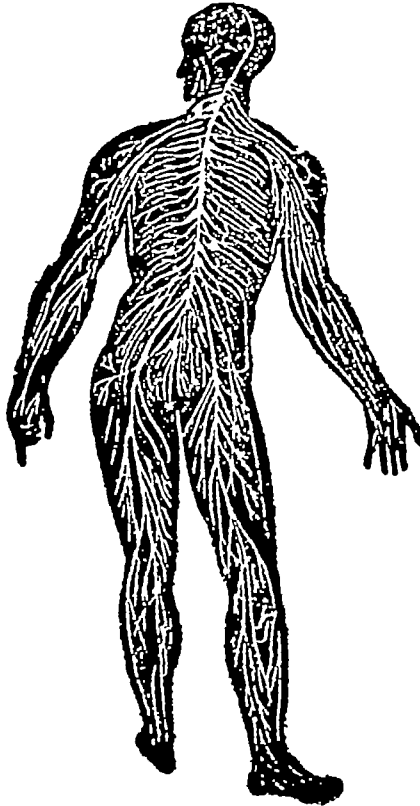
चित्र ८

न्यूरोन—स्नायुकोष या न्यूरोन हजारो छोटे-छोटे रेशो से निर्मित होता है। न्यूरोन के एक ओर अनेक शाखाएँ सी निकली होती हैं जिन्हे डेन्ड्रोन (dendrone) कहते हैं। डेन्ड्रोन का काम उत्तेजना ग्रहण करना होता है। न्यूरोन के

दूसरी ओर एक लम्बी दुम सी होती है जिसे एक्ज़ोन (axon) कहते है (चित्र ६)। एक्जोन का काम उत्तेजना को मनस् या मेरुदड तक पहुँचाना होता है।
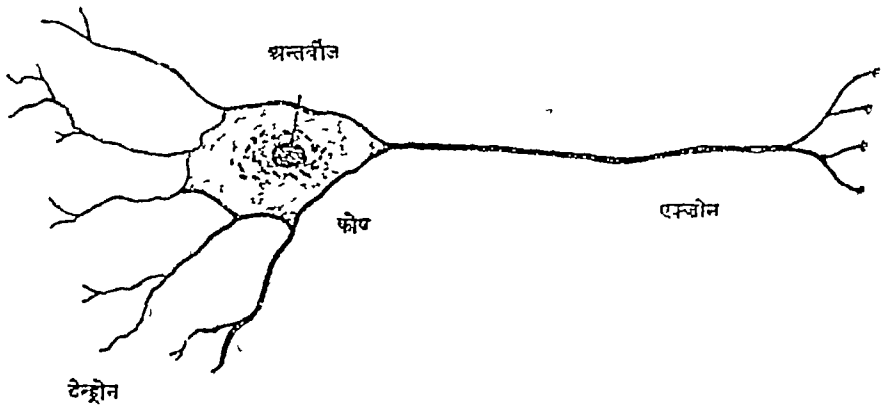
चित्र ६

न्यूरोन के डेन्ड्रोन शरीर के ग्राहको (आँख, कान, नाक, मुँह आदि) से सम्पर्क रखते है। जिस जगह एक न्यूरोन का एक्जोन खत्म होता है वही से दूसरे न्यूरोन का डेन्ड्रोन शुरू हो जाता ह जिससे पहले न्यूरोन के एक्जोन से आई उत्तेजना को दूसरे न्यूरोन का डेन्ड्रोन ग्रहण कर लेता है और अपने एक्जोन द्वारा आगे वढा कर तीसरे न्यूरोन तक पहुँचा देता है। उत्तेजना तीसरे न्यूरोन से चौथे, चौथे से पाँचवें और इसी तरह अनेक न्यूरोनो से होकर उस एक्जोन मे पहुँच जाती है जो किसी कर्मेन्द्रिय से सम्पर्क रखता है और तब वह कर्मेन्द्रिय प्रतिक्रिया करती है।

न्यूरोनीय सामीप्य—कोई न्यूरोन जिस स्थान पर दूसरे न्यूरोन से सम्पर्क रखता है उस स्थान को न्यूरोनीय-सामीप्य (synapse) कहते है (चित्र १०)। किसी न्यूरोन का एक्जोन दूसरे न्यूरोन के डेन्ड्रोन से सामीप्य ही रखता है, उससे जुडा नही होता और अपनी अलग सत्ता रखता है। प्रतिक्रियाओ की विविधता न्यूरोनीय-सामीप्यो द्वारा ही सम्भव होती है। किसी न्यूरोन के डेन्ड्रोन अन्य न्यूरोनो के एक्जोनो से अनेक न्यूरोनीय-सामीप्य रख सकते है। उत्तेजना न्यूरोन के एक्जोन से दूसरे न्यूरोन के डेन्ड्रोन की ओर न्यूरोनीय-सामीप्य से होकर जाती है। न्यूरोनीय सामीप्य उत्तेजना के उन्मुक्त प्रवाह में वाधा डालता है। प्रवल या वार वार किए जाने वाले काम की उत्तेजना न्यूरोनीय सामीप्य के प्रतिरोध को तोडकर अपनी दिशा वडी सुगमत से निर्धारित कर लेती है। प्रत्येक न्यूरोन अनेक न्यूरोनो के एक्जोनो से उत्तेजना ग्रहण कर सकता है। अनेक उत्तेजनाएँ एक ही न्यूरोन पर आकर मिल सकती है और एक ही प्रतिक्रिया अनेक न्यूरोनों को प्रभावित कर

सकती है। साँस लेने के केन्द्र में न्यूरोनीय प्रेरणा केवल फेफडो से ही नही आती वरन् अन्य बोधवाहक न्यूरोनो की प्रेरणाएँ भी आती है जिससे साँस लेन
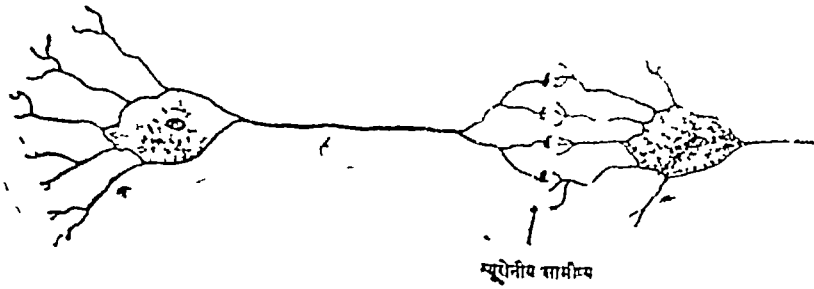
चित्र १०

की क्रिया में दुखद उत्तेजना, कान फाड डालने वाली आवाज या त्वचा पर ठडा पानी पड़ने के समय आसानी से सशोधन हो जाता है।

उत्तेजना और न्यूरोन—उत्तेजना मिलने पर स्नायुकोष (nerve-cell) में सञ्चित शक्ति उन्मुक्त हो जाती है जिससे न्यूरोनो में एक प्रकार का विद्युत-रासायनिक (electro-chemical) प्रवाह होने लगता है जिसे न्यूरोनीय प्रेरणा (nervous-impulse) कहा जाता है। उत्तेजना मिलने से बोधवाहक न्यूरोन के डेन्ड्रोन पर न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। न्यूरोनीय प्रेरणा मनस् या मेरुदण्ड मे जाती है और वहाँ अनेक प्रकार से सगठित होकर मास-पेशियो (muscles) में जाती है जिसके परिणाम स्वरूप कोई न ोई प्रति-क्रिया होती है। न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रवाह को आगे सक्षिप्त रूप से शक्ति का प्रवाह भी कहा जायगा।

न्यूरोनो में होने वाला विद्युत-रासायनिक प्रवाह बहुत क्षीण होता है और बहुत कम शक्ति की अपेक्षा रखने पर भी न्यूरोन मनस् को उत्तेजित कर मासपेशियो से प्रतिक्रिया करा लेता है। न्यूरोनीय प्रेरणा की गति लगभग ७५ गज प्रति सेकण्ड होती है किन्तु वह सदा निर्बाध नही रहती। नीद, मूर्च्छा, थकान आदि की अवस्था में न्यूरोनीय प्रेरणा का अवरोध होता है वह अवरोध न्यूरोनीय-सामीप्य पर होता है। सन्देह, दुविधा और चिन्तन आदि में न्यूरोनीय प्रेरणा का अवरोध मनस् के अन्दर न्यूरोनीय-सामीप्यो पर होता है जिससे काम करने में देर लगती है।

एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि जब उत्तेजना नही मिलती तब शरीर के अन्दर क्या होता रहता है ? शरोर के अन्दर क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ निरन्तर होती रहती हैं। न्यूरोनीय प्रेरणा के आने पर शरीर के अन्दर होने वाली क्रियाओ में सशोधन हो जाता है। शरीर के भीतर साधारण प्रतिकियाएँ सदा

होती रहती है और मानवी शरीर के भीतर होने वाला सारा व्यापार उन्ही साधारण प्रतिक्रियाओ से निर्मित होता है ।

न्यूरोनों के भेद—न्यूरोन तीन प्रकार के होते है . बोधवाहक (sensory), क्रियावाहक (motor) और सयोजक (connector)। बोधवाहक न्यूरोनो के डेन्ड्रोन आँख, कान, रसना, नाक या त्वचा आदि किसी बोधेन्द्रिय मे रहते है और एक्जोन मनस् या मेरुदण्ड में जाते है। बोधवाहक न्यूरोन अपने डेन्ड्रोन द्वारा उत्तेजना ग्रहण करता है और उसे अपने एक्जोन द्वारा मनस् या मेरुदण्ड मे भेजता है। यदि किसी आँख का कोई बोधवाहक न्यूरोन कट जाय तो मनुष्य उस आँख से देख नही सकता क्योकि तब मनस् को आँख द्वारा ग्रहण की गई उत्तेजना का बोध नही हो सकता।

क्रियावाहक न्यूरोन के डेन्ड्रोन मनस् या मेरुदण्ड में रहते है और एक्जोन मासपेशियो मे। क्रियावाहक न्यूरोन का काम मनस् या मेरुदण्ड से आदेश पाकर उसे किसी मासपेशी में पहुँचा देना होता है जिससे वह मासपेशी मनस् या मेरुदण्ड के आदेश के अनुसार काम कर सके। यदि दुर्घटना से कोई क्रियावाहक न्यूरोन नष्ट हो जाय तो उससे सम्बन्धित मासपेशी मनस् या मेरुदण्ड से आदेश न पा सकने के कारण बकार हो जाती है।

सयोजक न्यूरोनो का काम बोधवाहक और क्रियावाहक न्यूरोनो मे सम्वन्ध स्थापित करना होता है। सयोजक न्यूरोन मनस् मे सबसे अधिक होते है जिससे मनस् में लाखो न्यूरोनीय-सामीप्य होते हैं। सयोजक न्यूरोन द्वारा उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ मे उचित सगठन होता है। सयोजक न्यूरोनो के अभाव मे वोधवाहक और क्रियावाहक न्यूरोनो में कोई क्रियात्मक सम्बन्ध नही हो सकता।

मनुष्य के शरीर में असख्य वोधवाहक और क्रियावाहक न्यूरोन होते है और प्रत्येक न्यूरोन का काम अलग-अलग होता है। यदि एक ही न्यूरोन अनेक प्रकार की उत्तेजनाएँ ग्रहण करता तो सारा मानवी व्यवहार आकस्मिक और विच्छृङ्खल होता। प्रत्येक न्यूरोन का काम अलग-अलग बँटा होने और उन सबका संचालन एक ही केन्द्र (मनस् या मेरुदड) से होने के कारण मनुष्य कई काम एक साथ कर सकता है और अनेक कामो के साथ-साथ होते रहने पर भी पूरे शरीर का व्यवहार एक सतुलित और व्यवस्थित इकाई वना रहता है।

न्यूरोनीय क्रियाएँ—उत्तेजना मिलने पर वोधवाहक न्यूरोन न्यूरोनीय प्रेरणा को क्रियावाहक न्यूरोन तक पहुँचा देता है जिससे प्रतिक्रिया होती है। वोधवाहक

न्यूरोनीय प्रेरणा का क्रियावाहक न्यूरोनीय प्रेरणा में परिवर्तित हो जाना प्रक्षिप्त क्रिया (reflex action) कहलाता है। प्रक्षिप्त क्रिया बोधवाहक उत्तेजना के प्रति होने वाली तत्कालिक मासपेशीय या ग्लैंडीय (glandular) प्रतिक्रिया होती है। प्रक्षिप्त क्रिया अनायास (involuntary) होती है, उसे सीखना नही पडता। जब प्रक्षिप्त क्रिया केवल एक बोधवाहक, एक सयोजक और एक क्रियावाहक न्यूरोन द्वारा होती है तो प्रक्षिप्त क्रिया के द्वार को प्रक्षिप्त चाप (reflex arc) कहा जाता है (चित्र ११)।
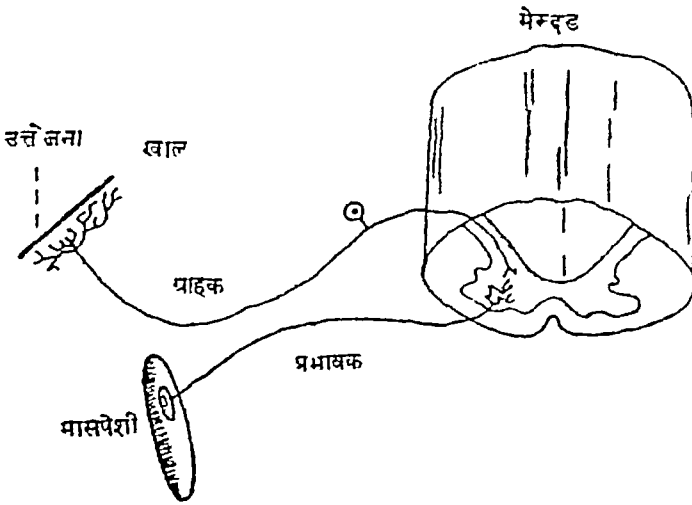
चित्र ११

प्राणी का लगभग सारा शारीरिक व्यवहार प्रक्षिप्त क्रियाओ से निर्मित होता है। प्रक्षिप्त क्रिया पर प्राणी का कोई अधिकार नही होता। प्रक्षिप्त क्रियाएँ प्राणी की मूल प्रवृत्तियो की विशेषताओ का परिणाम होती है जिनका उपयोग वह जीवन भर अनायास करता रहता है। प्रक्षिप्त क्रियाओ पर प्रश्न उठाना उतना ही निरर्थक है जितना यह पूछना कि चलने के लिए पैर और पकड़ने के लिए हाथ क्यो होते है। प्रक्षिप्त क्रियाएँ प्राणी के शारीरिक निर्माण की अनिवार्य देन होती है।

मूलप्रवृत्तियाँ और प्रक्षिप्त क्रियाएँ—शरीर के प्रत्येक जीवित कोष का व्यवहार कुछ मूलप्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति होता है। मूलप्रवृत्तियो को कोषो के व्यवहार के अध्ययन से ही जाना जा सकता है। अपनी मूलप्रवृत्तियो के कारण ही कोष परिवेश के प्रति उन प्रतिक्रियाओ को कर पाता है जिन पर जीवन निर्भर होता है। जीवन के लिए पोषक तत्वो की जरूरत होती है जो अन्न आदि से मिलते है। अन्न में रासायनिक द्रव्य होते है, इसलिए परिवेश से रासायनिक द्रव्यो के

प्रति प्रतिक्रिया करना प्राणी के शरीर की पहली मूलप्रवृत्ति है । इस रासायनिक द्रव्योन्मुखी प्रवृत्ति (chemotaxis) को आत्मरक्षण की मूलप्रवृत्ति कहा जा सकता है । प्राणी के शरीर की दूसरी मूलप्रवृत्ति तापक्रम से नियमन करना है । अन्न आदि के अतिरिक्त जीवन को बनाए रखने के लिए एक निश्चित तापक्रम का होना भी जरूरी है । तापक्रम का असर अन्न आदि की पैदावार पर भी पडता है । जनसख्या के वितरण मे तापक्रम की मूलप्रवृत्ति ही काम करती है । तापक्रमोन्मुखी मूलप्रवृत्ति (thermotaxis) के कारण हम गर्मियो में पहाड पर जाते है और जाडे मे अँगीठी से तापते है । प्रकाश की खोज करना प्राणी की तीसरी मूलप्रवृत्ति है । सूर्योन्मुखी प्रवृत्ति (heliotaxis) वनस्पति जगत मे वहुत होती है । सूरजमुखी फूल सून्यमुखी प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है । प्रकाश प्राणी को भोजन ढूढने और खतरे से बचाने मे ही मदद नही देता वरन् प्रकाश से मिलने वाली अल्ट्रावायलेट किरणे स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होती है । प्राणी की चौथी मूलप्रवृत्ति हवा इत्यादि प्राकृतिक शक्तियो के दवाव से अपना नियमन करना है । हमारा शरीर हवा के दबाव से ही अविच्छिन्न वना रहता है । यदि हवा का दबाव न हो तो शरीर के टुकड़े टुकडे हो जायँ । इसी मूलप्रवृत्ति के कारण धुएँ और घनी हवा में हमारा दम घुटने लगता है, हम खुली जगह पर मकान बनवाते है और शाम को वायु-सेवन के लिए जाते है ।

मूलप्रवृत्तियो और प्रक्षिप्त क्रियाओं में कुछ भेद किए जा सकते है । मूलप्रवृत्तियाँ कोपो के व्यवहार का अनिवार्य परिणाम होती है और प्रक्षिप्त क्रियाएँ न्यूरोनो के व्यवहार का । प्रक्षिप्त क्रियाएँ शरीर के कोषो की मूल-प्रवृत्तियो की सेवक होती है ।

प्रक्षिप्त क्रिया उत्तेजना के अभाव मे नही होती । जब तक तेज रोशनी नही आती तव तक पलकें वन्द नही होती । किंतु मूलप्रवृत्ति हमे आने वाली स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयार करती है । प्रक्षिप्त क्रिया यंत्रवत् होती है । मूलप्रवृत्ति में उद्देश्य प्राप्ति के लिए किए गए व्यवहार में आवश्यक परिवर्तन भी होता है जो प्रक्षिप्त क्रिया में नही होता । हमे प्रक्षिप्त क्रिया का पहले कोई स्पष्ट ज्ञान नही होता जवकि मूलप्रवृत्ति के उद्देश्य का ज्ञान हमे पहले से रहता है । प्रक्षिप्त क्रिया स्थानीय होती है किन्तु मूलप्रवृत्ति का प्रभाव सारे शरीर पर पडता है ।

यदि न्यूरोनो मे आत्मप्रेरित क्रमिक आकुंचन (automatic successive contraction) होता चला जाय तो उसे प्रक्षिप्त शृखला (chain-reflex) कहा जाता है । प्रक्षिप्त शृंखला साधारण प्रक्षिप्त क्रियाओ की

माला होती है जिसकी हर क्रिया अपने बाद की क्रिया को प्रेरित करती जाती है। चलना प्रक्षिप्त शृखला का अच्छा उदाहरण है। फर्श को देख कर हमे चलने की उत्तेजना मिलती है, चलने की उत्तेजना पैर की मासपेशी को उत्तेजित करती है और पैर उठता है, पैर के उठने से शरीर असतुलित हो जाता है और शारीरिक असतुलन से पैर आगे रखने की उत्तेजना मिलती है, पैर के तलवे से फर्श का स्पर्श पैर की मासपेशियो मे आवश्यक आकुचन कर देता है जिससे पैर शरीर का भार सभाल ले। इसी प्रकार एक क्रिया तत्काल दूसरी क्रिया को प्रेरित करती रहती है। यही प्रक्षिप्त शृखला है।

जव किसी मासपेशी में आकुचन (contraction) होता है तो वह मासपेशी अपने अन्दर स्थित छोटे छोटे बोधागो (sense organs) को उत्तेजित करती है। मासपेशी के वे बोधाग क्रियावाहक स्नायु द्वारा मेरुदड से सम्बन्धित होते है। मासपेशी के आकुचन से उत्पन्न होने वाली उत्तेजना मेरुदड में सप्रेषित (transmit) होती है और अपने निर्गम के लिए मार्ग चाहती है और कोई मार्ग न मिलने पर वह उसी मार्ग की ओर प्रवाहित होने लगती है जो उसे लाने के समय पहले खुल चुका था। नतीजा यह होता है कि इस प्रकार मासपेशी का आकुचन अपने आप पुनर्शक्त (reinforce) होता रहता है। मासपेशी के आकुचन के स्वत पुनर्शक्त होते रहने की क्रिया को प्रक्षिप्त चक्र (circular reflex) कहा जाता है। चाभियो के गुच्छे से खेलते रहना या पैर हिलाते रहना प्रक्षिप्त चक्र के उदाहरण है।

न्यूरोनीय क्रियाओं के नियम—न्यूरोनीय क्रियाओ की विशेषताओ के आधार पर न्यूरोनीय क्रियाओ के कुछ नियम बनाए जा सकते है। न्यूरोनो पर विचार करते समय न्यूरोनीय क्रिया सम्बन्धी कुछ विशेषताओ का उल्लेख किया गया था। पहली विशेषता यह थी कि न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रवाह सदा डेन्ड्रोन से एक्जोन की ओर होता है इसलिए डेन्ड्रोनो का पता चल जाने पर न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रादुर्भाव का स्थान और उसके प्रवाह की दिशा का पता आसानी से लगाया जा सकता है।

न्यूरोनीय क्रिया की दूसरी विशेषता पर न्यूरोनीय सामीप्य के प्रसग में प्रकाश डाला गया था। थकान, नीद, मूर्च्छा, सन्देह, दुविधा, चिंतन आदि के समय न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रवाह मे अवरोध (inhibition) होता है और वह अवरोध न्यूरोनीय-सामीप्य (synapse) पर होता है। यह न्यूरोनीय क्रिया की एक और विशेषता है। किन्तु इन विशेषताओ के अतिरिक्त न्यूरोनीय क्रियाओ की कुछ और विचारणीय विशेषतायें भी है।

क्या आप कभी आत्मविभोर होकर ठगे से नही रह गए है ? क्या आप कभी हँसते हँसते लोटपोट नही हुए है ? क्या आपने कभी आश्चर्य चकित हो आँखे फाड फाड़ कर नही देखा है ? यदि आप को ऐसा अनुभव हुआ है तो आपने देखा होगा कि आप ऐसे क्षणो मे बिल्कुल निष्क्रिय और स्तम्भित हो जाते है। आपके इस अनुभव से न्यूरोनीय क्रिया की एक और विशेषता पता चलनी है कि यदि कोई प्रक्षिप्त द्वार तीव्रता से उत्तेजित हो जाय तो वह कुछ क्षणो के लिए सज्ञाशून्य हो जाता है और अपनी सज्ञाशून्यता के समय (refractory period) वह दुवारा उत्तेजित नही किया जा सकता।

किसी मासपेशी या स्नायु में शक्ति एक निश्चित मात्रा में रहती है और मासपेशी या स्नायु के उत्तेजित होने पर क्रिया मे पूरी शक्ति का व्यय होता है, उसके किसी अश का नही। पल भर में मासपेशी या स्नायु मे शक्ति फिर आ जाती है। मासपेशी सदा अपनी पूरी शक्ति के साथ प्रतिक्रिया करती है। किन्तु देखा यह जाता है कि प्रतिक्रिया उत्तेजना की तीव्रता के अनुपात से होती है। जितनी तीव्र उत्तेजना होगी उतनी तीव्र प्रतिक्रिया होगी। लेकिन इससे मासपेशी या स्नायु विषयक उपर्युक्त कथन का विरोध नही होता। तीव्र उत्तेजना स्नायु या मासपेशी के अनेक रेशों (fibres) को उत्तेजित करती है। दूसरे, तीव्र उत्तेजना से न्यूरोनीय प्रेरणा की तीव्रता नही बढ़ती : तीव्र उत्तेजना एक क्षण में अनेक न्यूरोनीय प्रेरणाओ का प्रादुर्भाव करती है। न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रवाह बहुत तेज होता है और वह एक क्षण के बहुत छोटे भाग में समाप्त हो जाता है। उत्तेजना लगातार मिलते रहने से न्यूरोनीय प्रेरणा का क्रमिक प्रवाह वडी तेजी से होने लगता है। उत्तेजना जितनी तीव्र होती है न्यूरोनीय प्रेरणा के क्रमिक प्रवाह की तीव्रता उसी अनुपात से बढ जाती है। इसलिए प्रतिकिया की तीव्रता न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रवाहो और सक्रिय भाग लेने वाले स्नायु या मासपेशी के रेशो की सख्या पर निर्भर होती है।

ग्राहक अत्यन्त क्षीण उत्तेजनाओ को ग्रहण नही कर पाता किन्तु वही क्षीण उत्तेजनाएँ यदि अनेक वार दुहराई जायँ तो वे एकत्रित होकर ग्राहक को उत्तेजित कर देती है। न्यूरोनीय क्रिया की इस विशेपता को एकत्रीकरण (summation) कहते है। किसी काम मे लगे रहने पर वर्षा की रिमझिम पहले कुछ देर तो सुनाई नही देती किन्तु वाद में सुनाई देने लगती है।

नई उत्तेजना को ग्रहण करने में न्यूरोन के केवल दो या तीन रेशे भाग लेते है, किन्तु वारवार उसी उत्तेजना के मिलने पर न्यूरोन के सारे रेशे भाग लेने लगते है। इस परिवर्तन का अनुभव किया जा सकता है। काफी पहले

तो पीने पर कड़वी सी मालूम होती है किन्तु लगातार पीते रहने पर उसका कडवापन अच्छा लगने लगता है। यह क्यो ? क्योकि तव उस प्रमुख सामान्य द्वार (final common path) के सारे रेशे एक ही प्रकार की प्रतिक्रिया करने लगते है। न्यूरोनीय क्रिया का सामान्य द्वारक हो जाना न्यूरोनीय क्रिया की एक और विशेषता है। उत्तेजना की तीव्रता से सामान्य द्वारक क्रिया के पहले से वने हुए न्यूरोनीय साहचर्य टूट जाते है। तीव्र न्यूरोनीय प्रतिक्रिया अन्य समकालीन प्रतिक्रियाओ का अवरोध कर देती है जिससे दो विरोधी उत्तेजनाएँ एक साथ एक ही सामान्य द्वार का उपयोग नही कर सकती। शायद हमारी शरीर-रचना इस प्रकार हुई है कि किसी समय प्रतिक्रिया का केवल एक प्रमुख द्वार ही पूरी तरह से क्रियाशील रह सके जिससे शारीरिक शक्ति एक ही द्वार से प्रवाहित हो और उसका अपव्यय न हो।

केन्द्रीय प्रवन्ध

शरीर की परिधि में फैले हुए असख्य स्नायुओ का सचालन और नियमन यदि किसी एक केन्द्र से न हो तो प्राणी का सारा व्यवहार विच्छृखल और अनर्गल हो जाय। प्राणी को अनेक प्रकार की उत्तेजनायें मिलती रहती हैं और वह विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रिया करता रहता है। शरीर की सारी क्रियाओ का सचालन और सगठन केन्द्रीय प्रवन्ध से होता है केन्द्रीय प्रबन्ध मे दो भाग होते हैं मेरुदड (spinal cord) और मनस्।

मेरुदंड—मेरुदड वहुत से स्नायुओ से मिलकर वनी हुई एक गोल मोटी रस्सी की भाँति होती है। मेरुदड में शरीर की हर परिधि से आने जाने वाले इकत्तीस जोडे स्नायु होते हैं। मेरुदड में वोधवाहक और क्रियावाहक स्नायुओ की व्यवस्था इस प्रकार होती है कि शरीर के वाहर की उत्तेजनाये दो तरह से काम कर सकती हैं। एक ओर तो वे मनस् में जा सकती हैं और दूसरी ओर तत्काल ही प्रतिक्रिया में परिणत हो सकती हैं। साधारण प्रक्षिप्त क्रियाओ का सचालन मेरुदड द्वारा होता है। प्रक्षिप्त क्रियाओ के सचालन मे मनस् का हाथ नही रहता। सारी अनायास (involuntary) क्रियाओ का सचालन मेरुदड से होता है। मनस् तक सूचना पहुँचने में देर लगती है। मेरुदड उसके पहले ही क्रियावाहक न्यूरोनो को आवश्यक प्रतिक्रिया करने की आज्ञा दे देती है जो शरीर रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार मेरुदड एक ओर तो प्रक्षिप्त क्रियाओ का नियत्रण और सचालन करती है और दूसरी ओर मनस का शरीर से सम्बन्ध स्थापित करती है जिससे वाहरी उत्तेजनाएँ मनस् तक जाकर उचित प्रतिक्रियाओ द्वारा कार्य-रूप में परिणत होती हैं। मेरुदड में स्थित बोधवाहक और क्रियावाहक न्यूरोन

मनस् से इस प्रकार सम्बन्धित होते हैं कि शरीर का दाहिना भाग मनस् के बाएँ भाग से और बायाँ भाग दाहिने भाग से नियन्त्रित होता है। जिस स्थान पर
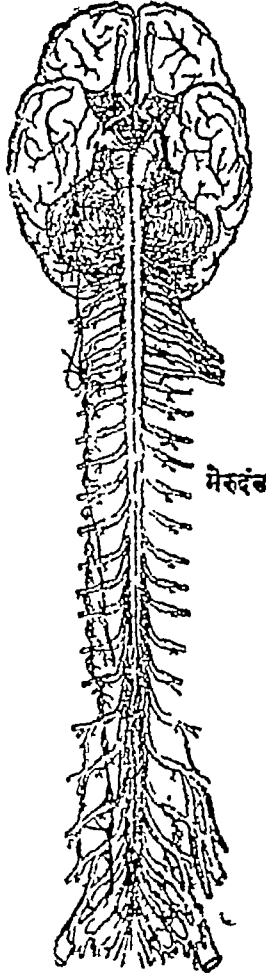
चित्र १२

मेरुदड से मनस् की ओर जाने वाले न्यूरोन एक दूसरे को पार करते हैं उसे मेरुदड शीर्ष (medulla oblongata) कहते हैं।

मेरुदंड-शीर्ष—यह मेरुदड का सबसे ऊपरी भाग होता है। मेरुदंड के नीचे के भागो से आकर मनस् मे जाने वाली और मनस् से आकर मेरुदड मे जाने वाली उत्तेजनाएँ यही से जाती है। साँस लेना, रक्त प्रवाह आदि स्वयं होने वाले काम भी मेरुदड-शीर्ष से ही नियन्त्रित होते हैं। हृदय और फेफडो से आने वाले न्यूरोन भी यही आकर मिलते है जिससे आवश्यकता पडने पर हृदय और फेफडो की गति में आवश्यक संशोधन हो जाते है।

स्वचालित प्रबन्ध

स्वचालित प्रबन्ध (Autonomic system) केन्द्रीय प्रबन्ध की एक प्रकार की शाखा होती है। यह शाखा मेरुदड के दोनो ओर होती है और अनेक

रेशो (fibers) द्वारा मेरुदड से सम्बन्धित होती है। स्वचालित प्रबन्ध मे वहुत से गड (ganglions) होते है। वे सब विभिन्न रेशो द्वारा आँख, लारवाही ग्लैड, हृदय, यकृत, आमाशय, प्लीहा, जननेन्द्रियो आदि आन्तरिक अगो से सम्वन्धित होते है (चित्र १३)। आँख की पुतली और लेंस, आँसू और लार वहने, भोजन पचने, हृदय तथा फेफडो की क्रियाओ, मल-मूत्र त्याग करने,
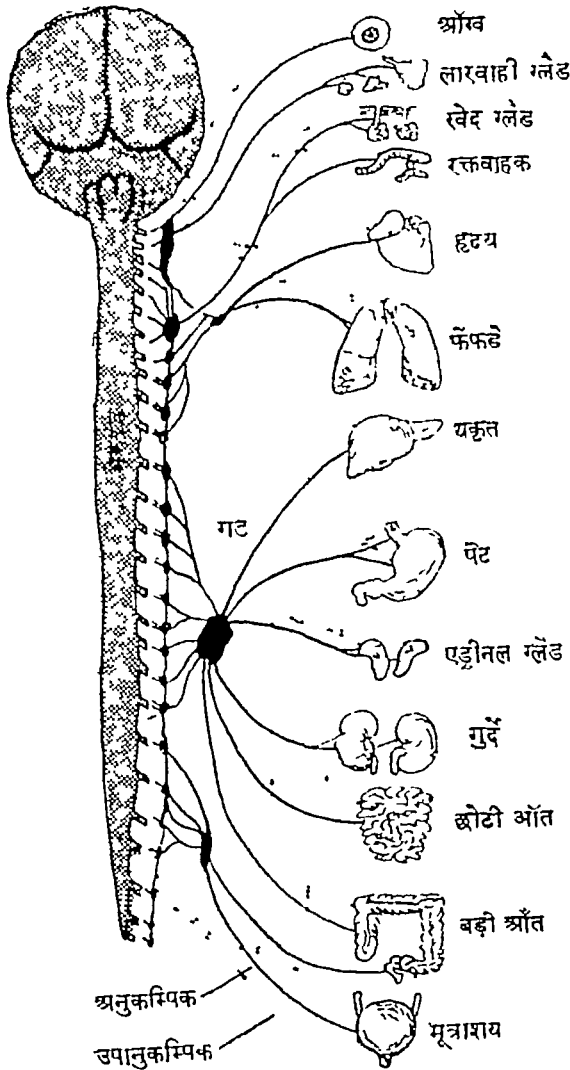
चित्र १३

कामोत्तेजित होने आदि जैसी सारी अनायास (involuntary) क्रियाओ का नियत्रण और सचालन स्वचालित प्रबन्ध से होता है। स्वचालित प्रबन्ध का काम बोधवाहक (sensory) नही होता इसलिए इस प्रबन्ध के सारे रेशे क्रियावाहक या प्रभावक होते है।

रचना की दृष्टि से रेशो में दो प्रकार का भेद किया जा सकता है (१) पूर्वगंडीय (preganglionic(और (२) उत्तरगडीय (postganglionic)। पूर्वगडीय रेशे मेरुद ड और स्वाचालित प्रबन्ध के विभिन्न गन्डो मे और उत्तर-गन्डीय रेशे विभिन्न गन्डो और उनसे प्रभावित होने वाले आन्तरिक अगो मे सम्वन्ध स्थापित करते है। कार्य की दृष्टि से रेशो को अनुकपिक (sympathetic) और उपानुकपिक (parasympathetic) वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। दोनो वर्गो के रेशो का कार्य परस्पर विरोधी होता है। अनुकपिक रेशे सामान्यत आन्तरिक अगो के उत्तेजक होते है जबकि उपानुकम्पिक रेशे अवरोधक (inhibitory) होते हैं। अगर अनुकम्पिक रेशे हृदय या किसी और आन्तरिक अग की क्रिया मे उद्दीपन करते है तो उनके प्रतियोगी उपानुकम्पिक रेशे उसी अग की क्रिया मे अवरोध करने लगते है। दोनो वर्गों के रेशो की क्रियाएं परावलम्बी होती है जिससे विभिन्न परिस्थितियो मे आन्तरिक अगो का कार्य सापेक्षिक रूप से सन्तुलित बना रहता है।

स्वचालित प्रबन्ध का एक विशेष कार्य रागात्मक व्यवहार मे आन्तरिक अगो की क्रियाओ का उद्दीपन करना होता है। शारीरिक क्रियाओ का नियामन और उद्दीपन शरीर में स्थित अनेक प्रकार के ग्लैडो (glands) द्वारा होता है। ग्लैड हार्मोन (hormone) नामक एक रासायनिक रस का स्राव करते है। हार्मोन खून मे मिलकर शरीर मे अतिरिक्त शक्ति का सचार कर देते है जिससे भय, क्रोध आदि की स्थितियो मे हम उन दुस्साध्य कामो को भी कर डालते है जो साधारण शारीरिक दशा मे नही किये जा सकते। स्वचालित प्रबध के रेशो और केन्द्रीय प्रबन्ध में घनिष्ठ कार्यात्मक सम्बन्ध होता है जिससे हमारा शरीर हर स्थिति में एक सगठित इकाई की भाँति प्रतिक्रियाएँ करता है।

ग्लैड—स्वचालित प्रवन्ध का सम्बन्ध शरीर के अन्दर स्थित अनेक ग्लैडो (glands) से होता है। ग्लैड दो प्रकार के होते है एक्जोक्रीन (exocrine) और इन्डोक्रीन (endocrine)। एक्जोक्रीन ग्लैडो मे नली (duct) होती है। एक्जोक्रीन ग्लैड ऐसे हार्मोन को पैदा करते है जो विभिन्न शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इन ग्लैडो का हार्मोन नालियो द्वारा उस स्थान पर पहुँचता रहता है जहाँ उसकी आवश्यकता होती है। आँसू या लार आदि प्रवाहित करने का काम एक्जोक्रीन ग्लैड ही करते है।

इन्डोक्रीन ग्लैडो में नलियाँ (ducts) नही होती। इन्डोक्रीन ग्लैड शरीर-वज्ञान की नई खोज है। इन्डोक्रीन ग्लैट अपने हार्मोन को सीधे रक्त मे मिला

देते है और रक्त प्रवाह के माध्यम से सारे शरीर को प्रभावित करते हैं। शारीरिक क्रियाओ में इन्डोक्रीन ग्लैंडो का महत्व निर्विवाद होने से कुछ प्रमुख इन्डोक्रीन ग्लैंडो का परिचय कर लेना आवश्यक है (चित्र १४)।
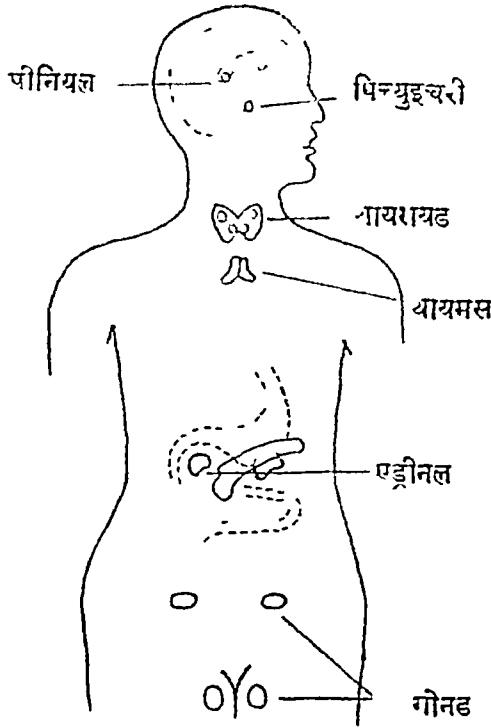
चित्र १४

थायरॉयर (Thyroid)—यह ग्लैंड गले में स्थित होता है और थायराक्सिन(thyroxin) नामक हार्मोन का उत्पादन करता है जिसके प्रभाव से शरीरिक एव मानसिक विकास उचित ढग से होता रहता है। अगर किसी कारण वचपन में ही यह ग्लैंड दोषपूर्ण हो जाय तो थायराक्सिन हार्मोन की पर्याप्त मात्रा न मिलने से वच्चे का विकास रुक जायगा। उसका कद ठिगना, शरीर अशक्त और बुद्धि निर्वल हो जायगी। थायराक्सिन की कमी को कृत्रिम उपायो से पूरा किया जा सकता है जिससे रुका हुआ विकास फिर होने लग जाता है।

प्रयोगो से पता चला है कि भय, क्रोध आदि की हालत मे थायरॉयड ग्लैंड ठीक से काम नही कर पाता। इसलिये जो लोग अनावश्यक रूप से भयातुर या क्रोधित रहा करते हैं उनका स्वास्थ्य खराव रहता है। हर्ष, उत्साह आदि की हालत में थायरॉयड अधिक सक्रिय रहता है जिससे उनका प्रभाव स्वास्थ्य पर अच्छा पडता है। थायराक्सिन की कमी थायरॉयड को कृत्रिम रूप से उत्तेजित करके पूरी की जा सकती है। इसके लिए गले की नसो का व्यायाम लाभदायक होता है।

पिच्युइचरी (Pituitary)—यह ग्लैड सिर मे स्थित होता है और शारीरिक वृद्धि तथा विकास और अन्य इन्डोक्रीन ग्लैडो की क्रियाओ को नियमित करता है। इसके तीन भाग होते है। पीछे का भाग हड्डियो और मासपेशियो के विकास को नियमित करता है और साथ ही साथ कामागो के विकास को भी उत्तेजित करता है। पिछले भाग के निष्क्रिय होने से आदमी बौना बन जाता है और उसका काम विकास समुचित रूप से नही हो पाता। बचपन मे पिछले भाग के अधिक सक्रिय होने से आदमी बेहद लम्बा बन जाता है।

ऐड्रिनल (Adrenal)—यह ग्लैड पेट मे दोनो गुर्दो (kindeys) के ऊपर शरीर के दोनो ओर होते है और ऐड्रीनैलिन (adrenalin) नामक हार्मोन का उत्पादन करते है जिससे खून में शक्कर अधिकता से आ जाती है और खून की आक्सीजन ग्रहण करने की क्षमता बढ जाती है। रागात्मक प्रतिकियाओ मे ऐड्रीनल ग्लैड का बहुत महत्व होता है। इस ग्लैंड के दोषपूर्ण होने से न्यूरोनीय उद्दीपन की क्षमता घट जाती है जिससे प्राणी व्यवहार कुशलतापूर्वक नही कर पाता। शरीर मे ऐड्रीनैलिन की अधिक मात्रा रहने से पाचन क्रिया ठीक से नही हो पाती।

गोनड (Gonads)—इन ग्लैडो के हार्मोन के स्राव से स्त्री-पुरुष का भेद और उसके सूचक लक्षण प्रकट होते है। यह ग्लैड स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियो के विकास और परिपक्वता से सम्बन्धित होता है। बालपन से युवावस्था मे प्रवेश करने के समय गोनडो की क्रिया का हमारे शरीरिक विकास पर भारी प्रभाव पड़ता है। स्त्री-पुरुप का एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होना भी गोनडो से नियन्त्रित होता है। प्रजनन के लिए गोनड पुरुष मे वीर्य और स्त्री मे रज का उत्पादन करते है।

मनस्—मेरुदड के ऊपर के विकसित भाग को मनस् कहा जाता है। मनस् का विकास कोप की वाहरी तहो से होता है। अन्दर की तहो से मिलने वाली उत्तेजनाओ से वाहर की तह मुड जाती है और उसमे पीछे की ओर सिमटे पड जाते है। मनस् अपनी इस अवस्था मे क्रिया नही कर सकता क्योकि मनस् को वनाने वाले कोप अभी तक स्नायुकोष नही वन पाते। इन्ही कोषो मे आगे चलकर एक्ज़ोन और डेन्ड्रोन निकल आते है और वे न्यूरोन की विशेषता ग्रहण कर न्यूरोनीय प्रेरणा को ले जाने के योग्य वन जाते है। मनस् के तीन भाग होते है · लघुभाग (cerebellum), मध्य भाग (mid-brain) और दीर्घभाग (cerebrum) (चित्र १५)।

लघुभाग—मनस् का लघुभाग (cerebellum) सिर के पीछे की ओर होता है और दीर्घभाग से अच्छादित होता है। लघुभाग बोधवाहक और क्रियावाहक प्रेरणाओ में इस प्रकार सङ्गठन करता है जिससे सारा शरीर सतुलित और व्यवस्थित रूप से काम कर सके। लघुभाग का काम शारीरिक
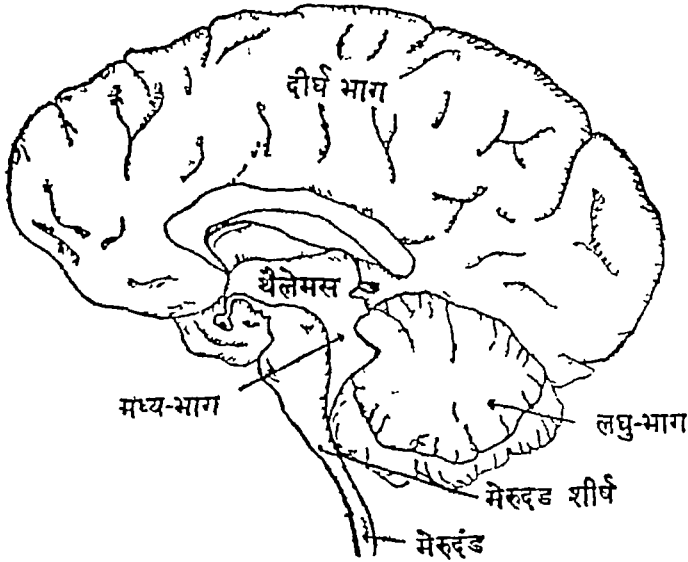
चित्र १५

सतुलन बनाए रखना है। लघुभाग पर आघात से व्यक्ति अपना शारीरिक सतुलन खो बैठता है और चलने पर शराबी की भाँति लडखडाने लगता है। सारा मासपेशीय सतुलन लघुभाग पर निर्भर रहता है।

मध्यभाग—मध्यभाग मनस् के लघुभाग और दीर्घभाग के बीच मे होता है। दीर्घभाग के भूरे पदार्थ (grey matter) के नीचे एक स्नायविक ग्रन्थि होती है जिसे थैलेमस (thalamus) कहते है। अनुकपिक (sympathetic) स्नायुओ से सम्बन्धित होने से थैलेमस सचारी भावात्मक- (emotional) जीवन का आधार होती है। थैलेमस और दीर्घभाग के अगले खड में सम्पर्क होता है। हमारी विचारधारा पर सचारी भावो का जो प्रभाव पडता है उसका आधार थैलेमस और दीर्घभाग के अगले खड के सम्पर्क में ही माना जाता है।

मध्यभाग के ठीक नीचे मेरुदड शीर्ष (medulla) होता है। यह कुछ मोटा और इच भर लम्बा होता है। मेरुदड शीर्ष सिर में प्रक्षिप्त क्रियाओ, हृदगति और साँस लेने की किया का केन्द्र होता है।

दीर्घभाग—मनस् का दीर्घभाग (cerebrum) मनुष्य में बहुत बडा होता है। यह दो गोलार्द्धों (hemispheres) में विभक्त होता है। बाई ओर का

गोलार्द्ध अधिकांश शरीर के दाहिने भागो और दाहिनी ओर का बाये भागो से सम्बन्धित होता है। दीर्घभाग का धरातल जग जगह से उभरा हुआ और घुमावदार (convoluted) होता है। इसके बाहर भूरे पदार्थ (grey matter) की एक परत होती है जिसे कोर्टेक्स (cortex) कहते है। सारा दीर्घभाग विभिन्न न्यूरोनो के डेन्ड्रोनो और एक्जोनो मे सयोजन करने वाले सयोजक न्यूरोनो से निर्मित होता है। सयोजक न्यूरोनो से निर्मित होने के कारण मनस् के दीर्घभाग का मुख्य काम उत्तेजनाओ-प्रतिक्रियाओ में विभिन्न साहचर्यो (association) को स्थापित करना, नई विधियो का आविष्कार करना और क्रियाओ में ऐसे सशोधन करना होता है जिन्हे चितन, कल्पना, तुलना और विश्लेषण करना कहा जाता है।

भूरे पदार्थ के नीचे सफेद पदार्थ (white matter) होता है जिस पर रक्तिम धब्बे पड़े होते है। सफेद पदार्थ विभिन्न आकार के रेशो से निर्मित होता है। इन रेशो (fibres) मे उनके मार्ग और सम्बन्धो के अनुसार तीन प्रकार का प्रबन्ध होता है। कुछ रेशे दोनो गोलार्द्धो के समान क्षेत्रो में सम्बन्ध स्थापित करते है। कुछ रेशे एक ही गोलार्द्ध में कोर्टेक्स (cortex) के विभिन्न क्षेत्रो में पारस्परिक साहचर्य रखते है और कुछ रेशे कोर्टेक्स को मध्यभाग (mid-brain) और मेरुदड (spinal cord) से सम्बन्धित करते है।

दीर्घभाग में बारह जोडे कापालिक स्नायुओ (cranial nerves) मे से केवल आँख और कान के स्नायु ही होते है, अन्य कापालिक स्नायु मनस् के मध्य भाग या मेरुदन्ड शीर्ष में होते है। आँख को घुमाने, दृष्टि केन्द्रित करने, मुखाकृति पर नियत्रण रखने, गर्दन की मासपेशियो को सचालित करने के लिए अलग अलग कापालिक स्नायु होते है और वे परस्पर घनिष्ठ रहते है जिससे शारीरिक स्वास्थ्य की झलक स्वर, दृष्टि आदि मे आ जाती है।

शरीर के सारे सवेदन (sensations) मनस् के विस्तृत दीर्घभाग मे आते है और सारी सायास (Voluntary) क्रियाएँ यही से होती है। दीर्घभाग गिलाफ चढे हुए अखरोट की तरह लगता है और मनुष्य की बौद्धिकता का रहस्य भूरे पदार्थ की घुमावदार परतो में ही छिपा रहता है। भूरे पदार्थ के कोपो में अनेक छोटे-छोटे कण से होते है जिन्हे ग्रेन्यूल्स (granules) कहा जाता है। ग्रेन्यूल्स मानसिक क्रियाओ से सम्बन्धित होते है।

सारी सवेदनाएँ कोर्टेक्स मे सयुक्त, सश्लिष्ट और सशोधित होती है। कोर्टेक्स का काम संवेदनो को नाम, रूप, गुण आदि से सविशेष तथा सार्थक

बनाना होता है। प्रत्येक स्थिति के साथ-साथ कोर्टेक्स के साहचर्यों मे संशोधन होता रहता है। किसी स्थिति के साहचर्यों के विकृत होने पर प्राणी को उस स्थिति के महत्व की अनुभूति नही होती। वाकभ्रंश रोग (aphasia) मे रोगी बोलना भूल जाता है क्योंकि बोलना सीखने से उसकी कोर्टेक्स में जो संशोधन हुआ था वह नष्ट हो जाता है। किंतु फिर सीखने पर नया साहचर्य बन जाता है और बोलना आ जाता है।

दीर्घभाग का विभाजन—दीर्घभाग के उभरे हुये भागो के बीच बहुत सी दरारे (fissures) होती है। रोलैण्डो और सिल्वियस नामक दो बडी दरारो के आधार पर दीर्घभाग को चार खडो में बाँटा जा सकता है पिछलाखड (occipital lobe), पार्श्वखड (temporal lobe), शिखाखड (parietal lobe) और अगलाखड (frontal lobe) (चित्र १६)। प्राणी के सारे मानसिक तथा शारीरिक व्यापार इन्ही चारो खडो से सम्बन्धित होते है।
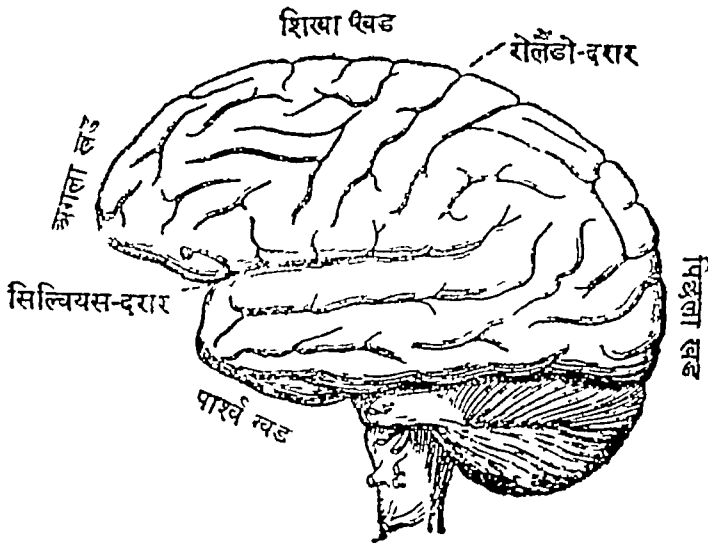
चित्र १६

विज्ञानियो ने अपने अथक प्रयत्नो से अब यह मालूम कर लिया है कि मनस् का कौन सा खड किस व्यापार से संबधित होता है। इसके लिए उन्होने यह पता लगाया है कि कौन सा स्नायु मनस् के किस खड से सम्बन्धित होता है। उन्होने मानसिक रोगो से पीडित लोगो के व्यवहारो की परीक्षा से और पशुओ के मनस् का कोई खड नष्ट करके व्यवहार पर उसके प्रभाव और कोर्टेक्स के खोले गए किसी भाग पर बिजली की करेंट देकर शारीरिक क्रिया के निरीक्षण को अपनी खोजो का आधार बनाया है। इन खोजो के आधार पर यह पता चला है कि मनस् का पिछलाखड देखने और सिल्वियस-दरार

के ठीक नीचे का खड सुनने का केन्द्र होता है। त्वचीय सवेदनो जैसे तापक्रम, पीडा आदि का केन्द्र रोलैण्डो दरार के ठीक पीछे की ओर होता है और ठीक सामने का क्षेत्र क्रियावाहक (motor) केन्द्र होता है जहाँ के विभिन्न स्थल शरीर के विभिन्न अवयवो जैसे पैर, जाँघ, पेट, पीठ, कन्धे, कोहनी, कलाई, उँगलियाँ, सिर, पलकें, गाल, जबड़े, ओंठ आदि की मासपेशियो से सम्बन्धित होते है। बोलने का केन्द्र दोनो गोलार्द्धो के बीच में होता है। स्वाद और सूँघने के क्षेत्रो का निश्चित रूप से तो पता नही लग पाया है किन्तु वे शायद दोनो गोलर्द्धो के बीच कोर्टेक्स पर ही होते है (चित्र १७)।
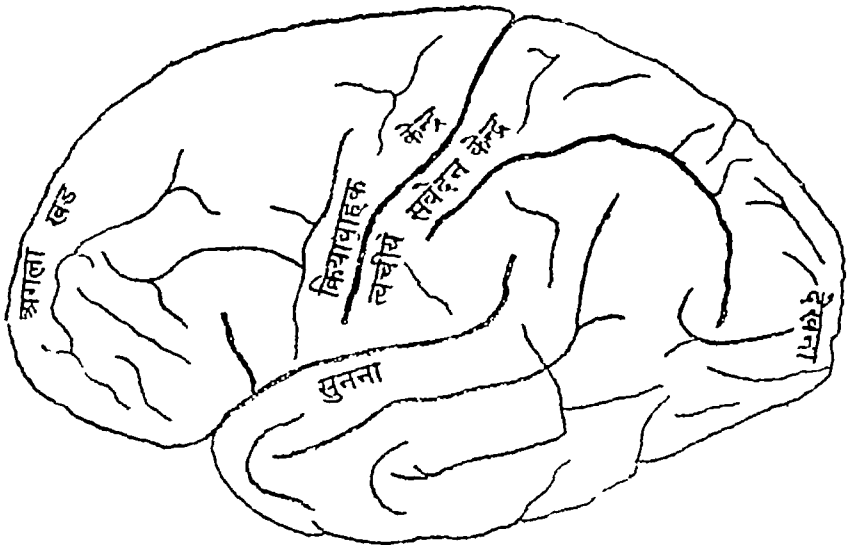
चित्र १७

विज्ञानी बहुत समय तक अगलेखड का काम नही जान सके थे। किन्तु कई रोगियो की जाँच से, जिनके मनस् का अगलाखड नष्ट हो गया था, अब यह ज्ञात हो चुका है कि अगलाखड मनुष्य और पशु में भेद करने वाले गुणो का भौतिक आधार होता है। अगलाखड नष्ट होने पर मनुष्य बिना किसी शारीरिक विकृति के स्वस्थ तो रह सकता है किन्तु उसका चरित्र बिल्कुल बदल जाता है। मेंढक और कबूतर मनस् का अगलाखड नष्ट कर दिए जाने पर भी तैरने, कूदने और उड सकने में तो समर्थ रहे किन्तु जब तक उन्हे उत्तेजित नही किया जाता था तब तक वे अपने आप कुछ नही कर पाते थे। उनका सारा व्यवहार मशीनवत् हो जाता था। इन प्रयोगो से स्पष्ट है कि सारी सायास (voluntary) क्रियाएँ दीर्घभाग के अगलेखड पर निर्भर होती है। अगलेखड के नष्ट होने पर पुरानी प्रक्षिप्त क्रियाएँ तो होती रहती है किन्तु नई प्रक्षिप्त क्रियाएँ नही सीखी जा सकती।

मानसिक क्रियाओं के स्तर : चेतन, उपचेतन, अचेतन

मानसिक क्रियाओ के तीन स्तर माने जाते है चेतन (conscious), उपचेतन (subconscious) और अचेतन (unconscious)। चेतन और अचेतन मानसिक स्तर तो लगभग निर्विवाद रूप से माने जाते है किंतु उपचेतन स्तर अब तक विवादग्रस्त है। मानसिक क्रियाओ को सही तरह से समझने के लिए उपचेतन स्तर को भी मानना आवश्यक है क्योकि उपचेतन स्तर की क्रियाएँ चेतन और अचेतन स्तर की क्रियाओ से बिलकुल अलग विशेषताएँ रखती है।

फ्रायट और यूक नामक मनोविज्ञानियो के अनुसार अचेतन स्तर मे हमारी मूलप्रवृत्यात्मक और अन्य शक्तियाँ रहती है जिनका या तो शमन (repression) हो चुका होता है या जो चेतन स्तर तक नही आ सकी होती है। चेतन स्तर में हमारे दैनिक जीवन के अनुभव रहते है। उपचेतन स्तर का काम दैनिक जीवन के चेतन अनुभवो या अचेतन स्तर से ग्रहण की हुई सामग्री मे निहित समस्याओ का चुनाव करना और उनका रूप परिवर्तन करके मानसिक शक्ति के प्रवाह को उपयोगी लक्ष्यो की ओर दिशान्तरित करना होता है। उपचेतन स्तर अचेतन की भाँति कार्यप्रेरक नही होता किंतु उपचेतन स्तर अचेतन की प्रेरणाओ से उत्पन्न शक्ति के प्रवाह मे हेर-फेर करके, उसे प्रबन्धित और व्यवस्थित करके दैनिक जीवन की आवश्यकताओ के अनुकूल बनाने का काम करता है।

इन तीनो मानसिक स्तरो का उपमान मानसिक रचना मे ही मिलता है। मनस् के तीन भाग होते है दीर्घभाग, मध्यभाग और लघुभाग। ये तीनो भाग यद्यपि अलग-अलग काम करते है किन्तु फिर भी उनकी क्रियाओ में परस्पर घनिष्ठ अन्तर्सम्बन्ध होता है। मनस् के इन तीनो भागो का निर्माण विभिन्न प्रकार के कोषो से होता है। कोर्टेक्स का काम अवरोध (inhibition) और चिंतन या कल्पना करने आदि जैसी प्रतीकात्मक क्रियाएँ करना होता है और विकास क्रम मे उसका स्थान सबसे बाद मे आता है। मध्यभाग में विशेष प्रकार के कोषो से निर्मित थैलेमस नामक अंग होता है। कोर्टेक्स को जाने वाली अधिकांश बोधवाहक उत्तेजनाएँ थैलेमस से ही होकर जाती है जहाँ उन प्रेरणाओ मे काट-छाँट होती है जिससे वे रूपान्तरित होकर ही कोर्टेक्स में पहुँचती है।

उपचेतन (subconscious) मन चेतन मन की काम तरह नही करता। उपचेतन मन का काम करने का तरीका अलग होता है इसलिए वह कभी-कभी उन समस्याओ का समाधान कर लेता है जिनका समाधान करने में चेतन मन

असफल हो जाता है। थैलेमस के कार्य से सवादित उपचेतन मन भी रागात्मकता प्रधान होता है। जीवन सचालन मे रागात्मक पक्ष का बहुत बडा हाथ रहता है और इसलिए जीवन की वास्तविकता का सामना करने के लिए चितन प्रधान चेतन मन को रागात्मकता प्रधान उपचेतन मन की सहायता लेनी पडती है।

चेतन मन अपना काम चितन, तर्क और वैज्ञानिक निगमन (deduction) द्वारा करता है। उपचेतन मन अपना काम उपमान, सादृश्य, सहचार,(associa-tion)और निर्देशन (suggestion) द्वारा करता है। सम्मोहन (hypno-tism) की अवस्था मे चेतन मन सुषुप्त और उपचेतन मन जागरूक रहता है जिससे सम्मोहित व्यक्ति के ऊपर प्रयोगकर्त्ता के निर्देशनो का ज्यादा प्रभाव पडता है। मानसिक रोगो का उपचार करने के लिए स्वतन्त्र सहचार(free associ-ation) विधि का सहारा इसीलिए लिया जाता है कि उपचेतन मन स्वतन्त्र सहचार द्वारा रोग की उत्पत्ति और वास्तविक कारणो की ओर चेतन मन की अपेक्षा ज्यादा अच्छा सकेत करता है। बच्चो का मानसिक व्यापार भी उपचेतन मन की विशेपताएँ लिए रहता है क्योकि बच्चो का मन तार्किक ढग से काम न कर उपमान और सादृश्य के आधार पर अधिक काम करता है। हमारे अनेक निर्णय रागप्रधान ही होते है, तर्कप्रधान कम या बिलकुल नही।

सादृश्य और उपमान के अनुसार काम करने की क्षमता से उपचेतन मन द्वारा कभी कभी वडे महत्वपूर्ण अन्वेषण सम्भव हो जाते है, जैसे न्यूटन ने पेड से फल गिरने के उपमान से गुरुत्वाकर्षण सिद्धात का अन्वेषण किया था। कठिन वातो को आसान वनाने के लिए भी उपमान का सहारा लिया जाता है। विलियम जेम्स का यह कहना था कि प्रतिभा उपमान देख सकने की क्षमता ही होती है।

अन्तर्दृष्टि का उद्भव भी सम्भवत उपचेतन स्तर से ही होता है। अन्तर्दृष्टि को उपचेतन अनुमान कहा जा सकता है। कभी कभी हम किसी चीज को पहली वार देखने पर ही न जाने क्यो वहुत पसन्द करने लग जाते है। अगर हमसे हमारी पसन्द का कारण पूछा जाय तो शायद हम नही वता सकेगे क्योकि हमारा निर्णय चेतन रूप से तर्क करने का परिणाम न होकर उपचेतन अनुमान का परिणाम होता है। थैलेमस की भाँति उपचेतन मन भी प्राप्त सामग्री मे काट छाँट करता है, उसके खण्डो को तर्क और प्रमाण से न जोडकर उपमान, साहचर्य या निर्देशन से जोडता है और इस प्रकार ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचता है जिन तक चेतन मन नही पहुँच पाता। इससे यह नही समझना चाहिए कि उपचेतन मन उपमान और निर्देशन (suggestion, से जिन तर्को या निर्णयो पर पहुँचता है वे हमेशा ठीक ही होते है। वे अक्सर गलत भी होते हैं। उनकी सत्यता

की जाँच करने के लिए चेतन मन का सहारा लेना पडता है जिससे वे तर्क और प्रमाण की कसौटी पर खरे उतर सके। भाषण देने वाले जनता को अपनी बात मनवाने के लिए तर्क का सहारा न लेकर उपमान का सहारा लेते है। भीड या समूह मे लोगो का चेतन मन उतना सजग नही होता जितना कि उनका उपचेतन मन। इसलिए कोई वात उनके रागात्मक पक्ष और निर्देशन पर उनके चिन्तन पक्ष से अधिक प्रभाव डालती है।

चेतन मन जिन समस्याओ का समाधान नही कर पाता उन्हे उपचेतन या अचेतन मन मे डाल देता है और उनको फिर कभी चेतन स्तर पर उभरने से रोकता है। अगर उपचेतन और अचेतन मन उन दुखदायी समस्याओ को चेतन मन की ओर ढकेलते है तो चेतन मन अवरोध (inhibition) द्वारा उनको चेतन स्तर तक आने से रोक देता है। इसलिए उपचेतन या अचेतन मन उन दुखदायी समस्याओ को चेतन मन तक भेजने के लिए एक दूसरे उपाय से काम लेते हैं। वे उन समस्याओ को रूपक या प्रतीकात्मक रूप में चेतन मन पर भेजते है जिससे चेतन मन उनका अवरोध न कर सके। स्वप्न देखने के पीछे यही वात होती है जिस पर स्वप्नो की व्याख्या के प्रसग में और कही विस्तार से विचार किया जायगा।

मानसिक क्रियाओ का तीसरा स्तर अचेन (unconscious) [होता है। सच तो यह है कि किसी भी मानसिक क्रिया को अचेतन नही कहा जा सकता क्योकि मानसिक क्रियाओ का गुण उनका चेतन होना ही होता है। अचेतन मन का अभिप्राय यही है कि हम अचेतन स्तर पर होने वाली क्रियाओ का प्रत्यक्ष ज्ञान साधारणत नही कर पाते। अचेतन मन की अपनी अलग विशेषता होती है और उसके काम करने का तरीका भी अपना ही होता है। अचेतन मन में हमारे साथ बीते हुए ऐसे व्यक्तिगत और जातीय (racial) अनुभव रहते है जिनका ज्ञान मनोविश्लेषण (Psycho-analysis) मे प्रयुक्त की जाने वाली कुछ विशेप प्रणालियो जैसे सम्मोहन (hypnotism), स्वतन्त्र सहचार (free association) और स्वप्नो की व्याख्या आदि द्वारा ही हो सकता है। मनोविज्ञान में मन के अचेतन स्तर का वडा महत्व है क्योकि उस स्तर पर होने वाली क्रियाएँ हमारे अनजाने मे ही हमारे वहुत से मानसिक विकारो और रोगो और अप्रकृत (abnormal) व्यवहार का कारण वन जाती है। इस विषय पर अप्रकृत व्यवहार के अध्ययन के प्रसग मे यथास्थान समुचित प्रकाश डाला जायगा।

यह कहा जा चुका है कि अचेतन मन में हमारे व्यक्तिगत और जातीय अनुभव जमा रहते है। लेकिन उनके जमा रहने का क्या अर्थ लिया जाय?

अनुभव भौतिक वस्तुएँ तो होते नही जिनको जमा कर लिया जाय। दूसरी ओर अगर अनुभव कही न कही जमा न रहें तो उनका पुनरुत्पादन (reproduction) भी नही हो सकता और हम बीती हुई बातो या घटनाओ को याद भी नही रख सकते। तो फिर वे अनुभव किस रूप मे और किस तरह अचेतन मन मे जमा रहते है।

सच तो यह मालूम होता है कि अचेतन मन मे अनुभव या विचार जमा नही रहते। केवल उनके पुनरुज्जीवित हो सकने की सम्भावना मौजूद रहती है। इसको एक रूपक द्वारा समझा जा सकता है। बाँसुरी से तरह तरह के राग निकाले जा सकते है, किन्तु वे राग बाँसुरी मे जमा नही रहते। बाँसुरी विभिन्न प्रकार के रागो का पुनरुत्पादन कर सकने का केवल भौतिक साधन है। इसी प्रकार अचेतन मन भी हमारे व्यक्तिगत और जातीय अनुभवो का फिर से पुनरुत्पादन करने का एक साधन है।

विलियम जेम्स ने यह धारणा प्रस्तुत की थी कि मानसिक अनुभव मस्तिष्क पर भौतिक निशान छोड जाते है और जब कोई बाहरी या आन्तरिक उत्तेजना मिलती है तो शक्ति का प्रवाह पहले से ही बन चुके निशानो पर होने लगता है जिससे पुराना अनुभव फिर जाग्रत हो जाता है। हमें आनुवशिक रूप मे जो कुछ प्राप्त होता है वह पहले की जाने वाली प्रतिक्रियाओ द्वारा बना न्यूरोनीय-मासपेशिक (neuro-muscular) रुझान मात्र ही होता है। आनुवशिक रूप मे हमें आँख ही प्राप्त होती है, दृष्टि नही। इसी प्रकार हम सुनने, डरने आदि के भौतिक साधनो को ही आनुवशिक रूप मे प्राप्त करते है, सुनी जाने वाली बात या डर को नही। अचेतन मन को भी विगत व्यक्तिगत और जातीय अनुभवो का मानसिक रुझान समझना सत्य से दूर जाना नही होगा।

५

जानना

प्राणी जब तक अपने परिवेश को न जाने तब तक वह व्यवहार नही कर सकता। व्यवहार करने के लिए जानने की आवश्यकता होती है। मनुष्य पहले अपने परिवेश को जानने की कोशिश करता है और फिर उसी आधार पर व्यवहार करता है। अनुभव के बिना व्यक्ति व्यवहार-कुशल नही बन सकता। अनुभव ग्राहको द्वारा होता है। जन्मजात अधे या बहरे व्यक्ति को जगत के रगो और ध्वनियो का अनुभव नही होता। अधा सूर्योदय की छटा और सावन की काली घटा नही देख पाता। बहरा स्वर-माधुरी का रस नही ले पाता। रग और ध्वनि से अनुभव-शून्य व्यक्ति की दुनिया भी क्या होती होगी? अनुभव के बिना मनुष्य का जीवन, जीवन के सुख, सुखो की विविधता सब निरर्थक है।

किन्तु अनुभव इतना व्यक्तिगत होता है कि एक व्यक्ति दूसरे के अनुभव को नही देख सकता। आप और मै दोनो सूर्योदय की छटा देख रहे है। मै आपसे सूर्योदय के समय आकाश का रग पूछता हूँ। आप कहते है 'लाल।' मै सन्तुष्ट हो जाता हूँ। आपके पूछने पर मै भी आकाश का रग लाल ही बताता। किंतु इस बात का कोई प्रमाण नही है कि आप जिसे 'लाल' कहते है और मै जिसे 'लाल' समझता हूँ वह एक ही अनुभव है क्योकि मै आपके अनुभव को नही देख सकता। मै केवल आपके और आप केवल मेरे व्यवहार को ही देख सकते है। काँटा लगने पर यदि आप कराह उठते है तो आपके व्यवहार से मै अनुमान कर सकता हूँ कि आपको दर्द का अनुभव हुआ है। किन्तु यदि मै काँटा लगने पर न कराहूँ और दर्द का अनुभव होने का कोई भाव प्रकट न करूँ तो आपके लिए यह कहना या अनुमान करना कठिन हो जायगा कि मुझे दर्द का अनुभव हुआ या नही हुआ। अनुभव का अनुमान व्यवहार को देखकर ही किया जाता है।

अनुभव का अनुमान चूँकि व्यवहार से ही हो सकता है इसलिये कुछ लोग मनोविज्ञान में अनुभव को उतना महत्व नही देते जितना व्यवहार को। वे कहते है कि किसी व्यक्ति का अनुभव उसके लिये चाहे सत्य और स्वयसिद्ध क्यो न हो किन्तु दूसरो के लिये सत्य होने के लिये अनुभव को व्यवहार-सापेक्ष होना चाहिये। किन्तु फिर भी अनेक व्यक्तियो के अनुभवो

मे काफी समानता और सत्यता होती है इसलिये व्यावहारिक दृष्टि से मनोविज्ञान में अनुभव की महत्ता को स्वीकार कर लेने मे कोई हानि नही है। अनुभव तब होता है जब कोई उत्तेजना प्राणी के शरीर पर प्रभाव डालती है। उत्तेजना मिलने पर शरीर के अन्दर न्यूरोनीय शक्ति का प्रवाह होने लगता है और उस प्रवाह के फलस्वरूप प्राणी को अपने परिवेश का बोध होता है जिससे वह कोई न कोई चेतन प्रतिक्रिया करता है। यह चेतन प्रतिक्रिया ही अनुभव है। अनुभव में तीन बाते होती है : स्थिति का बोध, बोध होने पर प्रतिक्रिया और प्रतिक्रिया द्वारा परिवेश से समायोजन। अगर आपके हाथ पर गर्म पानी गिर जाय तो पहले आपको गर्म पानी का बोध होगा। फिर आप दर्द से चिल्लाकर और अपना हाथ झटक-झटक कर प्रतिक्रिया करेंगे। इसके बाद आप हाथ की जलन मिटाने के लिए मरहम लगाकर एक विषम स्थिति से अपना समायोजन करेगे। इससे स्पष्ट है कि अनुभव व्यवहार और समायोजन का पूर्वगामी होता है। अनुभव शब्द का अर्थ बहुत विस्तृत है। अनुभव में बोध (निर्विशेष ज्ञान), बोध होने की शर्तें और सज्ञा (सविशेष ज्ञान) होती है, इसलिये अनुभव को समझने के लिये बोध, बोध होने की शर्त और सज्ञा का अलग-अलग अध्ययन करना आवश्यक है।

संवेदन

प्राणी को अपने परिवेश का बोध उत्तेजना मिलने पर होता है। उत्तेजना किसी शक्ति के उस परिवर्तन को कहा जाता है जो प्राणी के किसी ग्राहक, आँख, कान आदि पर प्रभाव डालती है। प्राणी आँख से देखता है, कान से सुनता है, रसना से रस लेता है। आँख, कान और रसना आदि ग्राहको को प्रभावित करने वाली शक्तियाँ उत्तेजना है। यदि ग्राहको को प्रभावित करने वाले शक्ति परिवर्तन से प्राणी के ग्राहक प्रभावित न हो तो वे शक्ति परिवर्तन उस प्राणी के लिए उत्तेजना नही बन पाते। कोई शक्ति-परिवर्तन उत्तेजना तभी बन सकता है जब वह प्राणी के ग्राहको को प्रभावित करे। शक्तियो का परिवर्तन या उत्तेजनाएँ प्रत्येक प्राणी पर अलग-अलग तरह से प्रभाव डालती है। इसका कारण प्राणी की स्वभाव-विभिन्नता, अनुभव-विचित्रता या परिपक्वता का अनुपात होता है। चाय किसी को रुचिकर लगती है, किसी को नही, दूध का जला छाछ को फूँक-फूँक कर पीता है, बच्चे बिजली की चमक देखकर डर जाते है किन्तु कवि को उसमे अपनी प्रेयसि की मुस्कान दिखाई देती है।

उत्तेजना मिलने पर जब कोई ग्राहक प्रभावित होता है तो उसके न्यूरोनो में न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। न्यूरोनो की प्रेरणा मनस् में जाती

है जहाँ प्रत्येक ग्राहक की प्रेरणा को ग्रहण करने के अलग-अलग क्षेत्र होते हैं। ग्राहक की प्रेरणा मनस् के तत्सम्बन्धी क्षेत्र में सवेदन (sensation) उत्पन्न करती है। सवेदन होने पर प्राणी को उत्तेजना का बोध होता है। बोध होने पर प्राणी उत्तेजना के प्रति कोई प्रतिक्रिया करता है। सवेदन की अवस्था मे उत्तेजना निर्विशेष यानी गुण और विशेषताओ से रहित होती है। नवजात शिशु को वे सभी सवेदन होते हैं जो वयस्क को। किन्तु नवजात शिशु उन सवेदनो के नाम, रूप, गुण, भेद और विशेषताओ को नही जानता। दिए की लौ का सवेदन शिशु को भी होता है किन्तु वह दिए का नाम नही जानता, कामिनी के छरहरे, सुनहरे, चचल वदन जैसी लौ के रूप को नही जानता, प्रकाश के गुण को नही जानता, प्रकाश और अन्धकार के भेद को नही जानता और दिए की उन विशेषताओ को नही जानता जिनसे मनुष्य रात मे रगीनियाँ पैदा करता है। क्यो? क्योकि शैशवावस्था में शिशु का मनस् विकसित नही होता। सवेदनो को नाम, रूप, गुण, भेद और विशेषताएँ देना विकसित मनस् की क्रिया है। सवेदन विकसित मनस् की क्रिया द्वारा ही सविशेष बनते हैं। सवेदन मनस् की ग्रहणशीलता से होते हैं। सवेदन की अवस्था मे मनस् क्रियाशील नही होता। सवेदनो को केवल ग्राहको की क्रिया कहा जा सकता है।

यह ठीक है कि सवेदन शक्ति-परिवर्तन के कारण होते हैं किन्तु हर शक्ति-परिवर्तन का सवेदन नही होता। अल्ट्रा वॉयलेट किरणें यद्यपि हमारे शरीर मे प्रविष्ट होकर उस पर प्रभाव डालती है किन्तु हमें उनका सवेदन नही होता। रेडियो-लहरे इतनी सूक्ष्म होती हैं कि हम उन्हे नही सुन पाते। जमीन सूरज के चारो ओर १९ मील प्रति सेकड की रफ्तार से घूमती है जिससे बडा भयानक शोर होता है किन्तु हम उस शोर को नही सुन पाते। सवेदन शक्ति-परिवर्तन की सूक्ष्मता और स्थूलता की एक विशेष सीमा के अन्दर ही सभव है। यदि शक्ति-परिवर्तन उस सीमा से अधिक क्षीण या तीव्र होगा तो ग्राहक उसको ग्रहण नही कर सकेंगे और हमे सवेदन नही होगा। यदि दूर पर दो व्यक्ति कानाफूसी कर रहे हो तो हम उन्हे ठीक से नही सुन सकते, यदि प्रकाश अत्यन्त तेज हो तो हमारी आँखें चौंधिया जाती है और हम देख नही पाते।

सवेदन की विशेषताएँ–प्राणी को विभिन्न प्रकार के सवेदन होते है। सवेदनो की विभिन्नता का रहस्य मनुष्य की शरीर-रचना की विशेषता में है। ध्वनि का सवेदन स्पर्श के सवेदन से अलग होता है। ध्वनि एक प्रकार का गुण है और स्पर्श दूसरे प्रकार का। आँख का गुण देखना है और कान का सुनना।

आँख, कान, स्पर्श आदि सवेदनो में जातीय भेद होता है। गुणो के जातीय भेद का सवेदन अलग-अलग ग्राहको से होता है। आँख सुन नही सकती और कान देख नही सकता क्योंकि दोनो के गुणो मे जातीय भेद है।

लाल और हरे रग मे भी गुण-भेद होता है किन्तु यह भेद जातीय न होकर विशिष्ट भेद होता है। गुण के विशिष्ट भेद का सवेदन एक ही ग्राहक द्वारा होता है। लाल और हरे दोनो रगो के विशिष्ट भेद का सवेदन आँख से ही होता है और उनके भेद का कारण तत्सम्बन्धी ग्राहक मे होता है जिसका विस्तृत वर्णन ग्राहको के प्रसग मे किया जायगा।

सवेदन के गुण और उत्तेजना मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। हरे रग का पदार्थ हरे रग का सवेदन उत्पन्न करता है, लाल रग का नही। सवेदन के गुणो की व्याख्या बहुत सीमा तक उत्तेजना के आधार पर की जा सकती है। सवेदन के गुणो मे मात्रा-भेद न होकर प्रकार-भेद होता है। सवेदनो की तीव्रता में भी भेद होता है, जैसे मोमबत्ती और बिजली के प्रकाश मे। किन्तु तीव्रता के भेद की व्याख्या गुण-भेद से ही की जा सकती है। यदि लाल और हरे रगो की चमक मे तीव्रता का भेद न हो तो भी लाल और हरे रग मे गुण के आधार पर भेद किया जा सकता है। दूसरे, तीव्रता का सवेदन उत्तेजित होने वाले न्यूरोन के रेशो की सख्या पर निर्भर होता है।

कभी-कभी उत्तेजना के न रहने पर भी उस उत्तेजना का सवेदन कुछ देर तक बना रहता है। अँगूठी या घडी हाथ से उतार देने पर भी कुछ देर तक उनका सवेदन होता रहता है। इसे सवेदन की 'देर' (duration) कहा जाता है। किन्तु उत्तेजना और सवेदन मे 'देर' का सम्बन्ध बडा अनिश्चित है। कुछ उत्तेजनाओ का सवेदन तो उत्तेजना के न रहने पर कुछ देर तक होता रहता है और कुछ का बिलकुल नही होता। हृदय को छूने वाले स्वर कान मे देर तक गूँजते रहते है किन्तु अप्रिय गन्ध का सवेदन उत्तेजना के हटते ही नष्ट हो जाता है।

हमे छोटे और बडे यानी आकार का भी सवेदन होता है। रुपए का सवेदन चवन्नी के सवेदन से पृथक होता है। रुपए और चवन्नी के सवेदन के भेद को सवेदन की प्रसरता (extensity) कहते है। सिर के दर्द के सवेदन मे सर्वाङ्गव्यापी पीडा से कम प्रसरता होती है। प्रसरता के सवेदन मे व्यक्तिगत अवस्था की भी प्रधानता रहती है। गरीब को अमीर की अपेक्षा रुपए में अधिक प्रसरता मालूम होती है; उसे पया ज्यादा बडा लगता है।

सवेदन की इन्ही विशेपताओ के कारण अनुभव मे विविधता होती है। अनुभव की विविधता की व्याख्या के लिए सवेदन की उन विशेपताओ को स्वी-

कार करना पड़ता है। उनसे इनकार करना अनुभव की विविधता से इनकार करना है।

सवेदन और उत्तेजना—सवेदन की विशेषताएँ मूलत उत्तेजना में होती है या फिर ग्राहको की क्रिया का परिणाम होती है? वे उत्तेजना और अनुभव से किस प्रकार सम्बन्धित होती है? लाल रग का सवेदन लाल उत्तेजना का गुण होता है या लाल रग का सवेदन करने वाले ग्राहक की क्रिया का परिणाम? ये प्रश्न बडे जटिल है। अनुभव में तीन अवस्थायें होती है भौतिक (physical), शारीरिक (physiological) और मनोवैज्ञानिक (psychological)। किसी उत्तेजना द्वारा किसी ग्राहक का प्रभावित होना भौतिक अवस्था है। सवेदन की विशेपताएँ यदि उत्तेजना मे ही रहती हो तो उन्हे जानने के लिए उत्तेजना का विश्लेपण करना आवश्यक है। उत्तेजना का विश्लेषण भौतिकी (Physics) का विषय है।

ग्राहक के प्रभावित होने पर न्यूरोनीय प्रेरणा (nervous impulse) का प्रादुर्भाव होना शारीरिक व्यवस्था है। सवेदन की विशेषताओ के निश्चय मे शारीरिक क्रियाओ का हाथ कहाँ तक रहता है? इसका उत्तर पाने के लिए ग्राहक (receptor), बोधवाहक न्यूरोन (sensory neurone) और कोर्टेक्स के न्यूरोनो का अध्ययन करना आवश्यक है। यह अध्ययन शरीर-विज्ञान (physiology) का विपय है।

सवेदनो का मनस् की क्रिया द्वारा सगठित और व्यवस्थित होकर सार्थक और सविशेष बन जाना मनोवैज्ञानिक अवस्था है। भौतिक और शारीरिक अवस्था तक सीमित क्रिया ही सवेदन है किन्तु मनोविज्ञान का प्रमुख विषय मनोवैज्ञानिक अवस्था का अध्ययन करना होता है। इस अध्ययन मे भौतिक और शारीरिक अवस्थाओ का महत्व वही तक है जहाँ तक वे मनोवैज्ञानिक अवस्था का आधार होती है। मनोविज्ञान मे सवेदन को एक मनोभौतिक (psychophysical) क्रिया माना जाता है। सवेदन पदार्थों की चेतन प्रतिलिपि होते है। व्यावहारिकता की दृष्टि से सवेदन और उत्तेजना में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध मान लेना अनुचित नही है।

चेतनता—सवेदनशीलता का एक विशेष गुण चेतनता होता है। चेतनता का वर्णन ही किया जा सकता है कोई परिभाषा नही दी जा सकती। चेतनता और न्यूरोनीय क्रियाओ को एक ही व्यापार के दो पक्ष कहा जा सकता है। चेतनता का अनुभव न्यूरोनीय क्रियाओ के एक निश्चित मात्रा की जटिलता प्राप्त कर लेने पर होता है। चेतनता अविच्छिन्न होती है। चेतनता का स्वाभाविक वर्णन 'नदी' की धारा' के रूपक से किया जा सकता है। चेतनता

के अखण्ड प्रवाह मे बाधा पडने पर चेतनता का प्रवाह सहज रूप से अपने खडित होने के स्थान से बाधा हट जाने पर फिर प्रारम्भ हो जाता है। मान लीजिए आप शतरज खेल रहे है और कोई चाल सोच रहे है। एकाएक आपको किसी जरूरी काम से बाहर जाना पडता है। वापस आने पर आप खेल वही से शुरू करते हैं जहाँ आपने उसे रोक दिया था। इस प्रकार चेतनता के प्रवाह की एकता के पीछे प्रयोजनात्मक अविच्छिन्नता रहती है।

चेतनता के तीन पक्ष होते हैं: ज्ञान, राग (affection) और चेष्टा। परिवेश की चेतनता हमे तीन प्रकार से हो सकती है (१) ज्ञान से (२) सुख या दुख आदि किसी राग से और (३) किसी न किसी तरह की प्रतिक्रिया करने की चेष्टा से। फूल देखने पर हमे फूल का ज्ञान होता है। उसे देखकर हमे सुख का रागात्मक अनुभव भी होता है और जब हम उसे तोडना चाहते है तो हमे चेष्टा का अनुभव होता है। हमारा यह सम्पूर्ण अनुभव हमारी चेतनता का विषय होता है।

चेतनता की एक प्रमुख विशेषता साहचर्य (association) स्थापित करना भी होती है। साहचर्य का अर्थ सम्बन्ध जोडना होता है। अनुभव द्वारा हम तरह-तरह के सम्बन्ध जोडते रहते है। सम्बन्ध जोडने का मनोवैज्ञानिक नियम यह है: अगर दो या दो से अधिक अनुभव एक साथ होते है तो उनमे कुछ ऐसा सम्बन्ध जुड जाता है कि बाद मे एक अनुभव के फिर होने पर दूसरा अनुभव भी फिर हो सकता है। साहचर्य के न्यूरोनीय पक्ष का वर्णन यो किया जा सकता है दो या दो से अधिक न्यूरोनीय द्वारो के एक ही समय पर सक्रिय होने से उन दोनो के न्यूरोनीय-सामीप्यो का प्रतिरोध इस तरह कम हो जाता है जिससे बाद मे किसी एक की सक्रियता का प्रभाव दूसरे पर भी पड़ सकता है।

साहचर्य की भाँति विघटन (dissociation) का भी चेतन पक्ष होता है। विघटन का अर्थ न्यूरोनीय सामीप्यो के प्रतिरोध में होने वाले परिवर्तनो के कारण पूर्वस्थापित साहचर्यो का टूट जाना होता है। विघटन के परिणाम-स्वरूप चेतनता का प्रवाह खण्डित और अनैकान्तिक हो जाता है जिसकी अभिव्यक्ति किसी भी मानसिक क्रिया द्वारा हो सकती है।

अवधान और विन्यास

परिवेश में असंख्य उत्तेजनाएँ होती है और वे प्रतिक्षण प्राणी के किसी न किसी ग्राहक को प्रभावित करती रहती है। किन्तु प्राणी के लिए उन सब उत्तेजनाओं की ओर एक साथ ध्यान दे सकना नामुमकिन है। वह एक ही

समय अनेक उत्तेजनाओ के प्रति प्रतिक्रियाएँ नही कर सकता। उसके ग्राहक आँख, कान आदि परिवेश की उत्तेजनाओ को चुनते है। आँख सभी पदार्थो को एक साथ नही देखती, कान सभी आवाजो को एक साथ नही सुनता। देखने और सुनने आदि की शारीरिक सीमाएँ होती है जिनके बाहर ग्राहक परिवेश की उत्तेजनाओ को ग्रहण नही कर सकते। इन शारीरिक सीमाओ का अध्ययन ग्राहको के वर्णन के प्रसग मे विस्तार से किया जायगा।

किन्तु उत्तेजनाओ का चुनाव ग्राहको की शारीरिक सीमा तक ही नही रहता। शारीरिक सीमा के अन्दर आने वाली उत्तेजनाओ में भी चुनाव होता है और वह चुनाव मानसिक होता है। मनस् प्राणी के ग्राहको को प्रभावित करने वाली असख्य उत्तेजनाओ मे से उसकी किसी तत्कालिक आवश्यकता को पूरा करने वाली उत्तेजना को ही चुनता है। जब आप किसी रोचक कहानी को पढने मे लगे होते है तो आपको सडक पर होने वाला कोलाहल सुनाई नही देता। मानसिक चुनाव में प्राणी की शारीरिक क्रियाएँ इस ढग से होती है कि वह किसी समय एक ही उत्तेजना के प्रति आकृष्ट हो सकता है। मानसिक चुनाव के परिणाम-स्वरूप शारीरिक क्रियाओ की इस मर्यादा को अवधान (attention) कहते है।

अवधान में न्यूरोनीय शक्ति का प्रवाह निर्विघ्न रूप से सामान्य-द्वारक बन जाता है। शक्ति-प्रवाह की ऐसी व्यवस्था से प्रतिक्रिया का केवल एक प्रमुख द्वार ही क्रियाशील रह पाता है जिससे अन्य कम तेज और विरोधी उत्तेजनाएँ अपने अपने ग्राहको के न्यूरोनीय सामीप्यो (synapse) पर अवरुद्ध हो जाती है और शरीर पर प्रभाव डाल कर ध्यान नही बँटा पाती। अवधान से परिवेश प्राणी के लिए केन्द्रीय और परिणामिक बन जाता है। अवधान से उत्तेजनाओ की चेतनता अधिक सजीव और स्पष्ट बन जाती है। अवधान और चेतनता की स्पष्टता मे कोई विशेष अन्तर नही होता।

अवधान की विशेषताऍ--अवधान से शारीरिक एव मानसिक क्रियाओ में कुछ विशेषताएँ प्रकट होती है। शक्ति के सामान्य-द्वारक होने पर शरीर और ग्राहको मे उचित नियमन (adjustment) हो जाता है जिससे उत्तेजना को ग्रहण करने में सुविधा होती है। अवधान में शारीरिक नियमन देखने के लिए आप बिल्ली को चूहे की ताक में और बगुले को एक टाँग पर खडे मछली की टोह में देखिए। कला-प्रदर्शनी में आपकी आँख (ग्राहक) में ऐसा नियमन हो जाता है जिससे चित्रो को देखते समय आपका ध्यान और कही नही भटकता। शारीरिक नियमन से मासपेशियो में तनाव उत्पन्न होता है जिससे उत्तेजना मिलने पर प्रतिक्रिया होने में देर नही लगती। यदि आप कोई

जरूरी काम कर रहे हो और उस समय आपके काम मे बाधा डाली जाय तो अ प और भी तन्मय हो जाते है क्योकि बाधा की उपेक्षा करने के लिए मासपेशियो का तनाव और वढ जाता है।

अवधान से मनस् मे सजगता आती है जिससे उत्तेजना की स्पष्टता वढ जाती है। आप कमरे मे घडी की टिक-टिक स्पष्ट रूप से नही सुन पाते किन्तु घडी की ओर आकृष्ट होने पर उसकी टिक-टिक वहुत स्पष्ट हो जाती है। घडी की टिक-टिक की तीव्रता मे कोई भौतिक परिवर्तन न होने पर भी उसका आपके लिए व्यक्तिगत रूप से अधिक स्पष्ट बन जाना अवधान-जन्य व्यापार है।

अवधान के समय मनस् का क्रियाशील होना अभी तक विवादग्रस्त है। कुछ लोग अवधान में केवल ग्राहको और मासपेशियो के प्रभाव को प्रधानता देते है और अवधान (attention) पर ग्राहको और मासपेशियो से अलग मनस् का नियन्त्रण नही मानते। इस विषय पर अनेक प्रयोग किए गए है किन्तु उनसे यह सिद्ध नही हो पाया है कि अवधान पर ग्राहको और मास-पेशियो से स्वतन्त्र मनस् का अपना कोई नियन्त्रण होता है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति आपकी वात को वडी एकाग्रता से सुन रहा हो किन्तु उसका ध्यान और कही हो और पूछे जाने पर वह आपकी बातो का सार न बता सके। इसका कारण मनस् का नियन्त्रण नही कहा जा सकता। इसका कारण उस व्यक्ति की प्रवृत्तियो की गत्यात्मक (dynamic) दिशा हो सकती है। व्यक्ति की प्रवृत्तियो की गत्यात्मक दिशा ग्राहक या शरीर का उचित नियमन होने पर भी न्यूरोनीय प्रेरणा के प्रवाह की उस व्यवस्था में वाधा डाल सकती है जो अवधान के लिए आवश्यक होती है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि अवधान व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियो की क्रियात्मक दिशा पर निर्भर होता है। गत्यात्मक प्रवृत्ति के क्रियात्मक हुए विना जिस स्थिति पर ध्यान दिया जा रहा है वह ग्राहको के उचित नियमन होने पर भी स्पष्ट नही वन सकती। विचार-सागर में गोते लगाते हुए व्यक्ति की आँख पर किसी वस्तु का स्पष्ट प्रतिविम्ब पड सकता है किन्तु वह फिर भी उस वस्तु को स्पष्टतया देख नही पाता।

अवधान के निर्धारक—स्नायु प्रवन्ध के प्रसंग में देखा जा चुका है कि हमारे न्यूरोनो में शक्ति होती है और उसी शक्ति के कारण हमारा शरीर उत्तेजनाओ को ग्रहण कर प्रतिक्रिया करने मे समर्थ होता है। अवधान के समय वह शक्ति उन्मुक्त होकर सामान्य-द्वारक हो जाती है। यदि कोई उत्तेजना

पर्याप्त शक्ति उन्मुक्त न कर सके तो हम उस उत्तेजना के प्रति एकाग्र नही हो सकते ।

उत्तेजना यदि शरीर के निश्चित क्षेत्र पर प्रभाव डाले तो हम उसकी ओर आकृष्ट हो जाते है। एकाग्रता किसी बोधाग (sense organ) के प्रभावित होने वाले क्षेत्र पर निर्भर होती है। यदि हमारी पीठ पर चीटी रेंग रही हो तो हम उसकी ओर आकृष्ट हुए विना ही उसे हाथ से झाड देते है। किन्तु यदि चीटी की जगह छिपकली रेग जाय तो हम फौरन उसकी ओर आकृष्ट हो जायँगे क्योकि उसका रेगना शरीर के काफी बडे भाग को प्रभावित करेगा ।

विरोध देखने पर भी हम तत्काल आकृष्ट हो जाते है। विरोध कई बातो मे उत्पन्न हो सकता है। तीव्रता विरोध उत्पन्न करती है। मेले में आतिशबाज़ी होने पर लोग फौरन आकृष्ट हो जाते है क्योकि आतिशबाजी का प्रकाश अपनी तीव्रता से परिवेश मे विरोध पैदा कर देता है। परिवर्तन या गतिशीलता भी विरोध लाती है। मौसम का एकदम बदलना या सडक पर किसी का अचानक दौडने लगना हमे आकृष्ट कर लेता है। विरोध नवीनता से भी होता है इसीलिए मोटरकार बनाने वाले हर साल नए-नए नमूने की मोटरे वनाते है। विचित्रता भी विरोध लाती है, वहुरूपिए अपनी विचित्रता से हो लोगो का ध्यान आकृष्ट करते है। विरोध विषमता से भी आता है, लम्बे आदमी के साथ नाटा आदमी, मोटे के साथ पतला आदमी लोगो का ध्यान खीच लेते है।

अवधान बहुत सी व्यक्तिगत बातो पर भी निर्भर होता है। भूखा आदमी खाने की हल्की से हल्की गध पा लेता है। लहराते हुए काले बादलो मे किसान अपना भविष्य देखता है, कवि सौंदर्य देखता है, विज्ञानी कार्यकारण नियम देखता है, प्रोषितपतिका विरह की रात देखती है और पपीहा स्वाती की बूँद देखता है। केटली के ढक्कन को बच्चा खेलने के लिए लेता है, गृहणी चाय तैयार करने के लिए लेती है और जेम्स वाट ने भाप का आविष्कार करने के लिए लिया था ।

अवधान के प्रकार—अनुभव में हमें अवधान (attention) के तीन प्रकार मिलते है अनायास (involuntary), सायास (voluntary) और स्वाभाविक (habitual)। यदि हम किसी उत्तेजना को ग्रहण करने के लिए सचेष्ट न हो किन्तु फिर भी वह हमारा ध्यान खीच ले तो यह अनायास अवधान होगा। आकस्मिक धक्का, जोर का धमाका, अप्रत्याशित घटना का हो जाना ध्यान खीच लेते है यद्यपि हम उनकी ओर ध्यान देने का प्रयत्न नही करते ।

चेष्टा के साथ ध्यान देने को सायास अवधान कहते है। अपने हित की बात में अपनी गत्यात्मक प्रवृत्तियो के प्रतिकूल भी सायास ध्यान देना पडता है। अखबार न देखने वाला व्यक्ति भी नौकरी के विज्ञापन के लिए अखबार देखता है। काहिल आदमी को अपना पेट भरने के लिए हाथ पैर हिलाना ही पडता है।

कुछ उत्तेजनाएँ ऐसी होती है जिनकी ओर हर व्यक्ति का ध्यान स्वभावत चला जाता है। स्वाभाविक अवधान जन्मजात होता है किन्तु शिक्षा आदि से उसमे एक सीमा तक परिमार्जन कर सकना सभव है। मेनका ने आखिर विश्वामित्र का तप भग कर ही डाला था। सुन्दर स्त्री के प्रति पुरुष का आकृष्ट होना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि स्त्री के लिए स्वस्थ पुरुष के प्रति। मित्रो की हर बात सच्ची और अच्छी लगना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि शत्रु की बातो का झूठी और बुरी लगना। स्वाभाविक अवधान व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओ और गत्यात्मक प्रवृत्तियो का परिणाम होता है।

अवधान की चंचलता--ध्यान एक ही उत्तेजना पर देर तक स्थिर नही रहता। यह आपको किसी क्षीण उत्तेजना के अनुभव से स्पष्ट हो जायगा। आकाश मे किसी कम टिमटिमाते तारे को ध्यान से देखिए तो आपको लगेगा
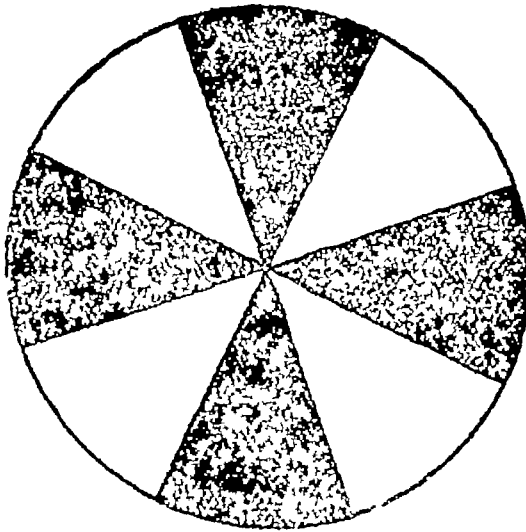
चित्र १८

कि बीच-बीच मे वह बिल्कुल दिखाई नही देता। किसी घडी को इतना दूर रखिए जहाँ से उसकी टिक-टिक केवल सुनाई भर पडे। आप अनुभव करेंगे कि बीच-बीच मे घडी की टिक-टिक सुनाई नही देती। चित्र १८ को देखिए। इस चित्र में कुछ क्षणो तक आपको सफेद पृष्ठभूमि पर काला रग और कुछ क्षणो

बाद काली पृष्ठभूमि पर सफेद रङ्ग दिखाई देगा। आप अवधान की चचलता को रोकने की कितनी ही कोशिश क्यो न करे लेकिन पृष्ठभूमि जब तब बदलती ही रहेगी।

अवधान की चचलता का कारण क्या ग्राहको (receptors) के नियमन मे परिवर्तन होना है या मनस् की अस्थिरता का परिणाम है ? क्षीण उत्तेजना को ग्रहण करते समय प्राणी का सारा शरीर (ग्राहको से लेकर मनस् तक) पूरी तरह से क्रियाशील रहता है। अवधान की चचलता का कारण बोधवाहक न्यूरोनो मे नही हो सकता क्योकि बोधवाहक न्यूरोनो की क्रिया में नियमित स्थिरता होती है। अवधान की चचलता का कारण या तो ग्राहक मे हो सकता है या मनस् मे या ग्राहक और मनस् दोनो में।

जो लोग अवधान की चचलता का कारण ग्राहक में मानते है वे, उदाहरण के लिए, दृष्टि की चचलता को कुछ मासपेशियो का परिणाम बताते है। वे मासपेशियाँ कुछ देर के लिए पदार्थ की स्पष्टता को घटा देती है। लगातार देखते रहने से आँख की सीलियरी (ciliary) मासपेशी थक जाती है जिससे दृष्टिगत पदार्थ स्पष्ट नही रहता। जब उस मासपेशी की थकान दूर हो जाती है तो पदार्थ फिर स्पष्ट हो जाता है। अवधान की चचलता का कारण सीलियरी मासपेशी की थकान और थकान दूर होने के बीच का समय होता है।

किन्तु प्रयोगो द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि दृष्टि-चचलता मे सीलियरी मासपेशी का कोई हाथ नही होता। सीलियरी मासपेशी को कृत्रिम साधनो से निष्क्रिय कर देने पर भी दृष्टि चचल बनी रहती है। इस और इसी तरह के अन्य प्रयोगो के आधार पर यह साबित-सा हो चुका है कि अवधान की चचलता की व्याख्या ग्राहको में ढूँढना ठीक नही है।

जो लोग अवधान की चचलता का कारण मनस् में मानते है उनका कहना है कि चचलता कोर्टेक्सीय कोषो (cortical cells) की थकान के कारण होती है। किन्तु चचलता के नियमित होने का कारण क्या है ? अवधान हर पॉच या या छह सेकेन्ड के बाद नियमित ढग से चचल होता है। इसका कारण शरीर मे रक्त-सचार की गति और साँस लेने की क्रिया के आरोह-अवरोह को समझा जा सकता है।

इस प्रसग में यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि अवधान क्रिया चचल और अस्थिर होती है तो हम देर तक कोई काम कैसे कर लेते है ? इसका कारण हमारी शारीरिक क्रिया-शक्ति का एक विशेष प्रबन्ध है जो प्रतिक्रिया शुरू होने के समय उस प्रतिक्रिया से सम्बधित मासपेशियो मे शक्ति सम्भरण को

इस प्रकार नियमित करता है जिससे वह प्रतिक्रिया देर तक स्थिर रह सके। जब आप पढने बैठते है तो आपकी शारीरिक क्रियाओ मे ऐसा प्रबन्ध हो जाता है जिससे आँख की मासपेशियो को निरन्तर शक्ति मिलती रहती है और आप देर तक पढ सकने में समर्थ होते है।

अवधान को स्थिर करने का एकमात्र उपाय अपनी गत्यात्मक प्रवृत्तियो को सुदृढ बनाना है। निरवधान ((inattention) नाम की कोई चीज नही होती। गत्यात्मक प्रवृत्तियो की दृढता के अभाव मे व्यक्ति अन्यमनस्क हो जाता है। उसे अपना मन जिस ओर लगाना चाहिए उसकी गत्यात्मक प्रवृत्तियो की परिक्षीणता उसे उस ओर नही लगने देती। उसका ध्यान सदा बँटा रहता है और इधर-उधर भटका करता है। ऐसा व्यक्ति जीवन में सफल नही हो सकता।

विन्यास—परिवेश की विभिन्नता मे भी प्राणी का व्यवहार सुसयत रहता है और अधिकतर उसी प्रकार का होता है जिस प्रकार का होना चाहिए। इसका कारण यह है कि प्राणी निश्चित उत्तेजनाओ के प्रति निश्चित प्रतिक्रियाएँ करने को पहले से ही तैयार सा रहता है। इस तैयारी को विन्यास (set) कहा जाता है। अवधान द्वारा शक्ति की एकाग्रता से प्राणी मे तत्क्षण कार्यकुशलता आ जाती है, विन्यास से कार्यकुशलता दीर्घकालीन बनती है।

कुश्ती लडने के पहले दस बारह-बैठके लगाकर हम अपना शारीरिक विन्यास कर अखाडे मे उतरने को प्रस्तुत हो जाते है; कोई बात याद करते या कठिन समस्या हल निकालते समय माथे पर बल डालकर मानसिक-विन्यास करते है। विभिन्न स्थितियो मे किसी स्थिति विशेष के प्रति आवश्यक विन्यास कर लेते है। किसी लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उस लक्ष्य के प्रति विन्यास कर लेते है। परिवेश का कुशलतापूर्वक सामना करने के लिए विन्यास का बडा महत्त्व है। जब द्रोणाचार्य ने अपने शिष्यो की धनुर्विद्या की परीक्षा ली तो उसमे अर्जुन ही उत्तीर्ण हुआ। अर्जुन की सफलता का रहस्य उसके विन्यास में था। उसने अवधान द्वारा स्थिति और लक्ष्य के प्रति ऐसा विन्यास कर लिया कि उसे चिडिया के अतिरिक्त परिवेश की अन्य उत्तेजनाओ (पेड, पत्ते, पास मे खड़े लोगो आदि) का ध्यान ही नही रह गया। बाद मे अवधान द्वारा उसकी शारीरिक शक्ति का प्रवाह इतना सामान्य-द्वारक हो गया कि उसे चिडिया की आँख के अलावा और किसी बात की सुध ही न रही। बस उसने तीर चलाकर लक्ष्य को वेध दिया। विन्यास लक्ष्य वेधने की पहली सीढी है। अवधान और विन्यास द्वारा अर्जुन की तरह आप भी अपने लक्ष्य पर निशाना लगाकर सफल हो सकते है।

प्रतिक्रिया-समय—विन्यास से प्रतिक्रिया समय घट जाता है। उत्तेजना मिलने और प्रतिक्रिया होने के बीच मे जो समय लगता है उसे प्रतिक्रिया-समय (reaction time) कहते है। कोई व्यक्ति किसी उत्तेजना के प्रति जल्दी प्रतिक्रिया करता है और कोई देर से। जिस व्यक्ति का प्रतिक्रिया-समय अपेक्षाकृत जितना कम होता है उसकी कार्य-कुशलता उतनी ही ज्यादा होती है।

प्रतिक्रिया-समय (reaction time) के व्यक्तिगत अन्तर का अध्ययन करने के लिए मनोविज्ञानियो ने अनेक प्रयोग किए है। प्रयोगो से यह पता चला है कि प्रतिक्रिया का समय अवधान की दिशानुसार बदलता रहता है। व्यक्ति का ध्यान यदि उत्तेजना पर ज्यादा लगा हो और प्रतिक्रिया पर कम तो प्रतिक्रिया समय बढ जाता है यदि प्रतिक्रिया पर ज्यादा लगा हो तो प्रतिक्रिया-समय घट जाता है। सौ गज की दौड में भाग लेने वालो में जो तमचे की आवाज की ओर अधिक ध्यान रखते है उनका प्रारम्भ बिगड जाता है, जो दौडने पर अधिक ध्यान रखते है उनका प्रारम्भ अच्छा होता है।

प्रतिक्रिया-समय ग्राहको पर भी निर्भर होता है। ठढ और स्पर्श का प्रतिक्रिया-समय बहुत कम होता है, प्रकाश का अधिक होता है। स्वाद और गन्ध के ग्राहको का प्रतिक्रिया-समय सबसे ज्यादा होता है। प्रतिक्रिया-समय आयु के अनुसार भी बदलता रहता है। बच्चो और बूढो का प्रतिक्रिया-समय ज्यादा होता है क्योकि उनमें अवधान (attention) की कमी होती है।

संज्ञा करना

अवधान से हम जानने के लिए तैयार हो जाते है लेकिन जानना यही तक सीमित नही होता। उत्तेजना मिलने पर अनेक ग्राहक क्रिया करते है और हर ग्राहक एक दूसरे से स्वतत्र रहकर अपनी प्रेरणाओ से मनस् के अपने क्षेत्र को प्रभावित करता है। ये अनेक प्रेरणायें मनस् में जाकर इकाई कैसे बन जाती है? किसी पदार्थ को देखते समय हमें उसके अवयवो(parts) रङ्ग, आकार आदि का ही सवेदन होता है। लाल रङ्ग, गोल सी शक्ल, एक विशेष आकार आदि के सवेदनो के आधार पर हम किसी वस्तु को नारङ्गी क्यो कहते है? सवेदन तो हमें नारङ्गी के अवयवो (parts) का ही होता है, 'नारङ्गी' का नही। शक्ति की वह कौन सी व्यवस्था है जिससे हम कुछ विभिन्न सवेदनो के समूह को एक इकाई में सगठित कर उन्हे 'नारङ्गी' कहते है।

शक्ति की उस व्यवस्था को जिससे विभिन्न सवेदन एक इकाई मे सगठित होकर अवयवी (whole) बन जाते है सज्ञा (Perception) कहते है। रङ्ग, आकार आदि नारङ्गी के विशेष भाग होते है और यदि जानना नारङ्गी

के इन्ही विशेष भागो का सवेदन करने तक ही सीमित होता तो हमें नारङ्गी की सज्ञा (Perception) कदापि नही हो सकती। नारङ्गी अपने अवयवो का जोड न होकर एक अलग सत्ता होतीहै जिसे सज्ञा द्वारा ही जाना जा सकता है। सज्ञा विभिन्न सवेदनो का एक ऐसा सगठन है जो सवेदनो के योग से (unique) होता है। सज्ञा द्वारा हम अवयवो (parts) को न जानकर अनन्वय अवयवी (whole) को जानते है।

सज्ञा (Perception) एक मानसिक क्रिया है जिसके द्वारा विभिन्न सवेदन सगठित होकर अवयवी (whole) वन जाते है। सवेदन में केवल ग्राहक (receptors) ही क्रियाशील होते है, मनस् नही। सज्ञा के समय मनस् सक्रिय होता है जिससे उसकी क्रियाशीलता द्वारा निर्विशेष सवेदन सगठित और व्यवस्थित होकर सविशेष वन जाते है। सज्ञा सविशेप सवेदन है। यदि मनुष्य में सज्ञाशक्ति न होती तो उसका ज्ञान अत्यन्त सीमित होता और उसकी अपने परिवेश (environment) से समायोजन करने की क्षमता और कार्य कुशलता वडे निचले स्तर की होती। मनुष्य अन्य प्राणियो से इसीलिए श्रेष्ठ है कि वह अपनी सज्ञा-शक्ति द्वारा सवेदनो को नाम, रूप, गुण, भेद से सविशेप वनाकर ज्ञान प्राप्त करता है। सवेदन मनस् की क्रियाशीलता से सज्ञ और सार्थ वनते है।

सज्ञा द्वारा सवेदन एक ओर तो सगठित और व्यवस्थित होते है और दूसरी ओर सार्थक बनते है। पहले संवेदनो के सगठन के आधारो पर विचार करना चाहिये।

सगठन के नियम (१)—समीपता (Proximity)—जिन विभिन्न उत्तेजनाओ मे ज्यादा समीपता होती है वे परस्पर सगठित हो जाती है। चित्र १६
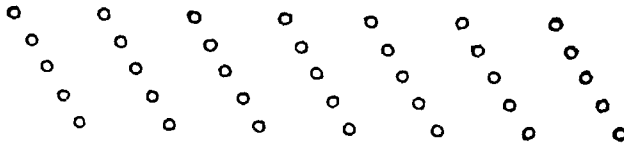
चित्र १६

को देखिए। आपको सात आड़ी रेखाएँ दिखाई देंगी, पाँच पडी रेखाएँ नही। गोलो मे पडी दिशा की अपेक्षा आडी दिशा मे अधिक समीपता है, इसलिए वे अपनी समीपता के कारण सगठित होकर सात आडी रेखाओ की भाँति दिखाई देते है।

(२) सदृशता (Similarity)—वे उत्तेजनाएँ जो एक दूसरे से कुछ सादृश्य रखती है सगठित हो जाती है। सदृशता उत्तेजनाओ के गुणो, तीव्रता

और आकार या रूप पर निर्भर होती है। यह चित्र २० से स्पष्ट है। अ और व दोनो चित्रो के बिन्दुओ और गोलो की समीपता में कोई अन्तर नही है किन्तु फिर भी गोले अपनी तीव्रता और आकार के कारण अ चित्र मे पडी रेखाओ में और व चित्र मे खडी रेखाओ में सगठित हो जाते है।
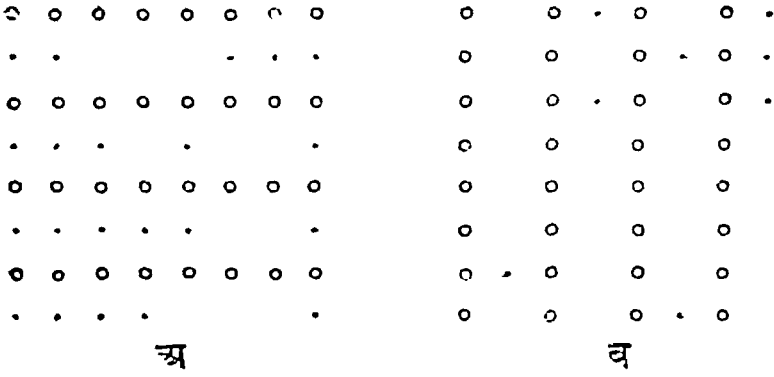
चित्र २०

(३) खण्डपूर्त्ति सिद्धान्त—पहले कहा जा चुका है कि सज्ञा करते समय हम अवयवो को अलग-अलग न देखकर उन्हे एक व्यवस्थित अवयवी
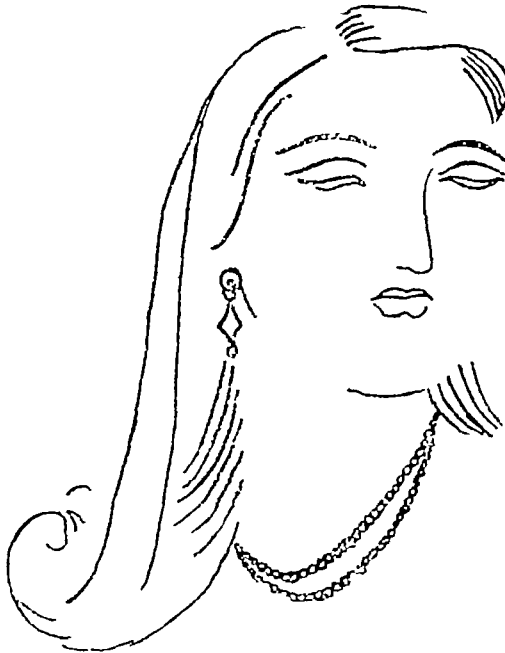
चित्र २१

(Organised Whole) के रूप में देखते है। चित्र २१ को देखिए। इसमें अपूर्ण रूपरेखाएँ मात्र ही दी हुई है किन्तु हम उनकी अपूर्णता को अपनी ओर से पूरा करके आकृति को पूर्ण रूप में देखते है। सज्ञा करने की यही विशेषता सज्ञा और सवेदन के भेद को और भी स्पष्ट कर देती है।

नीचे चित्र २२ को देखिये। यद्यपि अपने 'आप में इस चित्र में केवल काले धब्बे ही है किन्तु एक व्यवस्थित अवयवी के रूप में देखने के कारण मालूम होता है कि चित्र में कोई घुडसवार चला जा रहा है।

चित्र २२

(४) आकृति और भूमि—पूर्ण को देखने का सङ्गठन प्राय आकृति (figure) और भूमि (ground) का रूप ले लेता है। आकृति बहुत स्पष्ट दिखाई पडती है और शेष दृश्यक्षेत्र भूमि बन जाता है। आकृति भूमि से उभरी हुई-सी और ज्यादा पास मालूम होती है। आकृति और भूमि की सज्ञा की व्याख्या अवधान की चचलता के आधार पर करना दोषपूर्ण है। अवधान की चचलता से आकृति मे भूमि या भूमि मे आकृति की सज्ञा नही होती। यो तो हमारा ध्यान पहले आकृति की ओर ही जाता है किन्तु हो सकता है कि ध्यान से पहले भूमि पर ही चला जाय चाहे आकृति भूमि से उभरे या न उभरे। आकृति सिनेमाघर के अन्दर होने वाले शोर और किसी व्यक्ति का ऊँचे स्वर से बात-चीत करने की उत्तेजनाओ मे क्रमश भूमि और आकृति का सम्बन्ध होता है क्योकि ऊँचे स्वर से बात करना (आकृति) सिनेमाघर के शोर (भूमि) के ऊपर उभरता सुनाई देता है। हो सकता है कि हम सिनेमाघर में घुसने पर केवल शोर ही सुने और किसी व्यक्ति की ऊँचे स्वर में की जाने वाली बातचीत न सुन सके।

(५) विन्यास (set)—सज्ञा पर मानसिक विन्यास का भारी प्रभाव पडता है। जब मनस् मे किसी उत्तेजना से न्यूरोनीय प्रेरणाओ (nervous impulses) के प्रवाह की जटिल बाढ-सी आ जाती है तो उसका सङ्गठन पूर्व अनुभव के आधार पर बन चुके विन्यास के अनुसार होता है। दो व्यक्ति एक ही उत्तेजना के प्रति अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ कर सकते है क्योकि वे अपन विन्यास के आधार पर उसी उत्तेजना की सज्ञा विभिन्न ढग से करते है। किसी व्यक्ति की प्रतिक्रिया को बदलने का एक उपाय उसके परिवेश की सज्ञा करने

के ढगो को बदल देना है। चित्र २३ को देखिए। पूर्व अनुभव के आधार पर बने विन्यास (set) के कारण हो सकता है कि आप इसे टेलीफोन या आइसक्रीम की एक खबसूरत प्याली समझ बैठे। ठीक है, किन्तु चित्र को जरा गौर से

चित्र २३

देखने पर आपके मनस् की न्यूरोनीय प्रेरणाओ का प्रवाह इस तरह भी सङ्गठित हो सकता कि आपको चित्र मे आमने-सामने मुँह किए दो जानवर दिखाई पडने लगे। "जिनकी रही भावना जैसी, हरि मूरत देखी तिन तैसी।"

सज्ञा सगठन मात्र करने तक ही सीमित नही होती। हमे कुछ ऐसी धारणाओ की सज्ञा (perception) भी होती है जिनका सवेदन कभी नही होता। ये धारणाएँ काल (time), प्रसर (space), गति, परिमाण भार आदि है। मानवी व्यवहार में इन धारणाओ का बहुत बडा महत्व है। ये धारणाएँ सवेदनो के सगठन का परिणाम नही होती। अनुभव में आपने घडी देखी होगी, भारी पत्थर देखा होगा, बीस नाशपाती देखी होगी लेकिन काल, भार और परिमाण नही देखा होगा। इन धारणाओ की सज्ञा विभिन्न ग्राहको (receptors) के पारस्परिक सहयोग और क्रिया से होती है। जिस पर ग्राहको के अध्ययन के बाद विस्तार से विचार किया जायगा।

सज्ञा और सार्थकता—मनस् सवेदनो का केवल सङ्गठन ही नही करता, वह सङ्गठित सवेदनो को सार्थक भी बनाता है। सङ्गठन पहले होता है और सामान्यत सार्थकता पर निर्भर नही होता। हम अर्थ न जानते हुए भी अनेक उत्तेजनाओ का सङ्गठन करते रहते हैं। प्राणी में थोडा-बहुत संगठन कर सकने की शक्ति जन्मजात होती है, शेप उसे सीखनी पड़ती है। यद्यपि सङ्गठन सार्थकता से पहले होता है किन्तु कभी-कभी सार्थकता सङ्गठन करने में सहायक होती है।

उत्तेजना तभी सार्थक बनती है जब वह अपने से अलग किसी चीज का निर्देश करे। उत्तेजना अपने प्रसङ्ग के अनुसार सार्थक बनती है। जमीन पर लाल धब्बे को देखकर आप उसे खून, लाल स्याही या कत्थे का दाग समझ सकते है। किन्तु इन तीनो मे कौन सी बात सही है यह पूरी स्थिति के प्रसङ्ग मे ही जाना जा सकता है। यदि आप वही किसी घायल पक्षी को देखें तो आप धब्बे को खून ही समझेगे। यदि धब्बे के पास स्याही की शीशी पडी हो तो आप धब्बे को स्याही का दाग समझ बैठेगे। यदि धब्बे के पास पानदान रक्खा हो तो आप धब्बे को कत्थे का दाग समझ लेंगे। धब्बे को सार्थक बनाने के लिए तत्कालिक सवेदनो से परे जाना पडता है और अर्थनिश्चय अनुभव के प्रसङ्ग के अनुसार होता है।

बहुत-सी उत्तेजनाएँ पूर्व अनुभव के आधार पर सार्थ बनती हैं। किसी उत्तेजना का अर्थ इस बात पर बहुत निर्भर करता है कि उसने हमे पहले किस प्रकार उत्तेजित किया था और हमने उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया की थी। उत्तेजनाओ का अर्थ पूर्व अनुभव के आधार पर किया जाता है, उनका नया अर्थ सीखना पडता है। बच्चा पहले हर चीज को मुँह मे रख लेता है किन्तु धीरे-धीरे सीख जाता है कौन चीज खाने की है और कौन नही। उत्तेजना का अर्थ बदलने पर उसके प्रति हमारी प्रतिक्रिया भी बदल जाती है। सडक पर कुत्ते के सदृश पशु को देख कर आप निश्चिन्त रहेगे किन्तु यह जानने पर कि वह कुत्ता न होकर भेडिया है आपकी प्रतिक्रिया तत्काल बदल जायगी और आप सिर पर पैर रखकर भाग खडे होगे।

संज्ञादोष—सज्ञादोष (error of perception) होना दैनिक अनुभव की मामूली सी बात है। यदि दो आदमियो की लम्बाई मे दो-तीन इच का अतर हो तो वह आसानी से पता चल जाता है, किन्तु यदि आधा इच हो तो मुश्किल पडती है। अन्तर ज्यादा होने पर भेद करना आसान होता है, कम होने पर कठिन। दो लम्बी चीजो की तुलना करने या दो वस्तुओ के वोझ का अनुभव करने में, यदि उनका अन्तर बहुत कम हो तो जरूर गलती होती है। यदि अनेक व्यक्तियो को ५० मिलीमीटर लम्बी एक दी हुई रेखा के नीचे उसी के बराबर २०० रेखाएँ खीचने को कहा जाय तो उनकी खीची हुई उन २०० रेखाओ में कुछ ५० मिलीमीटर से जरा बडी होगी और कुछ जरा छोटी। किन्तु उनकी विभिन्नता ४५-५५ मिलीमीटर के भीतर ही होगी। यह उन लोगो का परिवर्तनीय सज्ञादोष (variable error of perception) होगा। यदि हम उनमें से किसी व्यक्ति की सारी

रेखाओ की नाप के जोड को २०० से भाग दे तो हमें उस व्यक्ति के सज्ञादोष का औसत पता चल जायगा। वह औसत ५० मिलीमीटर से जरा कम या जरा ज्यादा हो सकता है (मान लीजिये ४९ या ५१ मिलीमीटर)। इस औसत से हमें उस व्यक्ति का सतत् सज्ञादोप (constant error) पता चल जायगा। सतत् सज्ञादोष अभ्यास द्वारा सुधारा या कम किया जा सकता है। परिवर्तनीय सज्ञादोप हमारी शरीर-रचना के परिणाम-स्वरूप होता है और उसे एक सीमा के बाहर नियन्त्रित नही किया जा सकता।

वेबर का नियम—उपर्युक्त प्रसग मे यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि दी हुई रेखा की लम्बाई ५० मिलीमीटर की जगह १०० मिलीमीटर हो तो क्या परिवर्तनीय सज्ञादोप (variable error) ४५-५५ मिलीमीटर के भीतर ही होगा? नही। परिवर्तनीय सज्ञादोप की सीमा उत्तेजना के अनुपात के साथ-साथ बढती है। कम बोझ के पत्थर को उठाने मे उसके अनुमानित भार का परिवर्तनीय सज्ञादोष कम होगा, ज्यादा बोझ के पत्थर में ज्यादा होगा। इस सम्बन्ध मे जर्मनी के शरीरविज्ञान-वेत्ता हाइनरिख वेबर (१७९५-१८७८) ने एक नियम बनाया था। वेबर के नियम के अनुसार सज्ञादोप का परिवर्तन उत्तेजना के एक निश्चित अनुपात से होता है। यदि ५० मिलीमीटर लम्बी रेखा के परिवर्तनीय सज्ञादोप (variable error) की सीमा ४५-५५ (अर्थात् ५) मिलीमीटर है तो १०० मिलीमीटर की रेखा के परिवर्तनीय सज्ञादोष की सीमा ९०-११० (अर्थात् १०) मिलोमीटर होगी। इसी प्रकार १५० की ९ मिलीमीटर, २०० की १२ मिलीमीटर . होती चली जायगी। उत्तेजना के बढने पर परिवर्तनीय सज्ञादोष का अनुपात भी निश्चित रूप से बढता जायगा। वेबर का यह नियम बहुत क्षीण और बहुत तीव्र उत्तेजनाओ पर लागू नही होता।

१० और ११ तोले का भेद उतनी ही आसानी से जान लिया जाता है जितनी आसानी से १० और ११ छटाँक का। इस भेद का अनुपात दोनो जगह १/१० है। २० और २१ कैंडिल पावर बल्ब के प्रकाश के भेद को २०० और २१० कैंडिल पावर के बल्ब के भेद की भाँति ही जानना आसान होता है। यहाँ दोनो जगह भेद का अनुपात १/२० है। यदि बोझ और प्रकाश में क्रमश १/१० और १/२० का अनुपात न हो तो हम उनके भेद को नही जान सकते। वेबर के नियम के अनुसार जाना जा सकने वाला न्यूनतम भेद दो उत्तेजनाओ की निरपेक्ष मात्रा का न होकर उनके निश्चित अनुपात (ratio) का होता है[१]। १० और ११ तोले और १० और ११ छटाँक में

[१] "in observando discrimine rerum inter se comparatarum non differentiam rerum, sed rationem differentiae ad magnitudinem rerum inter se comparatarum percipimus"

हम १० और ११ तोले और छटाँक की निरपेक्ष मात्रा नही जानते वरन् उन दोनो की मात्राओ के अनुपात के भेद १/१० भाग को जानते है। जाना जा सकने वाला निश्चित अनुपात का यह न्यूनतम भेद उत्तेजनाओ के प्रकार पर निर्भर होता है।

वेबर के नियम का व्यावहारिक महत्व बहुत है। यदि हम भेद करते समय उत्तेजनाओ की निरपेक्ष मात्रा ही जानते और उनके निश्चित अनुपात के भेद को न जान सकते तो हमे वाह्य जगत का बडा विचित्र अनुभव होता। हमे जो चीज पास मे तीन हाथ लम्बी दिखाई पडती वह दूर पर भी उतनी ही लम्बी दिखाई पडती और हम यह जान सकने मे असमर्थ रहते कि वह चीज हमारे कितने पास या हमसे कितनी दूर है। इसका असर हमारी कार्य कुशलता और शारीरिक सतुलन पर भी पडता। व्यावहारिक महत्व के अतिरिक्त वेबर-नियम अनुमान और भेद कर सकने की मानवी सीमाओ को भी बताया है।

भ्रम—उत्तेजना का यथार्थ रूप न देख सकना ही भ्रम है। भ्रम शारीरिक और मनोवैज्ञानिक कारणो से होते है। शराबी को अपने चारो ओर की चीजे घूमती नज़र आती है, तिमिर रोगी को जाल और बाल दिखाई देते है, विक्षिप्त और पागल आदमी की सज्ञात्मक प्रतिक्रिया स्वस्थ और प्रकृत आदमी से अलग होती है। भ्रम वातावरण की अवस्था के कारण भी हो सकता है। कुहरे, अँधेरे आदि में उत्तेजनाओ का यथार्थ रूप जान सकना कठिन होता है।

मनुष्य की सवेदनशीलता, सवेदनो को सगठित करने की शक्ति, सवेदनो को पर्याप्त रूप से सार्थक बना पाने की शक्ति सीमित होती है। कुछ भ्रम मनुष्य की इन सीमाओ के परिणाम-स्वरूप भी होते है। ऐसे भ्रम सामान्य होते है और कुछ नियमो के अनुसार होते है। शायद वह दिन आए जब मनुष्य की ये सीमाएँ टूट सकें और वह भ्रम से मुक्त हो सके। इतिहास के लिए तो वह दिन अवश्य गौरवपूर्ण होगा किन्तु मनोविज्ञान के लेखको और प्रकाशको के लिए वह एक कयामत होगी क्योकि उस दिन मनोविज्ञान के वे सारे तथ्य असत्य हो जायँगे जिनका प्रतिपादन इस पुस्तक में किया गया है।

सामान्य भ्रम—सामान्य भ्रमो में कुछ भ्रम विरोध (contrast) से होते है। चित्र २४ को देखिये। इसमें अ गोलो का आकार बराबर है किन्तु वडे गोलो से घिरकर वह छोटा और छोटे गोलो से घिरकर बडा लगता है।
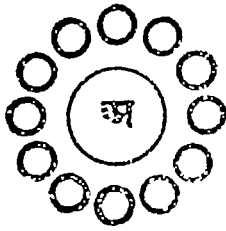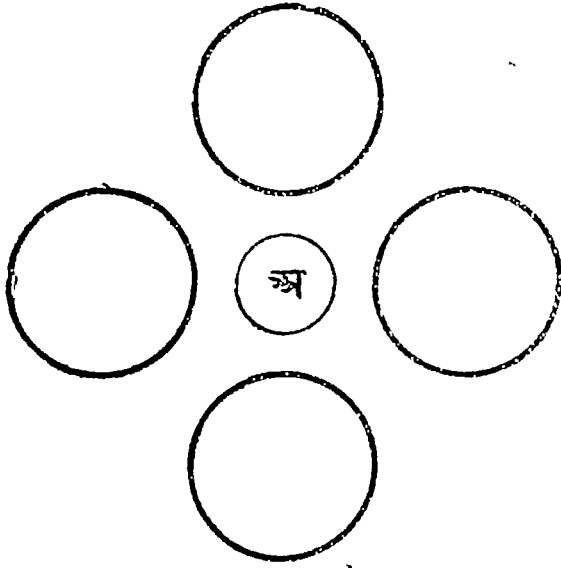
चित्र २४

घिरा हुआ स्थान खुले हुए स्थान की अपेक्षा कम लगता है। यह चित्र
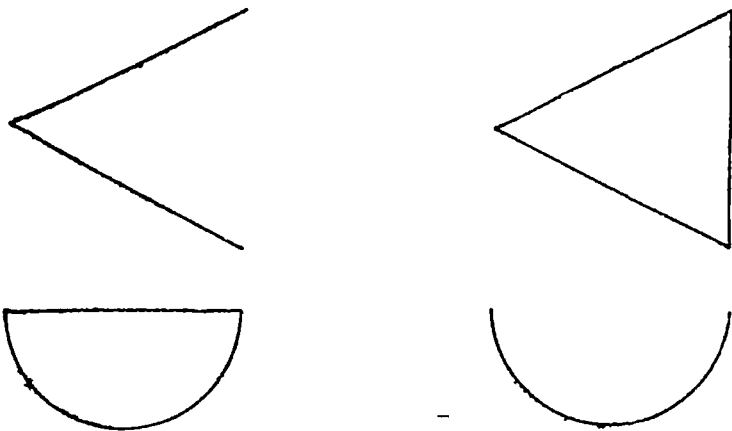
चित्र २५

२५ से स्पष्ट हो जायगा। यहाँ प्रत्येक चित्र का क्षेत्र बराबर होने पर भी घिरे क्षेत्र वाले चित्र खुले क्षेत्र वालों से कम लगते हैं।

चित्र २६ में दोनों आदमियो की तुलना कीजिये। यद्यपि दोनो की लम्बाई और मोटाई बिलकुल बराबर है फिर भी धारीदार कपड़े पहनने वाला काले रग के कपड़े पहने आदमी से ज्यादा मोटा लगता है।

चित्र २६

अब चित्र २७ को देखिये। इसमे चारो रेखाएँ बिलकुल समानान्तर है किन्तु वे फिर भी समाना तर नही लगती। इसका कारण इन रेखाओ पर छोटी रेखाओ द्वारा बने कोणो में है। ६० अश से कम अश के कोण अपनी वास्तविकता से ज्यादा बडे और ९० अश से ज्यादा अश के कोण अपनी वास्तविकता से छोटे लगते है।
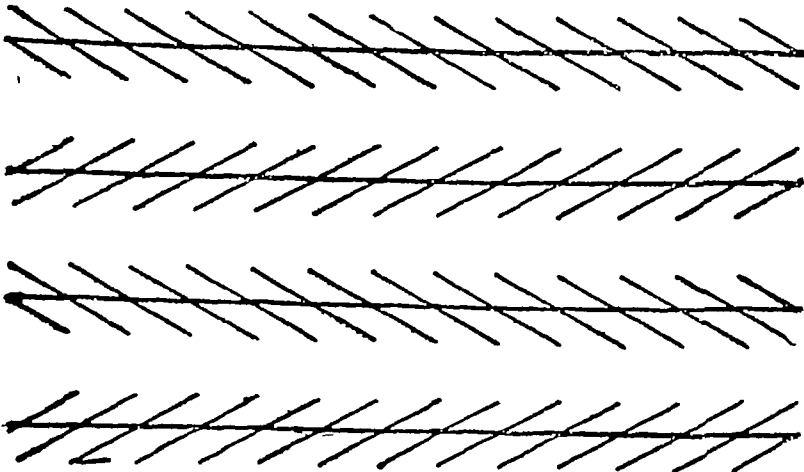
चित्र २७

चित्र २८ में दिए गए दृष्टि सम्बन्धी कुछ अत्यधिक जटिल सामान्य भ्रमो को और देख लीजिए। आपको ये वृत्त घूमते से दिखाई देंगे।
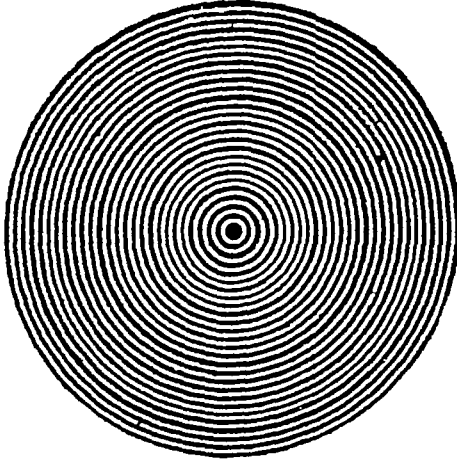
a

चित्र २८

इसी प्रकार हमें समय वताने, आवाज़ की दिशा पहचानने और बोझ का अन्दाज़ करने में भी भ्रम होते रहते हैं। सच तो यह है कि ससार की वस्तुएँ हमें वैसी ही दिखाई पडती है जैसा हम उन्हे देखना चाहते हैं।

सामान्यत वड़ी चीजें भारी हुआ करती हैं। आध सेर वज़न के पीपे और एक सेर वज़न के बाँट में हम पीपे को बाँट से ज्यादा भारी समझते है क्योकि वडी चीज भारी 'दिखाई पडती' है। पीपे को उठाने में हम ज्यादा शक्ति लगाने का विन्यास करते हैं जो उसको उठाने के लिए ज़रूरत से ज्यादा होती है जिससे पीपा उठाने पर अत्यन्त हल्का लगता है और बाँट को हल्का समझकर उसे उठाने में कम शक्ति लगाते हैं जो जरूरत से कम पडती है इसलिए बाँट भारी लगता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सेर भर रुई एक सेर लोहे के बराबर नही होती।

६

जानने के साधन

प्राणी अपने ग्राहको द्वारा वाह्य और आन्तरिक जगत को जानता ह। मानसिक क्रिया ग्राहको के उत्तेजित होने पर होती है इसलिए मनोविज्ञान में ग्राहको की महत्ता की उपेक्षा नही की जा सकती। हम जो कुछ वनते है और जो कुछ करते है उसमे हमारे ग्राहको (receptors) का वड़ा भारी हाथ रहता है। हम जिसे अभिमानपूर्वक अपना ज्ञान कहते है वह हमारे ग्राहको द्वारा ग्रहण की हुई सामग्री से ही निर्मित होता है। यदि हमारे ग्राहक जैसे है वैसे न होकर किसी और प्रकार के होते तो हमारा ज्ञान और अनुभव भी वसा नही होता जैसा कि है। हमारा सारा ज्ञान और अनुभव ग्राहक-सापेक्ष है।

वाह्य और आन्तरिक जगत के समुचित ज्ञान के लिए ग्राहको का स्वस्थ होना आवश्यक है। विभिन्न ग्राहक अलग-अलग शक्तियो के प्रति सवेदन-शील होते है। अतएव उनकी स्वस्थता इस वात पर निर्भर है कि उनकी ग्रहणशीलता मे कोई कमी या खरावी न हो। अच्छी ग्रहणशीलता होने पर ही क्षीण से क्षीण उत्तेजनाएँ ग्रहण की जा सकती है और उनमें प्रकार-भेद किया जा सकता है। ग्राहको की ग्रहणशीलता अभ्यास से कुछ हद तक उन्नत हो जाती है। सङ्गीतज्ञ अभ्यास के कारण ही अत्यन्त सूक्ष्म स्वरों के भेद को भी सुन लेता है। इस अध्याय में प्रमुख ग्राहको पर एक-एक करके विचार किया जायगा।

आँख

आँख की महत्ता सारे ग्राहको में सर्वोपरि है। आँखों को ठीक ही 'हृदय की खिडकी' कहा गया है क्योकि आँखो द्वारा हृदय के सारे भाव व्यक्त हो जाते है। क्रोध आने पर आँखो में खून उतर आता है, प्रसन्न होने पर आँखें मुस्कराने लगती है, आश्चर्य होने पर विस्फारित हो जाती है। सुन्दर वस्तु, विशेषकर स्त्री, आँखो मे समा जाती है; विरही लोग रात आँखों में काट देते है; वड़ो की अगवानी के लिए आँखें विछा दी जाती हैं, यदि आपने किसी से कर्ज़ लिया है तो उसका सामना होने पर आप आँख वचाकर निकल जाना चाहते है। आँखो की भाषा भी हुआ करती है। आँखें अनेक प्रकार की होती है; किसी की आँख नरगिस की तरह होती है, किसी की मछली की तरह,

किसी की हिरन की तरह, किसी की तरबूज की फाँक की तरह और किसी की बटन की तरह। जब से मेरे एक मित्र ने बताया है कि उन्होने कुलफी जैसी आँखें भी देखी है तब से मैं भी वैसी आँखे देखने का उत्सुक हो गया हूँ। कवि लोग तो आँखो मे झील भी देखा करते है।

रचना—किन्तु मनोवैज्ञानिक के लिए आँख न तो तरबूज की फाँक है और न कुलफी। उसके लिए आँख शरीर का सबसे महत्वपूर्ण वह ग्राहक है जिसके द्वारा प्राणी परिवेश के पदार्थों और रगो को जानता है। नेत्रगोलक (eyeball) तीन परतो (coats) से निर्मित होता है। ऊपरी परत सफेद होती है। वह कठोर और प्रतिरोधक (resistant) होती है, नेत्र-गोलक की आकृति उसी से बनती है। बीच की परत का काम आँख को पुष्ट करना और रखना होता है। भीतरी परत आँख का क्रियात्मक अग होती है और प्रकाश की किरणो के प्रति सवेदनशील होती है। भीतरी परत को नेत्रपटल (retina) कहते हैं।

ऊपरी परत का अगला भाग पारदर्शी होता है और उसे कनीनिका
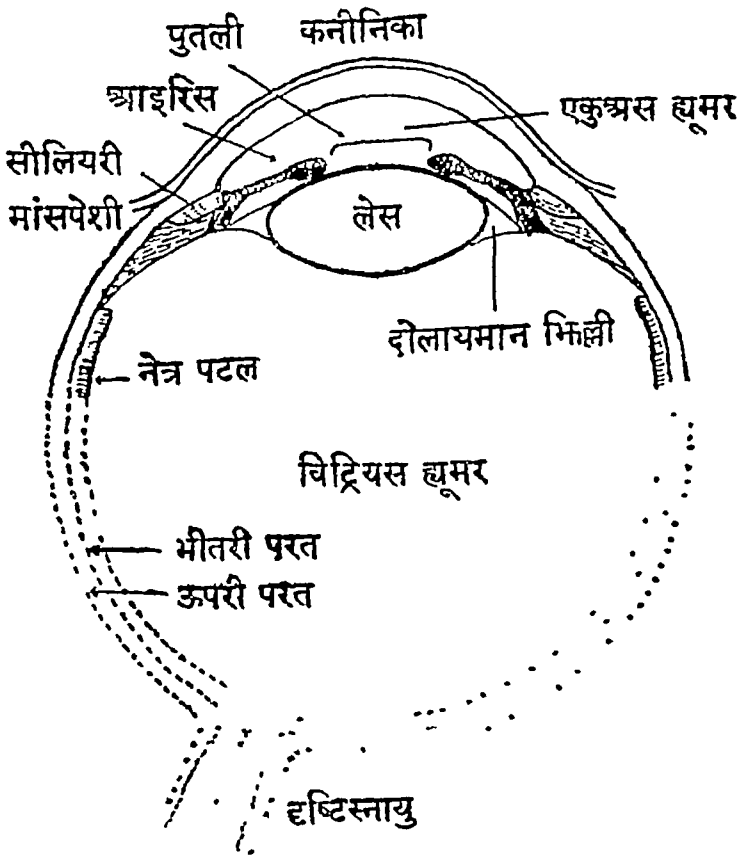
चित्र २६

(cornea) कहा जाता है। कनीनिका के ठीक पीछे एक प्रकार का पारदर्शी

तरल पदार्थ (जिसे एकुअस ह्यूमर, acquous humour, कहा जाता है) भरा होता है। यह तरल पदार्थ शायद उस झील का पानी हो जिसे कवि लोग आँखो मे देखते है। इस तरल पदार्थ के पीछे लेस (lens) होता है। लेस दोलायमान झिल्लियो (suspensory ligaments) मे लटका होता है जो सीलियरी मासपेशियो (ciliary muscles) से नियन्त्रित रहती है। लेस का काम प्रकाश की किरणो को नेत्रपटल (retina) के सबसे सवेदनशील भाग पर केन्द्रित करना होता है। लेस के सामने एक रगीन-सी मासपेशी होती है जिसे आइरिस (Iris) कहते है। आइरिस के साथ ही एक छेद होता है जिसे पुतली (pupil) कहते है। आइरिस का काम पुतली द्वारा लेंस मे जाने वाले प्रकाश की मात्रा को नियमित करना होता है। लेंस और नेत्रपटल के बीच भी गाढ़ा-सा पारदर्शी तरल पदार्थ (विट्रियस ह्यूमर, vitreous humour) भरा रहता है (चित्र २९)।

नेत्रपटल (retina) न्यूरोनो की तीन तहो से बना होता है। बीच की परत के पास बाहर की तह के कोषो (cells) के डेन्ड्रोन (dendrons) सशोधित होकर शकुओ (cones) और छडो (rods) के आकार के बन जाते है। शकु और छड प्रकाश के प्रति सवेदनशील होते है। मनस् को जाने वाली दृष्टि-सवेदन सम्बन्धी न्यूरोनीय प्रेरणाओ (nervous impulses) का प्रादुर्भाव शकुओ और छडो पर ही होता है।

दृष्टि-सवेदनो को मनस् तक ले जाने के लिए दृष्टि-स्नायु (optic
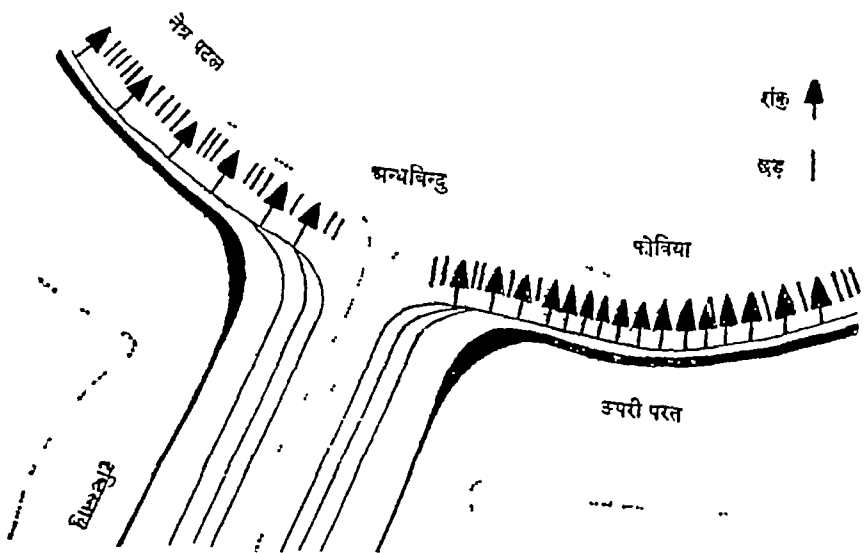
चित्र ३०

nerve) होता है। दृष्टि स्नायु जहाँ नेत्रपटल से मिलता है वहाँ शकु और छड़ बिल्कुल नही होते जिससे वहाँ दृष्टि-सवेदन का प्रादुर्भाव नही हो सकता।

इस स्थान को आँख का अन्धबिन्दु (blind spot) कहा जाता है। इसके विपरीत नेत्रपटल में एक ऐसा भी स्थान होता है जहाँ शकु (cones) बहुत होते हैं। इस स्थान को फोविया (fovea) कहते हैं (चित्र ३०)।

क्रिया—देखने की क्रिया प्रकाश द्वारा सम्भव होती है। प्रकाश मे विभिन्न लम्बाई की विद्युत-चुम्बकीय (electro-magnetic) किरणे होती है। आँख एक निश्चित लम्बाई की किरणो से ही उत्तेजित होती है। किरणो की ये लम्बाई लगभग ४०० से ७०० मिलीमाइक्रोन (एक मिलीमीटर का दस लाखवाँ हिस्सा) के भीतर होती है। ४०० मिलीमाइक्रोन से कम और ७०० मिली-माइक्रोन से ज्यादा लम्बाई की किरणें आँख को उत्तेजित नही कर पाती।

प्रकाश की किरणे जब आँख मे प्रवेश करती है तो आइरिस (Iris) सिकुडकर या फैलकर पुतली द्वारा लेस तक जाने वाली किरणो की मात्रा को नियमित कर देती है। प्रकाश की मात्रा का नियमित होना बहुत आवश्यक है क्योकि नेत्रपटल अत्यन्त सवेदनशील होता है और प्रकाश यदि अनियमित मात्रा में नेत्रपटल पर पड़ जाय तो नेत्रपटल झुलस जाता है।

किरणे फिर ऐकुअस ह्यूमर नामक पारदर्शी पदार्थ से गुजरती है। इस तरल पदार्थ का काम किरणो मे उचित वक्रीकरण (refraction) कर देना होता है जिससे वे लेंस पर ठीक से पड सकें। लेस का काम किरणो को नेत्रपटल (retina) पर ठीक से केन्द्रित (focus) करना होता है। किरणो को नेत्रपटल पर ठीक से केन्द्रित करने के लिए लेंस घटता-बढ़ता रहता है। वृद्धा-वस्था या शारीरिक अस्वस्थता से सीलियरी मासपेशियो में दुर्बलता आ जाती है जिससे लेंस की घटने-बढने की क्षमता कम हो जाती है और किरणे या तो नेत्रपटल के जरा आगे या पीछे केन्द्रित होने लगती है। इससे वस्तुएँ स्पष्ट दिखाई नही पडती। इस कमी को पूरा करने के लिए चश्मा लगाना पड़ता है।

यह देखा जा चुका है कि नेत्रपटल मे शकु (cones) और छड (rods) होते है। रग देखने के लिए शकुओ का होना जरूरी है। यदि शकु न हो तो रङ्ग दिखाई नही पड सकते। शकु धुँधले प्रकाश में क्रिया नही करते इसलिए गोधूलि के समय रङ्ग दिखाई नही पडते। शकुओ या उनके न्यूरोनीय सम्बन्धो में कोई दोष होने से प्राणी वर्णान्ध (colour blind) हो जाता है। बहुत से लोग कुछ रङ्गो के प्रति आशिक रूप के वर्णान्ध होते है। नेत्र-चिकित्सको ने वर्णान्धता की परीक्षा करने के अनेक साधन बना लिए है जिनका वर्णन अभी किया जायगा।

धुँधले प्रकाश मे देखने के लिए छडों (rods) का होना जरूरी है। छड़ो के बाहरी भाग में 'विजुअल पर्पिल' (visual purple) नाम का एक पिग्मेंट (pigment) होता है। प्रकाश मे इस पिग्मेट का रग उड़ जाता है किन्तु अन्धकार में वह अपना रग फिर ग्रहण कर लेता है। छडो के क्रियाशील होने पर केवल चमक ही दिखाई पडती है, रग नही। विजुअल पर्पिल की मात्रा विटेमिन ए की कमी से घट जाती है जिससे रात मे ठीक से दिखाई नही पडता और दुर्घटनाएँ होने की सम्भावना वढ जाती है। विटेमिन ए की कमी को गाजर आदि पदार्थो से बहुत कुछ पूरा किया जा सकता है।

दृष्टि-संवेदन का क्षेत्र मनस् के पिछले खण्ड (occipital lobe) मे होता है। दृष्टि-स्नायु (optic nerve) दोनो नेत्रगोलको से इस तरह सम्बन्धित होता है कि दोनो आँखो के दाहिनी ओर के आधे भाग की प्रेरणाएँ (impulses) मनस् के पिछले खण्ड के दाहिने भाग और बाई ओर के
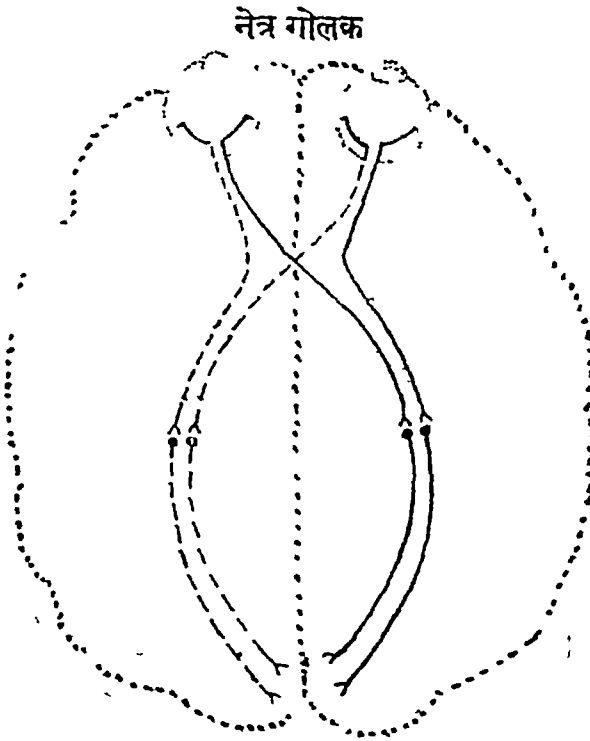
चित्र ३१

आधे भाग की प्रेरणाएँ वाएँ भाग मे जाती है (चित्र ३१)। यह प्रबन्ध आश्चर्यजनक है। मनस् के पिछले भाग का कोई एक दृष्टि-क्षेत्र नष्ट हो जाने पर भी दोनों आँखो के आधे भाग से देखा जा सकता है।

पर्किन्जे व्यापार—दिन मे आँख ५५० मिलीमाइक्रोन के आसपास का प्रकाश अच्छी तरह देख सकती है और रात मे ५१० मिलीमाइक्रोन के आस-

पास का । तेज धूप मे से अँधेरे कमरे मे जाने पर थोडी देर तक कुछ दिखाई नही पडता । धूप में शकु क्रियाशील रहते है और छड निष्क्रिय । अँधेरे में आने पर शकु निष्क्रिय हो जाते है और छड क्रियाशील होने लगते है । तेज प्रकाश से एकाएक अँधेरे मे आने पर छडो को क्रियाशील होने में जितनी देर लगती है उतनी देर तक अँधेरे मे कुछ दिखाई नही देता । छडो की क्रियाशीलता ज्यो ज्यो बढती जाती है त्यो-त्यो अँधेरे मे दिखाई देने लगता है । इसको अन्धकार-अनुशीलन (dark adaptation) कहते है । इसी प्रकार अँधेरे कमरे मे से चमचमाती धूप में जाने पर आँखें चौंधिया जाती है और जब शकु क्रियाशील नही हो जाते हमे वस्तुएँ दिखाई नही देती । शकुओ के पूरी तरह से क्रियाशील हो जाने पर ठीक तरह से दिखाई देने लगता है । इसको प्रकाश-अनुशीलन (light adaptation) कहते है । प्रकाश-अनुशीलन में आँख की सवेदनशीलता ५५० मिलीमाइक्रोन रहती है और अन्धकार-अनुशीलन में ५१० मिलीमाइक्रोन पर उतर जाती है । आँख की सवेदन-शीलता के इस परिवर्तन का पता पर्किञ्जे ने लगाया था । उसी के नाम पर सवेदनशीलता के इस परिवर्तन को पर्किञ्जे व्यापार (Purkinje phenomenon) कहते है । पर्किञ्जे-व्यापार का कारण आँख के दो प्रकार के ग्राहको—शकुओ और छडो—में है । एक प्रकार के ग्राहक तेज प्रकाश को ग्रहण करते है और दूसरे फीके प्रकाश को ।

दृष्टि विकार

बहुत से दृष्टि-विकार अनुशीलन दोष के कारण होते है । अनुशीलन (accommodation) लेंस और सीलियरी मासपेशी के नियमित रूप से कार्य करने पर निर्भर होता है । लेंस या सीलियरी माँसपेशी के अनियमित होने पर बाहर से आने वाले प्रकाश की किरणो का वक्रीकरण (refraction) नेत्रपटल पर ठीक से नही हो पाता ।

वक्रीकरण के एक दोष को मायोपिया (myopia) कहा जाता है । मायोपिया से दृश्य उत्तेजना का प्रतिबिम्ब नेत्रपटल की सतह पर न बनकर उसके सामने बनता है । इसका कारण अक्षगोलक के अप्रकृत रूप से बडा होने या लेंस की अतिरजित वक्रता में होता है ।

वक्रीकरण का एक अन्य दोष हाइपरोपिया (hyperopia) होता है जिसमें अक्षगोलक के बहुत छोटा होने या लेंस के चपटा होने से उत्तेजना का प्रतिबिम्ब ठीक नेत्रपटल पर न बनकर उसके पीछे बनता है ।

वृद्धावस्था में लेंस की अनुशीलन क्षमता 'प्रकृत रूप से' अपने-आप कम हो जाती है। वृद्धावस्था के कारण लेंस की अनुशीलन क्षमता के घटने को प्रेस्बिओपिया (presbyopia) कहते हैं।

वक्रीकरण के बहुत से दोष आँख की सतह की अनियमित वक्रता से भी होते हैं जिसके कारण दृश्य उत्तेजना का कोई भाग तो स्पष्ट दिखाई देता है और कोई भाग धुँधला। इस दशा को ऐस्टिग्मैटिज्म (astigmatism) कहा जाता है।

कुछ दृष्टि विकारो के कारण वक्रीकरण मे नही होते। ज़हर, शराब और अत्यधिक मात्रा मे कुनैन खाने से आँख की सवेदनशीलता कम हो जाती है। इस दशा को ऐम्ब्लिओपिया (amblyopia) कहते हैं। ऐम्ब्लिओपिया कभी कभी मानसिक क्रियाओ के विकार से भी हो जाया करती है और उसका मानसिक क्रियाओ के विकार से होना अप्रकृत मनोविज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

कभी-कभी सिरदर्द, चिडचिडेपन, व्यापक दुर्बलता या थकान और किसी रागात्मक सघर्ष के पहले या साथ-साथ आँखो मे थकान-सी मालूम होती हैं। इस दशा को ऐस्थिनोपिया asthenopia) कहते हैं। यदि आँख के बाहर की मासपेशियो का नियत्रण कमजोर हो जाय तो उत्तेजना के दो प्रतिबिम्ब दिखाई पडते हैं। उत्तेजना के दो प्रतिबिम्ब देखने को डिप्लोपिया (diplopia) कहते हैं। शराबी अपने सामने एक-ही उत्तेजना के दो प्रतिबिम्ब देखता है क्योकि उसकी आँख की मासपेशियो का नियत्रण उसके पैर की मासपेशियो की तरह ही कमजोर होता है। आँख के कुछ विकार दृष्टि स्नायु को क्षति पहुँचने से भी होते हैं जिनका वर्णन मनोवैज्ञानिक महत्व का नही है।

चित्र ३२ को देखिए। ऊपर के चित्र में प्रकृत वक्रीकरण दिखाया गया है। बीच के चित्र में मायोपिया विकार से होने वाला वक्रीकरण दिखाया गया है जिसको ठीक करने के लिए कानकेव (concave) लेंस का चश्मा लगाने की जरूरत पडती है। नीचे के चित्र में हाइपरोपिया विकार से होने वाला वक्रीकरण दिखाया गया है जिसको कान्वेक्स (convex) लेंस का चश्मा लगाने से ठीक किया जा सकता है। प्रेस्बिओपिया विकार को ठीक करने के लिए 'बाइफोकल' (bifocal) चश्मे की आवश्यकता पडती है। ऐस्टिग्मैटिज्म को ठीक करने के लिए विशेष प्रकार से तैयार किए गए ऐसे लेंसो की जरूरत पडती है जिससे आँख की सतह की वक्रता का दोप पूरा हो सके और उत्तेजना स्पष्ट दिखाई दे सके।
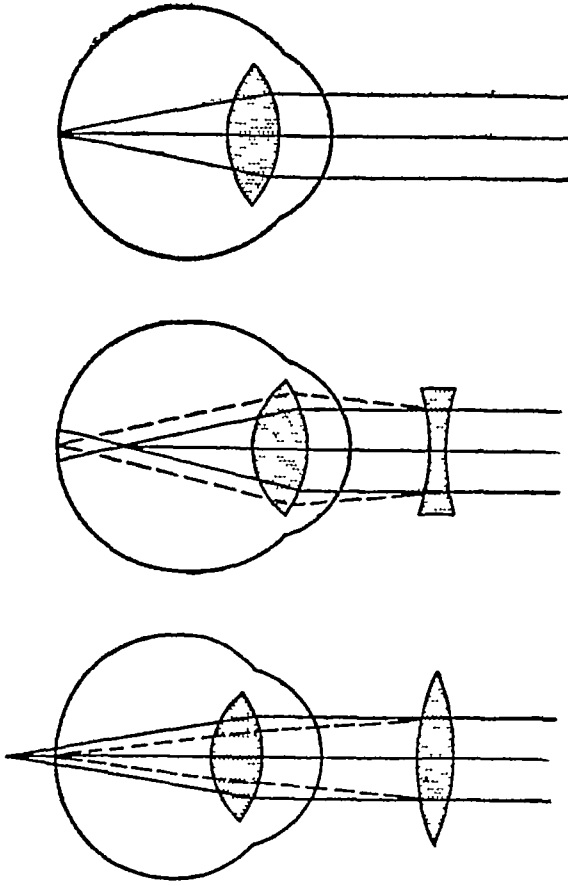
चित्र ३२

रङ्गों के विषय में

दृश्य जगत में हमें रग, आकार, गति आदि विशेषताओ का बोध होता है। रगो का बडा भारी महत्व है। यदि रग न होते तो हमारी दुनियाँ कैसी होती ? कितनी दुखदायी है यह कल्पना ! तव रग बिरगे फूल नही होते, स्त्रियो के रक्तिम अधर नही होते, शिशुओ के गुलाबी गाल नही होते, आँखो की नीली गहराई नही होती, पौ फटने की छटा नही होती। शायद किसी परलोक में रग न होते हो किन्तु इहलोक में रगो से इन्कार करना सौदर्य से, जिन्दगी से, ज्ञान से इन्कार करना है। हम पदार्थों के गुण, उनका भेद और सादृश्य रगो द्वारा ही जान सकते है। रङ्गो के अभाव में हमारी दुनियाँ का मुँह हमेशा के लिए फक् पडा रह जाता।

यो तो हमारी आँख हजारो रङ्गो में भेद कर सकती है किन्तु रङ्गो के दो भेद बडी आसानी से किए जा सकते है चटक (chromatic) रङ्ग और चटकहीन (achromatic) रङ्ग। लाल, हरे, नीले, पीले रङ्ग चटक होते

है, सफेद, भूरे और काले चटकहीन। चटक रङ्ग वह होते है जिनमे भूरे रङ्ग की मिलावट नही होती। भूरा रङ्ग काले और सफेद की मिलावट होता है। चटकहीन रङ्गो मे केवल फीके या गहरे होने का अन्तर होता है। यह भेद चटक रङ्गो मे भी होता है। सफेद के निकट होने पर रङ्ग फीका होता है और काले के निकट होने पर गहरा।

रङ्गो (hues) की दो और विशेषताएँ होती है चमक (brightness) और शुद्धता (saturation)। पानी मे थोडा लाल रंग डालने पर पानी का रग फीका रहेगा। लाल रङ्ग और डालने पर पानी का रग गाढा होने लगेगा। गाढा होने को ही रङ्ग की शुद्धता (saturation) कहा जाता है।

लाल, हरे, पीले और नीले रङ्गो को प्रमुख (primary) रङ्ग माना जाता है क्योकि यही चार रङ्ग आपस में चटकहीन रङ्गो के साथ विभिन्न मात्रा में मिलाए जाने पर हजारो रङ्ग उत्पन्न कर देते है। जो रङ्ग एक निश्चित मात्रा में मिलाए जाने पर भूरा रङ्ग उत्पन्न करते है उन्हे पूरक (complementary) रङ्ग कहा जाता है। इस तरह यदि लाल और हरे या पीले और नीले रङ्ग को एक निश्चित मात्रा में मिलाया जाय तो उनसे भूरा रङ्ग बन जाता है, इसलिए लाल-हरे और पीले-नीले रङ्गो के जोडे को पूरक रङ्ग कहा जाता है।

रङ्ग और उनकी विशेषताएँ प्रकाश की उत्तेजना से पैदा होती है और रङ्गो और प्रकाश में सवादिता (correspondence) होती है। प्रकाश की उत्तेजनाओ मे तीन तरह का अन्तर होता है। लहर की लम्बाई (wave-length) का, शक्ति की मात्रा का और लहरो की विभिन्न लम्बाइयो की मिलावट या घोल का। हमारी आँखे और मनस् ४०० से लेकर ७०० मिलीमाइक्रोन लम्बी लहरो को ही ग्रहण कर सकता है। छोटी लम्बाई की लहरे बैगनी और नीले रङ्ग को और बडी लम्बाई की लहरे पीले और लाल रङ्गो को उत्पन्न करती है। रङ्गो की विविधता लहरो की विभिन्न लम्बाइयो के मिलने से होती है। यह चित्र ३२ से स्पष्ट हो जायगा।

रङ्गो की चमक (brightness) प्रकाश की शक्ति की मात्रा पर निर्भर होती है। दिन को पीला और लाल रङ्ग ज्यादा चमकीला मालूम होता है, हरा और नीला सापेक्षत कम चमकीला लगता है। रात को हरा और नीला लाल और पीले की अपेक्षा ज्यादा चमकदार लगता है। शक्ति परिवर्तन का असर रङ्गो के चटक होने पर भी पड़ता है। उत्तेजना की शक्ति मध्यम होने पर रङ्ग अत्यन्त चटक दिखाई पडते है।

फिर भी प्रकाश की उत्तेजना, उसकी लहरो की लम्बाई, शक्ति और मिलावट या घोल में और आँख द्वारा रङ्गो का अनुभव करने मे पूरा तादात्म्य नही
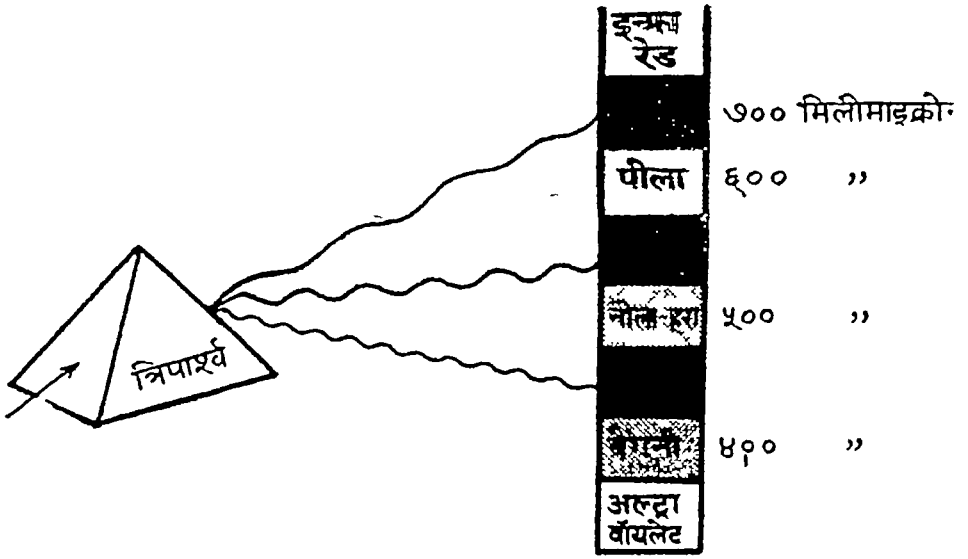
चित्र ३३
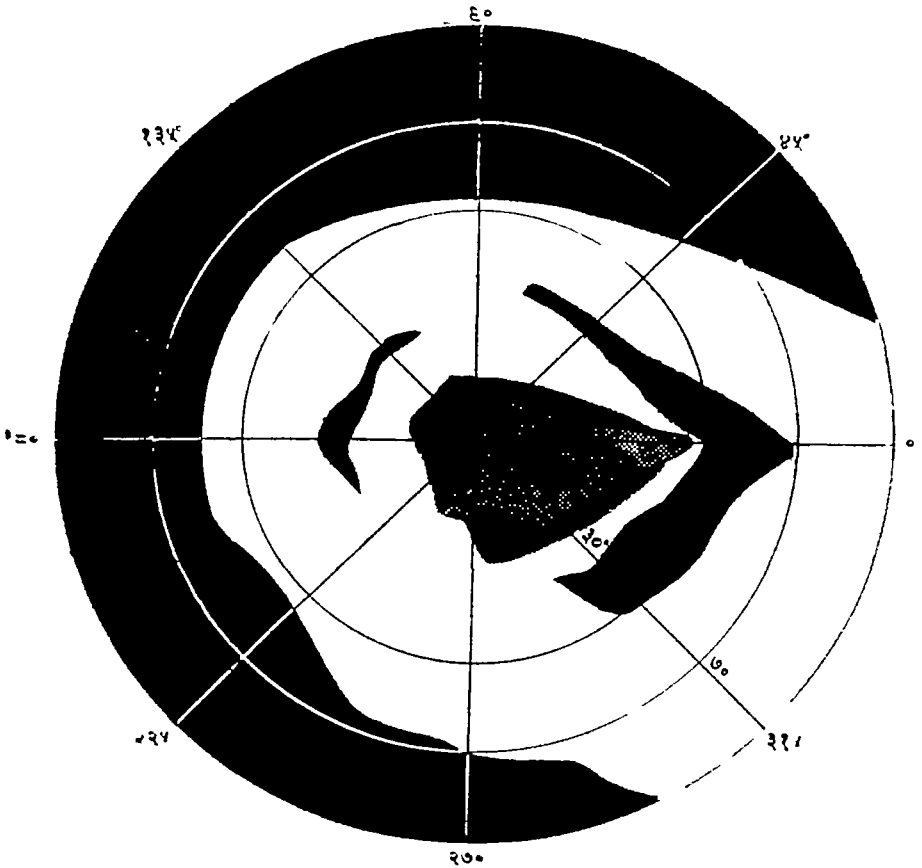
चित्र ३४

होता। यदि हम दिन के प्रकाश मे किसी वस्तु को देखने के पहले ही उसके सम्भावित रङ्ग को जान ले तो हमे वह वस्तु उसी रङ्ग की जान पडेगी, चाहे उस वस्तु से आने वाली प्रकाश की उत्तेजना मे अन्तर ही क्यो न हो। इस व्यापार को रङ्ग की ध्रुवता (constancy) कहते है। चमक यद्यपि उत्तेजना की शक्ति की मात्रा पर निर्भर होती है किन्तु कोयला हमे रात और दिन दोनो में समान रूप से काला लगता है, घास हरी लगती है, वर्फ सफेद लगता है। इससे यह साबित होता है कि यदि मनस् पहले से ही 'तैयार' हो तो रगो के अनुभव पर उत्तेजना की शक्ति की मात्रा का प्रभाव नही के बराबर पडता है।

नेत्रपटल के रंग-क्षेत्र—नेत्रपटल (retina) में रगो के अलग-अलग क्षेत्र होते है। प्रकाश की मात्रा के अनुसार ये क्षेत्र घटते-बढते रहते है। विभिन्न क्षेत्र अलग-अलग लम्बाई की लहरो के प्रति सवेदनशील होते है। स्थायी प्रकाश में परीक्षा करके यह देखा गया है कि सारे चटक रग दृष्टिक्षेत्र के केन्द्र—फोविया—पर ही दिखाई पडते है क्योकि वहाँ शकु ज्यादा होते है। केन्द्र से जरा हटकर लाल या हरा रग दृष्टिगत नही होता। नीला और पीला रग ज्यादा विस्तृत क्षेत्र तक दिखाई देता है। भूरा और सफेद रग नीले और पीले रग के क्षेत्र के बाहर भी दिखाई देता है (चित्र ३४)। रात को शकुओ के निष्क्रिय हो जाने से नेत्रपटल के केन्द्र पर कुछ दिखाई नही देता, जो कुछ दिखाई देता है वह केन्द्र के बाहर के क्षेत्रो पर दिखाई देता है जहाँ छड़ ज्यादा होते है।

उत्तर-संवेदन—यदि आँख को प्रकाश की बहुत तीव्र उत्तेजना मिले तो उस उत्तेजना के हट जाने पर भी कुछ क्षण तक उसका सवेदन होता रहता है। आप अँधेरे में बिजली के तेज बल्ब को देखिये, फिर अपनी आँखे बन्द कर लीजिए। आपको थोडी देर तक बल्ब का सवेदन होता रहेगा। इस प्रकार के सवेदन को उत्तर-सवेदन (after-sensation) कहा जाता है। यदि उत्तर-सवेदन का रग और उसकी चमक उत्तेजना के रग और चमक के समान ही हो तो ऐसे उत्तर-सवेदन को समोत्तर-सवेदन (positive after-sensation) कहते है। उत्तर-सवेदन का कारण यह है कि उत्तेजना मिलने पर ग्राहक में न्यूरोनीय क्रिया शुरू हो जाती है किन्तु उत्तेजना के एकदम हट जाने से वह न्यूरोनीय क्रिया एकदम समाप्त नही हो पाती।

हर सवेदन कुछ देर के बाद हल्का पडने लगता है। आप एक प्रकाशमान कमरे में कुछ देर रहिए तो आपको कमरे का प्रकाश पहले से हल्का मालूम होने लगेगा। यह तत्सम्बन्धी सवेदन के ग्राहको का अनुशीलन हो जाने से होता है। आपको [अपने पहने हुए कपडो के दबाव का सवेदन नही होता क्योकि आपके स्पर्श-ग्राहको का कपड़ो के दबाव से अनुशीलन हो जाता है।

अनुशीलन से तत्सम्वन्धी ग्राहको की अन्य प्रकार की उत्तेजनाओ के प्रति सवेदनशीलता बढ जाती है। मीठे स्वाद से अनुशीलन हो जाने पर नमक या मिर्च के प्रति सवेदनशीलता बढ जाती है। अँधेरे कमरे से बाहर आने पर प्रकाश ज्यादा तेज लगता है, उजाले से अँधेरे मे जाने पर अँधेरा ज्यादा मालूम पडता है। इसी प्रकार यदि हमारी दृष्टि का किसी रग के प्रति अनुशीलन हो जाय तो हमे उस रग के विरोधी या पूरक रग का सवेदन हो सकता है। आप लाल रङ्ग का चश्मा लगाइए और थोडी देर बाद उतार दीजिए। आपको रङ्गहीन वस्तुएँ हरी दिखाई पडेगी। इसी प्रकार नीला चश्मा लगाने के बाद हर रङ्गहीन पदार्थ पीला नजर आएगा। यह स्थिति विषमोत्तर-सवेदन (negative after-sensation) कहलाती है।

रङ्गों का विरोध—विषमोत्तर-सवेदन में पहले लाल या नीले रङ्ग की उत्तेजना मिलती है और उसके बाद लाल या नीले रङ्ग के पूरक हरे या पीले रङ्ग का सवेदन होता है। इस क्रम के रहने से विषमोत्तर-संवेदन को रङ्गो का क्रमिक विरोध (successive contrast) भी कहा जाता है। उत्तेजना और पूरक (complementary) रङ्गो के एक साथ होने पर रङ्गो में जो विरोध उत्पन्न होता है उसे समकालीन विरोध (simultaneous contrast) कहते है। भूरे रङ्ग के कागज के दो टुकडे ले लीजिए। एक को काली पृष्ठभूमि पर और दूसरे को सफेद पृष्ठभूमि पर रखिए। काली पृष्ठभूमि पर रक्खा गया टुकडा सफेद पृष्ठभूमि पर रक्खे गए टुकडे से ज्यादा चमकदार लगेगा। भूरे रङ्ग के धब्बे रङ्गीन पृष्ठभूमि पर डाल दीजिए तो उन धब्बो मे रङ्गीन पृष्ठभूमि के पूरक रङ्ग की झलक आ जायगी। सूर्य का पीला सा प्रकाश बर्फ पर नीले रग की झलक ला देता है। रङ्गो के विरोध का सामान्य नियम यह है कि कोई रगीन धरातल अपने पास के क्षेत्र में अपने पूरक रग की झलक ला देता है। चित्रकार रगो के इस विरोध का विशेष ध्यान रखते है। कपडे रगते समय या कमरा सजाते समय भी रगो के विरोध का ध्यान रखना चाहिए।

रङ्गो को घोलना—यह देखा जा चुका है कि रङ्गो की विविधता प्रकाश की विभिन्न लम्बाई की लहरो के घुलने से होती है। विभिन्न लम्बाई की लहरो को कृत्रिम रूप से घोलने के अनेक तरीके है। मनोविज्ञान की प्रयोगशालाओ मे काम मे लाया जाने वाला एक सुलभ तरीका रङ्ग-चक्र (colour wheel) को तैयार करना है। रङ्ग-चक्र के एक भाग मे एक रग होता है और शेष भाग में दूसरा। इस चक्र को जब तेजी से घुमाया जाता है तो देखने में लगता है कि चक्र के दोनो रग घुल गए है। यह ऐसे होता है : चक्र का एक भाग जब आँख के ग्राहको को उत्तेजित करता है तो उस भाग के रग का समो-

चित्र ३५
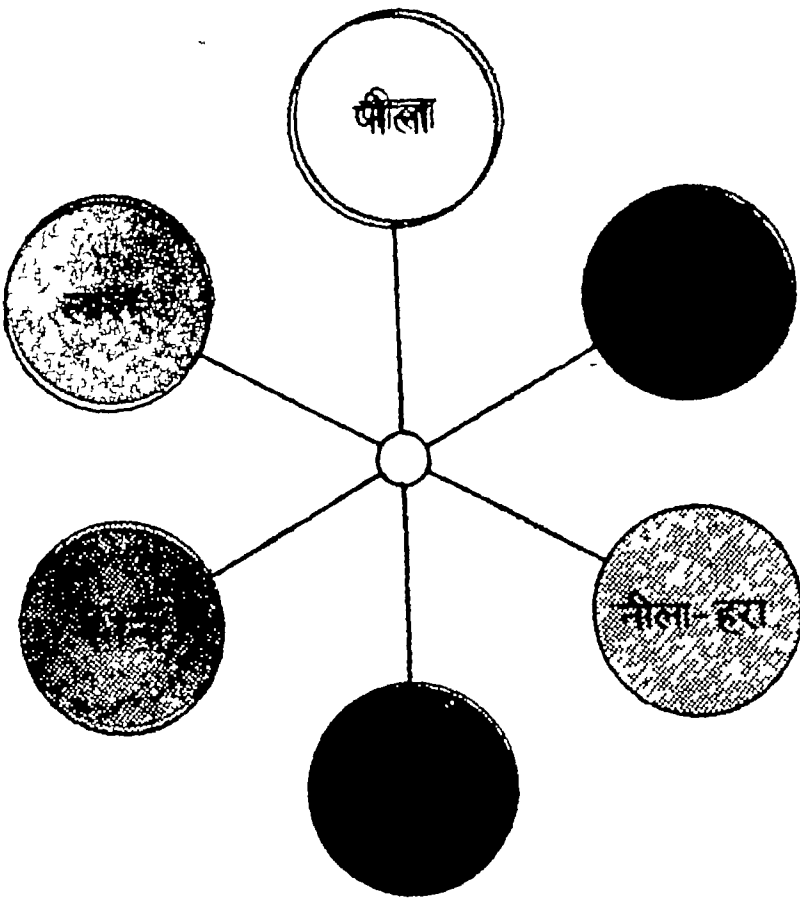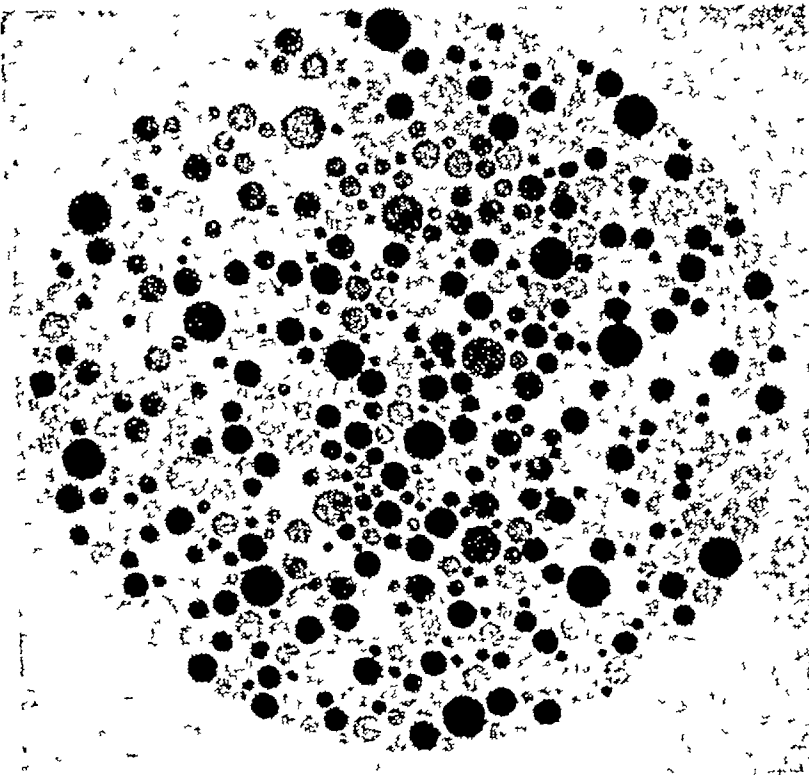
चित्र ३६

त्तर-सवेदन (positive after-sensation) कुछ क्षणो तक बना रहता है। वह मिट नही पाता कि चक्र का दूसरा भाग आँख के उन्ही ग्राहको को उत्तेजित कर बैठता है जिसका नतीजा यह होता है कि पहली उत्तेजना के रग का समोत्तर-सवेदन दूसरी उत्तेजना के रग के साथ घुल जाता है और हमे लगता है कि चक्र के दोनो रग आपस में घुल गए है।

रङ्ग घुलने के नियम—दो रगो को रग-चक्र द्वारा घोलने पर उनकी चटक मे क्या अन्तर पडता है ? इस विषय पर प्रयोगशाला मे परीक्षाएँ करके अनेक नियम बनाये जा चुके है। यहाँ केवल तीन प्रमुख नियमो का उल्लेख कर देना काफी होगा

(१) दो पूरक (पीले और नीले) रगो को एक निश्चित मात्रा मे घोलने पर भूरा रग बन जाता है और उसकी चमक दोनो के बीच की होती है।

(२) दो अपूरक (noncomplementary) रगो (जैसे हरे और नीले) को एक निश्चित मात्रा मे घोलने पर उन दोनो के बीच का रग बन जाता है जिसकी चमक दोनो रगो के बीच की होती है। इसको चित्र ३५ से समझा जा सकता है। इस रग-चक्र में दो रग जितनी दूर होगे उनकी चटक उतनी ही कम होगी। यदि वे दोनो बिल्कुल विरोधी दिशा मे होगे तो उनकी चटक बिल्कुल नष्ट हो जायगी और उनके घुलने से भूरा रग दिखाई पडेगा।

(३) हम देख चुके है कि दो पूरक रगो को घोलने से भूरा रग बनता है, किन्तु पूरक रगो (लाल-हरे और पीले-नीले) को आपस में एक निश्चित अनुपात से घोलने पर भी भूरा रग बनता है। इस भूरे रग की चमक दोनो पूरक रगो के जोडे के भूरे रगो की चमक के बीच की होती है।

वर्णान्धता (colour blindness)—बहुत से लोग रग (hue) तो देख लेते है लेकिन उनमें ठीक से भेद नही कर पाते। ऐसा उनकी वर्ण दुर्बलता के कारण होता है। कुछ लोग निश्चित लम्बाई की लहरो को बिलकुल नही देख पाते। ऐसे लोग वर्णान्ध होते है। पूर्ण वर्णान्ध होने पर व्यक्ति को रग का सवेदन बिलकुल नही होता। अगर वर्णान्धता आशिक होती है तो व्यक्ति केवल कुछ रगो की उत्तेजनाओ के प्रति ही प्रतिक्रिया नही कर पाता। पूर्णवर्णान्धता बहुत कम देखने को मिलती है। आशिक वर्णान्धता दो प्रकार की होती है, लाल-हरे और पीले-नीले रगो की। लाल-हरे रगो की वर्णान्धता के काफी उदाहरण मिलते है और वह स्त्रियो की अपेक्षा पुरुषो में अधिक होती है। वर्णान्धता आनुवशिक (hereditary) दोष होता है और उसका उपचार नही किया जा सकता। वर्णान्धता कोई रोग

नही है और न उससे कोई विशेष असुविधा ही होती है। हॉ उससे कुछ उद्योग-धन्धो की कार्य-कुशलता मे बाधा पड सकती है।

वर्णान्ध व्यक्ति उत्तेजनाओ के प्रति प्रतिक्रिया तो करता है लेकिन उसकी प्रतिक्रिया मे प्रकृत प्रतिक्रिया से अधिक चेष्टा होती है। रगो के नाम साहचर्य द्वारा जाने जाते है। बच्चे को जब यह बताया जाता है कि 'यह लाल चिडिया है' तो वह 'लाल' नाम का साहचर्य चिडिया के तत्कालिक अनुभव से स्थापित कर लेता है चाहे वह चिडिया लाल रही हो या गुलाबी। वर्णान्धता का पता तब चलता है जब व्यक्ति एक से लगने वाले दो विभिन्न रगो में भेद नही कर पाता। वर्णान्धता की परीक्षा करने के अनेक साधन बनाए जा चुके है। वर्णान्धता की परीक्षा के साधनो का आधार यह है कि चमक (brightness) और शुद्धता (saturation) स्थायी रहने पर यदि व्यक्ति रग (hue) में भेद न कर सके तो वह वर्णान्ध होगा।

वर्णान्धता का पता लगाने का एक साधन इशिहारा परीक्षा है (चित्र ३६)। लाल-हरा वर्णान्ध व्यक्ति इस चित्र मे अक २ और प्रकृत वर्ण-दृष्टि रखने वाला अक ५ देखेगा। चित्र मे अक ५ को बनाने वाले धब्बो के रग और पृष्ठभमि के रग मे अन्तर है। किन्तु धब्बो की चमक अव्यवस्थित ढग से पूरे अङ्क पर फैली हुई है और अक ५ के धब्बो की चमक और अक ५ के बाहर के धब्बो की चमक में भेद नही किया जा सकता। अङ्क ५ के धब्बो की चमक के अव्यवस्थित होने से लाल-हरा वर्णान्ध व्यक्ति अक ५ को नही देख पाता। अब चित्र को फिर ध्यान से देखिए। आप देखेंगे कि परस्पर विभिन्न तरह की चमक लिए हुए कुछ धब्बे इस तरह व्यवस्थित है कि उनसे कोई अङ्क बनता है। यह अङ्क २ है। आप इस अङ्क को मुश्किल से देख पाते है क्योकि आपका विन्यास रग देखने की ओर है जिससे चमक देखने मे कठिनाई होती है। किन्तु जो व्यक्ति रग नही देख पाता और केवल चमक ही देखता है वह अङ्क २ को ही देखेगा। उसके लिए अङ्क २ देखना उतना ही आसान होगा जितना आप के लिए अङ्क ५ देखना।

रग-विषयक सिद्धान्त—रङ्गो के विषय मे अनेक सिद्धान्त है। उनमें सबसे मान्य सिद्धान्त टॉमस यग का है जिसको बाद में लुडविग फोन हेल्महोल्त्स ने और उन्नत किया था। यग-हेल्महोल्त्स सिद्धान्त के अनुसार शकु (cones) तीन प्रकार के होते है। एक प्रकार के शकु लाल, दूसरे प्रकार के हरे और तीसरे प्रकार के नीले रङ्गो के प्रति अधिक सवेदनशील होते है। रङ्ग घुलने के तथ्य इस मान्यता का काफी समर्थन करते है। यदि सफेद पर्दे पर विभिन्न मिलावट और अनुपात से लाल, हरे और नीले रङ्गो को चमकाया जाय तो हमें प्रत्येक

रङ्ग प्राप्त हो सकता है। इस सिद्धान्त से विभिन्न लम्बाई की लहरो की घुलावट की व्याख्या के अतिरिक्त बहुत सीमा तक विषमोतर सवेदन (negative after-sensation) की व्याख्या भी की जा सकती है। विषमोत्तर सवेदन तीन प्रकार के शकुओ की विभिन्न उत्तेजनाओ के कारण होता है। उदाहरण के लिए जब नीले रङ्ग की किरणें नीला रङ्ग ग्रहण करने वाले शकुओ को उत्तेजित करती है तो उस समय हरे और लाल रङ्ग को ग्रहण करने वाले शकु अप्रभावित रहते है। कुछ देर बाद नीले शकु थक जाते है और जब हम चटकहीन रङ्गो की सफेद या भूरी पृष्ठभूमि की ओर देखते है तब हरे और लाल शकु सक्रिय हो जाते है जिससे हमे हरे-लाल रग के बीच का (अर्थात् पीला) रग दिखाई पडता है जो नीले रग का पूरक (complementary) रग होता है। किन्तु फिर भी इस सिद्धान्त से कई बातो की व्याख्या नही हो पाती। जो हो लेकिन आजकल यही सिद्धान्त विज्ञानियो द्वारा ज्यादा मान्य है।

कान

आँख की तरह प्राणी के लिए कान का भी बडा महत्त्व है। प्राणी को परिवेश का ज्ञान रगो के अलावा ध्वनि से भी होता है। भाषा के विकास और बोलचाल मे ध्वनि का बडा महत्व है। यदि कान न होते तो ध्वनि नही होती, सगीत नही होता, भाभी के ताने और उलाहने न होते, दोस्तो से गप्पें लडाने का मजा नही होता। 'विधना' ने 'अस जिय जानि के शेषहि' कान नही दिए थे कि वह 'तानसेन की तान' पर 'धरा-मेरु सब' हिला देता।

रचना—कान के तीन भाग किए जा सकते है बाहरी भाग, बीच का भाग
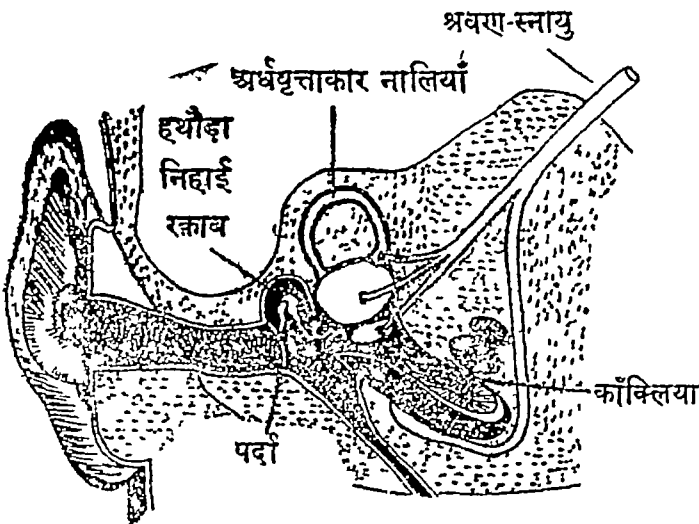
चित्र ३७

और भीतरी भाग। बाहरी भाग का छेद जहाँ समाप्त होता है वहाँ एक झिल्ली

होती है जिसे कान का पर्दा कहते है। कान के पर्दे के बाद बीच का भाग शुरू होता है। बीच के भाग मे तीन हड्डियो की शृखला रहती है जिनमें से पहली दो हड्डियो को उनकी क्रिया के अनुसार क्रमश हथौड़ा (hammer) और निहाई (anvil) कहा जाता है । तीसरी हड्डी को उसकी शक्ल के अनुसार रकाब (stirrup) कहते है। हथौडा नाम की पहली हड्डी कान के पर्दे से और रकाब नामक तीसरी हड्डी एक अडाकार झरोखे (oval window) मे लगी झिल्ली से सम्बन्धित होती है (चित्र ३७)।

अडाकार झरोखे के बाद कान का भीतरी भाग शुरू होता है। भीतरी भाग मे तीन प्रमुख अग होते है वेस्टीब्यूल (vestibule), काक्लिया (cochlea) और अर्धवृत्ताकार नालियाँ (semi-circular canals)। काक्लिया में दो बडी नहरे होती है और उनके बीच मे हड्डी की एक दीवार होती है जो उन्हे एक दूसरे से अलग करती है। उसमे दो पतली झिल्लियाँ होती है जो काक्लीय
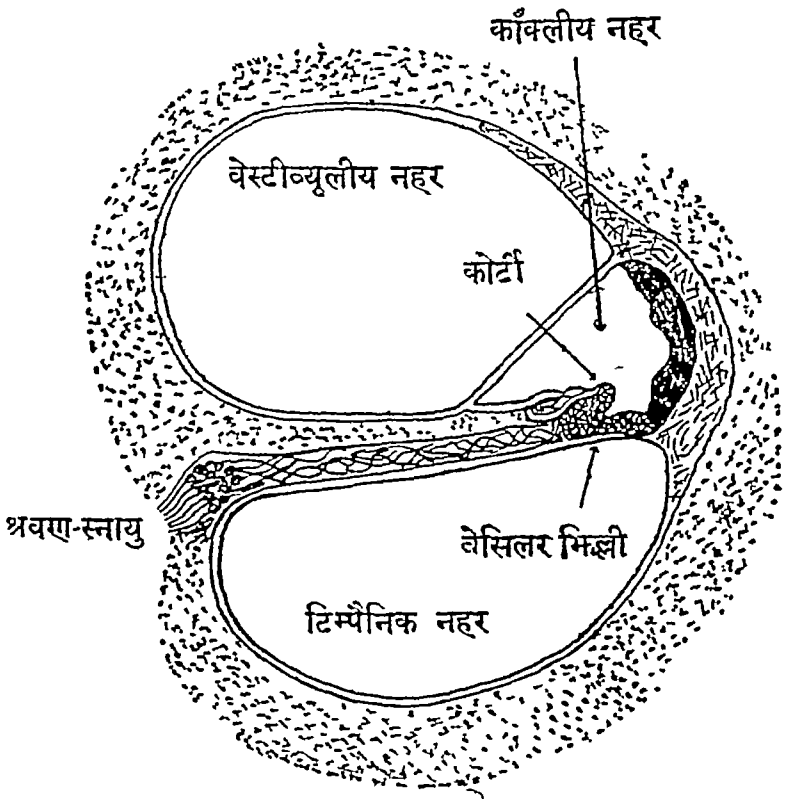
चित्र ३८

नहर (cochlear canal) कही जाने वाली एक छोटी-सी दीवार को आवृत्त किए रहती है। सुनने के ग्राहक काक्लीय नहर में होते है। काक्लीय नहर और टिम्पैनिक (tympanic) नहर के बीच बेसिलर झिल्ली (basilar membrane) होती है जो दोनो नहरो को एक दूसरे से अलग करती है। बेसिलर झिल्ली के ऊपर कोर्टी नामक अग (organ of corti) होता है। कोर्टी पर लोम-कोप (hair cells) होते है जो काक्लीय नहर मे भरे तरल पदार्थ में प्रक्षेपित रहते है (चित्र ३८)

क्रिया—सुनने की उत्तेजना ध्वनि-लहरो के रूप की होती है। तालाब में ककड फेकने से जिस तरह पानी मे लहरे उठती और फैलती है उसी तरह ध्वनि की उत्तेजना से चारो ओर की हवा में ध्वनि-लहरे पैदा होती है और फैलती है। ध्वनि-लहरे गालो के ऊपर निकली हुई कान की टेढी-मेढी सतह पर एकत्रित हो छेद मे प्रविष्ट होकर कान के पर्दे से टकराती है जिससे पर्दे में कम्पन होने लगता है। पर्दे की रक्षा के लिए कान के छेद मे मोम जैसा पदार्थ रहता है जो पर्दे को क्षति पहुँचा सकने वाली ध्वनि-लहरो की तेजी को कम कर देता है। पर्दे में कम्पन होने से कान की तीनो हड्डियो हथौड़ा, निहाई और रकाब मे कम्पन होने लगता है जिससे अडाकार झरोखे (oval window) मे लगी झिल्ली भी प्रकम्पित होती है। इस झिल्ली के कम्पन से कान के भीतरी भाग में स्थित वेस्टीव्यूलीय और टिम्पैनिक नहरो में भरा तरल पदार्थ ऊपर-नीचे हिलने लगता है।

इन दोनो नहरो के तरल पदार्थ के ऊपर-नीचे हिलने से वेसिलर झिल्ली
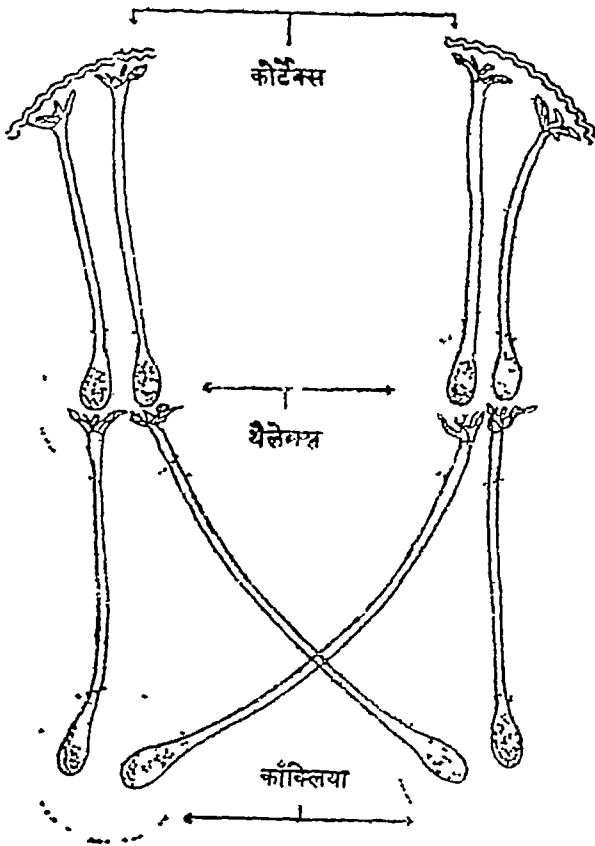
चित्र ३६

में कम्पन होता ह। वसिलर झिल्ली में ध्वनि की विभिन्न तीव्रताओ से प्रभावित होने वाले विभिन्न लम्बाई के रेशे होते है। वसिलर झिल्ली के कम्पन से कोर्टी

नामक अग (organ of corti) मे गति उत्पन्न होती है जिससे लोम-कोष (hair-cells) झुक जाते हैं। इन लोम-कोषो के झुकने से उनसे सम्बन्धित श्रवण-स्नायु के डेन्ड्रोन उत्तेजित होते हैं जिससे श्रवण-स्नायु में न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है। श्रवण-स्नायु की न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रवाह थैलेमस मे जाता है और वहाँ से न्यूरोनीय-सामीप्यो (synapses) से होकर मनस् के पार्श्वखड (temporal lobe) मे जाता है और तब हम ध्वनि सुनते हैं। प्रत्येक कान कोर्टेक्स (cortex) के दोनो पक्षो से सम्बन्धित होता है जिससे मनस् के एक ओर का पार्श्वखंड नष्ट हो जाने से प्राणी बहरा नही हो सकता (चित्र ३९)। वह बहरा तभी हो सकता है जब उसके मनस् के दोनो पार्श्वखड नष्ट हो जाँय या कान का पर्दा फट जाँय या फिर कान का ही कोई अंग नष्ट हो जाय।

ध्वनि के विषय में

किसी उत्तेजना (लोहे का तार या कोई और चीज) पर आघात किए जाने से उस उत्तेजना मे कम्पन होता है और उस कम्पन के दबाव से हवा मे लहरें पैदा हो-होकर चारो ओर फैलने लग जाती हैं। हवा की लहरे जब कान के पर्दे से टकराती हैं तो ध्वनि का सवेदन होता है। ध्वनि किसी उत्तेजना द्वारा हवा में पैदा होने वाली लहरो का क्रम है।

ध्वनि-लहरों का भेद—उत्तेजना से हवा में नियमित और नियत-कालिक
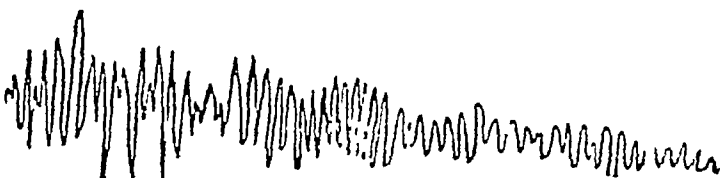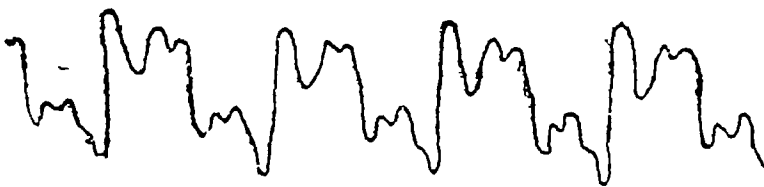
चित्र ४०

या अनियमित और अनियतकालिक ध्वनि-लहरे उत्पन्न हो सकती है। नियमित और नियतकालिक ध्वनि-लहरे कर्णप्रिय होती है। सगीत की कर्णप्रियता का यही कारण है। अनियमित और अनियतकालिक ध्वनि-लहरे कर्णकटु होती है जैसे शोर होने की आवाज। चित्र ४० को देखिए। ऊपर बाँसुरी और बीच मे मनुष्य के गाने से उत्पन्न नियमित और नियतकालिक ध्वनि-लहरे है। नीचे धमाके से उत्पन्न शोर होने की अनियमित और अनियतकालिक ध्वनि-लहरें है।

आवृत्ति—ध्वनि-लहर मे उतार चढाव होता है। पूरे उतार-चढाव से ध्वनि की एक लहर बनती है। चित्र ४१ को देखिए और उसमे ऊपर और नीचे की ध्वनि-लहरो की तुलना कीजिए। आप देखेगे कि दोनो ध्वनि-लहरो के उतार-चढाव की लम्बाई बराबर है किन्तु ऊपर ध्वनि-लहरो की आवृत्ति एक सेकेंड में ६ बार और नीचे एक सेकेंड में १८ बार हुई है, इसलिए उन दोनो में केवल उनकी आवृत्ति (frequency) का अन्तर है। विभिन्न उत्तेजनाएँ विभिन्न आवृत्ति की ध्वनि-लहरे पैदा करती है। हमारे कान सामान्यत प्रति सेकेंड २० से कम और २०,००० से ज्यादा आवृत्ति की ध्वनि-लहरो को ग्रहण नही कर सकते।
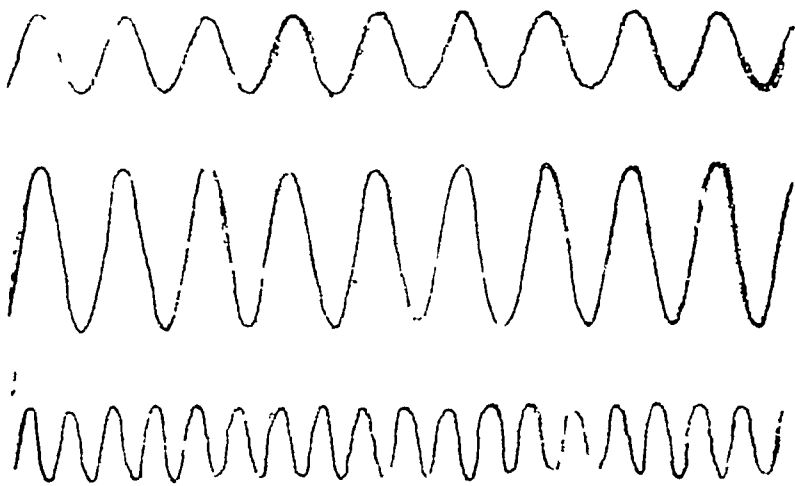
चित्र ४१

लम्बाई—अब आप चित्र ४१ में ऊपर और बीच को ध्वनि-लहर की तुलना कीजिए। इन दोनो लहरो की आवृत्ति (frequency) एक सेकेंड मे ९ बार हुई है, इसलिए इन दोनो की आवृत्ति में कोई अन्तर नही है। अब दोनो लहरो के उतार-चढाव की लम्बाई देखिए। दोनो की लम्बाई (amplitude) अलग-अलग है और उनमें उनकी लम्बाई का ही अन्तर है। विभिन्न उत्तेजनाओ से उत्पन्न ध्वनि-लहरो में लम्बाई का अन्तर भी हो सकता है।

रूप—अब आप एक बार चित्र ४० को फिर देखिए। वहाँ तीनों ध्वनि लहरो मे न तो उनकी आवृत्ति मे अन्तर है और न लम्बाई (amplitude) मे। अन्तर है तीनो के रूप मे। तीनो ध्वनि-लहरो में विभिन्न आवृत्ति और लम्बाई की लहरो की मिलावट है जिससे उनका रूप अलग-अलग हो गया है। ध्वनि-लहरो का रूप उनकी आवृत्ति या लम्बाई या आवृत्ति और लम्बाई दोनो की मिलावट के अन्तर से बनता है।

ध्वनि की विशेषताएँ—वर्षा की रिमझिम, पानी के छपाके, बादलो के गरजने, जोर से चिल्लाने, फुसफुसाने, रोने आदि की ध्वनि मे भेद होता है और इस भेद का कारण ध्वनि की विशेषताओ में होता है। ध्वनि में इतनी विभिन्नता होती है कि उसका वर्गीकरण कर सकना अत्यन्त कठिन है। कहा जाता है कि मनुष्य सामान्यत ध्वनि में ३४०,००० तरह का भेद कर सकने की क्षमता रखता है। ध्वनि का विभेद कर सकना सरल नही है किन्तु ध्वनि की इतनी बडी विभिन्नता को थोडा-बहुत समझने के लिए ध्वनि की कुछ विशेषताओ पर दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

पिच—आप वीणा के एक ढीले तार को छेड़िए। उसमे से उतरी हुई-सी ध्वनि निकलेगी। फिर उस तार को कस दीजिए। तब वह खरी ध्वनि पैदा करेगा। ढीले तार द्वारा उत्पन्न ध्वनि-लहर की आवृत्ति की सख्या कम होती है जिससे ध्वनि उतरी हुई सी लगती है। कसे तार द्वारा उत्पन्न ध्वनि-लहर की आवृत्ति की सख्या अधिक होती है जिससे उसकी ध्वनि खरी लगती है। ध्वनि के उतरेहुएपन या खरेपन को ध्वनि का पिच (pitch) कहते है। ध्वनि का पिच ध्वनि-लहर की आवृत्ति की सख्या के अनुपात से उतरता-चढता रहता है।

लम्बाई—कुछ आवाजे तेज होती है और कुछ धीमी। आवाज़ की तेजी और धीमापन ध्वनि-लहर की लम्बाई (amplitude) पर निर्भर होता है। ध्वनि-लहर की लम्बाई जितनी ज्यादा होती है ध्वनि उतनी ही तेज़ होती है। हवा पर उत्तेजना के कम्पन का जितना ज्यादा दबाव पड़ता है ध्वनि-लहर की लम्बाई उतनी ही ज्यादा होती है। वीणा के तारो को झंकृत करने में शक्ति का दबाव जितना अधिक डाला जाता है ध्वनि की तेज़ी उतनी ही बढ़ती चली जाती है।

घनत्व—ध्वनि में घनत्व (volume) भी होता है। कुछ आवाजे मोटी या भारी और कुछ पतली लगती है। ध्वनि जितनी तेज होती है उसका घनत्व भी उतना ही होता है किन्तु घनत्व ध्वनि का पिच बढने से कम और घटने से ज्यादा हो जाता है। ध्वनि के घनत्व से ध्वनि-उत्पादक उत्तेजना की विशेषता

जान सकने मे सहायता मिलती है। मोटी या पतली आवाज सुनकर हम यह अनुमान करते है कि उन आवाज़ो को पैदा करने वाली उत्तेजनाएँ भी क्रमश बडे या छोटे आकार की होगी।

टिम्बर—आवाज़ो का पिच और तेजी एक सी रहने पर भी आवाजो को पहचान लिया जाता है। आपने गाना सुना होगा, यदि नही सुना है तो जरूर सुनिए और इस बार मनोवैज्ञानिक उद्देश्य से सुनिए। गानेवाले के साथ तरह-तरह के वाजे भी बजते है और यद्यपि गानेवाले और बाजो का स्वर मिला होता है यानी गानेवाले की आवाज़ और बाजो की आवाज का पिच और तेज़ी एक ही होती है फिर भी आप गानेवाले और विभिन्न बाजो की आवाज अलग-अलग सुनते है। यह क्यो ? आवाजो की उन विशेषताओ के कारण जिन्हे ध्वनि का टिम्बर (timber) यानी गुण कहा जाता है। ध्वनि का टिम्बर ध्वनि-लहर के रूप की विशेषता होती है। विभिन्न उत्तेजनाओ से उत्पन्न होने वाली एक ही पिच और तेज़ी की विभिन्न ध्वनि-लहरो का रूप अलग-अलग होता है। ध्वनि-लहरो की रूप-विभिन्नता (टिम्बर) के कारण ही हम हर मनुष्य की आवाज को अलग-अलग पहचानते है और आवाज़ से ही जान जाते है कि कौन बोल रहा है।

ध्वनि-विषयक अन्य बातें

अशनाद—वीणा के तार को छेडने पर पूरा तार झकृत हो उठता है और पूरे तार की झकार से जो नियमित ध्वनि निकलती है उसे मूलनाद (fundamental tone) कहा जाता है। पूरे तार के झकृत होने के साथ-साथ तार का आधा, तिहाई, चौथाई आदि अश भी झकृत होता रहता है। पूरे तार की इस आशिक झकार से होने वाली ध्वनि को अशनाद (partial or overtone) कहते है। पूरे तार के झकृत होने पर यदि तार को बीच में सीक से छुआ जाय तो एक ऊँचे पिच की ध्वनि पैदा होगी जिसकी आवृत्ति (frequency) मूलनाद की आवृत्ति से दुगनी होगी, तिहाई अश की तिगुनी होगी, चौथाई की चौगुनी । विभिन्न अशनाद आपस में और मूलनाद से अच्छी तरह समन्वित होकर ध्वनि में एकता ले आते है।

ताल—भारतीय सगीत में गाने के साथ तबला बजाया जाना आवश्यक है क्योकि तबला गायक को ताल देकर बेसुरा होने से बचा लेता है। मान लीजिए गायक अपने गाने से हवा में प्रति सेकेंड ४२० आवृत्ति की नियमित ध्वनि-लहरें पैदा कर रहा है किन्तु दूसरे क्षण उससे ४२१ आवृत्ति की ध्वनि-लहर भी पैदा हो सकती है। अब ४२० और ४२१ आवृत्ति की ध्वनि लहरें एक बार तो आपस में मिलकर ध्वनि को तेज और दूसरी बार परस्पर अलग होकर ध्वनि को मन्द कर देगी। ध्वनि की तेजी में इस प्रकार पड़ने वाले अन्तर

को ताल (beat) कहा जाता है। किसी एक क्षण मे तालो की सख्या ध्वनि-लहरो की आवृत्ति की सख्या के बराबर होती है। ताल से ध्वनि-लहरो की आवृत्ति के अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर का पता चलाने में आसानी होती है जिससे गायक बेसुरा होने अर्थात् विभिन्न आवृत्ति की अनियमित ध्वनि-लहरे उत्पन्न करने से बच जाता है। सगीत मे ताल को इतना महत्व दिए जाने का यही कारण है।

ध्वनि का डूब जाना—शोरगुल मे आवाज तभी सुनी जा सकती है जब कि वह शोरगुल से तेज हो। जब अनेक ध्वनि-लहरें एक ही श्रवण यत्र का उपयोग करना चाहती है तो तेज और मन्द आवाज की प्रतियोगिता मे मद आवाज डूब जाती है। ध्वनि के मद पिच मे ध्वनि को डुबो देने (masking) की क्षमता ऊँचे पिच से ज्यादा होती है। दो ध्वनि-लहरो की आवृत्ति-सख्या ज्यो-ज्यो निकट आती है त्यो-त्यो उनकी ध्वनि डुबो देने की क्षमता बढती जाती है।

श्रवण-विकार

अप्रकृत मनोविज्ञान मे श्रवण विकारो का विशेष महत्व होता है क्योकि उनके रहने पर सतुलन करने में बाधा पडती है। ऊँचा सुनने वाला व्यक्ति दूसरे लोगो की बातचीत को सन्देह की नजर से देखता है और यह समझता है कि लोग उसी के बारे मे कानाफूसी कर रहे हैं। बहुत लोगो को श्रव्य मतिभ्रम (hallucination) और हठ-भ्रम (delusion) भी हो जाते हैं जिनका असर उनके सतुलित रूप से प्रतिक्रिया करने पर पडता है।

बेसिलर झिल्ली के रेशो को क्षति पहुँचने से व्यक्ति अशतः बहरा हो जाता है और कुछ आवृत्ति की ध्वनि लहरो को नही सुन पाता। कुछ श्रवण विकारो में व्यक्ति गा-बजा सकने की क्षमता खो बैठता है। आगे स्पष्ट हो जायगा कि श्रवण विकार केवल शारीरिक कारणो से ही नही होते वरन् मानसिक क्रियाओ के विकृत हो जाने से भी हो जाते हैं।

त्वचीय बोध

उत्तेजनाओ की अत्यधिक विषमता का अनुभव ठड, गर्मी, पीडा, स्पर्श, खुजली, गुदगुदी आदि त्वचीय बोध द्वारा होता है और प्राणी अपना शारीरिक तथा मानसिक सन्तुलन बनाए रखने के लिए उन विषमताओ से बच सकने की दिशा मे व्यवहार करता है। त्वचीय बोध के स्थल त्वचा पर हर जगह कम या ज्यादा मात्रा मे बिखरे होते हैं। किसी ठडी नुकीली चीज को त्वचा पर हर जगह छुआने से जहाँ-जहाँ वह बहुत ठडी लगती है वहाँ ठडा ग्रहण करने के स्थल होते हैं। इसी प्रकार गर्म चीज जहाँ ज्यादा गर्म

ऊपर या नीचे, दाएँ या बाएँ होने का सकेत नेत्रपटल पर बनने वाले उसके प्रतिविम्ब के कोण से होता है। पूरी और स्पष्ट रूप-रेखाओ वाली उत्तेजनाएँ अधूरी या धुँधली रूप-रेखा वाली उत्तेजनाओ से ज्यादा नजदीक दिखाई पडती है (चित्र ४५)।
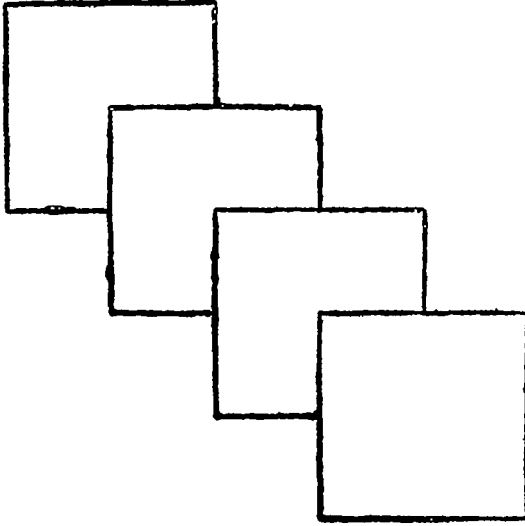
चित्र ४५

उत्तेजनाओ की दूरी का सकेत नेत्रपटल पर बनने वाले उनके प्रतिविम्ब के
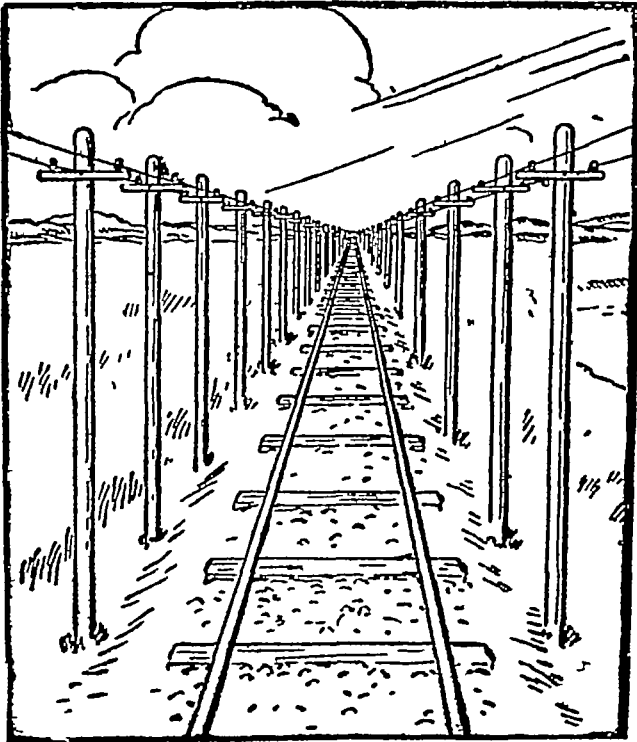
चित्र ४६

आकार पर भी निर्भर होता है। समीपवर्ती उत्तेजनाओं का प्रतिविम्ब नेत्रपटल के ज्यादा भाग पर पड़ता है और दूरस्थ उत्तेजनाओं का कम भाग पर। जो उत्तेजना नेत्रपटल के ज्यादा भाग पर प्रतिबिम्ब डालती है वह पास और जो कम भाग पर डालती है वह दूर लगती है (चित्र ४६)।

दूरी के ज्ञान में नेत्रीय अनुशीलन.—दूरी का ज्ञान उत्तेजनाओं के सकेत से ही न होकर नेत्रीय अनुशीलन (accommodation) से भी होता है। दूरस्थ उत्तेजनाओं का प्रतिबिम्ब नेत्रपटल पर ठीक से डालने के लिए आँख का लेंस फैलता है जिससे सीलियरी (ciliary) मासपेशी का तनाव कम हो जाता है। समीपवर्ती उत्तेजनाओं का प्रतिबिम्ब नेत्रपटल पर अच्छी तरह केन्द्रित कर सकने के लिए लेंस की गोलाई बढती है जिससे सीलियरी मासपेशी मे अधिक आकुचन (contraction) होने से तनाव बढ़ जाता ह। नेत्रीय अनुशीलन में सीलियरी मासपेशी पर जितना अधिक तनाव पडता है उत्तेजना उतनी ही पास और जितना कम तनाव पडता है उतनी ही दूर मालूम पड़ती है।

उत्तेजनाओं की गहराई और ठोसपन का ज्ञान प्रकाश और छाया के सम्मिलित प्रभाव से होता है। चित्रकार प्रकाश और छाया द्वारा ही चित्रो
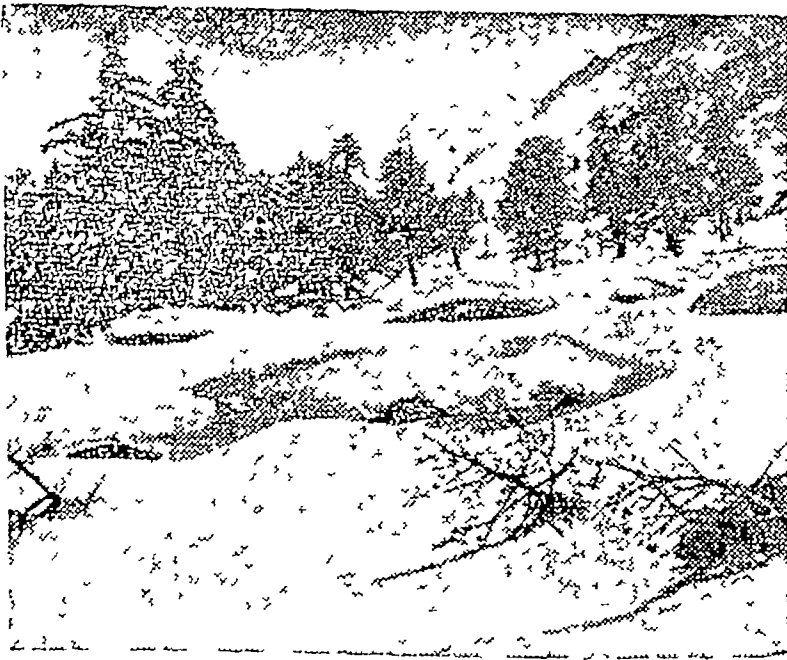
चित्र ४७

में गहराई, ठोसपन और उभरेपन का प्रभाव पैदा करते है (चित्र ४७)। उत्तेजना की दूरी, दिशा और आकार का ज्ञान एक आँख से भी किया जा सकता है किन्तु गहराई और ठोसपन का ज्ञान एक आँख से अच्छी तरह नही

हो पाता। गहराई और ठोसपन का ज्ञान भली-भाँति करने के लिए दोनों आँखो से देखने की अपेक्षा होती है। ठोस उत्तेजना का प्रतिबिम्ब दोनो आँखो पर एक-सा नही पड़ता। ठोस वस्तु को देखने मे दोनो आँखें एक ही उत्तेजना के दो विभिन्न संगठनो को मनस् के न्यूरोनो मे भेजती है। उनमे से एक अकेला सगठन उत्तेजना के चपटे रूप को ही दिखाता है। किन्तु वही दोनो विभिन्न सगठन जब नेत्रपटल पर समन्वित होते है तो उत्तेजना का ठोसपन सजीव बन जाता है। ठोसपन का गुण दोनो सगठनो में अलग अलग नही होता वरन् उनके मिलने से पैदा होता है। यह अनुभव आप किसी ठोस वस्तु को एक आँख और दोनो आखों से देखने पर कर सकते है। सीढियाँ उतरते समय एक आँख बन्द कर लीजिए। देखिए कही आप गिर न पडें!

समय जानना

सामाजिक व्यवहार में समय की आवश्यकता बहुत पडती है। हमें हर काम समय से करना पडता है। दैनिक जीवन में 'आज', 'कल', 'परसों', 'अभी' आदि की अनिवार्यता पर कुछ कहना अनावश्यक है। समय के ज्ञान मे 'देर' (duration) का अनुभव होता है और हमारे सारे कार्य-क्रम 'देर' के आधार पर ही बनते है। हम हर काम उतनी ही देर मे कर लेना चाहते है जितनी 'देर' उसमे लगना चाहिए।

आज तो हमारे पास 'देर' (duration) जानने के लिए घडियाँ है, दिन है, तारीखें है, किन्तु 'देर' जानने के इन साधनो के विकास के पीछे एक बड़ा रोचक इतिहास है। सभ्यता के शैशव-काल मे मनुष्य 'देर' का अनुमान रात और दिन, मौसम के परिवर्तन और चाँद के घटने-बढ़ने से किया करता था। 'देर' का अनुमान प्राकृतिक शक्तियो के प्रकट और अप्रकट होने के आधार पर भी किया जाता था।

'देर' (duration) का अनुमान अवधान के विभाजन पर भी निर्भर होता है। अवधान का विभाजन नष्ट हो जाने पर समय का ध्यान नही रह जाता। किसी काम में तन्मयता से लग जाने पर अवधान का विभाजन नष्ट हो जाता है और हम यह अनुमान कर सकने में असमर्थ रहते है कि हमें काम करने में कितनी 'देर' लगी। 'देर' के अनुमान पर सचारीभावो (emotions) का भी प्रभाव पडता है क्योकि वे प्राणी में उद्दीपन पैदा करके उसके अवधान के विभाजन को नष्ट कर देते है। अत्यधिक शारीरिक उद्दीपन में समय की सुध नही रहती।

देर के अनुमान पर देर के अन्दर होने वाली घटनाओ की सख्या का भी प्रभाव पडता है। घटनाओ की सख्या जितनी अधिक होती है समय उतना ही 'लम्बा' लगता है। काम में व्यस्त आदमी का 'दिन लम्बा' होता है।

मन लगा लेने वाले कामो में लगने वाली 'देर' लम्बी नही लगती क्योंकि मन लगने से अवधान का विभाजन नही हो पाता और समय जल्द कट जाता है। तबियत उबाने वाले दिन काटे नही कटते। आप शिक्षालय में पाँच घटे रहते है किन्तु वे पाँच घटे आपको पहाड़ के समान लगते हैं किन्तु खेल-कूद के पाँच घटे जल्दी बीत जाते है।

'देर' के अनुभव के विषय में एक प्रचलित सिद्धान्त यह है कि मनस् शारीरिक क्रियाओ, साँस लेने और नाडी चलने की गति आदि को 'गिनता' है जिससे हमें 'देर' का अनुभव होता है। हमारा शरीर स्वय 'देर' और समय वताने वाली एक 'रासायनिक घडी' है। बुखार और शरीर के अस्वस्थ होने पर यह 'रासायनिक घडी' तेज चलने लगती है जिससे समय जल्द बीतता है। समय के ज्ञान पर शारीरिक परिवर्तनो का भी प्रभाव पड़ता है। वचपन मे शारीरिक परिवर्तन शीघ्रतापूर्वक होते है जिनकी तुलना में समय की गति मन्द लगती है। वृद्धावस्था में शारीरिक परिवर्तन शीघ्रतापूर्वक नही होते इसलिए बुढापे में समय जल्दी बीतता-सा लगता है। इन सिद्धान्तो के सच हो सकने का थोडा-वहुत आधार समय-ज्ञान की परीक्षाओ से मिल चुका है।

गति को जानना

गति का ज्ञान बोधवाहक धरातल के क्रमिक रूप से उत्तेजित होने पर होता है। वदन पर चीटी के चलने से त्वचा के बोधवाहक ग्राहक क्रमश: उत्तेजित होते चले जाते है जिससे हमें चीटी के रेंगने का ज्ञान होता है। गति का ज्ञान मासपेशियो के आकुचन और फैलाव से भी होता है। हाथ हिलाने पर कुछ मासपेशियो में आकुचन होता है और उनकी विरोधी मासपेशियो में फैलाव जिससे हाथ में गति मालूम पडती है।

गति का ज्ञान एक सीमा के भीतर ही होता है। घड़ी की बडी सुई गतिशील लगती है किन्तु छोटी नही लगती। प्रयोगो द्वारा यह देखा गया है कि आँख से दो गज दूर पर प्रति सेकेंड २ मिलीमीटर से कम रफ्तार और १५० मिलीमीटर से ज्यादा रफ्तार से गतिशील वस्तुओ की गतिशीलता दिखाई नही पडती। उत्तेजना जितनी दूर होती है उसकी गति उतनी ही धीमी मालूम पडती है। गतिशीलता का अनुमान कर सकने में गलती होती है और वह दुर्घटना का कारण वन सकती है। अभ्यास से गतिशीलता के अनुमान को वहुत कुछ उन्नत किया जा सकता है।

गतिशीलता के भ्रम--स्थिर और ध्रुव उत्तेजनाओ को गतिशील समझना और गतिशील उत्तेजनाओ का गतिहीन लगना गतिशीलता के भ्रम है।

आपने बादलो की ओट में चाँद को भागते देखा होगा। किन्तु चाँद नही भागता, भागते तो बादल हैं। गतिशीलता देखने के लिए कोई न कोई ध्रुव पृष्ठभूमि होना चाहिये। विस्तृत आकाश में बादलो के भागने का अनुमान करने के लिए कोई ध्रुव पृष्ठभूमि नही मिलती इसलिए चाँद भागता सा लगता है क्योकि बादल चाँद के भागने का अनुमान कराने की ध्रुव पृष्ठभूमि बन जाते हैं। गतिशीलता का अनुभव अपने परिवेश की ध्रुवता के प्रसग से भी होता है। स्टेशन पर खडी रेलगाडी मे बैठे रहने पर आपने अनुभव किया होगा कि जब पास खडी कोई दूसरी गाडी चलती है तो आपको लगता है कि आपकी गाडी चल रही है। दूसरी गाडी आपके ध्रुव परिवेश का अग बन चुकती है जिससे उसकी ध्रुव पृष्ठभूमि के प्रसग मे आप गति का आरोप अपनी गाडी पर कर बैठते हैं।

आप दीवार को पृष्ठभूमि बनाकर अपने किसी हाथ की उँगली नाक की सीध में कर लीजिये। अब आप दोनो आँखो को बारी-बारी बहुत जल्द बन्द करते और खोलते रहिये। आपको लगेगा कि उँगली इधर उधर चल रही है। यदि आप एक आँख बन्द करने और दूसरी खोलने में ०६ सेकेंड से ज्यादा लगाएँ तो उँगली गतिशील नही लगेगी। मनोविज्ञान में आपके इस अनुभव को फाई-व्यापार (phi-phenomenon) कहा जाता है।

सिनेमा के चित्र आपको चलते फिरते दिखाई देते हैं किन्तु वास्तव में उनमे गति नही होती। उनको इस तरह दिखाया जाता है कि ०६ सेकेंड में आँख के सामने लगातार १७ चित्र आते हैं जिससे उनकी १७ विभिन्न और ध्रुव स्थितियो में ऐसा सगठन हो जाता है कि वे चलते फिरते मालूम होने लगते हैं। नेत्रपटल पर पहले चित्र से बना प्रतिबिम्ब हटने से पहले ही दूसरे चित्र का, दूसरे के बाद तीसरे का प्रतिबिम्ब बनता जाता है और उन सबके सगठन से चित्रो में गतिशीलता का अनुभव होने लगता है।

अप्रकृत त्वचीय विकार

अनुभव और व्यवहार का आधार होने से सवेदनो का प्रकृत होना सतुलित व्यवहार कर सकने के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। अप्रकृत सवेदन व्यवहार को भी अप्रकृत बना देते हैं। यो तो ग्राहको को क्षति पहुँचने या उनमें कोई और दोष होने से तत्सम्बन्धी सवेदनो मे विकार आ जाता है और दोष ठीक होने पर मिट जाता है। किन्तु सवेदन के विकार अप्रकृत तब कहलाते हैं जब उनका आश्रय उनसे सम्बन्धित ग्राहको में न होकर और ग्राहको के स्वस्थ और नियमित रहने पर भी मनोजन्य (psychogenic) कारणो से ग्राहको की कार्यात्मक (functional) क्षमता नष्ट हो जाने मे हो।

अतएव अप्रकृत सवेदनो के कुछ प्रमुख रूपों को जान लेना अप्रकृत व्यवहार को समझने के लिये जरूरी है।

हाइपरेस्थीसिया और एनेस्थीसिया (hyperesthesia and anesthesia)—ग्राहको की सवेदनशीलता अप्रकृत तरह से बढ जाने को हाइपरेस्थीसिया कहा जाता है। हाइपरेस्थीसिया का आश्रय सुनने, देखने, स्पर्श करने, दर्द का अनुभव करने आदि के किसी भी ग्राहक मे हो सकता है। दर्द, स्पर्श, स्वाद आदि के प्रति बिल्कुल सवेदनशून्य बन जाने को एनेस्थीसिया कहा जाता है।

जन्म से ही किसी ग्राहक के न होने या दोषपूर्ण होने से व्यक्ति को बाह्य जगत के सवेदन अन्य प्रकृत व्यक्तियो की भाँति नही हो पाते। इसका उसके मानसिक विकास पर बडा असर पडता है और उसके लिये परिवेश की सार्थकता वैसी नही रह जाती जैसी प्रकृत व्यक्ति के लिये होती है। परिवेश की सार्थकता घटने का असर व्यवहार पर पडता है जिससे व्यवहार वैसा नही हो पाता जैसा कि उसे होना चाहिये।

पैरेस्थीसिया (paresthesia)—इस त्वचीय विकार में मनुष्य को त्वचीय सवेदन का ठीक ठीक स्थान और रूप नही मालूम हो पाता। कोकीन खाने वाले लोग अक्सर यह शिकायत करते हैं कि उनको बदन पर 'खटमल रेंगने सा' सवेदन हो रहा है। कुछ लोग तो सचमुच बदन पर अपने कल्पनाजन्य कीड़ो की खोज करने लगते हैं। पैरेस्थीसिया के इस रूप को त्वचीय मतिभ्रम (hallucination) कहा जाता है और उसे सवेदन की अपेक्षा सज्ञा करने का विकार समझा जा सकता है। पैरेस्थीसिया के साथ साथ होने वाले सज्ञा करने के एक अन्य विकार को ऐस्टीरिओग्नासिस (astereognosis) कहते है जिसमें रोगी स्पर्श-द्वारा पूर्व परिचित चीजो को नही पहचान पाता। जेब मे हाथ डालने पर वह गोल पैसे और चौकोर दुअन्नी में भेद नही कर पाता।

सिनेस्थीसिया (synesthesia)—यह विकार बहुत कम पाया जाता है और इससे सतुलित प्रतिक्रिया करने मे कोई बाधा नही पड़ती। किसी एक ग्राहक के सक्रिय होने पर अगर कोई दूसरा ग्राहक भी स्वत. सक्रिय हो जाय तो उन दोनो की सम्मिलित प्रतिक्रिया सिनेस्थीसिया कारण होती है। इस विकार से ग्रस्त लोग विशेष प्रकार की आवाज सुनने के साथ साथ कोई न कोई रग भी देखते हैं। सिनेस्थीसिया मे विभिन्न प्रकार के सवेदनो का अनेक तरह से सहचार हो सकता है। किसी को विशेष नाम सुनने पर विशेषप्रकार के स्वाद का सवेदन होता है, किसी को दबाव और ठंड का, किसी को सुनने के साथ दर्द

का, किसी को सुनने के साथ चित्र का, किसी को स्वाद के साथ रगो का या गन्ध के साथ रगो का, किसी को पीडा के साथ रगो का या पत्र के साथ व्यक्ति का।

सिनेस्थीसिया पर थकान का भी असर पडता है। थकान से कभी कभी सिनेस्थीसिया बढ जाती है और कभी कभी घट भी जाती है। सिनेस्थीसिया मे साधारणत सवेदनो का आश्रय उन्ही ग्राहको में होता है जिनमें उसे प्रकृत रूप से होना चाहिये। सिनेस्थीसिया विकार किशोरावस्था मे ज्यादा पाया जाता है और परिपक्वता के साथ कम या नष्ट हो जाता है।

सिनेस्थीसिया को केवल सवेदन सम्बन्धी विकार ही नही समझना चाहिए। उसका असर सज्ञा और कल्पना या चिंतन करने जैसी प्रतीकात्मक क्रियाओ पर भी पडता है। ह्वीलर और कुट्सफोर्थ की खोजो से यह स्पष्ट हो चुका है कि सिनेस्थीसिया परिधीय और केन्द्रीय दोनो प्रकार का विकार होता है और सज्ञात्मक और प्रतीकात्मक क्रियाओ पर उसका काफी प्रभाव पडता है।

सिनेस्थीसिया की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। ज्यादा मान्य मत यह है कि बोधवाहक द्वारो में उनके रेशे कही न कही इस तरह उलझ जाते है कि एक द्वार के सक्रिय होने पर दूसरा भी सक्रिय हो जाता है। एक अन्य मत के अनुसार स्नायु-रचना के विकास के साथ स्नायुओ में प्रकृत कार्यात्मक विभेदीकरण (differentiation) न होना ही सिनेस्थीसिया का कारण होता है। सिनेस्थीसिया का किशोरावस्था में ज्यादा पाया जाना इस मत का समर्थन करता है।

सिनेस्थीसिया की व्याख्या साहचर्य (association) के आधार पर भी की गई है। साहचर्य-मत के अनुसार सिनेस्थीसिया का कारण बचपन मे सीखने के अनुभव की विचित्रता में होता है। इस मत के अनुसार सिनेस्थीसिया सयोगवश ही होता है और याद रखने की क्रिया में जान-बूझकर उपयोग करने के अतिरिक्त मानवी विकास या सतुलन मे उसका कोई उपयोग नही होता। उपर्युक्त किसी एक मत से सिनेस्थीसिया के सब रूपो की पूर्ण व्याख्या नही हो पाती। इसका कारण विभिन्न मतो की अपूर्णता न होकर शायद सिनेस्थीसिया के केसो का अध्ययन और वर्णन करने का अलग अलग ढग हो सकता है।

सिनेस्थीसिया के आनुवशिक होने के प्रमाण भी मिलते है। सिनेस्थीसिया एक पीढी से दूसरी पीढी को प्राप्त हो सकती है; हाँ उसका रूप बदल सकता है। किंतु इस विषय पर ज्यादा अनुसन्धन नही हुआ है इसलिए निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता।

लगती है वहाँ गर्मी ग्रहण करने के स्थल होते हैं। सुई को त्वचा पर हर जगह धीरे से चुभाने पर कही कही ज्यादा पीडा होती है क्योकि वहाँ पीड़ा ग्रहण करने के स्थल होते हैं। यदि त्वचा को तिनके से छुआ जाय तो अनेक स्थलो पर कोई बोध नही होगा किन्तु कही कही स्पर्श की तीव्रता साफ मालूम पडेगी। ऐसी जगह त्वचा मे स्पर्श के स्थल होते हैं। त्वचा में पीडा और स्पर्श के स्थल तापक्रम (ठड-गर्मी) के स्थलो से और ठड-स्थल गर्मी के स्थलो से अधिक होते हैं। ठड और गर्मी, स्पर्श और पीडा यही चार मुख्य त्वचीय बोध हैं। खुजली पीड़ा का प्रकार है और गुदगुदी स्पर्श का।

पीडा का अनुभव शरीर में लगभग हर जगह होता है। पीडा तब होती है जब कोई उत्तेजना अपनी शक्ति से ग्राहको को विनाशक आघात पहुँचाती है। पीडा शरीर को खतरे की सूचना देती है किन्तु पीडा के प्रति प्रतिक्रिया होने में बहुत समय लगता है। सुई चुभाने पर पीडा होने से पहले दबाव या शायद ठड का बोध होता है। शरीर के किसी भाग में होने वाली तेज पीडा अन्य स्थान पर होने वाली हलकी पीडा के बोध को दबा देती है। इसका कारण शायद अवधान (attention) में होता हो।

ठड और गर्मी के स्थल – १० अश से + ७० अश सेन्टीग्रेड की उत्तेजना के प्रति ही सवेदनशील होते है। इन अशो से नीचे या ऊपर उत्तेजना की शक्ति ग्राहक के लिए विनाशक बन जाती है जिससे केवल पीडा का ही अनुभव होता है। त्वचा का तापक्रम लगभग ३३ सेन्टीग्रेड होता है और खून के तापक्रम से कम होता है। शारीरिक गर्मी शरीर से बाहर हवा की ओर निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। जब कोई उत्तेजना शरीर से ज्यादा गर्मी खीचकर हवा की ओर शारीरिक गर्मी के प्रवाह को बढा देती है तो ठड लगती है और यदि शरीर को ज्यादा गर्मी देकर हवा की ओर शारीरिक गर्मी के प्रवाह की गति को घटा देती है तो गर्मी लगती है। त्वचा के तापक्रम ३३ सेन्टीग्रेड के आसपास के तापक्रम की उत्तेजना से ठड या गर्मी नही लगती इसलिए ३३ सेन्टीग्रेड को तापक्रम की त्वचीयबोधशून्यता (physiological zero) कहा जाता है।

त्वचीय बोध का अनुशीलन—स्पर्श का विशेषकर दुर्बल उत्तेजना के स्पर्श का अनुशीलन बहुत जल्द होता है जिससे आपको अपने कपडो, उँगली में पहनी हुई अँगूठी आदि का दबाव अनुभव नही होता। स्पर्श के अनुशीलन का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। यदि कोई व्यक्ति हर प्रकार के शारीरिक

कष्ट से बचता है तो वह स्पर्श की हर उत्तेजना के प्रति अधिक सवेदनशील हो जाता है। जो लोग हर मौसम मे अधखुले घूमते रहते है उनका अनुशीलन अधिक स्थायी बन जाता है। जिस चीज का अनुशीलन अस्थायी होता है उसके भावात्मक उत्तर-सवेदन (positive after-sensation) का अनुभव होता है। पहली बार थोडी देर चश्मा लगाने के बाद उसे उतार देने पर भी लगता है कि चश्मा लगा हुआ है।

तापक्रम के अनुशीलन से तापक्रम की त्वचीय-बोधशून्यता (physiological zero) बदलती रहती है। आप अपने एक हाथ की उँगली को जरा ठडे और दूसरे हाथ की उँगली को जरा गर्म पानी में कुछ देर रखिए। फिर दोनो उँगलियो को त्वचीय तापक्रम (३३ सेन्टीग्रेड) के पानी मे डाल दीजिए। यह पानी आपकी ठडे पानी मे रक्खी गई उँगली को गर्म और गर्म पानी मे रक्खी गई उँगली को ठडा मालूम पडेगा क्योकि ठडे और गर्म पानी में रहने से आपकी उँगलियो के तापक्रम की त्वचीयबोधशून्यता बदल चुकी थी।

मांसपेशीय बोध—मासपेशियो और शारीरिक जोडो जैसे कोहनी, कलाई, एँड़ी, घुटनो आदि में भी ग्राहक होते है। इन ग्राहको से धड, अवयवो की स्थिति और स्थान-परिवर्तन का अनुभव होता है। यदि ये ग्राहक न होते तो चलना या खड़ा हो सकना दूभर बन जाता और शरीर की स्थिति जानने और उस पर नियन्त्रण कर सकने के लिए हमे अपने शरीर को हर समय देखना पडता।

मासपेशियो और शारीरिको जोडो में स्थित ग्राहक शरीर की स्थिति, मासपेशीय आकुचन (muslucar contraction) और मासपेशी में बाह्य गति से होने वाले प्रतिरोध (resistance) से उत्तेजित होते है और वस्तुओ के भार, उनकी कठोरता, चिकनेपन, खुरदरेपन आदि का ज्ञान करते है। स्पर्श के साथ मासपेशीय प्रतिरोध होने पर कठोरता का और मासपेशीय प्रतिरोध न होने पर कोमलता का बोध होता है। स्पर्श से यदि मासपेशियो में कम्पन हो तो खुरदरेपन का और यदि कम्पन न हो तो चिकनेपन का बोध होता है।

भूख, प्यास, भारीपन, घुटन, जलन आदि का बोध आन्तरिक शारीरिक क्रियाओ से होता है जिनके ग्राहक आन्तरिक अंगो में स्थित होते है। प्यास गला सूखने से लगती है और भूख आँतो के आपस मे रगड़ खाने से।

शारीरिक स्थिति का बोध—कान के भीतरी भाग में अर्धवृत्ताकार नालियाँ होती है जिनका सुनने से कोई सम्बन्ध नही होता। वे प्राणी को उसकी शारी-

रिक स्थिति अवगत कराती है। वेस्टीब्यूल और अर्धवृत्ताकार नालियो में लोम-कोष (hair-cells) होते है। सिर झुकाने या घुमाने पर अर्धवृत्ताकार नालियो मे भरा तरल पदार्थ असतुलित होकर लोम-कोषो को उत्तेजित कर देता है। लोम-कोषो के उत्तेजित होने से उनसे सम्बन्धित बोधवाहक स्नायु के रेशो में न्यूरोनीय प्रेरणा का प्रादुर्भाव होता है जो मनस् में पहुँचकर प्राणी को झुकने, घूमने आदि की शारीरिक स्थितियो का बोध कराती है। चक्कर आदि खाने पर जब अर्धवृत्ताकार नालियो में भरा तरल पदार्थ अस्थिर हो जाता है तो प्राणी अपनी शारीरिक स्थिति का बोध खो बैठता है और खडा न रह पाकर गिर पडता है।

स्वाद लेना

स्वाद का महत्व इसी से स्पष्ट है कि हम अपने जीवन के अनुभवो की अभिव्यक्ति बहुधा स्वादो की भाषा में किया करते है। हमें नीद मीठी आती है, सुन्दर मुख नमकीन नजर आता है, हमारी तबियत खट्टी हो जाया करती है और कभी-कभी जिन्दगी तल्ख (कड़वी) बन जाती है।

स्वादेन्द्रिय—रसना की सतह पर छोटे-छोटे छेद होते है जिससे वह खुरदरी लगती है। इन छेदो के नीचे स्वाद-ग्राहक होते है। स्वादग्राहको के एक समूह को स्वाद-कलिका (taste bud) कहा जाता है। प्रत्येक स्वाद-कलिका कोषो का समूह होती है और उसकी शक्ल प्याज की छोटी गाँठ की तरह होती है (चित्र ४२)।
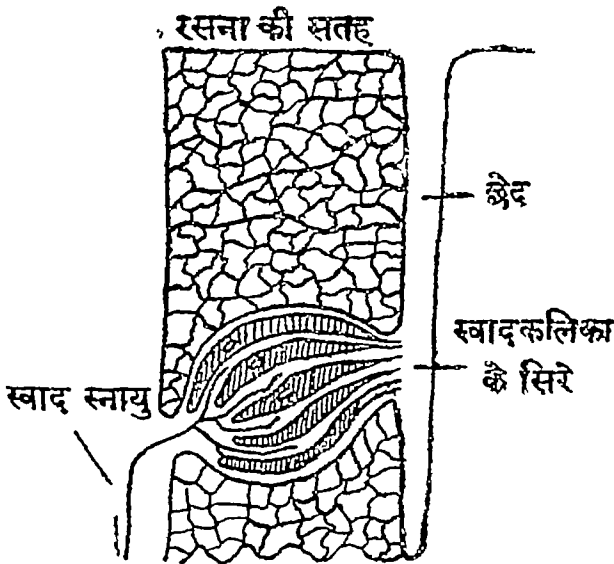
चित्र ४२

स्वाद-कलिकाएँ रसना के अलावा गालो और ओठो में भी होती है। वयस्क लोगो की अपेक्षा बच्चो में स्वाद-कलिकाओ की सख्या अधिक होत

ह । स्वाद के ग्राहको के अतिरिक्त रसना मे त्वचीय-सवेदन के ग्राहक भी होते है ।

स्वाद के गुण—स्वाद के गुणो की सख्या बहुत सीमित होती है । मुख्य स्वाद केवल चार होते है : मीठा, नमकीन, खट्टा और कड़ुवा । अन्य प्रकार के स्वाद खाने वाली चीज के स्पर्श, तापक्रम और गन्ध से मिलकर बनते है । गन्ध और स्वाद में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है । आपने चाय पी होगी । अच्छा होता है न उसका स्वाद ? किन्तु शायद आपको आश्चर्य होगा कि चाय का स्वाद वस्तुत: कड़ुवा होता है किन्तु दूध, शक्कर, तापक्रम, स्पर्श और गन्ध ये सब मिलकर चाय में एक ऐसा जायका पैदा कर देते है जिससे कवि सुन्दर युवती की भूरी आँखो की उपमा गर्म चाय के प्याले से दे डालते है, क्योकि उन्हे भूरी आँखो में शायद वही रस मिलता है जो गर्म चाय पीने में । यदि आपकी नाक बन्द करके और बिना दिखाए रसगुल्ला खिलाया जाय तो वह आपको केवल मीठा ही लगेगा, 'रसगुल्ला' नही । हलवाई की दुकान के सामने से गुजरते हुए यदि आपकी जेब खाली हो तो फौरन दृष्टि फेरकर अपनी नाक बन्द कर लीजिए और फिर बर्फी, इमरती, खुरमा, रसमलाई, चमचम आदि की सार्थकता नष्ट हो जायगी और वे आपके लिए केवल 'मीठी चीजें' मात्र-ही हो जायँगी । हमारी नाक बहुत से स्वादो की नाक रख लेती है ।

स्वाद-स्थल—रसना का हर भाग चारो स्वादों के प्रति एक-सा सवेदनशील
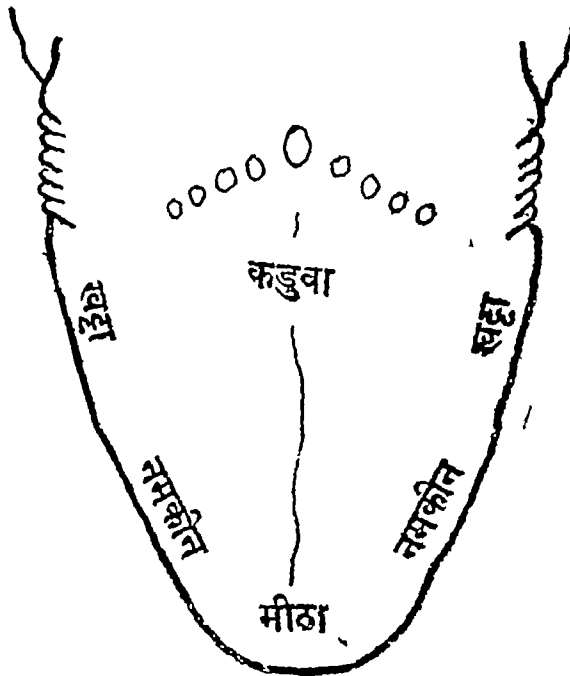
चित्र ४३

नही होता। आगे का भाग मीठे के प्रति, पीछे का कड़ुवे के प्रति और पार्श्व भाग खट्टे के प्रति अधिक सवेदनशील होता है। नमकीन के लिए रसना की सतह का सारा भाग लगभग समान रूप से सवेदनशील होता है (चित्र ४३)।

स्वाद रासायनिक (chemical) सवेदन है इसलिए जब तक रसना पर रक्खी हुई चीज लार द्वारा घुलकर छेदो से स्वादकलिकाओ तक नही पहुँचती तब तक उस चीज का स्वाद नही मिल पाता। स्वाद लेने के लिये उत्तेजना को या तो पहले से ही घुला हुआ होना चाहिये या मुँह में जाकर लार द्वारा घुलने योग्य होना चाहिये। यदि आप पैसा मुँह में रख ले तो आपको उसका कोई स्वाद नही मिलेगा क्योकि वह घुल सकने योग्य नही होता। हाँ, रसना में त्वचीय बोध के ग्राहक होने से पैसा आपको ठडा अवश्य लगेगा। उत्तेजना रसना पर लार द्वारा घुलकर और छेदो मे प्रविष्ट होकर स्वादकलिकाओ को उत्तेजित करती है। स्वादकलिकाओ के उत्तेजित होने पर स्वाद-स्नायु मनस् के स्वादक्षेत्र को जाग्रत करते है और तब हमें स्वाद का बोध होता है।

स्वाद-अनुशीलन—रसना भी अन्य ग्राहको की भाँति स्वाद-उत्तेजनाओ से अपना अनुशीलन (adaptation) करती है। कोई स्वादिष्ट वस्तु रसना पर बहुत देर रहने के बाद फीकी-सी लगने लगती है। नमकीन चीज खाने के बाद यदि कोई ऐसी चीज खाई जाय जिसमें चारो स्वाद मिले हो तो वह चीज नमकीन स्वाद न देकर शेष तीनो स्वाद ही देगी। स्वादो में विरोध भी होता है। पेडा खा लेने के बाद नारगी बहुत खट्टी लगती है। नीबू खा लेने के बाद नारगी अधिक मीठी लगती है।

सूँघना

बहुत-से प्राणी अपने परिवेश का ज्ञान सूँघकर ही करते हैं। चीटी सूँघकर ही मीठी चीजो तक पहुँच जाती है। कुत्ते खाने योग्य वस्तुओ को सूँघकर ही जानते है। सूँघने की शक्ति मनुष्यो की अपेक्षा अन्य प्राणियो में अधिक होती है क्योकि अन्य प्राणियो में परिवेश को जानने के उत्तम साधनो जैसे देखना, सुनना आदि का उतना विकास नही हो पाया है जितना मनुष्य में हो चुका है। यद्यपि मनुष्य में सूँघने की शक्ति अन्य प्राणियो के बराबर नही होती तथापि वह भी अनेक उत्तेजनाओ में गन्ध के आधार पर ही भेद करता है।

नाक—गन्ध का अनुभव नाक द्वारा होता है। नाक के भीतर आँख की सीध से जरा ऊपर गन्ध-बल्ब (olfactory bulb) होता है जिसके सिरो

पर महीन महीन रोएँ होते हैं। ये रोएँ ही गन्ध-ग्राहक होते हैं (चित्र ४४)। गन्ध की उत्तेजना हवा द्वारा जब नाक मे प्रविष्ट होकर इन रोओ को छूती है तो उसका सवेदन गन्ध-स्नायु द्वारा मनस् के सूँघने के केन्द्र में पहुँचता है और तब हमे गन्ध का अनुभव होता है। गन्ध-ग्राहक चूँकि नाक के ऊपरी भाग मे स्थित होते हैं इसलिए साँस लेने में नाक के अन्दर जो हवा आती जाती रहती है वह गन्ध-ग्राहको को नही छू पाती और हमे गन्ध का अनुभव साधारणतया साँस लेते रहने से नही होता। यह चित्र ४४ मे बने तीरो से स्पष्ट हो जायगा। सूँघने के लिए नाक द्वारा हवा को जोर से ऊपर की ओर खीचना पडता है जिससे वह गन्ध-ग्राहको को छू सके। गन्ध की उत्तेजना चूँकि हवा द्वारा ही नाक में जा सकती है इसलिए सूँघ सकने के लिए उत्तेजना को वायव्य (gaseous) रूप में होना चाहिये।
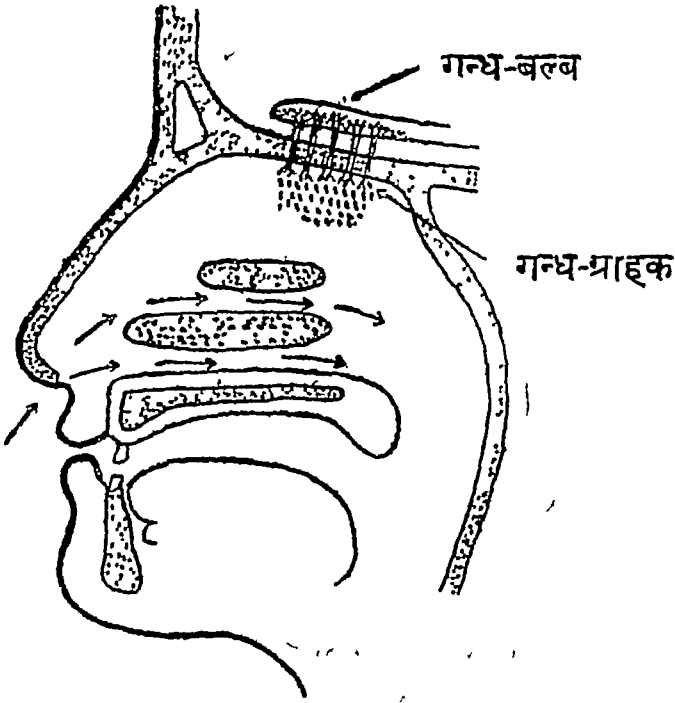
चित्र ४४

गन्ध के गुण—अपने मुख्य रूप में गन्ध छ तरह की होती है: जलने की, सडने की, राल की, मसालो की, फलो की और फूलो की। इन्ही मुख्य गन्धो के मेल से विभिन्न प्रकार की सैकड़ो गौण गन्धे बनती हैं। बहुत-सी गन्धो में स्वाद भी रहता है जैसे क्लोरोफार्म सूँघने से मिठास का स्वाद मिलता है।

गन्ध-अनुशीलन—गन्धो का अनुशीलन गन्ध-ग्राहकों से बहुत जल्द होता है और अनुशीलन का प्रभाव भी बहुत जल्द मिटता है। इलायची पहले

तो बडी सुगन्धित लगती है किन्तु जरा ही देर बाद ऐसा लगता है कि मानो उसमें गन्ध थी ही नही। इसका कारण शायद मनस् में गन्ध-केन्द्रो की थकान में होता है। किसी गन्ध का अनुशीलन उसी के समान गन्धो के प्रति सवेदन-शीलता को कम कर देता है। कपूर को सूँघने के तत्काल बाद इलायची की गन्ध के प्रति सवेदनशीलता घट जाती है। कुछ तेज गन्धे जब फीकी पडती है तो उनका गुण बदल जाता है। सस्ते इत्रो में पहले तो ताजे फल की सी महक होती है किन्तु कुछ दिनो बाद उनकी महक खट्टी सी पडने लगती है।

दिशा और दूरी जानना

पदार्थों या उत्तेजनाओ मे दिशा और दूरी होती है। हर पदार्थ या हर घटना हर जगह और हर समय नही होती। हम यह कैसे जानते है कि अमुक वस्तु हमसे आठ गज दूर है या कालिदास नामक व्यक्ति हमारे जन्म लेने से बहुत पहले ही जन्म ले चुका और मर चुका था? दिशा और दूरी का ज्ञान अनेक बोधागो के साथ-साथ मिलकर क्रिया करने से होता है। दूरी का ज्ञान देखने, सुनने और त्वचीय बोध से होता है। दिशा का ज्ञान मास-पेशीय और त्वचीय बोध से होता है। दाएँ, बाएँ, आगे, पीछे का ज्ञान शरीर के प्रसग से किया जाता है। दिशा-ज्ञान गुरुत्वाकर्षण शक्ति पर भी निर्भर होता है। सीधे खड़े हो सकने के लिए प्राणी को गुरुत्वाकर्षण शक्ति के विरुद्ध अपना सतुलन करना पडता है। यदि प्राणी पर गुरुत्वाकर्षण शक्ति का प्रभाव न पडता और यदि उसकी शरीर-रचना किसी और ढग की हुई होती तो उसका दिशा और दूरी का ज्ञान भी कुछ और ही तरह का होता।

स्पर्श से उत्तेजना की स्थिति जानना—यदि आपके शरीर के किसी अग का स्पर्श किया जाय तो आप स्पर्श किए जाने वाले स्थान को सही-सही बता देते है। यदि आप आँख बन्द कर लें और आपके शरीर के किसी भाग पर कोई चीज चुभोई जाय तो आप सही-सही बता देगें कि वह कहाँ चुभोई गई थी। हो सकता है कि आपसे थोड़ी गलती हो जाय किंतु वह नही के बराबर होगी। शरीर के जो भाग ज्यादा सवेदनशील होते है वहाँ स्पर्श का ज्ञान सबसे अधिक होता है। स्पर्श से उत्तेजना की सही-सही स्थिति जानना कैसे सभव होता है? क्या आपने उसे सीखा था या वह जन्मजात थी?

इस प्रश्न का एक पुराना उत्तर यह है कि जब एक ही उत्तेजना शरीर के दो भागो पर दी जाती है तो शरीर के विभिन्न स्थानो के अनुसार उस

उत्तेजना के सवेदन के गुण (quality)मे भेद होता है जिसके अनेक कारण हो सकते है, जैसे विभिन्न अगो की सवेदनशीलता का अन्तर, शरीर मे ग्राहको का असमान वितरण, उत्तेजना के दबाव का प्रतिरोध करने वाले पुट्ठो की विशेषता, इत्यादि। कितु हम नही जानते कि ये बाते स्पर्श से उत्तेजना की स्थिति जानने में कहाँ तक सहायक बनती है। बच्चो और छोटे पशुओ के व्यवहार से यह स्पष्ट है कि स्पर्श से उत्तेजना की स्थिति जान सकने की क्षमता जन्मजात होती है। कितु सीखने से उत्तेजना की बिल्कुल सही स्थिति जान सकने में सुधार अवश्य होता है।

ध्वनि से स्थिति जानना—उत्तेजना की दिशा और दूरी ध्वनि से भी जानी जाती है। ध्वनि की स्थिति ध्वनि पैदा करने वाली उत्तेजना की तीव्रता के अनुपात से पता चलती है। तेज ध्वनि पास लगती है और धीमी दूर। दूर से आने वाली ध्वनि के घनत्व (volume) और टिम्बर (timbre) मे भी अन्तर होता है इसलिए दूरी का ज्ञान ध्वनि के घनत्व और टिम्बर से भी होता है।

ध्वनि से दिशा का ज्ञान दोनो कानो के परस्पर सहयोग से होता है। ध्वनि-लहरें चाहे दाहिनी ओर से आएँ या बायी ओर से उनका प्रभाव दोनो कानो पर अलग-अलग पड़ता है। कोई न कोई कान ध्वनि की उत्तेजना के थोडा पास पडता है कितु ध्वनि की तेजी दोनो कानो में भारी अन्तर डालती है। ध्वनि जिस कान के लिए तेज होती है उत्तेजना की स्थिति उसी ओर समझ ली जाती है।

ध्वनि से स्थिति जानने पर मानसिक विन्यास का प्रभाव—ध्वनि का उद्गम दृष्टिगोचर होने पर हम ध्वनि उसी उद्गम से आने की आशा करते है और ध्वनि वही से आती हुई लगती है। यदि कोई व्यक्ति हमारे बायें तरफ बोले और उसकी आवाज किसी यत्र की सहायता से दाहिने कान में पड़े तो भी हमें आवाज का उद्गम बायी ओर ही मालूम होगा क्योंकि हमारा मानसिक विन्यास ध्वनि को बायी ओर से ही सुनने का बन जाता है। मानसिक विन्यास की प्रधानता के कारण ही सिनेमा देखते समय आवाज अभिनेताओ के मुँह से अलग-अलग निकलती सुनाई देती है जबकि उसका वास्तविक उद्-गम पर्दे के पीछे एक निश्चित स्थान से होता है।

दृष्टि से उत्तेजना की स्थिति जानना—उत्तेजना की स्थिति (दिशा और दूरी) का ज्ञान दृष्टि से भी होता है। मनस् को अपनी स्थिति का बोध कराने वाले कुछ सकेत (cue) तो उत्तेजनाओ में ही होते है। उत्तेजना के

गत्यात्मक पत्र

७

व्यवहार के प्रेरक

प्राणी के व्यवहार के पीछे प्रतिक्रिया करने की प्रेरणा देने वाला कोई प्रेरक अवश्य होता है। प्रतिक्रिया कराने वाली प्रत्येक उत्तेजना व्यवहार की प्रेरक होती है। प्रत्येक प्रेरक के पीछे कोई उद्देश्य (motive) होता है। यो तो प्रत्येक प्रेरक आन्तरिक या वाह्य रूप से व्यवहार करने की प्रेरणा देने वाला होता है किन्तु आजकल मनोविज्ञान में किसी प्रेरक को उद्देश्य-मूलक तभी कहा जाता है जब उसका आधार आन्तरिक नियन्त्रण में हो। वाह्य-नियन्त्रण से प्रेरित कर्मों को उद्देश्यमूलक नही कहा जाता। तेज प्रकाश मे पलको के झँपने को उद्देश्यमूलक नही कहना चाहिए क्योकि पलको की क्रिया का नियत्रण और सञ्चालन किसी परिवर्तनीय आन्तरिक शारीरिक स्थिति से न होकर आँख की रचना से होता है। वस्तुत प्रेरक उद्देश्यमूलक तभी होता है जब वह भूख-प्यास जैसी परिवर्तनीय शारीरिक स्थितियो पर आधारित हो। यहाँ प्रेरक शब्द को उपर्युक्त अर्थ में ही प्रयुक्त किया जायगा।

प्रेरक के उद्देश्य का अनुमान प्रतिक्रिया को देखकर किया जाता है। पानी पीने की प्रतिक्रिया को देखकर प्यास बुझाने के उद्देश्य का अनुमान होता है। इच्छा, रुचि, प्रवृत्ति, रुझान, पसन्द आदि शब्द उद्देश्यसूचक हैं। मनुष्य इस क्षण एक उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करता है और दूसरे क्षण किसी अन्य उत्तेजना के प्रति। इस बीच उसके अन्दर कुछ आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन हो जाते है और वह परिवर्तन उसके उद्देश्य में होते हैं। उद्देश्य मनुष्य को व्यव-हार करने की प्रेरणा देने वाली एक आन्तरिक शारीरिक स्थिति होती है।

मनुष्य की क्रियाएँ तब तक होती रहती है जब तक वह तत्सम्वन्धी लक्ष्य (goal) प्राप्त नही कर लेता। लक्ष्य-प्राप्ति के वाद तत्सम्वन्धी क्रिया समाप्त हो जाती है। नदी समुद्र में न गिरने तक बहती रहती है। उसका लक्ष्य समुद्र में गिरना होता है। इसी प्रकार मनुष्य की प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य होता है और उस लक्ष्य-प्राप्ति के वाद उसकी क्रिया नदी की भाँति ही रुक जाती है। मनुष्य पेट भरने, पीडा से बचने के लिए अनेक प्रकार से कर्म करता है और जब उसके पेट में खाना पहुँच जाता है या वह पीडा से वच

जाता है तो उसके तत्सम्वन्धी कर्म भी रुक जाते है। व्यवहार की प्रेरणा मिलने से मनुष्य के अन्दर तनाव (tension) पैदा हो जाता है जिससे मुक्त होने के लिए उसे कुछ न कुछ करना पडता है। तनाव पैदा होने का ही दूसरा नाम जीवन है। तनाव प्राय. दुखकर होते है किन्तु उनसे मुक्त होने के उपायो की आँखमिचौनी से जीवन मे सरसता भी आती है।

कभी कभी अनेक प्रकार के व्यवहारो मे एक ही प्रेरक का प्रकाशन होता है। प्रतिष्ठा पाने के लिए कोई पुस्तकें लिखता है, कोई धर्मशाला वनवाता है, कोई देश-सेवा करता है तो कोई धनोपार्जन। इसी प्रकार कभी कभी एक ही प्रकार के व्यवहार के पीछे अनेक प्रेरक होते है, जैसे हत्या का कारण क्रोध, डर, आत्मरक्षा, लालच या वासना किसी में हो सकता है। ऐसी स्थिति मे वास्त-विक उद्देश्य को या तो व्यक्ति के कथन के आधार पर या पूर्ववर्त्ती और अनुवर्त्ती व्यवहार को देखकर जाना जा सकता है।

व्यक्ति कोई काम क्यो करता है? उसकी प्रेरणा उसे कहाँ से मिलती है? वह किन शारीरिक स्थितियो पर आधारित होता है? व्यवहार का कारण समझने के लिए इन प्रश्नो का उत्तर जानना आवश्यक है।

मूलप्रवृत्तियाँ (Instincts)—म्कडूगल आदि मनोविज्ञानियो ने व्यव-हार का प्रेरक मूलप्रवृत्तियो को मानकर सारे व्यवहार की व्याख्या उन्ही के आधार पर करने की कोशिश की है। मूलप्रवृत्ति आत्मरक्षा या जातिरक्षा के जैविक (biological) लक्ष्य पर आधारित विभिन्न स्थितियो के प्रति एक साथ ही जटिल कर्म करने की जन्मजात क्षमता को कहते है जिसमे शायद रागात्मक अनुभव तो रहता है किन्तु अन्तिम लक्ष्य का स्पष्ट विचार नही होता। चिड़ियाँ आत्मरक्षा और जातिरक्षा के जैविक लक्ष्य के लिए घोसले वनाती है। घोसले वनाने में शायद उन्हे प्रसन्नता का रागात्मक अनुभव होता हो किन्तु उनमें घोसला बनाने के अन्तिम लक्ष्य का स्पष्ट विचार नही होता।

मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार की विशेषता यह होती है कि वह जटिल होते हुए भी जन्मजात होता है और उसे सीखना नही पड़ता। मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का रूप एक ही जाति के प्राणियो, विशेषकर निम्न प्राणियो में लगभग एक सा और अपरिवर्तनीय होता है। इसका कारण निम्न प्राणियो के परिवेश के सरल और अपेक्षतया कम परिवर्तनीय होने मे होता है। चहो और कुत्तो के व्यवहार में अन्तर अवश्य होता है किन्तु चूहो-चूहो और कुत्तो-कुत्तो के व्यवहार में कोई अन्तर नही होता। मनुष्य के व्यवहार मे वड़ा अन्तर होता है क्योकि

प्रत्येक मनुष्य का परिवेश वडा ही जटिल और परिवर्तनीय होता है जिससे मनुष्य को सतुलित ढग से प्रतिक्रियाएँ कर सकने के लिए तरह-तरह की वाते सीखनी पडती है ।

व्यावहार की व्याख्या करने के लिये म्कडूगल ने चौदह विभिन्न मूलप्रवृत्तियो को माना है। मूलप्रवृत्तियो को लेकर मनोविज्ञानियो में बहुत, वाद-विवाद होता रहा है । इतना तो सभी स्वीकार करते है कि मूलप्रवृत्तियाँ जन्मजात होती है और उन्हे सीखना नही पडता । किन्तु मूलप्रवृत्तियो के वास्तविक रूप के विषय में कोई एक मत नही है । कुछ मनोविज्ञानी जन्मजात जटिल प्रक्षिप्त (reflex) क्रियाओ को ही मूलप्रवृत्ति कहते हैं और कुछ भूख, प्यास आदि जन्मजात शारीरिक आवश्यकताओ को। कुछ विद्वान व्यवहार के किसी व्यापक प्रेरक को मूलप्रवृत्ति कहते हैं और उसकी व्यापकता को उसके जन्मजात होने का प्रमाण मानते है। अन्य विद्वान मूलप्रवृत्तियो की सत्ता को विल्कुल अस्वीकार कर यह कहते है कि सारा जटिल व्यवहार अर्जित करने का ही परिणाम होता है। इस मतभेद का मुख्य कारण यह है कि म्कडूगल ने मूलप्रवृत्तियो को सज्ञावाचक कहा है। अगर मूलप्रवृत्ति शब्द का प्रयोग क्रिया की भाँति किया गया होता तो शायद इतने वडे मतभेद की नौवत ही न आती । मूलप्रवृत्तियो को क्रियावाचक अर्थ में स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है ।

आजकल वहुमत यह है कि मूलप्रवृत्तियाँ यद्यपि निम्न प्राणियो में पाई जाती हैं किन्तु मनुष्यो में उनका स्वरूप या तो छिप जाता है या वे होती ही नही। मनुष्य पूर्ण परिपक्व होने तक परनिर्भर रहता है । परनिर्भर रहने के काल में वच्चे के माँ-वाप उसकी वहुत सी आदतें डाल देते है जिससे वाद में स्वनिर्भर होने पर भी उसका व्यवहार उन्ही आदतो से सचालित होता रहता है। खाने-पीने, उठने-वैठने, वोलने-चालने और रहने-सहने की जो आदतें वचपन में पड जाती है वे वाद में लगभग वैसी ही वनी रहती है । वचपन से ही आदतें पड जाने से मनुष्यो में मूलप्रवृत्यात्मक व्यवहार का वास्तविक रूप बिल्कुल ही छिप जाता है। म्कडूगल ने भी वाद में इसी दृष्टिकोण का समर्थन अपने इन शब्दो में किया था - "मैं स्वीकार करता हूँ कि सही और व्यापक अर्थ में मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएँ निम्न प्राणियो के व्यवहार की ही विशेषताएँ होती है। उन्हे उच्च प्राणियो और मनुष्य के व्यवहार पर घटित करने से जो वाद-विवाद उठ खडा हुआ है उससे क्रियाओ के निम्न और उच्च रूपो का कोई स्पष्टीकरण नही हो पाया है ।"

मूलप्रवृत्तियो के व्यवहार की समुचित व्याख्या भी नही हो पाती । चिड़ियो के उडने की प्रेरक कोई विशेष मूलप्रवृत्ति नही होती, उनका उडना ही मूल-

प्रवृत्ति है। जन्मजात व्यवहार की व्याख्या के सूत्र जन्मत प्राप्त ग्राहकीय-प्रभावकीय-न्यूरोनीय प्रबन्ध में रहते है और उस प्रबन्ध को आनुवशिकता और प्रारम्भिक विकास के आधार पर समझा जा सकता है। फिर जन्मजात व्यवहार को समझने के लिए मूलप्रवृत्तियो को अलग से मानने से क्या लाभ ? दूसरे, विज्ञान में एक नियम होता है जिसे अल्पसूत्रता नियम (Law of Parsimony) कहते है। इस नियम के अनुसार व्याख्या करने के सूत्र सरल और कम से कम होने चाहिए। व्यवहार की व्याख्या के लिए चौदह अलग मूलप्रवृत्तियो को मानना अल्पसूत्रता नियम की अवहेलना करना है। व्यवहार की प्रेरणा कुछ जन्मजात शारीरिक एव अर्जित मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं से मिलती है। इसलिये व्यवहार के प्रेरको को दो कोटियो में रक्खा जा सकता है : जन्मजात प्रेरक और अर्जित प्रेरक।

जन्मजात प्रेरक

भूख, प्यास आदि शारीरिक आवश्यकताएँ-जन्य प्रेरणाओ को व्यवहार के जन्मजात प्रेरक कहा जाता है। मुख्य जन्मजात प्रेरक आहार (भूख, प्यास), निद्रा और मैथुन है। इनके अतिरिक्त थकना, खेलना, स्वच्छ वायु और अनुकूल तापक्रम मे रहना भी जन्मजात प्रेरक होते है।

भूख—ससार मे ऐसा कौन सा प्राणी है जिसे भूख नही लगती ? और पेट के लिए लोग क्या क्या नही करते ? ससार की लड़ाइयो, विशेषकर बीसवी सदी की लड़ाइयो का अगर कोई आर्थिक पक्ष है तो उसका मुख्य कारण भूख को ही मानना पड़ेगा। भूख का स्रोत पेट में होता है। भूख लगने पर पेट की मासपेशियो में एक विचित्र प्रकार का सङ्घर्षण होने लगता है जिसका अनुभव भूख लगने के रूप में होता है। भूख लगने का कोई ठीक कारण तो मालूम नही हो सका है, लेकिन शायद किसी रक्त विकार के कारण पेट की मासपेशियो में सङ्घर्षण होने से हमे भूख लगती हो। पेट के प्रभावकीय न्यूरोनो को काट देने पर भी भूख लगती है। ऐसे प्रयोगो से साबित होता है कि भूख लगने मे न्यूरोनीय प्रेरणा का हाथ नही होता।

शारीरिक वृद्धि और विकास के लिए सभी प्राणियो को संतुलित आहार की आवश्यकता पडती है। प्रत्येक प्राणी न जाने कैसे खाने की उन्ही चीजो को चुनता है जो उसके सतुलित आहार का अङ्ग होती है। बच्चे भी ऐसी ही चीजे पसन्द करते है जिनसे उन्हे सतुलित आहार की ठीक मात्रा मिलती है। किन्तु मनुष्य अनेक कारणो से अपने सतुलित आहार को चुन लेने की शक्ति से वचित भी हो सकता है।

लोग अक्सर वही चीजे खाना पसन्द करते है जिनकी गन्ध और स्वाद अच्छा होता है। किन्तु दुर्भिक्ष या सङ्कट के समय खाने को जो कुछ भी मिल जाय वही खा लिया जाता है। मनुष्य कुछ कीडो और जानवरो का गोश्त बिलकुल नही खाते। उन चीजो के खाने से उन्हे कुछ घृणा-सी होती है जिसकी कोई व्याख्या नही की जा सकती। कुछ चीजो को खाने की घृणा पशुओ मे भी होती हैं। कुत्ता अन्य कुत्ते का कच्चा गोश्त नही खाता।

कभी-कभी भूख के न रहने पर भी दृष्टि, गन्ध और स्वाद से खाने की तबियत हो जाती है। मनुष्य को केवल पेट भर लेने-मात्र से ही सन्तोष नही मिलता। वह खाने में रस भी लेता है। खाने मे रस लेना उसकी अर्जित आदत होती है। पेट भरने-मात्र की मूलप्रवृत्ति का रूप चाहे जो भी हो किन्तु मनुष्य में स्वादिष्ट भोजन करने की आदत उस रूप को पूरी तरह से ढँक देती है। दूसरो को खाते देखकर भूख न रहने पर भी खाने की तबियत करती है। जिन लोगो की आदत निश्चित समय पर खाने की पड जाती है वे उस समय भूख न लगने पर भी भर पेट खा लेते है। खाने पर सहभोज का भी प्रभाव पडता है। सहभोज में ज्यादा भी खा लिया जाता है।

प्यास—प्यास लगने का कारण शायद यह है कि खून में पानी की कमी होने पर लारवाही (salivary) ग्लैंड मुँह और गले में लार का नियमित स्राव नही कर पाता जिससे गला सूख जाता है और गला सूखने पर प्यास लगती है। प्यास लगने पर यदि पानी को नली द्वारा सीधा पेट मे ही पहुँचा दिया जाय तो प्यास शान्त होने मे कई मिनट लग जाते है। इससे स्पष्ट है कि प्यास को तत्काल बुझाने के लिए गले का पानी से तर होना बहुत जरूरी होता है। प्यास लगने पर बेचैनी-सी मालूम है और प्राणी बेहद सक्रिय हो जाता है। कई दिनो तक पानी न मिलने पर व्यवहार अनियन्त्रित बन जाता है जिसके सामाजिक परिणाम बहुत भयकर हो सकते है।

नींद लगना—नीद का हमारे जीवन में बडा महत्व है। नीद में हम कुछ देर के लिए जगत की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पा जाते है। प्राणी अपने जीवन का एक-तिहाई या लगभग आधा भाग सोने में ही बिता देता है। सोने से स्नायुकोषो की थकान दूर हो जाती है। नीद का कोई उचित कारण अब तक मालूम नही हो सका है। नीद के विषय में अनेक मत है और नीद की व्याख्या अनेक प्रकार से करने के प्रयत्न किए गए है।

नींद की व्याख्या—सोते समय चूँकि मस्तिष्क मे रक्त का दबाव कम हो जाता है इसलिए कुछ विद्वानो ने नीद का कारण रक्त का दबाव कम होने में माना है। किन्तु डन्लप के अनुसार नीद में रक्त का दबाव शरीर भर में

कम हो जाता है इसलिए मस्तिष्क मे रक्त के दबाव के कम हो जाने को नीद का कारण नही माना जा सकता। इस प्रकार नीद की व्याख्या रक्त के दबाव के कम होने से ही क्या श्वास-गति के धीमे पडने या नीद के अन्य सामान्य शारीरिक लक्षणो से भी की जा सकती है।

कैजाल (Cajal) ने चेतनता के प्रकट या अप्रकट होने का कारण न्यूरोग्लिया (neuroglia) कोषो के फैलने और सिकुडने में माना था जिसके आधार पर मैथियाड्वल ने नीद की व्याख्या न्यूरोनो की क्रिया में प्रोटोप्लाज्म के आकुचन से की है। प्रोटोप्लाज्म के आकुचन से न्यूरोनीय-सामीप्य (synapse) फैल जाते हैं जिससे (सैद्धान्तिक दृष्टि से) न्यूरोनीय शक्ति का प्रवाह एक न्यूरोन से दसरे न्यूरोन तक नही जा पाता। कितु इन मान्यताओ का कोई प्रयोगात्मक आधार नही मिल पाया है। दूसरे, नीद को अचेतनता की एक विशेष अवस्था भी नही कहा जा सकता क्योकि, जैसा आगे स्पष्ट हो जायगा, नीद लगना एक भावात्मक प्रतिक्रिया होती है।

जान्सन ने नीद की व्याख्या करने के लिए निद्रा-न्यूरोनो (sleep neurones) के एक अलग प्रबन्ध को स्वीकार किया है जिनके सक्रिय होने पर नीद आती है। निद्रा-न्यूरोन अन्य कोर्टेक्सीय न्यूरोनो की क्रियाओ का अवरोध करते है। शरीर के अन्दर बनने वाले विषैले पदार्थ निद्रा-न्यूरोनो को सक्रिय करने मे उत्तेजक होते है। उन विषैले पदार्थों की प्रेरणा अन्य कोर्टेक्सीय प्रेरणाओ को निष्क्रिय बनाकर स्वय मनस् के निम्न केन्द्रो और मेरुदड में जाती है जिससे नीद में कुछ आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन हो जाते है। किंतु नीद की व्याख्या के लिए एक अलग न्यूरोनीय प्रबन्ध को मानना असगत जान पड़ता है। दूसरे, इस प्रकार की मान्यता से नीद सम्बन्धी और अनेक बातों को समझ सकने में कोई सहायता नही मिलती।

नीद की व्याख्या रासायनिक (chemical) आधार पर करने का प्रयत्न भी किया गया है। कुछ विद्वानो के अनुसार शरीर के अन्दर मल आदि की उपस्थिति से कुछ विषैले पदार्थ बनते है जिनके कारण मस्तिष्क के केन्द्र निष्क्रिय वन जाते हैं। यह मान्यता ठीक नही लगती क्योकि अत्यधिक थकने पर भी शरीर में विषैले पदार्थ बनते है लेकिन ज्यादा थक जाने पर कभी-कभी नीद विल्कुल नही आती। दूसरे, कुछ लोग रात भर सो लेने के बाद भी दिन मे सात-आठ घटे और सो सकते है जवकि रात भर सो लेने के बाद उनके शरीर के अन्दर विषैले पदार्थों की उपस्थिति नही रह जानी चाहिए।

नीद की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से करने वाले विद्वान नींद का कारण परिधीय उत्तेजनाओ के अभाव को मानते हैं। लेकिन यह देखा गया है

कि बहुत से लोग काफी शोरगुल होने पर भी अच्छी तरह सो लेते हैं। आप ही न जाने कितनी वार रेलगाडी में बेखबर सोये होंगे। कभी स्टेशन तो नही छूट गया था ? नीद का कारण केन्द्रीय प्रवन्ध के काम न करने को मानना नीद की व्याख्या न कर केवल उसका वर्णन करना ही है। दूसरे, नीद में केन्द्रीय प्रवन्ध का निष्क्रिय हो जाना मान लेना भी ठीक नही है। हम जानते है कि बहुत से लोग नीद में चलते और वातचीत भी करते है और स्वप्न देखने जैसी जटिल क्रियाएँ नीद में ही होती हैं।

कुछ विद्वानो के अनुसार नीद मूलप्रवृत्यात्मक (instinctive) होती है। नीद को मूलप्रवृत्यात्मक मानने का अर्थ उसे एक भावात्मक क्रिया के रूप में स्वीकार करना है। नीद का उद्देश्य मनुष्य की अन्य अधिकाश सचेष्ट क्रियाओ को रोकना होता है। अनेक प्रयोगो के आधार पर सिडिस ने यह निष्कर्ष निकाला है कि नीद प्राणी की विश्राम करने की आदि-प्रवृत्ति का ही विकसित रूप है। यह तो मालूम नही हो सका है कि शिशुओ को सोनें की प्रेरणा किन उत्तेजनाओ से मिलती है। शायद उसके पीछे रासायनिक या अन्य कारण ही होते हो। लेकिन यह स्वीकार किया जा सकता है कि नीद व्यक्ति के परिवेश के निश्चित प्रसग की आवश्यकता के अनुसार विकसित एक जन्म-जात प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती है। नीद के लिए कुछ मनोवैज्ञानिक वातो की अपेक्षा होती है। कुछ लोग अपने ही घर में अपने ही विस्तर पर अच्छी तरह सो सकते हैं। पशु भी सोने के पहले सोने की जगह को सूँघकर और एक विशेष ढग से लेट कर सोने की तैयारी करते है। मनुष्य भी सोने से पहले तैयारी करता है। सोने से पहले की जाने वाली तैयारी यह सकेत करती है कि नीद अवश्य ही एक निश्चित भावात्मक प्रवृत्ति के प्रति की गई प्रतिक्रिया होती है।

सोता हुआ व्यक्ति वाह्य जगत की उत्तेजनाओ के प्रति कोई प्रतिक्रिया नही करता। सोते समय व्यक्ति की चेतनता का द्वार (threshold) वढ जाता है जिससे वह वाह्य उत्तेजनाओ के प्रति चेतन न रह कर कोई प्रतिक्रिया नही कर पाता। किंतु सोते समय चेतनता का द्वार सभी उत्तेजनाओ के लिए नही वढता। अगर सोते हुए व्यक्ति के पास ही उसका वीमार वच्चा सो रहा हो तो उसकी जरा सी भी कराहने की आवाज से व्यक्ति फौरन जाग जायगा जवकि उसको जगाने के लिए सडक से आने वाला कही ज्यादा तेज शोरगुल भी वेकार सावित होता है। इससे स्पष्ट है कि कुछ निश्चित दशाओ में व्यक्ति सोते समय भी जाग्रतावस्था की ही तरह व्यक्तिगत सार्थकता रखने वाली उत्तेजनाओ के प्रति सक्रिय रहता है यानी उसकी प्रतिक्रिया का विन्यास किसी

निश्चित उत्तेजना के प्रति हो सकता है। इस 'एक आँख खुली रखकर' सोने' के पीछे क्या रहस्य होता है ? इसका ठीक-ठीक पता नही चला है। हो सकता है कि नीद में उपचेतन मन सजग रहता हो और वह निरर्थक उत्तेजनाओं को एक ओर हटाकर सार्थक उत्तेजनाओ को चेतन-स्तर तक पहुँच जाने देता हो और इस प्रकार व्यक्ति को जगाने में सहायक बनता हो।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नीद के जरा पहले की अवस्था यानी अर्द्ध-निद्रावस्था का बहुत महत्व होता है। डन्लप के अनुसार सोने से पहले सब से महत्वपूर्ण परिवर्तन अवधान (attention) की दिशा में होता है। नीद आने से पहले अवधान की चचलता बढ जाती है और चेतनता का क्षेत्र सीमित होने लगता है जिससे कोई कठिन काम नही किया जा सकता। हाँ, जिन कामो को करने की आदत पड चुकी होती है उन्हे नीद आते-आते तक भी बिना किसी कठिनाई के किया जा सकता है।

नीद आने के पहले की दूसरी विशेषता नीद लगने पर वर्तमान और भविष्य में रुचि न लेना होती है। नीद लगने पर व्यक्ति को सोने के अतिरिक्त और कुछ नही सुहाता। लेकिन इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि नीद व्यक्ति की रुचि और ऐच्छिक क्रियाओ पर हावी हो जाती है। सोने के लिए तैयार व्यक्ति की रुचि अगर जाग्रत हो जाय तो नीद का अवरोध हो जाता है। इस प्रकार नीद और रुचि, इच्छा और सचारी भावो (emotions) में पारस्परिक प्रतियोगी सम्बन्ध होता है। एक के रहने पर दूसरे का अवरोध या अभाव हो जाता है।

नीद लगने पर केवल वाह्य उत्तेजनाओ में अरुचि ही नही होती किन्तु सोने की तबियत भी करती है और नीद में विघ्न डालने वाली बातो से बचने की चेष्टा की जाती है। इससे स्पष्ट है कि नीद एक भावात्मक प्रतिक्रिया होती है। शारीरिक दृष्टि से नीद आने पर पलकें भारी होकर झँपने लगती है, शारीरिक अवयव ढीले पड़ जाते है और सारी सायास (voluntary) मांसपेशियाँ श्रात हो जाती है। साँस लेने की क्रिया और हृदय की गति धीमी पड़ जाती है और शरीर के अन्दर का तापक्रम कुछ बढ जाता है। प्रयोगो द्वारा यह देखा गया है कि नीद में खून मनस् से उतर जाता है जिससे मनस् कुछ पीला-सा पड़कर सकुचित हो जाता है। नीद लगने पर शारीरिक क्रियाओ में ठीक से सगठन नही हो पाता। उनीदा व्यक्ति अगर चलने-फिरने की कोशिश करे तो लड़खडाने लगता है और कुशलता-अपेक्षित कार्यों को नही कर पाता। इस प्रकार भौतिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि नीद में सामान्य

रूप से कार्यात्मक विघटन (functional dissociation) हो जाता है। नीद मे कार्यात्मक विघटन का होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है।

नीद की गहराई जानने के लिए अनेक प्रयोग किए जा चुके हैं। उनसे यह पता चला है कि सोने के दूसरे घंटे में नीद बहुत गहरी होती है और बाद में उसकी गहराई कम होती चली जाती है। यह भी पता चला है कि सोने के पाँचवें या छठे घटे में भी नीद ज्यादा गहरी होती है। किन्तु इन प्रयोगो के आधार पर नीद की गहराई के विषय मे कोई सामान्यीकृत बात नही कही जा सकती। नीद पर मानसिक विन्यास (mental set) और सोने के पहले की मानसिक अवस्था का बडा भारी प्रभाव पड़ता है। बहुत से लोग अपने दृढ निश्चय से रात के किसी भी समय जाग जाते हैं। प्रयोगो से पता चला है कि रात के किसी निश्चित समय पर अपने आप जाग सकने के निश्चय से नीद में बाधा पडती है और वही लोग जाग पाते हैं जिनको अपने जाग सकने की क्षमता पर पूरा विश्वास होता है।

नींद सम्बन्धी कुछ अप्रकृत बातें—यह देखा जा चुका है कि नीद सामान्य विघटन की एक अवस्था होती है और इसीलिए कुछ विशेष प्रकार का अप्रकृत व्यवहार नीद के माध्यम से प्रकट होता है जैसे सोते में चलना या बातचीत करना। नीद के माध्यम से प्रकट होने वाले अप्रकृत व्यवहार का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

मैथुन—जातिरक्षा के लिए मैथुन की आवश्यकता पडती है। सामाजिक नियत्रण के कारण मनुष्य की मैथुन प्रवृत्ति का रूप अन्य प्राणियो की अपेक्षा इतना जटिल हो गया है कि समझने के लिए उसका विश्लेषण बडी मुश्किल से ही किया जा सकता है। मैथुन की प्रेरणा गोनड (gonads) नामक ग्लैडो के हार्मोन के स्राव से मिलती है। वह हार्मोन रक्त में मिलकर मनस् तक पहुँचता है और मनुष्य को मैथुन की तैयारी की मनोवृत्ति बनाने में सहायता देता है। निम्न प्राणियो की मैथुन-प्रवृति किसी विशेष मौसम में ही जाग्रत होती है किन्तु मानवी मैथुन-प्रवृत्ति काल निर्धारित नही होती।

मनुष्य में मैथुन प्रवृत्ति के प्रकाशन की गौण उत्तेजनाएँ, जैसे स्तनो और नितम्बो से खेलना, आलिंगन करना, चूमना, कामस्थलो को सहलाना आदि सीखने का परिणाम होती हैं। मैथुन-प्रवृति में वैयक्तिक भेद भी होते हैं जिनका कारण ग्लैडीय क्रियाओ के अतिरिक्त पारिवारिक, सामाजिक और नैतिक शिक्षा में भी होता है। मैथुन प्रवृत्ति एक सम्मानीय सामाजिक प्रवृत्ति है। उसे पापमय या गन्दा कहना या उसके रहस्यो को गुप्त रखना व्यक्ति को गलत शिक्षा देकर

पथ-भ्रष्ट करना है। मैथुन प्रवृत्ति बचपन से ही विकसित होने लगती है। प्रारम्भ से ही उसका मार्गान्तरीकरण ठीक दिशाओ में न होने से मैथुन प्रवृत्ति समाज-घातक और अस्वाभाविक बन जाती है और व्यक्ति के आचरण को दूषित कर देती है।

अप्रकृत मैथुन-मनोवृत्ति—मैथुनेच्छा की प्रकृत (normal) जागृति के लिए स्त्री-सामीप्य की अपेक्षा होती है। किन्तु प्रारम्भिक अवस्था मे मैथुन प्रवृत्ति का उचित मार्गान्तरीकरण न हो सकने से मैथुनेच्छा की जागृति अप्रकृत (abnormal) रूपो मे भी होने लगती है। अप्रकृत मैथुनेच्छा के लिए स्त्री-सामीप्य आवश्यक नही होता। दूसरे, व्यक्ति को अतिशय मानसिक या शारीरिक पीडा देने या स्वय पीडित होने में मैथुनेच्छा तृप्ति का अनुभव करना एक अप्रकृत मैथुन प्रवृत्ति है। दूसरो को पीड़ित करने में मैथुन तृप्ति पाने को सादिज्म (sadism) और स्वय पीडित होकर तृप्ति पाने को मैसोकिज्म (masochism) कहा जाता है। कुछ लोगो की मैथुनेच्छा किसी वस्तु विशेष को देखकर या छूकर ही जाग्रत होती है और उन्हे स्त्री-सामीप्य की जरूरत नही रहती। इस मनोवृत्ति को फेटिशिज्म (fetishism) कहा जाता है। स्त्री की चोली, साड़ी या उसके द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली किसी अन्य वस्तु से मैथुनात्मक राग रखना और उसी के द्वारा कामोद्दीपन और उसकी तृप्ति कर लेना फेटिशिज्म के उदाहरण है। कुछ लोग अपनी मैथुनेच्छा की तृप्ति दूसरो, विशेषकर स्त्रियो, के सामने नग्न-प्रदर्शन करके ही कर लेते है। अपने शिश्न आदि शारीरिक अगो को दूसरो को दिखाकर तृप्ति पाने को मनोवृत्ति को नग्न-प्रदर्शन-वृत्ति (exhibitionism) कहा जाता है। इसी प्रकार हस्तमैथुन (masterbation), सजातीय व्यभिचार (sodomy) और वेश्यागमन भी कुछ अप्रकृत मैथुन मनोवृत्तियाँ है। इन अप्रकृत मैथुन प्रवृत्तियो को सेक्सीय कुदिशान्तरण (sexual perversions) कहा जाता है और उनके विकसित होने के निश्चित मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं।

मातृ-प्रवृत्ति—मातृ-प्रवृत्ति-जन्य व्यवहार का कारण पिचुइचरी ग्लैंड के प्रोलैक्टिन (prolactin) नामक हार्मोन के स्राव में पाया गया है। प्रयोगो में क्वाँरी स्त्री को प्रोलैक्टिन का इंजेक्शन लगा कर यह देखा गया है कि उसका व्यवहार मातृ-भावनापूर्ण हो जाता है। निम्न प्राणियो के विपरीत स्त्री मे मातृ-प्रवृत्ति के अन्य कारण भी होते है। बच्चा दुर्बल होता है जिससे स्त्री की श्रेष्ठता की भावना सन्तुष्ट होती है। गोद भरने पर स्त्री की आत्मगौरव की भावना भी सन्तुष्ट होती है। इन्ही कारणो से स्त्री में

निम्न प्राणियो की अपेक्षा मातृ-प्रवृत्ति का रूप प्रोलैक्टिन द्वारा प्रस्तुत प्रभाव का अतिक्रमण कर बहुत जटिल बन जाता है।

थकना—शारीरिक तथा मानसिक क्रियाओ के होने पर शरीर की सचित शक्ति घटती है। जब शक्ति की आय उसके व्यय के अनुपात से नही होती तब शरीर थकने लगता है। थकान अधिकतर स्थानीय होती है। ज्यादा देर तक लिखने से हाथ थक जाते है। स्थानीय थकान को दूर करने का अच्छा उपाय यही है कि कुछ देर काम बन्द करके स्थानीय अग को आराम दे दिया जाय।

काम करने के लिए मासपेशीय शक्ति की जरूरत होती है जो खाद्य पदार्थों से मिलने वाली शक्कर और माँड से बनती है। शक्कर और माँड के जलने से शरीर के भीतर कार्बन-डाइ-ऑक्साइड (carbon-di-oxide) और लैक्टिक एसिड (lactic acid) नाम के दो पदार्थ बनते है। थकान इन्ही दोनो पदार्थों से पैदा होती है। अधिक काम करने से ये दोनो पदार्थ इतनी जल्दी बनते है कि शरीर उन्हे फेंफडो से या पसीने आदि द्वारा जल्दी बाहर नही निकाल पाता और शरीर के अन्दर उनकी उपस्थिति थकान पैदा कर देती है।

थक जाने के बाद भी काम करते रहने से शारीरिक शक्ति का अपव्यय होने लगता है और शरीर ठीक तरह से काम नही कर पाता। हल्की थकान में न्यूरोनीय प्रेरणाओ का न्यूरोनीय-सामीप्यो पर अवरोध होने लगता है किन्तु चूर कर डालने वाली थकान का असर पूरे शरीर पर पडता है। चूर कर देने वाली थकान में स्नायुकोष सकुचित हो जाते है, हृदय फैल जाता है हृद्गति बढ जाती है और अनियमित भी हो सकती है। अधिक थक जाने पर साँस
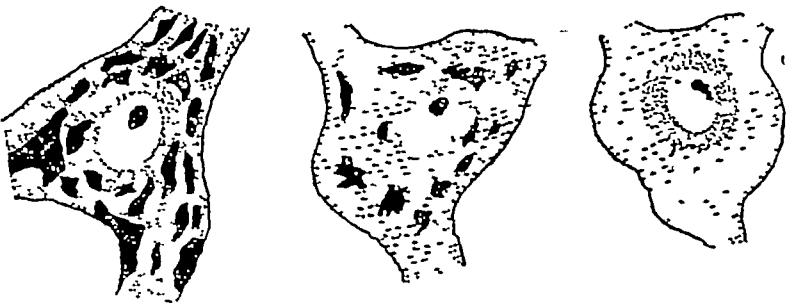
चित्र ४८

उखडने लगती है और पाचन-क्रिया गडबड हो जाती है जिससे प्राणी की कार्य-कुशलता घट जाती है। थकान से मानसिक कोषो के ग्रेन्यूल्स की सख्या कम हो जाती है और थकान से चूर होने की अवस्था में तो वे बिल्कुल अदृश्य हो जाते है (चित्र ४८)।

थकान को रोकने के लिए शरीर के अन्दर प्रबन्ध होता है। दोनो गुर्दों (kidneys) के पास दो ग्लैंड होते हैं जो ऐड्रीनैलीन नामक पदार्थ का स्राव करते है। ऐड्रीनैलीन (adrenalin) की उपस्थिति थकान को शरीर भर में जल्द फैलने से रोकती है।

हर काम से समान थकान नही होती। जिस काम मे रुचि होती है उसे करने से थकान जल्द नही आती। हम केवल काम करने के बाद ही नही थकते, नीरस काम करने में पहले से ही कुछ थक-से जाते है। शारीरिक शक्ति का प्रवाह दस-ग्यारह और दो-तीन बजे के बीच अधिक होता है इसलिए यदि काम करने की गति को नियमित कर लिया जाय तो थकान कम हो सकती है। शोर-गुल आदि अनावश्यक बाधाएँ भी थकान जल्द लाती है। थोडी थकान मालूम होने पर यदि गर्म पानी पी लिया जाय तो वह थकान लाने वाले पदार्थों के प्रभाव को कम कर देता है। थकान का सबसे बडा कारण गन्दे दाँत होते हैं और उन्हे साफ न रखना मौत को असमय बुलाना है। थकान का असर कार्य-कुशलता के अतिरिक्त स्वास्थ्य पर भी पड़ता है। जिस समाज का परिवेश स्वच्छ और शात नही होता वह समाज कार्यकुशल और स्वस्थ नही हो सकता और उसका जीवन-दृष्टिकोण भी थका हुआ-सा बन जाता है।

इस प्रसग में मनस् पर मादक पदार्थों का प्रभाव जानना रुचिकर होगा। यह समझा जाता है कि मादक पदार्थ मानसिक क्रिया को उद्दीप्त कर कुशलता बढाते है। किन्तु प्रयोगो से सिद्ध हो चुका है कि मादक पदार्थो का मानसिक कुशलता पर बुरा प्रभाव पडता है। चिता और डर से उत्पन्न अनेक बाधाओ के कारण मानसिक क्रिया कभी-कभी ठीक तरह से नही हो पाती। ऐसे समय मादक पदार्थों के थोडे से सेवन से बाधाएँ दूर हो जाती है जिससे मनस् सुचारु ढग से काम करने लगता है। मादक पदार्थों का इससे अधिक और कोई महत्व नही होता।

खेलना—प्राणियो की एक जन्मजात प्रवृत्ति खेलना भी होती है। खेलने की व्याख्या सम्बन्धी बहुत से मत है। हर्बर्ट स्पेंसर का यह मत है कि प्राणी को जो शक्ति मिली है उसका काफी अश आहार की खोज और आत्मरक्षा के लिये परिवेश से सघर्ष करने में खर्च हो जाता है। किन्तु इसके बाद भी कुछ शक्ति बच जाती ह। वह बची हुई शक्ति किसी काम में नही आती और उसके निकास के लिये खेलने की जरूरत पडती है। इसमें कोई शक नही कि जीवन-सग्राम में अधिक व्यस्त रहने वाला आदमी खेल से बहुत दूर रहना

है। इस मत के विरोध में एक यही आपत्ति है कि कभी-कभी लोग थक जाने पर खेलना चाहते हैं। किन्तु थक जाने के बाद शक्ति की बचत को मानना कम युक्ति-सगत मालूम होता है। थक जाने के बाद जब शक्ति बचती ही नही तो फिर खेल द्वारा किस बची शक्ति का निकास हो सकता है ?

एक दूसरे मत के अनुसार खेलने से बची शक्ति का व्यय न होकर खोई शक्ति की पुनर्प्राप्ति होती है। खेलने द्वारा मनोरजन से हमारे अवयव फिर से शक्ति का अर्जन करने योग्य बन जाते हैं। किन्तु यह मत भी कमजोर है। छोटे बच्चे जिन्हे खेलने के अलावा और कोई काम ही नही रहता किसलिये खेला करते है ? जब उनमें शक्ति का ह्रास ही नही होता तो उसकी पुन-र्प्राप्ति कैसी !

स्टैनली हाल का मत यह है कि खेल द्वारा हम मानव-जाति के विकास की पूर्व अवस्थाओ की पुनरावृत्ति करते है। आदिम काल में मानवो का मन विकास की दृष्टि से आजकल के बच्चो के समान था। उनका सामान्य जीवन आखेट करके पेट भरना और वनो, गुफाओ या पेड़ो पर रहना था। बच्चा जन्मत. अपने पूर्वजो के सारे सस्कार लेकर आता है। वे सस्कार ही खेलने के प्रेरक होते है। शिकार, युद्ध, पेड पर चढने आदि में बच्चो को अपार सुख मिलता है। जब उसकी बुद्धि विकसित हो जाती है और वह मानव-इतिहास की आदिम अवस्था की आवृत्ति खेलो द्वारा कर चुकता है तो उसका खेलना अपने आप कम हो जाता है। यह मत काफी युक्ति-सगत है किन्तु इससे उन खेलो की व्याख्या करने में कठिनाई होती है जो मानव इतिहास की पुनरावृत्ति सम्बन्धी नही होते।

कार्लग्रूस ने खेलने की व्याख्या एक और ही ढग से की है। उसके अनु-सार खेल प्राकृतिक पाठशाला है जिसमें प्राणी अपने भावी जीवन के लिये उपयोगी आचरण की शिक्षा लेता है। खेलने के द्वारा बच्चा अपने भविष्य जीवन की तैयारी करता है और उसे जो काम प्रौढ-जीवन में करने होते हैं खेलो में वह उनका पूर्व अभिनय करता है। लड़कियो का गुडियाँ खेलना उपर्युक्त मत का स्पष्ट प्रमाण है। कार्लग्रूस के अनुसार जो प्राणी जितना ही असहाय पैदा होता है उसका बाल्यकाल उतना ही लम्बा होता है क्योकि उसे अपने जीवन-सग्राम के लिये उतनी ही अधिक तैयारी करनी पडती है। मानव-शिशु अन्य प्राणियो की अपेक्षा अधिक निस्सहाय होता है। उसकी शक्तियो के विकास के लिये काफी लम्बे समय की आवश्यकता पडती है। अतएव उसका बचपन लम्बा होता है। चूँकि उसे जीवन-सग्राम के लिये अधिक तैयारी करनी पड़ती है इसलिये उसका अभिनय करने के लिये उसे

अधिक खेलना पडता है। "वह बालक होने के कारण अधिक नही खेलता किन्तु अधिक खेलने के कारण ही वह लम्बे समय तक बालक बना रहता है।" उसे लम्बा बचपन खेलने के लिये ही दिया जाता है।

एक अन्य मत के अनुसार खेल का उद्देश्य रेचक (cathartic) होना होता है। मनुष्य की अनेक प्रवृत्तियो का समुचित रूप से प्रकाशन नहीं हो पाता। वे अर्ध-प्रकाशित या अप्रकाशित प्रवृत्तियाँ उसे उद्विग्न और व्यथित किया करती हैं। खेल उनके प्रकाशन का एक बहाना होता है। खेलने से अप्रकाशित प्रवृत्तियो को निकलने का मार्ग मिलता है जिससे मन हलका हो जाता है और हमें आनन्द मिलता है। खेल का मन पर वही प्रभाव पड़ता है जो एक रेचक औषधि का शरीर पर।

खेल की समुचित व्याख्या उपर्युक्त किसी एक मत के आधार पर नही की जा सकती। हाँ, उनके समन्वित रूप से खेलो की व्याख्या अच्छी तरह की जा सकती है। इन मतो को विरोधी न समझ कर एक दूसरे के पूरक समझना चाहिये। खेलने का प्रधान उद्देश्य हमारा मनोरजन करना होता है। खेल किसी चीज का साधन न होकर स्वय एक साध्य है। खेल परिणाम के लिये नही खेला जाता, खेल खेल के लिए ही खेला जाता है। खेल एक स्वतन्त्र क्रिया है, वह हमारे मन की चाह है। वह किसी परिस्थिति से नियन्त्रित नही होनी। अन्य क्रियाएँ किसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये की जाती है किन्तु खेल के पीछे कोई उद्देश्यपूर्त्ति नही होती। खेल का उद्देश्य खेलना ही होता है।

उत्सुकता—अपने परिवेश के प्रति उत्सुकता रखना मनुष्य की जन्मत: प्राप्त प्रवृत्ति होती है जिसका कोई शारीरिक आधार नही मालूम हो पाया है। हो सकता है कि उत्सुकता का आधार हमारे न्यूरोनीय प्रबन्ध की ही किसी विशेषता में होता हो। उत्सुकता से प्राणी को खोज करने और नई नई बातों को जानने की प्रेरणा मिलती है। मानव-शिशु तो उत्सुकता की एक गठरी ही होता है। वह हर चीज को छूना और देखना चाहता है। बच्चे उत्सुकता-वश हजारो तरह के सवाल पूछते है और उनकी जिज्ञासा किसी न किसी तरह का जवाब मिलने पर सन्तुष्ट होती हैं। जिन बच्चो की उत्सुकता माँ बाप और शिक्षको की मूर्खता से दब नही जाती वे अच्छे आविष्कारक बन सकते हैं। उत्सुकता का जैविक महत्व स्पष्ट है। उत्सुक होने से प्राणी अपने परिवेश के सुखकर और दुखकर पक्षो से अच्छी तरह परिचित हो लेता है और इस प्रकार उसे सतुलित प्रतिक्रिया करने में कुछ न कुछ सहायता अवश्य मिलती है।

अर्जित प्रेरक

आहार, निद्रा, मैथुन आदि व्यवहार के जन्मजात प्रेरक होते हैं। प्राणी

उन्हें लेकर पैदा होता है। किन्तु उनके अतिरिक्त व्यवहार के कुछ प्रेरक ऐसे भी होते है जिन्हे अर्जित किया जाता है और जो जन्मजात न होकर व्यक्ति के जीवन के इतिहास पर निर्भर होते हैं। इस तथ्य से इन्कार नही किया जा सकता कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से व्यवहार के सभी प्रेरक प्राणी की जन्मजात आवश्यकताओ पर आधारित होते हैं। भूखे-प्यासे आदमी को कुछ नही सुहाता। लेकिन इससे यह भी प्रमाणित नही होता कि अन्य सब प्रेरक जन्मजात या शारीरिक आवश्यकताओ पर ही निर्भर होते है। नौकरी करना या घर की आवश्यकता का अनुभव अवश्य ही जन्मजात प्रेरकोंपर निर्भर ह किन्तु रेडियो रखना, अच्छे अच्छे कपड़े पहनना या पढना लिखना निस्सन्देह जन्मजात प्रेरको पर आधारित नही है। हमारे बहुत से अर्जित प्रेरको की पृष्ठभूमि सामाजिक होती है। कुछ समाज-सापेक्ष प्रेरक मनुष्य जाति में व्यापक रूप से पाए जाते है। शेष ऐसे है जो किसी सस्कृति या जाति-विशेष के अन्दर ही मिलते है, अन्य सस्कृतियो या जातियो में नही मिलते। नीचे समाज सापेक्ष और सामान्य कुछ मुख्य अर्जित प्रेरको पर विचार किया जायगा।

सामूहिकता (gregariousness)—प्रत्येक मनुष्य बचपन में अपने पालन-पोषण, वृद्धि और विकास के लिए दूसरो पर दीर्घकाल तक निर्भर रहता है। इससे उसके अन्दर दूसरो का साथ चाहने की प्रवृत्ति पनप जाती है। अगर उसे दूसरो से न मिलने दिया जाय और बिल्कुल अकेले में रक्खा जाय तो वह विक्षिप्त हो जाता है। दूसरो का साथ चाहना सामूहिकता (gregariousness) का प्रेरक होता है। सामूहिकता की प्रवृत्ति मनुष्यो में इतनी होती है कि कुछ विद्वान उसे जन्मजात ही मानते है। हमारी बहुत सी शारीरिक आवश्यकताओ की तृप्ति दूसरो के साथ रहने से होती है। बचपन में हम उनकी तृप्ति के लिए माँ बाप पर आश्रित रहते है। बाद में हमारा सामूहिक और सामाजिक सम्पर्क विस्तृत बन जाता है और हमें अनेक आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए दूसरो की सहायता लेनी पडती है। सामूहिकता की प्रवृत्ति समाज में रहकर अर्जित की जाती है। हम सभी को बचपन में असहाय और पराश्रित अवस्था से गुजरना पडता है इसलिए दूसरो का साथ चाहने को जन्मजात कहना ठीक नही है।

अनुकरण—सामूहिकता के अतिरिक्त अनुकरण करना भी मानव-जाति की एक व्यापक सामाजिक प्रवृत्ति होती है। बच्चा असहाय और पराश्रित होता है। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओ की तृप्ति उसी तरह करता है जिस तरह औरो को करते देखता है। दूसरो के कार्यों को देखकर अपने कार्यों द्वारा उनकी नकल करने को अनुकरण कहते है। अनुकरण द्वारा अन्य लोगो

की क्रियाओ को अपनाया जाता है। दूसरो का अनुकरण इसलिए किया जाता है क्योकि हम व्यवहार करने के अन्य तरीको को नही जानते। खाना, पीना, बोलना, पढ़ना, लिखना, रहन-सहन के तरीको आदि हजारो बातो को समाज-सापेक्ष ढग से अनुकरण द्वारा ही अर्जित किया जाता है।

अनुकरण के रूप—क्रियात्मक अनुकरण के अतिरिक्त अनुकरण के दो और रूप होते है . ज्ञानात्मक और रागात्मक। ज्ञानात्मक अनुकरण को निर्देशन (suggestion) कहा जाता है। दूसरो के विचारो को बिना सोचे-समझे, बिना तर्क की कसौटी पर कसे, आँख बन्द करके मान लेना निर्देशन है। अनेक धार्मिक कृत्यो, सामाजिक प्रथाओ और नैतिकता के नियमो को निर्देशन द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है। अधिकाश व्यक्ति तो अपना जीवन दृष्णिकोण भी निर्देशन द्वारा उधार ले बैठते है। अप्रकृत व्यवहार के कारणो का पता लगाने मे निर्देशन से बड़ी सहायता मिलती है। निर्देशन पर किसी अन्य अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला जायगा।

रागात्मक अनुकरण को सहानुभूति कहा जाता है। हम अक्सर दूसरो के दुख को देख कर दुखी हो जाते है। दूसरे की अनुभूति से हमारे मन में उसी के समान रागात्मक अनुभूति उत्पन्न होने को सहानुभूति नाम दिया जाता है। सहानुभूति का बड़ा सामाजिक महत्व होता है। सहानुभूति द्वारा ही हम हिसक के प्रति घृणा, बच्चो के प्रति स्नेह और निर्बलो के प्रति दया आदि सामाजिक रागो का अनुभव करते है।

आत्मनिवेदन (submission)—बचपन की असहाय और पराश्रित अवस्था से हमारे मन में अपने से बड़े लोगो और शक्तियो के प्रति आत्म-निवेदन की प्रवृत्ति पैदा होती है। जब हम किसी काम को नही कर पाते तो अपने से अधिक शक्तिशाली परिस्थिति या शक्ति के सामने आत्मनिवेदन कर देते है। इसी प्रकार सकट के समय जब मनुष्य चारो ओर से निरुपाय हो जाता है तो वह ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन करता है। यह ठीक है कि बचपन में अपने पिता के प्रति आत्मनिवेदन की प्रवृत्ति बाद में एक परमपिता या जगतपिता पर प्रक्षेपित हो जाती है।

आत्मानुमोदन (self-assertion)—दूसरो से अपनी बातो और इच्छाओ का समर्थन कराने और कुछ विशेष क्षेत्रों मे दूसरो से बाजी मार ले जाने को आत्मानुमोदन प्रवृत्ति कहा जाता है। प्रतियोगिता के इस युग में हमारे समाज में इस प्रवृत्ति की जडे बहुत गहरी हो गई है। आत्मानुमोदन या स्वामित्व-प्रदर्शन की प्रवृत्ति को हमारी शिक्षा में बहुत प्रोत्साहन दिया जाता

है। आधुनिक प्रतियोगिताओ के हर रूप के पीछे यही प्रवृत्ति मौजूद है। किन्तु कुछ समाज या जातियो में आत्मानुमोदन या स्वामित्व प्रदर्शन की प्रवृत्ति बिलकुल नही मिलती। न्यूगिनी की अरापेश आदि जातियो में यह प्रवृत्ति बिलकुल ही नही पायी जाती। इससे स्पष्ट है कि यह प्रवृत्ति विभिन्न समाजो और जातियो में न्यूनाधिक रूप से परिवर्तित होती रहती है।

युयुत्सा (aggressiveness)—बहुत से समाजो में युयुत्सा प्रवृत्ति पाई जाती है लेकिन कुछ समाजो मे बिलकुल नही पाई जाती। युयुत्सा प्रवृत्ति किसी जन्मजात या अर्जित आवश्यकता की तृप्ति में विघ्न पडने से जाग्रत होती है और विभिन्न सामाजिक आदर्शों के अनुसार उसे या तो दबा देना पडता है या उन्मुक्त रक्खा जाता है। न्यू गिनी के अरापेश लोग शान्तिप्रिय होते है और वे युयुत्सा या क्रोधप्रदर्शन को प्रोत्साहन नही देते। एक समय था जब युयुत्सा-प्रवृत्ति को सार्वभौम और जन्मजात समझा जाता था। उसके जन्मजात होने का समर्थन युद्धो की अनिवार्यता के आधार पर किया जाता था। किन्तु आज इस नतीजे पर पहुँचा जा चुका है कि मनुष्य स्वभावत. न तो युयुत्स होता है और न शान्तिप्रिय। अगर उसकी शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ बिना किसी विघ्न-बाधा के पूरी होती रहें तो उसका व्यवहार शान्त बना रहेगा। यदि आवश्यकताओ की पूर्त्ति में बाधा पडेगी तो वह बाधक व्यक्ति या स्थिति के प्रति युयुत्स बन जायगा। हममें से प्रत्येक व्यक्ति ऐसी स्थिति में होता है जहाँ तरह तरह के सामाजिक प्रभावो से बच सकना असभव होता है। वे प्रभाव हमारी आवश्यकताओ के निर्विघ्न पूरा होने या न होने पर भी हमें युयुत्स या शान्तिप्रिय बना देते हैं।

व्यवहार के प्रेरको में व्यक्तिगत भेद भी होते है। युयुत्सा, आत्मानुमोदन, सामूहिकता, आत्मनिवेदन आदि प्रवृत्तियाँ सब लोगो में समान नही होती। दूसरे, व्यक्ति व्यक्ति में उनके प्रकाशन का ढग भी अलग-अलग होता है। व्यक्ति के जीवन-लक्ष्य के साथ उसके व्यवहार के प्रेरको का रूप परिवर्तित होता रहता है। कोई अध्यापक, कोई डाक्टर, कोई वकील, कोई कारीगर बनना चाहता है। व्यक्ति के जीवन लक्ष्य का चुनाव बचपन में दूसरे लोगों के सम्पर्क से दृढ बन गये किसी विशेष उद्देश्य के अनुसार होता है। किन्तु वह उद्देश्य बाद की परिस्थितियो से बदल भी सकता है।

आदत—कभी-कभी एक या एक से अधिक प्रेरको के प्रभाव से आदत पड़ जाती है और वह आदत उन प्रेरको के न रहने पर भी बनी रहती है। कालान्तर में आदत अपने मूल प्रेरक से स्वतत्र होकर स्वय एक प्रेरक बन जाती है। एक बार जिस काम की आदत पड़ जाती है वह बाद में अनायास ही होने लग

जाता है। म्कडूगल ने आदत को स्वतंत्र प्रेरक नही माना है। यह ठीक है कि पहले पहल आदत किसी शारीरिक या मनोवैज्ञानिक प्रेरक पर ही निर्भर होती है और अपनी कार्यशक्ति उसी प्रेरक से प्राप्त करती है। किन्तु बाद मे वह प्रेरक से स्वतत्र होकर स्वय एक कार्यशक्ति बन जाती है। अखबार पढने की आदत को ही ले लीजिए। अखबार पढने का शौक प्रारम्भ मे उत्सुकता-प्रवृत्ति पर निर्भर हो सकता है। लेकिन आदत पड़ जाने पर यदि अखबार पढने को न मिले तो एक अजीब तरह की बेचैनी सी मालूम होने लगती है और बिना अखबार पडे चैन नही पडता। अतएव म्कडूगल का यह कहना ठीक नही है कि आदत स्वय कार्यशक्ति नही बन सकती। आदत भले ही मूल प्रेरक न हो लेकिन वह गौण प्रेरक अवश्य होती है और उसे अर्जित किया जाता है।

अचेतन प्रेरक—हमें अपने जन्मजात और अर्जित प्रेरको का ज्ञान रहता है। हम उनकी उपस्थिति और सार्थकता को भली-भाँति जानते है। किन्तु व्यवहार के कुछ प्रेरक ऐसे भी होते है जिन्हे हम बिल्कुल नही जान पाते और जिनकी उपस्थिति का हमें अनुभव तक नही होता। ऐसे प्रेरको को अचेतन प्रेरक कहा जाता है। जो लोग श्यामवर्ण स्त्रियो को अधिक पसन्द करते है वे अपनी पसन्द का कोई स्पष्ट कारण नही बता पाते। खास तरह के लोगो को अन्तरग मित्र बनाना, विशेष प्रकार की चाल-ढाल और वेश-भूषा को पसन्द करना अचेतन प्रेरको पर निर्भर होता है जिनकी उपस्थिति विशेष साधनो द्वारा ही पता चल सकती है। आगे अप्रकृत व्यवहार के प्रसग में हमें इन अचेतन प्रेरको की काफी जानकारी हो सकेगी।

रुचि (interest)—परिवेश के किसी पक्ष के प्रति प्रतिक्रिया करने का जो ढग अर्जित किया जाता है उसे रुचि कहते है। रुचि प्रतिक्रिया करने का भावात्मक ढग होता है। जिस काम में रुचि होती है उसे किया भी जाता है। यह कहना सर्वथा असगत है कि हम अमुक काम इसलिए नही करते है क्योकि हमें उस काम में रुचि है। रुचि अनुकुल भावात्मक सक्रियता का ही दूसरा नाम है। रुचि में सुखद अनुभूति भी रहती है। किसी व्यक्ति की रुचि को जान लेना यह जान लेना है कि वह क्या काम करेगा।

रुचि को बचपन या बाद में अर्जित किया जाता है। रुचि-निर्माण कुछ मूलभूत प्रेरको के सम्बन्ध से होता है। बच्चे को जब खिलौना मिलता है तो उसे बड़ी उत्सुकता होती है। उत्सुकता के कारण वह खिलौने मे रुचि लेने लगता है। अगर उसका खिलौना रेलगाड़ी हो तो रेलगाड़ी के प्रति बचपन में बनी उसकी रुचि युवावस्था तक ज्यो की त्यो बनी रह सकती है और उसे रेल-

गाड़ी के ही किसी विभाग में कार्यकर्त्ता बनाने की प्रेरक हो सकती है। इसी प्रकार अन्य नौकरियो के पीछे भी मनुष्य की रुचि का काफी हाथ होता है।

मनोवृत्ति (attitude)–रुचि कार्यात्मक दृष्टि से भावात्मक और मन के अनुकूल होती है किन्तु मनोवृत्ति भावात्मक भी हो सकती है और ऋणात्मक (negative) भी। ऋणात्मक मनोवृत्ति पक्षपात को जन्म देती है। पक्षपाती व्यक्ति की दृष्टि में आलोचना और प्रमाण का कोई महत्व नही रह जाता। रुचि का क्षेत्र सीमित होता है, मनोवृत्ति का व्यापक। रुचि किसी विशेष काम या व्यक्ति के प्रति ही होती है किन्तु मनोवृत्ति सस्थाओ, समाजो, राष्ट्रो, नैतिक नियमो और विचारो के प्रति भी होती है। मनोवृत्ति रुचि के समान सक्रिय नही होती। हम निश्चित मनोवृत्ति रखते हुए भी कुछ न करने की इच्छा रख सकते है। किन्तु जब निर्णय करना पडता है तो मनोवृत्ति का हमारे निर्णयो पर भारी प्रभाव पड़ता है। रुचि और मनोवृत्ति को नापने के लिए मनोविज्ञानियो ने अनेक साधन बना लिए हैं जिनका वर्णन वैयक्तिक भेद के प्रसग में आगे किया जायगा।

८

रागात्मक व्यवहार

व्यवहार का नियमन और निर्धारण हमारे रागात्मक अनुभव से भी होता है। व्यवहार पर डर, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष आदि का पड़ने वाला प्रभाव दैनिक अनुभव से सिद्ध है। किन्तु रागात्मक प्रतिक्रियाएँ उस अर्थ मे व्यवहार की प्रेरक नही होती जिस अर्थ मे शारीरिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ होती है। रागात्मकता गत्यात्मक होते हुए भी व्यवहार की प्रेरक नही होती। रागात्मकता से शरीर आवश्यक व्यवहार करने के लिए तैयार हो जाता है। डरने से जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं उनका काम भागने की प्रतिक्रिया की तैयारी कराना होता है। रागात्मकता से व्यवहार के अन्य प्रेरक पुनर्शक्त (reinforce) होते है। रागात्मकता और व्यवहार के अन्य प्रेरको का यह सम्बन्ध प्रसन्नता के अनुभव से स्पष्ट हो जायगा। प्रसन्नता एक रागात्मक प्रतिक्रिया है। आइस-क्रीम खाकर जो प्रसन्नता होती है वह आइसक्रीम खाने की इच्छा को पुनर्शक्त भी करती है।

रागात्मक अनुभव क्या है ? यह समझना जरा कठिन है। रागात्मकता सायास नही होती इसलिए उसका अनुभव या नियत्रण इच्छानुसार नही किया जा सकता। सायास न होने से रागात्मकता का विश्लेषण भी नही हो सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि रागात्मक अनुभव साधारण अनुभव से विलक्षण एक अन्य प्रकार का अनुभव होता है। सड़क पर आने-जाने वाले लोग हमारी आँख को देखने मात्र के लिए ही प्रेरित कर सकते है, किन्तु एक अगविहीन भिखारी को देखकर हमारे मन में करुणा, सहानुभूति और दुख के रागात्मक भाव जाग्रत हो जाते हैं।

प्रसन्नता और अप्रसन्नता—अन्य रागात्मक अनुभवो की भाँति प्रसन्नता (pleasantness) और अप्रसन्नता (unpleasantness) भी अन्य अनुभवो से उत्पन्न होने वाला एक अलग मनोवैज्ञानिक अनुभव होता है। सम्भव है कि प्रसन्नता-अप्रसन्नता की अनुभूति मनस् के निम्न केन्द्रो के उत्ते-जित होने से होती हो। कुछ विद्वान प्रसन्नता-अप्रसन्नता का आश्रय उत्तेजना में ही मानते हैं। प्रसन्नता और अप्रसन्नता का व्यवहार पर बड़ा असर पड़ता

है। प्रसन्नता देने वाली उत्तेजनाओ को पसन्द किया जाता है और उनकी कामना की जाती है। अप्रसन्नता उत्पन्न करने वाली उत्तेजनाओ को नापसन्द करके उनसे बचा जाता है। प्रसन्नता-अप्रसन्नता और सुख-दुख को एक ही नही समझना चाहिए। सुख-दुख आगिक सवेदन के रूप है किन्तु प्रसन्नता-अप्रसन्नता सवेदन न होकर मनोवैज्ञानिक रागात्मक अनुभव है।

प्रसन्नता-अप्रसन्नता साधारण रागात्मक अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त सचारी भावो जैसे कुछ जटिल और मूड एव स्थायीभावो जैसे कुछ गौण रागात्मक अनुभव भी होते है जिन पर अब विचार किया जायगा।

संचारीभाव

. जीवनदास के मुख पर वर्णहीन सकल्प अकित था। वह सकल्प जो आत्महत्या का सूचक है। वे बिछौने से उठे मगर हाथ-पैर थर-थर काँप रहे थे। कमरे की प्रत्येक वस्तु उन्हें आँख फाड-फाडकर देखती हुई सी जान पड़ती थी। अलमारी के शीशे में अपनी परछाई दिखाई दी। चौंक पडे, यह कौन ? ख्याल आ गया, यह तो अपनी छाया है। उन्होने अलमारी से एक चम्मच और एक प्याला निकाला। प्याले मे वह जहरीली दवा थी जो डाक्टर ने उनकी छाती पर मलने के लिए दी थी। प्याले को हाथ में लिए चारो ओर सहमी हुई दृष्टि से ताकते हुए वह प्रभावती के सिरहाने आकर खडे हो गए। हृदय में करुणा का सचार हुआ। "आह ! (जिसकी माँग में सिन्दूर भरा था उसे) क्या मेरे ही हाथों मरना लिखा था ? मै ही इसका यमदूत बनूँगा ! यह अपने ही कर्मों का फल है। मै आँखें बन्द करके वैवाहिक बन्धन में फँसा...यह उसी अदूरदर्शिता का परिणाम है कि आज मै यह दुर्दिन देख रहा हूँ।"

हठात् उनके पैरो में कम्पन हुआ, आँखो में अँधेरा छा गया, नाड़ी की गति बन्द होने लगी। वे करुणामयी भावनाएँ मिट गई. वे सँभल कर झुके और प्याले में दवा का एक चम्मच निकाल कर प्रभावती के मुँह में डाल दिया...प्याले को रखते ही उनके काँपते हुए पैर स्थिर हो गए, मच्छी के सब लक्षण जाते रहे। चित्त पर भय का प्रकोप हुआ। वह कमरे में एक क्षण भी न ठहर सके...घर से इस तरह बाहर निकले जैसे किसी ने उन्हे ढकेल दिया हो..घर सडक पर था। द्वार पर ताँगा मिला। उस पर जा बैठे. ताँगेवाले ने यह समझकर कि वे स्टेशन जायँगे उन्हे स्टेशन पहुँचा दिया।

गाडी के आने में घटो,की देर थी। जीवनदास प्लेटफार्म पर जाकर टहलने लगे। धीरे-धीरे उनकी गति तीव्र होने लगी मानो कोई उनका

पीछा कर रहा हो। जाड़े के दिन थे। लोग सरदी के मारे अकड़े जाते थे, किन्तु जीवनदास को ओढने-बिछाने की भी सुधि न थी। उनकी चैतन्य शक्ति नष्ट हो गई थी; केवल अपने दुष्कर्म का ज्ञान जीवित था। ऐसी शका होती थी कि प्रभावती मेरे पीछे दौडी चली आती है; कभी पडोसियो के धर-पकड़ की आवाज कानो मे आती थी। उनकी कल्पना प्रतिक्षण उत्तेजित होती जाती थी, यहाँ तक कि वह भय से माल के बोरो के बीच मे जा छिपे। एक-एक मिनट पर चौक पड़ते थे और सशक नेत्रो से इधर उधर देखकर फिर छिप जाते थे। उन्हे अब यह भी स्मरण न रहा कि यहाँ क्या करने आया हूँ, केवल अपनी प्राण-रक्षा का ज्ञान शेष था। वे उन बोरो के बीच मे इस तरह पैंतरे बदल रहे थे मानो बोरे उन्हे घेरना चाहते हो.

यह है प्रेमचन्द की 'प्रारब्ध' नामक कहानी के पात्र लाला जीवनदास के मन में क्रमिक रूप से उठने वाले भावो का एक वर्णन। मृत्युशय्या पर पडे लाला जीवनदास अपने बचने की कोई उम्मीद न देखकर अपनी पत्नी प्रभावती को वैधव्य के कलक से बचाने के लिए उसे जहर देकर अपने मरने से पहले ही मार डालना चाहते थे। हत्या करने के कठोर सकल्प से उनका मुख वर्णहीन हो गया। जब वे अलमारी से जहर निकालने गए तो उनके मन का चोर उनकी परछाई से ही डर गया। अपनी पत्नी के पास पहुँचे तो दिल पसीजने लगा लेकिन उनके वर्णहीन सकल्प ने विजय पाई और उन्होने दिल पर पत्थर रख कर अपनी पत्नी को जहर पिला दिया। इसके बाद उनको डर लगा और वे घर से भागे, उनके कान बजने लगे। उन्हे हर चीज मुँह बाए खाने को दौड़ती दिखाई पड़ने लगी।

यह तो रहा भय-सचार का चित्रण। अब जरा यह देखिए कि घृणा का सचार कैसे होता है। प० चोखेलाल शर्मा एक पत्रिका के सम्पादक थे। अपनी पत्नी का देहान्त होने के बाद वे स्त्रियो से विशेष अनुराग रखने लगे थे। अपनी पत्रिका की लेखिकाओ के प्रति उनकी बड़ी कृपादृष्टि रहती थी और वे उनकी रचनाओ की प्रशसा करने से ही न थकते वरन् उन्हे निमत्रण देने से भी न चूकते। आखिरकार एक लेखिका ने उनका निमत्रण स्वीकार कर ही तो लिया।

. आज कामाक्षी का शुभागमन है।

शर्मा जी ने प्रात काल हजामत बनवाई, साबुन और बेसन से स्नान किया। (नाखूनी किनारे की) धोती, कोकटी का ढीला चुन्नटदार कुरता पहना और मलाई के रग की रेशमी चादर डाल ली। इस ठाठ से आकर दफ्तर मे बैठे तो सारा दफ्तर गमक उठा। दफ्तर की भी खूब सफाई करा

दी गई थी। बरामदे मे गमले रखवा दिए गए थे, मेज पर गुलदस्ते सजा दिए गए थे। गाडी नौ बजे आती है, अभी साढे आठ बजे है। इस परेशानी में कोई काम नही हो रहा है। बार-बार घड़ी की ओर ताकते है, फिर आईने में अपनी सूरत देखकर टहलने लगते हैं. .

ठीक साढे नौ बजे चपरासी ने आकर एक कार्ड दिया। लिखा था—'कामाक्षी'।

शर्मा जी ने उसे देवी जी को लाने की अनुमति देकर एक बार फिर आईने में अपनी सूरत देखी और एक मोटी सी पुस्तक पढने लगे, मानो स्वाध्याय मे तन्मय हो गए हो। एक क्षण में देवी जी ने कमरे में कदम रक्खा। शर्मा जी को उनके आने की खबर न हुई।

देवी जी डरते-डरते समीप आ गईं तब शर्मा जी ने चौंक कर सिर उठाया मानो समाधि से जाग पडे हो और खडे होकर देवी जी का स्वागत किया। मगर यह वह मूर्ति न थी जिसकी उन्होने कल्पना कर रक्खी थी। यह एक काली, मोटी, अधेड, चचल औरत थी जो शर्मा जी को इस तरह घूर रही थी मानो उन्हें पी जायगी। शर्मा जी का सारा उत्साह, सारा अनुराग ठडा पड गया। वह सारी मन की मिठाइयाँ जो वे महीनो से खा रहे थे, पेट में शूल की भाँति चुभने लगी। कुछ कहते-सुनते न बना......

देवी जी एक बडा सा पुलिन्दा मेज पर पटककर रूमाल से मुँह पोछकर बोली . "आपके प्रोत्साहन का यह शुभ फल है कि मैंने इतनी कविताएँ रच डाली. . कहिए तो दो-चार सुनाऊँ।" और अनुमति की प्रतीक्षा न कर तुरन्त पुलिन्दा खोलकर एक कविता सुनाने लगी। शर्मा जी को ऐसा मालूम होने लगा जैसे कोई भिगो भिगोकर जूते मार रहा है। कई बार उन्हें मतली आ गई जैसे एक हजार गधे कानो के पास खडे होकर अपना स्वर अलाप रहें हो. .

लाला जीवनदास और प० चोखेलाल शर्मा की भाँति विषम परिस्थितियो में पडने पर प्रत्येक प्राणी के मन में उसकी स्थिति विशेष के अनुकूल भावो का सचार होता है और उन भावो के सचार से उसकी तत्कालीन शारीरिक या मानसिक दशा में विकार उत्पन्न होता है जिसका प्रभाव उसकी प्रतिक्रियाओ पर पड़ता है। क्रोध, डर, घृणा, प्रेम, लज्जा, दया, करुणा, हर्ष, उत्सुकता आदि भावो का सचार प्रतिक्रिया पर प्रभाव डालता है और चूँकि मनोविज्ञान में

प्राणी के प्रतिक्रियात्मक पक्ष का अध्ययन किया जाता है इसलिए उसकी प्रतिक्रियाओ पर प्रभाव डालने वाले भावों के अध्ययन की अवहेलना नही की जा सकती।

भावों का संचार कब होता है ?—भावों का संचार उद्देश्यमूलक होता है प्रत्येक भाव के संचार के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। प्रेमचन्द के 'रसिक सम्पादक' प० चोखेलाल शर्मा का मन कामाक्षी को देखने से पहले जिन अनुरागमयी कोमल भावों की तरंगों पर तैर-तैर कर हिलकोरे खा रहा था और अन्दर ही अन्दर उछल रहा था उसके पीछे अपनी कल्पना की प्रतिमूर्ति कामाक्षी जैसी सुन्दरी से सम्भाषण का आनन्द लेने का उद्देश्य था।

किंतु भावो का सचार उद्देश्य के पराजित होने से भी होता है। जब चोखेलाल जी की कल्पित सुन्दरी 'काली, मोटी और अधेड निकली तो उनका उद्देश्य पराजित हो गया और उसने उनमें घृणा के भाव का सचार कर दिया। घृणा के सचार से उनकी 'मन की मिठाइयाँ जिन्हें वे महीनो से खा रहे थे पेट में शूल की तरह चुभने लगी' और कामाक्षी (नामक उत्तेजना) के प्रति उनकी प्रतिक्रिया बदल गई जिससे कामाक्षी के कविता सुनाने पर उन्हे 'ऐसा मालम होने लगा जैसे कोई भिगो भिगोकर जूते मार रहा हो' या 'एक हजार गधे कानो के पास खडे होकर अपना स्वर अलाप रहे हो।' अपना दिल टटोलिए। यदि आप भी कभी चोखेलाल जी की परिस्थिति में पड़े होगें तो आपको भी यही अनुभव हुआ होगा ; क्यो ?

भावो का सचार उद्देश्य के अप्रत्याशित या सहज रूप से पूरा हो जाने पर भी होता है। सुन्दर स्त्री से सम्भाषण करने की इच्छा चोखेलाल जी की तरह सबको और आपको भी रहती है और यदि वह सुयोग आपको यात्रा करने या अन्य किसी परिस्थिति में बिना प्रयत्न के ही दैवात् मिल जाय तो आपमें अनुराग के कोमल भावो का सचार हो जायगा और आपकी वाछें खिल जाएँगी। उस समय आप हर्ष से फूले नही समाएँगे और आपका 'मन नाचने लगेगा।' यदि आप किसी अनिन्द्य सुन्दरी से विवाह करने के प्रयत्नशील हो और आपको सफलता भी मिल रही हो उस समय यदि, ईश्वर न करे, किसी दुर्योग से आपके सारे किए-कराए पर पानी फिर जाय तो आपके मन में ऐसे भावो का संचार होगा जिससे आपका 'मन बैठ जायगा' और 'हाथो के तोते उड़ जाएँगे।'

भावो का संचार कोई जघन्य काम करने के पहले या कर डालने के बाद उस पर विचार करने से भी होता है। जीवनदास के मन मे अपनी पत्नी को जहर देने से पहले और जहर दे डालने के बाद भय का सचार हुआ था जिससे वे अपना मानसिक सतुलन खोकर अनर्गल व्यवहार करने लग गये थे। रात में भूत-प्रेतो की कहानियाँ पढने या उनका ख्याल आने से मन में अक्सर भयमिश्रित सिहरन का संचार हो जाता है।

क्रोध, डर, घृणा, लज्जा, करुणा, भय, हर्ष, आदि असंख्य भाव ऐसे है जो हमारे मन में सदा नही रहते। उनका संचार अवसर और परिस्थिति विशेष में ही होता है इसलिए उन्हें संचारीभाव (emotions) कहा जाता है।

संचारीभाव क्या हैं ?—यों तो प्रत्येक व्यक्ति संचारीभावो को जानता है किन्तु उनकी निश्चित परिभाषा कर सकना या भाषा द्वारा उनका वर्णन कर सकना अत्यन्त कठिन है। हाँ, संचारीभावात्मक प्रतिक्रिया का वर्णन कर सकना और उसकी परिभाषा दे सकना अवश्य आसान है। सचारी-भावो में तीन बातें होती है: आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन, चेष्टात्मक अभिव्यक्ति और किसी न किसी तरह का अनुभव। क्रोध में खून खौलने लगना, दिल की धडकन का तेज हो जाना आदि आन्तरिक शारीरिक परिवर्तन हैं; दाँत पीसने लगना, मुट्ठी का भिच जाना आदि चेष्टात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं और शरीर में आग लग जाने का बोध क्रोध के सचारीभाव का अनुभव है। संचारीभावों के इन तीनो पक्षो, उनके निर्देशको (आन्तरिक और वाह्य परिवर्तनो), निर्देशको और अनुभव के पारस्परिक सम्बन्ध के शारीरिक आधार आदि समस्याओ पर विचार करके ही संचारीभावो को अच्छी तरह समझा जा सकता है।

सचारीभाव प्रेरकों के रूप में—भूख, प्यास, आत्मरक्षा आदि शारीरिक प्रवृत्तियो की भाँति सचारीभाव भी उद्देश्यमूलक होते है और प्राणी को परिवेश की किसी विषम परिस्थिति से संतुलन कर सकने के लिए व्यवहार करने को प्रेरित करते है। प्रत्येक सचारीभाव के पीछे कोई न कोई उद्देश्यमूलक व्यवहार अवश्य होता है जैसे डर के पीछे भागना। प्राणी के उद्देश्यमूलक व्यव-हार में संचारीभावो का वही महत्त्व है जो शारीरिक प्रवृत्तियो का। किंतु उद्देश्यमूलक होते हुए भी सचारीभावों और शारीरिक प्रवृत्तियो में भेद किया जा सकता है।

शारीरिक प्रवृत्तियो और सचारीभावो दोनो में आन्तरिक शारीरिक

परिवर्तन होते है किंतु सचारीभावो का सम्बन्ध वाह्य उत्तेजनाओ से होता है और शारीरिक प्रवृत्तियो का शारीरिक आवश्यकताओं की आन्तरिक उत्तेजनाओ से ।

शारीरिक प्रवृत्तियो के विपरीत संचारीभाव परिस्थिति की व्यक्तिगत सार्थकता पर निर्भर होने से सज्ञात्मक होते है । जो उत्तेजना एक व्यक्ति मे क्रोध का संचारीभाव उत्पन्न करती है हो सकता है कि वह अन्य व्यक्तियो मे न करे । सचारीभाव उत्पन्न करने के लिए उत्तेजना को व्यक्ति के लिए सार्थक होना चाहिए । हमारा नौकर चाय की प्याली गिरा दे तो हम उस पर क्रोधित होते है किन्तु यदि सड़क पर कोई व्यक्ति चाय की प्याली ले जा रहा हो और वह उससे गिर जाय तो हम उस व्यक्ति पर क्रोधित नही होते क्योकि उस व्यक्ति का प्याली गिरा देना 'हमारे लिए' सार्थक नही होता ।

सचारीभावो पर यदि ध्यान दिया जाय तो वे मिटने लगते है किन्तु शारीरिक प्रवृत्तियाँ ध्यान देने पर नही मिटती । वास्तव में शारीरिक प्रवृत्ति की तीव्रता, उदाहरण के लिए भूख की तीव्रता, हमारा ध्यान हठात् खीच लेती है । सचारीभावो पर ध्यान दे सकना असम्भव होता है क्योकि वे ध्यान देने के क्षण से ही मिटने लगते है ।

संचारीभाव अनुभव के रूप में—आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनो के अतिरिक्त सचारीभावो का अनुभव भी होता है । गुस्सा होने पर जब व्यक्ति दाँत पीसने लगता है और उसका चेहरा तमतमा जाता है तो उसे गुस्सा 'लगता' भी है । यह ठीक है कि सचारीभाव के अनुभव (जैसे गुस्सा 'लगने') को सचारीभावात्मक व्यवहार की भाँति देखा नही जा सकता किन्तु फिर भी सचारीभाव के अनुभव (गुस्सा 'लगने') के चेतन अनुभव से इनकार नही किया जा सकता । जरा याद कीजिये कि आपको 'कलेजा मुँह को आने', 'दिल बल्लियो उछलने', 'मीठी-मीठी टीस उठने', 'पैरो के तले जमीन खिसक जाने', 'किसी के आँखो में खटकने' और 'ऊपर की साँस ऊपर और नीचे की साँस नीचे रह जाने' का अनुभव कितनी बार हुआ है ।

संचारीभावो के अनुभव का व्यक्तिगत और सामाजिक महत्व होता है । कलाकार को अपने कलात्मक सृजन में प्रफुल्लता मिलती है, विज्ञानी को अपने अनुसन्धानो में उत्सुकता और कौतूहल मिलता है । यदि मनुष्य सचारीभावो का चेतन अनुभव कर सकने में अक्षम होता तो ललित कलाएँ और वैज्ञानिक

आविष्कार नही होते, स्त्रियाँ अपने सबसे बडे आभूषण 'लज्जा' से वचित रह जाती और मनुष्य को अपने जीवन और ससार मे कोई रागात्मक रुचि न होती।

संचारीभाव प्रतिक्रिया के रूप मे—अपने स्पष्ट शारीरिक परिवर्तनो के कारण सचारीभावो का अन्य मानसिक क्रियाओ से तीव्र भेद होता है। अन्य मानसिक क्रियाओ जैसे सज्ञा करने, याद करने या सोचने मे उतने तीव्र, स्पष्ट और पूरे शरीर को आलोडित कर देने वाले शारीरिक परिवर्तन नही होते जितने क्रोध, भय आदि संचारीभावो के समय होते है। सचारीभावो में शरीर के अन्दर भी परिवर्तन होते है और बाहर भी।

प्रबल सचारीभावो (जैसे क्रोध) से होने वाले आन्तरिक परिवर्तनो में ऐड्रीनल ग्लैंड रक्त प्रवाह में ऐड्रीनिन (adrenin) नामक पदार्थ का स्राव प्रचुर मात्रा में करने लगता है। इस स्राव से सचारीभावो में उनकी विशिष्ट प्रबलताएँ उत्पन्न होती है। ऐड्रीनिन के स्राव के प्रभाव से यकृत (liver) में जमा शक्कर रक्त में मिलने लग जाती है जिससे होने वाले परिवर्तनो से रक्त जल्द जमने (clot होने) लग जाता है, इसलिए रक्त का दबाव बढ जाता है, नाडी की गति तेज हो जाती है, फेंफडे फैल जाते हैं जिससे ज्यादा हवा अन्दर आ सके।

इन आन्तरिक परिवर्तनो से प्राणी अपनी पूरी शक्ति से प्रतिक्रिया करने के योग्य बन जाता है और ऐसे ऐसे चमत्कार कर बैठता है जो सामान्य शारीरिक स्थिति में नही कर सकता। सचारीभाव की प्रबलता के प्रभाव में लोग कठिन से कठिन काम आसानी से कर डालते है जो उनके लिए सामान्य स्थिति में कर सकना असम्भव होता है। सचारीभाव की प्रबलता पीडा के प्रति सवेदन-शीलता को कम कर देती है और प्राणी मे देर तक काम कर सकने का उद्दीपन पैदा करती है।

सचारीभावो से होने वाले वाह्य शारीरिक परिवर्तन परिवेश की उत्ते-जनाओ का सामना करने में सहायक बनते है। क्रोध में मुट्ठियो का भिच जाना प्राणी को शत्रु पर आक्रमण करने के लिए तैयार कर देता है; डर के मारे 'पैरो में पर लग जाने' से प्राणी डरावनी उत्तेजना से दूर भाग सकने को तैयार हो जाता है।

वाह्य परिवर्तनो में होने वाले नाक, मुँह, आँखो, गालो आदि की मास-पेशियो के विभिन्न सगठनो से हम अन्य लोगो को प्रभावित भी करते हैं।

मुस्कराने या हँसने में मुख के विभिन्न भागों की मांसपेशियों मे जो संगठन हो जाता है उसका दूसरे लोगो पर अच्छा प्रभाव पड़ता है, इसलिए मुख की मांसपेंशियों के विभिन्न सगठनों (हँसने, मुस्कराने, गाल फुला लेने, नाक-भौं सिकोड लेने आदि) का सामाजिक महत्व होता है।

यद्यपि सचारीभाव प्राणी का उसकी विषम परिस्थितियों से संतुलन कराने में सहायक बनते है किन्त वे कभी कभी उसका सतुलन नष्ट भी कर देते हैं। काम करते करते खिसिया जाने पर काम अच्छी तरह नही हो सकता; जिस आदमी पर 'भूत सवार' हो जाता है उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह अनर्गल व्यवहार करने लग जाता है।

संचारीभावों के निर्देशक—सचारीभावों के बाह्य निर्देशकों को अच्छी तरह देखा जा सकता है। वाह्य व्यवहार, मुख की विभिन्न मुद्राएँ और स्वर

चित्र ४६ अ

का परिवर्तित हो जाना वाह्य निर्देशक होते हैं। हाथपैर पटकना, भागना, पीछे हट जाना आदि वाह्य व्यवहार संचारीभावो के सूचक है। मुखमुद्रा का परिवर्तन मुख के विभिन्न अंगों जैसे माथा, भौं, नाक, आंखो और ओठो आदि की मांस-

पेशियो के विशिष्ट संगठनो से होता है। मुख-मुद्राश्रो में विशिष्टता ले आने वाले मासपेशीय सगठन की जटिल विविधता का वर्णन भाषा द्वारा कर सकना दुष्कर है इसलिए यहाँ दिये गए ४९ अ, ब, स चित्रो को देखिए। इन चित्रो मे मुख के विभिन्न अगो के मासपेशीय सगठन द्वारा उत्पन्न मुख-मुद्राश्रो को देखकर आप तत्सबधी सचारीभाव को आसानी से जान लेगें।

विभिन्न मुख-मुद्राएँ उत्पन्न करने में माथा, भौ, आँखो और ओठो सब का विशेष योग होता है। क्रोध में माथे पर बल पड जाते है, घृणा में नाक-भौ सिकुड़ जाती है; किन्तु फिर भी मुखमुद्रा में आँख और मुँह की प्रधानता रहती है।

आँख व्यक्ति के तत्कालिक अवधान को बताती है। डर लगने और रुचि लेने

चित्र ४९ ब

पर आँखें फैल जाती है क्योकि दोनो दशाओ में व्यक्ति दृश्य उत्तेजना पर

ज्यादा ध्यान देता है। ऊपर देखती हुई आँखों में आत्मसमर्पण का भाव होता है, नीचे झुकी हुई आँखो का अर्थ परिवेश से विमुख हो जाना होता है जिसके अनेक कारण हो सकते है। लज्जा में आँखे इसीलिए नीचे झुक जाती है।

मुँह तो सचारीभावो की अभिव्यक्ति का और भी उत्तम निर्देशक है। मुँह के ओठो की बनावट और स्थिति व्यक्ति की बहुत सी विशेषताओ को प्रकट करती है। कुछ ओठ ऐसे होते है जिन्हे देखते ही चूमने को जी चाहता है। ओठो से व्यक्ति का भोलापन और टेढ़ापन भी प्रकट होता है। कुछ ओठ खाऊपन के सूचक होते है, कुछ से दृढ़ सकल्प परिलक्षित होता है। लटके हुए ओठो से उजड्डपन और मूर्खता टपकती है।

स्वर परिवर्तन भी सचारीभावो का निर्देशक होता है। अभिनेता और भाषण देने वाले अपने स्वर के माध्यम से बहुत से सचारीभावो को व्यक्त करते है। क्रोध मे स्वर कर्कश हो जाता है, शोक मे भर्रा जाता है। भयभीत आदमी की घिग्घी बँध जाती है। प्रेम का स्वर पुचकार-भरा होता है।

रक्त-प्रवाह, हृदय की गति और साँस लेने आदि क्रियाओ में परिवर्तन होना सचारीभावो के आन्तरिक निर्देशक होते हैं। न्यूरोनीय प्रबन्ध के प्रसग में यह देखा जा चुका है कि उपर्युक्त शारीरिक क्रियाओ का सचालन और नियत्रण स्वचालित स्नायु प्रबन्ध (autonomic system) से होता है। स्वचालित स्नायु प्रबन्ध में अनुकपिक प्रबन्ध (sympathetic system) के उद्दीप्त होने पर पाचन-क्रिया रुक जाती है और लार बहने का अवरोध हो जाता है। डर मे गला सूखने का यही कारण होता है। प्राचीन काल में चीन में अपराधी का पता उसकी लार बहने की प्रतिक्रिया के आधार पर ही लगाया जाता था। सदिग्ध व्यक्ति परीक्षा के लिए एक जगह लाए जाते थे और उन पर अभियोग लगाकर उनके मुँह मे सूखे चावल भर दिए जाते थे। थोडी देर बाद चावल बाहर निकलवाए जाते थे और जिसके मुँह के चावल (डर के कारण लार न बहने और मुँह सूखा रहने से) सूखे ही रह जाते थे उसे अप-राधी समझ लिया जाता था।

शरीर-विज्ञान वेत्ताओ ने सचारीभावो में होने वाले आन्तरिक शारीरिक परिवर्तनो को जानने और नाप सकने के लिये अनेक यन्त्रो का आविष्कार कर डाला है। विभिन्न सचारीभावो मे रक्त-प्रवाह, साँस, हृदय और नाडी की गति, त्वचा का दबाव और ग्लैडो की प्रतिक्रिया आदि पर विशद खोजें की जा चुकी हैं।

चित्र ४६ स

खोजो के आधार पर यह पता चला है कि हर्ष मे पेट खब सक्रिय रहता है जो खाने का सबसे अच्छा समय होता है। हर्ष में गाल ब्लैडर (gall bladder) उद्दीप्त रहता है और रक्त प्रवाह तथा साँस लेने में थोडी सी वृद्धि हो जाती है। हर्ष में शरीर के सारे अवयवो मे पूर्ण नियमन रहता है जिससे शरीर की कार्य-कुशलता बढ जाती है।

क्रोध में ऐड्रीनल ग्लैंडो की प्रतिक्रिया तेज हो जाती है जिसके असर से हृदय उद्दीप्त हो जाता है। पेट और गाल ब्लैडर निष्क्रिय हो जाते है और यकृत (liver) और गुर्दों (kidneys) का काम धीमा पड जाता है। साँस जल्दी जल्दी चलने लगती है। ऐसी स्थिति खाने के लिये अनुकूल नही होती।

क्रोध की भाँति डर में भी ऐड्रीनल ग्लैंड तेजी से क्रिया कर प्राणी को भागने या लडने के लिये तैयार करते है। शोक में केवल गाल ब्लैडर ही उद्दीप्त

होता है । बाइल (bile) का प्रवाह बढ जाता है और पेट में भी आ सकता है जिससे भूख नही लगती । साँस लेने और हृदय की गति धीमी पड़ जाने से बेचैनी होने लगती है । ऐसे समय भी खाना नही खाना चाहिये ।

सैद्धान्तिक व्याख्या : जेम्स-लांगे सिद्धान्त—सचारीभावो का अनुभव कैसे होता है और शारीरिक परिवर्तनो से उनका क्या सम्बन्ध है ? इन प्रश्नो का प्रचलित और साधारण उत्तर यह है : सचारीभाव उत्पादक उत्तेजना से ग्राहको मे होने वाली न्यूरोनीय प्रेरणा मनस् मे पहुँचती है और मनस् अपनी क्रिया द्वारा उस उत्तेजना की सार्थकता को समझता है । उत्तेजना की सार्थकता समझ लेने पर मनस् मे होने वाली न्यूरोनीय प्रेरणा स्वचालित स्नायुप्रबन्ध की ओर प्रवाहित होती है जिससे कुछ उचित शारीरिक परिवर्त्तन होते है ।
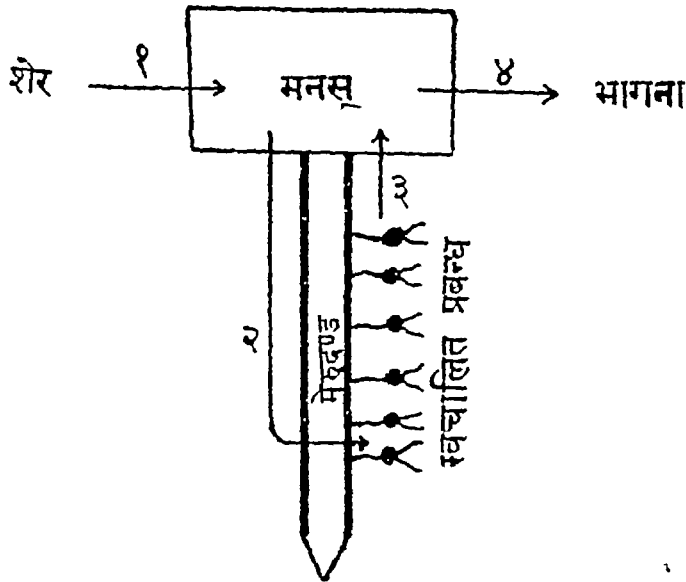
चित्र ५०

शारीरिक परिवर्त्तनो से होने वाली न्यूरोनीय प्रेरणा फिर मनस् की ओर प्रवाहित होती है और तब सचारीभाव का अनुभव होता है । सचारीभाव का अनुभव होने पर मनस् न्यूरोनीय प्रेरणा द्वारा हाथ-पैर आदि प्रभावको को प्रतिक्रिया करने का आदेश देता है । मानसिक क्रिया सचारीभाव और प्रतिक्रिया की मध्यस्थ होती है और इस प्रकार सचारीभाव प्रतिक्रिया के पूर्ववर्त्ती होते है । जगली शेर से सामना पडने पर मनस् को ग्राहको द्वारा शेर का सवेदन होता है । तब हम मानसिक क्रिया द्वारा शेर की सार्थकता, कि वह आदमी को मार डालने वाला पशु है और उससे हमें अपनी जान का खतरा है, समझते है । शेर की सार्थकता समझ लेने पर शारीरिक परिवर्तन होते है, साँस रुक जाती है, पसीना छूटने लगता है । फिर जब मनस् को इन शारीरिक परिवर्त्तनो का सवेदन होता है तो हमे डर लगता है और हम बचने या भागने की प्रतिक्रिया करते है । यह चित्र ५० से स्पष्ट हो जायगा ।

किन्तु मनोविज्ञानियो को यह प्रचलित सैद्धान्तिक उत्तर मान्य नही है। इस प्रचलित सिद्धान्त के विरोध मे विलियम जेम्स और लागे नामक दो मनोविज्ञानियो ने स्वतन्त्र रूप से एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था जो जेम्स-लागे सिद्धान्त नाम से विख्यात है। जेम्स-लागे सिद्धान्त के अनुसार शेर को देखते ही पहले शारीरिक परिवर्तन (साँस रुक जाना, हाथ-पाँव फूल जाना, पसीना छूटने लगना, आदि) होते है और उन शारीरिक परिवर्तनो से शरीर की तत्काल जो दशा हो जाती है वही सचारीभाव है। इस प्रकार शारीरिक परिवर्तन सचारीभावो के पूर्ववर्त्ती होते हैं। शेर रूपी उत्तेजना प्रभावको से तत्काल शारीरिक परिवर्तन कराती है और मनस् द्वारा उन परिवर्तनो क
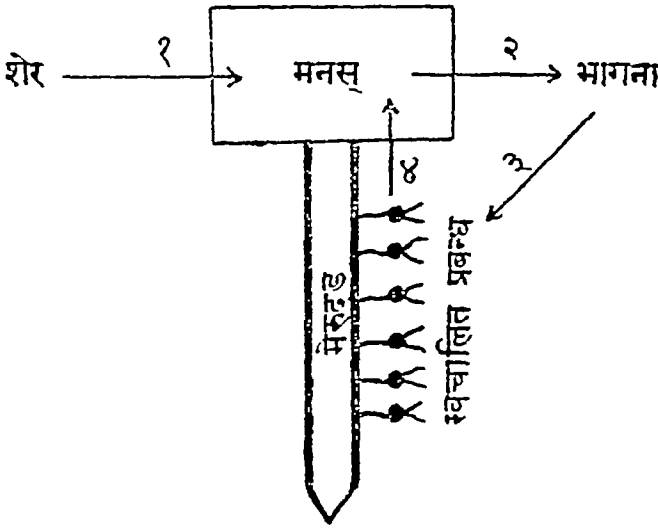
चित्र ५१

अनुभव ही सचारीभाव होता है। जेम्स के शब्दो में सचारीभाव "उत्तेजना मिलने पर आन्तरिक क्रियाओ (पसीना छूटना, हाथ-पाँव फूलना, साँस रुक जाना, आदि) से उत्पन्न सवेदनो का प्रक्षिप्त प्रभाव (reflex effect) होता है।" शारीरिक परिवर्तनो के न होने पर सचारीभावो का अनुभव नही हो सकता। डरावनी उत्तेजना से अगर शारीरिक परिवर्तन न हो तो हमें डर का ज्ञान-मात्र ही होगा किन्तु डर 'लगने' का अनुभव नही होगा। सचारीभाव प्रचलित सिद्धान्तो के अनुसार मानसिक क्रिया का परिणाम न होकर मनस् पर शारीरिक परिवर्तनो का प्रक्षिप्त प्रभाव (reflex effect) होता है (चित्र ५१)।

जेम्स-लागे सिद्धान्त का मुख्य आशय यह है कि सचारीभावो और शारीरिक परिवर्तनो में मानसिक क्रिया की मध्यस्थता नही होती। इसका समर्थन करने के लिए जेम्स ने अपने बालपन की एक घटना का उल्लेख किया है।

जेम्स ने कही जाते समय एक घोडा देखा जिसके बहुत खून बह रहा था। खेल-खेल मे जेम्स ने अपनी छडी को खून मे इधर-उधर खूब साना और वहाँ से चल दिया। छडी से खून चू रहा था और जेम्स के मन मे किसी तरह का कोई भाव नही था। सहसा उसकी आँखो में अँधेरा छा गया, कानो मे भनभनाहट होने लगी और वह डर के मारे बेहोश हो गया। जेम्स का कहना है कि इस घटना मे उसके शारीरिक परिवर्तन और उनके परिणाम-स्वरूप डर का सचार केवल उत्तेजना (खून) की उपस्थिति मात्र से ही हुए थे, मानसिक क्रिया की मध्यस्थता से नही। अभिनय या मद्यपान द्वारा कृत्रिम रूप से शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने पर भावो का सचार होने लगता है। अत: जेम्स-लागे सिद्धान्त के अनुसार सचारीभावो का अनुभव शारीरिक परिवर्तनो पर निर्भर होता है और मानसिक क्रिया की अपेक्षा नही रखता।

जेम्स-लांगे सिद्धान्त की आलोचना—यह सच है कि शरीर के कुछ अगो का भावो के सचार से ज्यादा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। अनुकपिक प्रबन्ध (sympathetic system) के उत्तेजित होने का प्रभाव बहुत व्यापक होता है जिससे तत्सम्बन्धी क्रियाओ (साँस लेने, दिन धडकने आदि) में या तो अवरोध (inhibition) हो जाता है या वे तेजी से होने लगती है। अनुकपिक प्रबन्ध का व्यापक प्रभाव ऐड्रीनल (adrenal) ग्लैडो के कारण होता है। अनुकपिक प्रबन्ध के उत्तेजित होने से ऐड्रीनल ग्लैड सक्रिय हो जाते है और वे खून में ऐड्रीनैलिन नामक पदार्थ का सचार अधिक मात्रा मे करने लग जाते है जिसका प्रभाव सारे शरीर पर पड़ता है।

किन्तु इससे पर्याप्त रूप से यह सिद्ध नही हो पाता कि सचारीभावो और शारीरिक परिवर्तनो मे तादात्म्य है। यदि उनमें तादात्म्य होता तो प्रत्येक सचारीभाव के अपने विशिष्ट शारीरिक परिवर्तन भी होते। किन्तु इसके विपरीत अनेक सचारीभावो में प्राय एक ही तरह के शारीरिक परिवर्तन होते है। आँसू हर्ष के भी होते है और शोक के भी। डर और क्रोध दोनो सचारी-भावो मे शरीर काँपने लगता है। इसके अतिक्ति शिक्षित व्यक्ति क्रोध को एक तरह से प्रकट करता है, अशिक्षित व्यक्ति दूसरी तरह से। भयभीत होने पर हम काँपते है। काँपना भय का शारीरिक परिवर्तन है। लेकिन जब हमें जाडा लगने पर काँपते है तो हमें भय का सचारीभाव नही होता। यदि संचारीभाव शारीरिक परिवर्तनो के ही परिणाम होते तो जाड़े से काँपने मे भी भय का संचार होना चाहिए।

प्रयोगशालाओ मे पशुओ पर किए गए प्रयोगो से भी सचारीभावो और शारीरिक परिवर्तनो में तादत्म्य होने का खण्डन हुआ है। शेरिंग्टन ने एक कुत्ते

पर प्रयोग किए। यह कुत्ता कुछ लोगो को पसद करता था और कुछ लोगो को नही। शेरिग्टन ने कुत्ते के धड से मनस् तक न्यूरोनीय प्रेरणाओ को ले जाने वाले आन्तरिक बोधवाहक न्यूरोनो को असम्बन्धित कर दिया जिससे वह आतरिक अगो के सवेदन से वचित हो गया। किन्तु कुत्ते ने फिर भी क्रोध, भय, हर्ष आदि सचारीभावो के लक्षणो को प्रकट किया। व्यक्तियो में कृत्रिम रूप से शारीरिक परिवर्तन करके भी देखा गया कि उन कृत्रिम परिवर्तनो से भावो का सचार नही हो पाता। इन प्रयोगो के आधार पर सचारीभावो और शारीरिक परिवर्तनो की पूर्ववर्त्तिता पर सन्देह किया जाने लगा और जेम्स-लागे सिद्धान्त की मान्यता के विरुद्ध सचारीभावो के अनुभव मे मानसिक क्रिया का उचित महत्व स्वीकार किया गया।

हाइपोथैलेमसिक सिद्धान्त—शरीर-विज्ञानवेत्ताओ ने पशुओ पर प्रयोग करके सचारीभावात्मक व्यवहार मे थैलेमस या हाइपोथैलेमस (hypothalamus) की महत्ता पर बडा जोर दिया। उन्होने अपने प्रयोगो में विद्युत-धारा से बिल्लयो की हाइपोथैलेमस को उत्तेजित करके यह देखा कि "बिल्ली अपने कान खडे कर लेती है, गुर्राने और दुम फटकारने लगती है...।" हाइपोथैलेमस को निकाल देने पर कुत्ते और बिल्ली सचारीभावात्मक व्यवहार नही कर पाते।

जेम्स-लागे सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह करते हुए और सचारीभावो
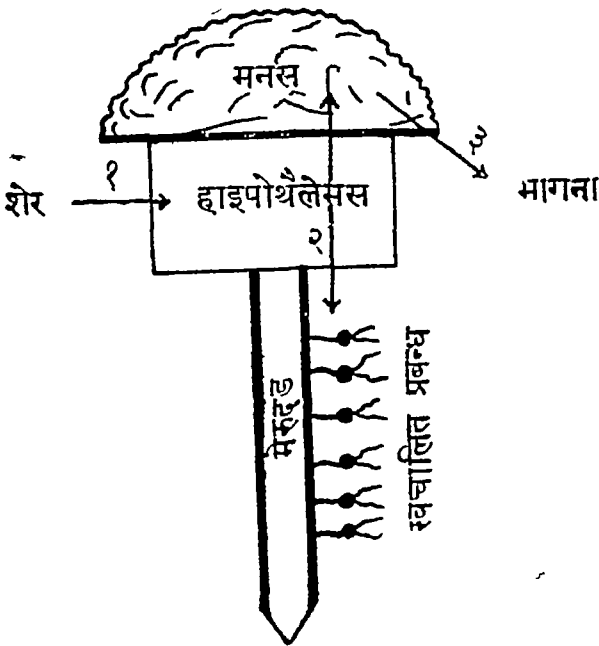
चित्र ५२

में हाइपोथैलेमस के महत्व को स्वीकार करते हुए कैनन नामक शरीर-विज्ञान-वेत्ता ने सचारीभावो की व्याख्या के लिए हाइपोथैलेमसिक सिद्धात प्रतिपादित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सचारीभाव और शारीरिक परिवर्तन एक दूसरे से स्वतन्त्र होते है और उनमे तादात्म्य नही होता। इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि सचारीभावो का अनुभव और शारीरिक परिवर्तन दोनो ही हाइपोथैलेमस की क्रिया से होते है और सहवर्त्ती होते है। बोधवाहक प्रेरणाओ का प्रवाह हाइपोथैलेमस मे आकर मनस् और मेरुदड की ओर एक साथ होता है जिससे सचारीभावो का अनुभव और शारीरिक परिवर्तन भी एक साथ होते है (चित्र ५२)।

इस सिद्धान्त से जेम्स-लागे सिद्धान्त की कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हल हो जाती है। पशुओ में अनुकपिक प्रबन्ध को परिधीय प्रबन्ध से असम्बन्धित कर देने पर भी उनकी हाइपोथैलेमस की प्रेरणाओ का प्रवाह मनस् की ओर होता है जिससे उनके व्यवहार से सचारीभावो के लक्षण प्रकट होते है। कृत्रिम रूप से शारीरिक परिवर्तन उत्पन्न करने पर यदि हाइपोथैलेमस सक्रिय न हो सके तो सचारीभावो का अनुभव नही होता। सचारीभावो का अनुभव मानसिक क्रिया की मध्यस्थता और शारीरिक परिवर्तनो के परिणामो से स्वतन्त्र रहकर हाइपोथैलेमस की सक्रियता पर निभर होता है।

किन्तु इस सिद्धान्त में भी कमियाँ है। हाइपोथैलेमस को कृत्रिम रूप से उत्तेजित करने पर जो सचारीभावात्मक व्यवहार होता है वह स्वाभाविक रूप से होने वाले सचारीभावात्मक व्यवहार से भिन्न होता है। कृत्रिम रूप से उत्तेजित हाइपोथैलेमसिक क्रिया में बिल्ली पिंजडे के अन्दर केवल बेचैन होकर इधर-उधर भटकती ही है किन्तु बाहर निकलने का मार्ग होते हुए भी उसकी उपेक्षा करती है और कृत्रिम उत्तेजना का प्रभाव मिटते ही बिल्ली की सारी प्रतिक्रियाएँ एकदम रुक जाती है जबकि स्वाभाविक सचारीभाव का प्रभाव उत्तेजना के न रहने पर भी कुछ देर तक बना रहता है और धीरे-धीरे मिटता है। इससे साबित होता है कि कृत्रिम रूप से उत्पन्न सचारीभावात्मक प्रतिक्रियाएँ यत्रवत् होती है और उनमे स्वाभाविकता नही होती।

यद्यपि सचारीभावो की व्याख्या के उपर्युक्त दोनो सिद्धान्त अपर्याप्त है, किन्तु फिर भी उन दोनो मे सत्यता का अश है जिससे उनकी उपेक्षा नही की जा सकती। यह ठीक है कि सचारीभावो के अनुभव में शारीरिक परिवर्तनो और हाइपोथैलेमस की क्रिया के नियत्रण के महत्व से इन्कार नही किया जा सकता किन्तु संचारीभावो के अनुभव के पीछे एकमात्र इन्ही दो कारणो को मान लेना या उनमे से किसी एक पर निर्विवाद रूप से अनुचित

जोर देकर मानसिक क्रिया का बिल्कुल ही बहिष्कार कर देना न्यायसगत नही है ।

मूड (Moods)—कुछ सचारीभावात्मक प्रतिक्रियाओ का प्रभाव बहुत देर तक बना रहता है । उन्हें मूड कहा जाता हैं । मड सचारीभाव का हलका रूप होता है । हम कभी हर्ष के मूड में रहते है और कभी खिन्न रहते है । पढ़ने लिखने का भी मूड हुआ करता है । किसी मूड के रहने पर उसी के समान भाव का सचार बहुत जल्द हो जाता हैं । खिन्न मन व्यक्ति को बात-बात पर क्रोध आता है । मूडो का प्रभाव हमारे विचारो और क्रियाओ पर पडता है। कुछ मूड शारीरिक स्वास्थ्य और लक्ष्य-प्राप्ति की सफलता और विफलता पर भी निर्भर होते है ।

स्थायीभाव (sentiments)—रागात्मक विकास के साथ-साथ व्यक्ति का सचारीभावात्मक रुझान-सा बन जाता है जिसे स्थायीभाव कहा जाता है । देश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति, मित्रता कुछ स्थायीभाव है । स्थायीभाव सचारीभावो की भाँति उग्र और प्रचड नही होते । उनमें स्थायित्व होता है इसीलिए उन्हे स्थायीभाव कहा जाता है। स्थायीभाव रागात्मक मनोवृत्ति के सूचक होते है । उनका व्यवहार के अन्य प्रेरको पर गत्यात्मक प्रभाव पडता है। देश-प्रेम का स्थायीभाव रखने वाला देश की उन्नति से हर्षित होता है, उन्नति के लिए अपना योग देने में गौरव अनुभव करता है और देश की निन्दा करने या बुरा चाहने वालो से घृणा करता है।

सचारी भावो का विकास और विभेदीकरण—सचारी-भावो को समझने के लिए-अब तक उनके विभिन्न पक्षो और उनके पारस्परिक सम्बन्धो पर विचार किया जा चुका है । अब एक प्रश्न का उत्तर देना और रह जाता है सचारीभाव जन्मजात होते हैं या उन्हे अर्जित किया जाता है ? यह प्रश्न विवादग्रस्त है । यदि सचारीभाव जन्मजात होते है तो बच्चो में उनके लक्षण मिलने चाहिएँ । नवजात बच्चो के व्यवहार के अवलोकन से पता चला है कि उनमें केवल 'उद्दीपन' मात्र ही होता है । तीन महीने बाद उस उद्दीपन में परेशानी और प्रसन्नता ये दो विशेषताएँ आ जाती है । बच्चे के विकास के साथ-साथ 'परेशानी' से क्रोध, घृणा, डर और फिर ईर्ष्या उत्पन्न होती है । 'प्रसन्नता' से उत्फुल्लता और अनुराग और बाद मे हर्ष प्रकट होने लगता है ।

सचारी भावो के विकास पर शारीरिक परिपक्वता और अनुभवो का बहुत प्रभाव पडता है । परिपक्वता के साथ सचारीभावो के प्रकट करने के ढंग में भी परिवर्तन होता जाता है। बच्चा अपना क्रोध रोकर और हाथ-पाँव पटक-पटक

कर प्रदर्शित करता है किन्तु वयस्क आँखे लाल करके या बातचीत से। सचारी-भावो के जन्मजात न होने के अनेक प्रमाण है। बच्चे आग या साँप से नही डरते किन्तु सापेक्षीकरण और शिक्षा द्वारा उनमे डर उत्पन्न हो जाता है। इससे साबित होता है कि सचारीभाव सीखे और शिक्षा द्वारा अर्जित किए जाते है। प्रयोगो द्वारा यह भी पता चला है कि सचारीभावों मे होने वाले आन्तरिक परिवर्तनो पर भी सीखने का प्रभाव पडता है जिससे दो व्यक्तियो के एक ही सचारीभाव से होने वाले आन्तरिक परिवर्तनो मे अन्तर होता है।

सचारीभावो का कोई विशुद्ध रूप न होने से उनका वर्गीकरण नही किया जा सकता। चित्र ५३ को देखिए। यह मुद्रा उत्सुकता, कौतूहल और आश्चर्य तीनो सचारीभावो की हो सकती है। सचारीभावात्मक अनुभव मे बहुत से सचारीभाव मिले रहते है। हम खेल मे जीत जाते है किन्तु हमे गहरी चोट भी लग जाती है। उस अवसर पर हमारे अन्दर जीतने के गर्व और चोट लगने के दुख का मिश्रित संचारीभाव होता है। परेशानी डर की और खिन्नता क्रोध की हल्की प्रतिक्रिया होती है। इसी प्रकार घृणा, उद्विग्नता, प्रेम, करुणा आदि भी मिश्रित सचारीभाव होते है।

चित्र ५३

संचारीभावो मे व्यक्तिगत भेदो का कारण सामान्यत आनुवशिकता (heredity) मे माना जाता है। इस सम्बन्ध मे कैलविन हॉल ने सफेद

चूहो पर प्रयोग करके परीक्षा की। अत्यधिक सचारीभावात्मक क्षमता रखने वाले और बिल्कुल न रखने वाले सफेद चूहो की संतान की सचारीभावात्मक क्षमता का कई पीढियो तक अध्ययन किया गया। परीक्षाओ से पता चला कि चूहो की सतान की सचारीभावात्मक क्षमता पर आनुवशिक या पैतृक प्रभाव नही पडा।

व्यक्ति की सचारीभावात्मक क्षमता पर उसके परिवेश का प्रभाव अवश्य पडता है। परीक्षाओ द्वारा यह पता चला है कि जो व्यक्ति बचपन में बहुत बीमार रहा करते है उनका स्वभाव आगे चलकर चिडचिडा बन जाता है और वे जल्द क्रोधित और भयभीत होने लग जाते है।

सचारीभाव और बीमारियॉ—चिकित्सको की खोजो से यह सिद्ध हो चुका है कि सचारीभाव पेट सम्बन्धी बहुत से रोगो का कारण होते है। यह देखा जा चुका है कि डर, शोक आदि में पेट की क्रिया ठीक तरह से नही हो पाती और वह कब्ज या आँत सम्बन्धी अनेक रोगो का कारण बन सकती है। आन्तरिक रोगो के अतिरिक्त सचारीभावो का प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य पर भी पडता है। सचारीभावो का परिवेश से उचित नियमन न कर सकने पर व्यक्ति में अनेक मानसिक विकार उत्पन्न हो सकते है। वह पागल या चिड़-चिडा बन सकता है। उसके मन में अज्ञात भय और शकाएँ घर कर सकती है जिनका प्रभाव पारिवारिक, दैनिक और सामाजिक जीवन पर पडता है।

सचारीभावो का उचित निर्माण—शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनो के लिए सचारीभावात्मक प्रतिक्रिया का उचित निर्माण करने की आवश्यकता पडती है। मनुष्य की सचारीभावात्मक समस्याओ का आदि उसके प्रारम्भिक जीवन के इतिहास में होता है। बचपन में जिस उत्तेजना के प्रति जैसी सचारीभावात्मक प्रतिक्रिया अर्जित कर ली जाती है वह बाद के पूरे जीवन पर प्रभाव डालती रहती है। बच्चे अपनी सचारीभावात्मक प्रति-क्रिया अपने माँ-बाप की प्रतिक्रियाओ का अनुकरण करके सीखते है। माँ-बाप जिस बात पर हर्षित होते हैं बच्चा भी उसी बात पर हर्षित होना सीख जाता है। जैसी सचारीभावात्मक प्रतिक्रियाएँ माँ-बाप की होती है वैसी ही उनके बच्चो की बन जाती है। हिन्दू माँ-बाप अपने बच्चो को 'हौआ' से डराकर, उनके सामने गाली-गलौज और अश्लील मजाक करने से बाज न आकर उनकी सचारीभावात्मक प्रतिक्रिया को ऐसा बना देते हैं जिससे वे बडे होकर निहा-यत बदशऊर, उजड्ड, झेंपू, गन्दे, अश्लील और आत्म-सम्मान को बेंच देने वाले बन जाते है।

हिन्दू समाज की असंख्य सचारीभावात्मक समस्याएँ उसकी कुरीतियों, बाल-विवाह, जाति विभेद आदि जैसी अनेक सडी हुई प्रथाओ का परिणाम है जिससे भारतीय बच्चे ऐसे गन्दे और दूषित वातावरण मे पलते है जो उनकी सचारीभावात्मक प्रतिक्रियाओ को भ्रष्ट कर देने मे अत्यधिक सहायक बनता है। यदि हिन्दू-समाज अपनी सचारीभावात्मक समस्याओ को सुलझाना चाहता है (मुझे तो इसमे सन्देह है) तो शिक्षा मे सुधार करने या योजनाएँ बनाने से पहले घर-घर का वातावरण ऐसा बनाना पडेगा जिसमे बच्चो की संचारी-भावात्मक प्रतिक्रियाओ का निर्माण स्वस्थ और समुन्नत हो सके। सत्यनारायण की कथा सुनने या ठाकुर जी को भोग लगाने से समस्याएँ नही सुलझती।

सचारीभावात्मक प्रतिक्रिया का उचित निर्माण करने के लिए परिवेश से अवाछित उत्तेजनाओ को हटा देना चाहिए जिससे उनसे सचारीभावात्मक सम्बन्ध न बन सके। सचारीभावात्मक प्रतिक्रिया के निर्माण का तात्पर्य सस्कृति और सभ्यता को उन्नत बनाने वाली उत्तेजनाओ और मानवोचित गुणो से मनुष्य का रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करवाना है और उसे स्वार्थ-परायण मूड से निकाल कर समाज-सापेक्ष मूड बनाने मे सहायता देना है। हमे आदर्श का ढिढोरा पीटने वालो की जरूरत नही है; जरूरत तो है आदर्श को चरितार्थ करने का उपाय बताने वालो की।

सचारीभावो के प्रदर्शन का सामाजिक महत्व होता है इसलिए सचारी-भावो का प्रदर्शन उचित ढग से कर सकने की कला सीखना चाहिए। सचारी-भावो का दमन नही करना चाहिए क्योकि उनका दमन मानसिक स्वास्थ्य और सतुलन के लिए अहितकर होता है और उससे मानसिक विकार पैदा हो जाते है। गुस्से को पीना नही चाहिए, थूक देना चाहिए लेकिन थूकना जरा ढग से चाहिए जिससे वह कही अपने ऊपर ही न गिर पडे।

लिबिडो (libido)—फ्रायट और अन्य मनोविश्लेषको ने व्यक्ति की केन्द्रीय रागात्मक शक्ति को लिबिडो नाम दिया है। लिबिडो की धारणा अत्यन्त विवादग्रस्त है। कुछ लोग उसे कामशक्ति समझते है, कुछ जीवनेच्छा शक्ति और शेष सुखेच्छा शक्ति। किन्तु इतना सब स्वीकार करते है कि लिबिडो एक प्रकार की ऐसी शक्ति, प्रभाव या राग होता है जो किसी भी जन्मजात या अर्जित प्रेरक से सम्पर्क रख कर या उसके द्वारा प्रवाहित होकर उसे और सशक्त बना देता है। रागात्मकता के विकास की विभिन्न अवस्थाओ में लिबिडो का बड़ा महत्व ह।

रागात्मकता की अवस्थाएँ : मौखिक अवस्था (Oral stage)—मनोविश्लेषको के अनुसार मामूली शारीरिक क्रियाओ द्वारा सुख पाना रागात्म-

कता के विकास का प्रारम्भिक रूप होता है। बच्चे को गर्म रहने, सूखे विस्तर पर सोने, दूध पीने, अँगूठा चूसने आदि क्रियाओ से जो सुख मिलता है उनसे उसका रागात्मक सम्बन्ध बन जाता है। इसे रागात्मकता की मौखिक अवस्था इसलिए कहा जाता है क्योकि बच्चे के पास सुख पाने का प्रमुख साधन उसका मुँह होता है।

नार्सीससीय अवस्था (Narcissistic stage)—बडा होने पर बच्चा जब अपने-पराए का भेद समझने लग जाता है तो उसके लिबिडो (libido) का प्रवाह मौखिक और शारीरिक स्तर के सुख से हटकर अपनत्व के सुख की ओर होने लगता है। यह रागात्मक विकास की दूसरी अवस्था होती है जिसे नार्सीससीय अवस्था कहा जाता है। ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार नार्सीसस एक सुन्दर युवक था जो फौवारे के पानी मे अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने ही रूप पर मोहित हो गया था। रागात्मकता की इस अवस्था के बाद बच्चा दूसरो जैसे भाई-बहनो, सखा-साथियो और विशेषकर माँ-बाप के प्रति निश्चित रागात्मक सम्बन्ध रखना प्रारम्भ करता है। लडके के लिबिडो की अधिक मात्रा मात्रोन्मुख और लडकी की पित्रोन्मुख होती है। लडका अपनी माँ को और लडकी अपने पिता को ज्यादा चाहती है। बारह-तेरह साल के लगभग युवावस्था आने पर दूसरो के प्रति रागात्मक सम्बन्ध अधिक सक्रिय हो जाता है। पहले तो लिबिडो का सम्बन्ध अपने ही सेक्स के लोगो से ज्यादा होता है। यह सजातीय सेक्स (homosexual) अवस्था होती है। इसके बाद विजातीय सेक्स (heterosexual) की अवस्था आती है जिसमें लिबिडो का सम्बन्ध अपने से विपरीत सेक्स के लोगो से ज्यादा हो जाता है। लडका लडकी की ओर लडकी लडके की ओर आकृष्ट होने लगती है।

श्रेयसीकरण (sublimation) और स्थायीकरण (fixation)—लिबिडो का प्रवाह समाज स्वीकृत दिशाओ में होना श्रेयसीकरण कहलाता है। आजन्म ब्रह्मचर्य का पालन करना, समाज-सेवा या समाज स्वीकृत कोई अन्य काम में अपनी सम्पूर्ण रागात्मक शक्ति लगा देना लिबिडो के श्रेयसीकरण (sublimation) के उदाहरण है। किन्तु श्रेयसीकरण की अवस्था में भी लिबिडो की कुछ मात्रा पुराने मार्गों से प्रवाहित होती रहती है जिससे प्रकृत ब्रह्मचारी या समाजसेवक भी खाने-पीने और शारीरिक सुख के रूपो में आनन्द लेते रहने की क्षमता रखता है।

किन्तु जब लिबिडो किसी पुराने मार्ग से ही इतनी अधिक मात्रा में प्रवाहित होने लगता है कि व्यक्ति के विकास और सतुलित व्यवहार में बाधा

पडने लगती है तो इसे लिबिडो का स्थायीकरण (fixation) होना कहा जाता है। लिबिडो का स्थायीकरण रागात्मक विकास की किसी भी अवस्था पर हो सकता है।

काम्प्लेक्स (Complexes)—कभी कभी केन्द्रीय प्रेरको के कुदिशान्तरित हो जाने से जो रागात्मक अनुभव, विचार और इच्छाये बनती है उन्हे काम्प्लेक्स कहा जाता है। सामान्यत. लिबिडो के हर स्थायीकरण के पीछे कोई न कोई काम्प्लेक्स अवश्य होता है। फ्रिन्क ने काम्प्लेक्स की परिभाषा यो दी हैं : "तीव्र रागात्मकता लिए हुए सम्बद्ध विचारो की एक व्यवस्था जो हमारे चेतन-व्यवहार और चिंतन पर प्रभाव डालकर उन्हे एक निश्चित और पूर्व निर्धारित दिशा की ओर ले जाती है।" फ्रायड और अन्य लोगो ने अधिकाश काम्प्लेक्सो को अचेतन माना है। काम्प्लेक्सो में अन्तर्निहित अचेतन इच्छाएँ हमारे चेतन नैतिक आदर्शों से टकराती है और हमारे व्यवहार और चिंतन को प्रभावित करती है।

हमारे अनुभव सम्बद्ध विचारो का स्कन्ध (constellation) बन जाया करते है। प्रेम, मित्रता, साहित्यानुराग के बिखरे अनुभव अपने-अपने स्कन्धो से गुफित होते चले जाते है। अनुभव के हर स्कन्ध की अपनी अलग रागात्मक विशेषताएँ होती है जो अपने स्कन्ध से सम्बन्धित किसी अनुभव के होने पर प्रकट होती है जैसे किसी लड़की से प्रेम करने, साहित्यानुशीलन में आनन्द लेने, या मित्रो के साथ तफरीह करने पर। इस प्रकार काम्प्लेक्स किसी वस्तु या विचार के प्रति होने वाले रागात्मक अनुभवो द्वारा स्थापित निर्धारकै प्रवृत्तियो का एक स्कन्ध होता है जो सब मानवी प्रतिक्रियाओ या उनमें से किसी एक पर प्रभाव डाल सकता है।

स्वस्थ और अस्वस्थ काम्प्लेक्स—काम्प्लेक्स दैनिक अनुभव का अग होते है। कुछ मनोविज्ञानी काम्प्लेक्स की धारणा का महत्व केवल अप्रकृत व्यवहार को समझने के लिए ही स्वीकार करते है। किन्तु यह न्याय-सगत नही है। हो सकता है कि व्यवहार अप्रकृत हो किन्तु उसका उत्पादन किसी ऐसे काम्प्लेक्स से हुआ हो जो कार्यतः प्रकृत हो। अशिक्षित माँ अपने बच्चे के स्वास्थ्य के लिए टोना-टोटका कर सकती है जो माँ का बच्चे के प्रति स्वाभाविक और प्रकृत काम्प्लेक्स (स्नेह) से प्रेरित होने वाला अप्रकृत व्यवहार है। काम्प्लेक्स अस्वस्थ (morbid) या तो अपनी कार्यात्मक शैली से होता है या अपने स्वरूप से। आत्मक्षुद्रता और सामाजिक हीनता से प्रभावित काम्प्लेक्स कार्यत प्रकृत होने पर भी व्यक्ति के अन्दर हीनता की भावना उत्पन्न करके उसकी वास्तविक कार्यक्षमता और कुशलता मे वाधा डालता है।

ऐसी दशा में व्यवहार के अप्रकृत होने का कारण काम्प्लेक्स के स्वरूप के अस्वस्थ (morbid) होन में होता है। इसी प्रकार काम्प्लेक्स का स्वरूप स्वस्थ होने पर भी उससे प्रेरित व्यवहार अप्रकृत हो सकता है। इतना अवश्य है कि काम्प्लेक्स का स्वरूप और कार्यात्मक शैली दोनो प्राय अस्वस्थ ही होते है।

काम्प्लेक्स कैसे बनते हैं—काम्प्लेक्सो के निर्माण मे चिंतन आदि ज्ञानात्मक व्यापारो का हाथ रहता है। किन्तु चिन्तन का रूप कल्पना प्रधान अधिक होता है। काम्प्लेक्स बनने के पीछे तार्किकता हो सकती है किन्तु वह मुख्यत दिवास्वप्नो (daydreams)के रूप मे होती है। व्यवहार के जिन प्रेरको का नैतिक आदर्शों से विरोध होने लगता है उनकी कार्यशक्ति में रुकावट पडती है या उनका शमन (repression) हो जाता है। शमन हो गई प्रवृत्तियाँ दिवास्वप्नो के रूप में चेतन स्तर तक आकर काम्प्लेक्स बनाने में अपना योग देती है। अपने दोषो, परेशानियो, कमियो आदि पर अस्वस्थ रूप से ज्यादा अन्तर्निरीक्षण करने वाले व्यक्ति का प्रकृत सज्ञात्मक (perceptual) दृष्टिकोण बदल जाता है और वह ससार को गलत ढग से देखने लगता है। यह नही समझना चाहिए कि नैतिक आदर्शों से विरोध रखने वाले सब प्रेरको का अन्त काम्प्लेक्स निर्माण मे ही होता है। उनमें से बहुतो का तो लोप हो जाता है। कुछ काम्प्लेक्स, जिन्हे हम पसन्द नही करते या जो लज्जास्पद होते है, अक्षुण्ण रहते है। किन्तु अनुभव के साथ साथ दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से उनकी अप्रियता बहुत कुछ कम हो सकती है।

बहुत से मनोविश्लेषक कुछ काम्प्लेक्सो के निर्माण को जन्मत निर्धारित मानते है। हर व्यक्ति को आनुवशिक रूप में कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती है जो कुछ काम्प्लेक्सो के निर्माण में सहायक बनती है और उन्हे अचेतन रूप से सचालित भी करती है। इस प्रकार कुछ काम्प्लेक्सो का निर्माण बिल्कुल अचेतन रूप से हो जाता है।

इडिपस काम्प्लेक्स (Oedipus complex)—एक ऐसे ही अचेतन काम्प्लेक्स को फ्रायट ने इडिपस काम्प्लेक्स नाम दिया है। ग्रीक पौराणिक कथाओ के अनुसार इडिपस जोकस्टा से उत्पन्न थीवीज के राजा लेअस का पुत्र था। उसके पैदा होने पर ज्योतिषी ने यह बताया कि वह अपने बाप की हत्या कर अपनी माँ से शादी करेगा। इस डर से राजा ने उसे मर जाने के लिए एक पहाड पर फिकवा दिया। कोरिन्थ राज्य का एक चरवाहा इडिपस को पहाड़ से उठाकर अपने देश के राजा पालीवस के पास ले गया। पालीवस

न इडिपस को अपने पुत्र के समान पाला पोसा। बड़े होने पर इडिपस को ज्योतिषी की भविष्यवाणी पता चली और वह पालीबस को अपना सगा बाप समझकर पितृहत्या के पाप से बचने के लिए कोरिन्थ देश को छोड़कर चल दिया। रास्ते में वह अपने वास्तविक पिता थीबीज के राजा से मिला और कुछ कहा-सुनी होने पर इडिपस ने थीबीज के राजा (और अनजाने में अपने सगे बाप) का बध कर डाला। थीबीज राज्य उस समय स्फिन्क्स (Sphinx) नामक दानवी के अभिशाप से ग्रस्त था, इसलिए वहाँ के निवासियो ने यह घोषणा कर रक्खी थी कि जो व्यक्ति थीबीज को अभिशाप से मुक्त करेगा उसे राज्य के साथ-साथ रानी भी पत्नी रूप में मिलेगी। रानी का नाम जोकस्टा था जो इडिपस की सगी माँ थी। किन्तु इडिपस इस बात को नही जानता था। इडिपस ने थीबीज को अभिशाप से मुक्त कराया, वहाँ का राजा बना और अनजाने मे सगी माँ को अपनी पत्नी बनाया और उससे चार बच्चो का बाप बना। उसके इस पाप के कारण थीबीज मे भयकर महामारी फैली और तब इडिपस को ज्योतिषी द्वारा वास्तविक स्थिति का पता चला। जोकस्टा ने तो फाँसी लगा ली और इडिपस ने अपनी आँखें निकाल ली और जंगलो में भटकते हुए मार डाला गया।

लडके का अपनी माँ के प्रति जो अतिशय राग होता है उसके कारण उसके लिबिडो (libido) का स्थायीकरण (fixation) माँ पर हो जाता है। इस स्थायीकरण के परिणाम-स्वरूप लडका अपनी माँ के ध्यान और प्यार को पूरी तरह से पाना चाहता है लेकिन वह देखता है कि माँ पर उसके पिता का प्रभाव अधिक होने से ऐसा नही हो पाता। इससे लडके में अपनें पिता के प्रति द्वेष और प्रतियोगिता की भावनाएँ पैंदा होती है। किन्तु उस समय लडके के पास अपनी भावनाओ का हल करने का केवल एक ही उपाय होता है— उनका शमन (repression) करना। इस प्रकार लिबिडो का स्थायीकरण माँ पर होने से बच्चे के अन्दर अचेतन रूप से अपने माँ-बाप के प्रति जो रागात्मक भाव बनते हैं उन्हे इडिपस की कहानी के रूपक के आधार पर ही इडिपस काम्प्लेक्स नाम दिया गया है।

इसी प्रकार पिता के प्रति लडकी के जो भाव बनते हैं उन्हे इलेक्ट्रा काम्प्लेक्स (Electra complex) कहा गया है। इलेक्ट्रा की कहानी इडिपस की कहानी के समतुल्य न होते हुए भी व्याख्या की सुविधा के लिए स्वीकार कर ली गई है। इलेक्ट्रा एगामेम्नन की लडकी थी। उसकी माँ ने उसके पिता का वध कर डाला था और उसके भाई ओरेस्टीज का वध करने की योजना भी

बनाई थी। किन्तु इलेक्ट्रा ने अपने भाई की जान बचा ली और भाई को माँ से पिता की मृत्यु का बदला लेने को उकसाया और सहायता दी।

यह काम्प्लेक्स प्रकृत-अप्रकृत हर व्यक्ति के अचेतन मन में विकसित होने वाले जातीय सस्कार होते है। लिबिडो के स्थायीकरण से काम्प्लेक्सो का कार्य अस्वस्थ और कुदिशान्तरित हो जाता है। स्थायीकरण के अभाव में प्रकृत रूप से युवावस्था आने पर इडिपस और इलेक्ट्रा काम्प्लेक्सो की कार्यशक्ति नष्ट हो जाती है और वे व्यक्ति के सतुलित और प्रकृत व्यवहार में बाधक नही बनते।

द्वन्द (Conflicts)—मानसिक द्वन्द से कोई भी मनुष्य नही बचा है। द्वन्द व्यवहार के प्रेरको की पारस्परिक स्पर्धा के कारण होते है। द्वन्द काम्प्लेक्सो के कारण होते भी है और उन्हे पैदा भी करते है। सच तो यह है कि हर द्वन्द के पीछे प्राय कोई न कोई काम्प्लेक्स रहता है। अर्जुन ने रणभूमि मे पहुँचकर यह देखा कि चारो ओर उसके सगे-सम्बन्धी खडे है। उसके सामनें एक ओर तो सगो को न मारने का प्राचीन नैतिक आदर्श था और दूसरी ओर क्षात्रधर्म के पालन का आदर्श था। दोनो ही उसे अपनी अपनी ओर खीचने लगे। बस उसके मन में द्वन्द छिड गया। अर्जुन की भाँति हम सभी के मन में सामाजिक, आर्थिक और व्यक्तिगत समस्याओ के कारण अनेक प्रकार के द्वन्द होते रहते है। द्वन्द दो प्रतियोगी इच्छाओ में भी हो सकता है और कामो में भी। अगले अध्याय में यह देखा जायगा कि द्वन्दात्मक अवस्था में व्यक्ति किस तरह सतुलित प्रतिक्रियाएँ करने की चेष्टा करता है? द्वन्दो को शात करने के लिए क्या करता ह? और द्वन्दो से उसकी प्रतिक्रियाओ के रूप प्रकृत और अप्रकृत कैसे बन जाते है?

६

प्रतिक्रियाओं के रूप

इस बात की ओर लगातार सकेत किया जाता रहा है कि व्यक्ति अपने व्यवहार द्वारा किसी न किसी स्थिति से अपना सतुलन करने की चेष्टा करता है। व्यक्ति की प्रत्येक प्रतिक्रिया किसी परिस्थिति से सतुलन करने का परिणाम होती है। प्रत्येक प्रतिक्रिया के पीछे कोई न कोई प्रेरक अवश्य होता है। प्रेरकहीन प्रतिक्रिया की कल्पना कर सकना मुश्किल है। व्यक्ति की प्रतिक्रियाओ का अध्ययन करने से हमे उसके स्थायीभावों (sentiments), प्रवृत्तियो तथा रुचियो का पता चलता है, जिससे हम उसके मानसिक सगठन की उस विशेषता को जान सकने मे समर्थ होते है जो मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रमुख लक्ष्य है।

मनुष्य की अनेक प्रतिक्रियाएँ किसी न किसी कठिनाई का सामना करने का परिणाम होती है। सोना, खाना, कपड़े पहनना, नहाना, टहलना आदि क्रियाओ के अतिरिक्त वह और भी अनेक क्रियाएँ करता रहता है। उपर्युक्त क्रियाओ में चाहे वह प्रकट रूप से कठिनाइयो का सामना भले ही न करता हो किन्तु उनके अतिरिक्त वह जो भी क्रियाएँ करता है वे किसी न किसी कठिनाई के प्रति ही की गई होती है। कठिनाइयो का सामना करने के लिए वह प्रतिक्रियाएँ किस प्रकार करता है? इससे उसकी सतुलन करने की शक्ति का पता चलता है। अगर मानवी प्रेरक न होते तो मनुष्य के लिए जीवन म कोई कठिनाई भी न होती क्योकि कठिनाई वह चीज होती है जो प्रेरक में बाधक बनती है। मनुष्य जो कुछ करना चाहता है उसमें बाधक बनने वाली बातें उस मनुष्य की कठिनाइयाँ होती है। कठिनाई आन्तरिक भी हो सकती है और बाह्य भी। इसलिए हम कठिनाइयो का वर्गीकरण आन्तरिक तथा बाह्य कठिनाइयो मे कर सकते है।

आन्तरिक कठिनाइयाँ—आन्तरिक कठिनाइयाँ दो तरह से पैदा हो सकती है : (१) व्यक्तिगत दोष के कारण प्रेरको में बाधा पड़ने से; या (२) अन्य प्रतिद्वन्दी प्रेरको के कारण किसी उद्देश्य में बाधा पड़ने से। मान लीजिए कोई लँगडा लड़का किसी ऐसे विद्यालय में पढ़ने जाय जहाँ खेल कूद को

बहुत महत्त्व दिया जाता हो। लँगड़े की इच्छा भी खेल-कूद में भाग लेकर शाबासी पाने की होती है किन्तु वह अपने शारीरिक दोष के कारण खेल-कूद में भाग नही ले पाता जिससे उसकी खेल-कूद की प्रवृत्ति के पूरा हो सकने मे बाधा पडती है। यहाँ लँगडापन उस लडके की उद्देश्यपूर्ति में शारीरिक दोष से पैदा होने वाली आन्तरिक कठिनाई होगी जिसका असर उसके सतुलन कर सकने पर या न कर सकने परपडेगा। किंतु अपनी शारीरिक बाधा को आन्तरिक या वाह्य कठिनाई समझना लड़के के व्यक्तिगत दृष्किोण पर भी निर्भर होगा।

व्यक्तिगत दोष वास्तविक भी हो सकते हैं और काल्पनिक भी। कुछ लोग आया अवसर हाथ से इसलिए खो बैठते है कि वे अपने को गरीब घर का या मन्दबुद्धि माँ-बाप का लडका समझते है। लेखक का एक विद्यार्थी औसत बुद्धि का होते हुए भी इन्टरमीडियेट परीक्षा में इसलिए सफल न हो सका कि वह अपने को मन्दबुद्धि माँ-बाप की सन्तान होने के कारण हीनता काम्प्लेक्स (inferiority complex) का स्थायी शिकार बन चुका था। हीनता की भावना, चाहे उसके पैदा होने का कोई भी कारण क्यो न हो, व्यक्ति के उत्साह को भग कर उसे निष्क्रिय बना देती है।

आन्तरिक कठिनाई या बाधा दो उद्देश्यो के परस्पर प्रतिद्वन्दी बन जाने से भी पैदा होती हैं। जब दो प्रतिद्वन्दी उद्देश्य एक साथ ही सक्रिय हो जाते हैं तब एक ऐसी मानसिक अवस्था पैदा हो जाती है जिसे मानसिक द्वन्द (mental conflict) कहा जाता है। मानसिक द्वन्द दैनिक जीवन की साधारण घटना है। जब व्यक्ति का कोई तीव्र उद्देश्य या परिस्थिति उसे उसके आत्मनिर्धारित आदर्शो के प्रतिकूल चलने को विवश करने लगती है तब मानसिक द्वन्द होता है। जो लोग अपना आत्म-निर्धारण (ego-identification) सच बोलने से कर लेते हैं उन्हें झूठ बोलने पर ऐसा लगता है मानो उनका मानसिक विच्छेद हो रहा हो और तब वे तीव्र मानसिक द्वन्द का अनुभव करते हैं।

यद्यपि मानसिक द्वन्द विशेषतः व्यक्तिगत और सामाजिक उद्देश्यो के बीच हुआ करता है किंतु वह व्यक्ति के दो प्रतिद्वन्दी उद्देश्यो से भी हो सकता है। डर और क्रोध, सेक्स और रागात्मक भावना और व्यक्ति की विभिन्न प्रवृत्तियो में भी द्वन्द हो सकता है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता में बाधक बनने वाली सामाजिक बातें ही मानसिक द्वन्द उत्पन्न करने का कारण नही होती; द्वन्द व्यक्ति की अपनी विरोधी भावनाओ से भी उत्पन्न होता है। रणक्षेत्र में अर्जुन के अन्दर मानसिक द्वन्द उसकी दो विरोधी भावनाओ से उत्पन्न हुआ था। एक ओर तो क्षात्रधर्म का पालन करने की भावना थी

जिससे वह अपने ही सगे-सम्बन्धियो का हत्यारा बनता था और दूसरी ओर सगे-सम्बन्धियो की हत्या न करने की भावना थी जो उसके क्षात्रधर्म-पालन मे बाधक बन रही थी।

वाह्य कठिनाइयाँ—व्यक्ति की उद्देश्यपूर्ति में बाधक बननेवाली बहुत सी कठिनाइयाँ परिवेश मे होती हैं। कानून का डर लोगों की असामाजिक प्रवृत्तियो मे बाधा डालता है। बेकारी मनुष्य के लिए उसके बाल-बच्चों के लालन-पालन मे कठिनाई पैदा करती है। पत्नी की उपस्थिति पति के व्यभिचार के खुले मार्ग का रोड़ा होती है। समाज ने मनुष्य की अवाछनीय प्रवृत्तियो पर रोक लगाने के लिए दण्ड का विधान कर रक्खा है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन तरह तरह की पारिवेशिक कठिनाइयो या बाधाओ से घिरा रहता है और वह या तो उन्हे अपने मार्ग से हटाने का प्रयत्न करता है या फिर उनसे अपना सतुलन कर लेता है।

किंतु अप्रकृत (abnormal) व्यवहार मे जितना हाथ व्यक्ति की आन्तरिक बाधाओ का होता है उतना वाह्य बाधाओं का नही होता। व्यक्ति इन बाधाओ को सुलझाने के लिए अनेक प्रकार से प्रतिक्रियाएँ करता है। आगे यह स्पष्ट हो जायगा कि व्यक्तित्व का विकार एक बिना हल की गई कठिनाई ही होती है और न्यूरोटिक या साइकोटिक क्रिया उस कठिनाई को हल करने का एक अविच्छिन्न तथा असफल प्रयत्न होती है। अब कठिनाई हल करने के लिए व्यक्ति द्वारा की जाने वाली पहले सतुलित या प्रकृत (normal) प्रतिक्रियाओ और उसके बाद असतुलित या अप्रकृत (abnormal) प्रतिक्रियाओ पर विचार किया जायगा।

संतुलित प्रतिक्रियाएँ

१—प्रत्यक्ष चूक-चेष्टा (explicit trial and error)—चूक और चेष्टा द्वारा समस्या का समाधान करने पर सीखने के प्रसग में और कही पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। चूक-चेष्टा संतुलित या प्रकृत (normal) प्रतिक्रिया का सबसे अच्छा तरीका है। जब किसी उद्देश्य की पूर्ति में कोई वाधा पडती है तो व्यक्ति स्थिति से अपना सतुलन करने के लिए चूक-चेष्टा का सहारा लेता है। मान लीजिए कोई लडका पेड पर लगे पके आम देखता है और उसमें उन आमो को खाने का उद्देश्य जाग्रत होता है। किन्तु आम पहुँच के बाहर होने से उसके उद्देश्य-पूर्ति में बाधा पड़ती है। लड़का आम पाने के लिए जो प्रतिक्रियाएँ करेगा वे उसकी एक विषम स्थिति से अपना सतुलन कर सकने की क्षमता पर निर्भर होगी। मान लीजिए कि लडका पेड

के नीचे बैठकर रोने लगता है। उसकी यह क्रिया न तो चूक-चेष्टा के स्तर की होगी और न स्थिति से संतुलन करने की दिशा मे ही। यहाँ उसके उद्देश्य की बाधा रोने की असतुलित प्रतिक्रिया द्वारा व्यक्त होने लगती है और स्थिति से उसका सतुलन नही करा पाती। ऐसे लडके को मूर्ख ही कहा जायगा।

अब मान लीजिये उसी उम्र का एक दूसरा लडका भी आम देखता है और वह बैठकर रोने की अपेक्षा एक डडा लेकर आमों को तोडने की कोशिश करता है। डडा छोटा पड़ता है इसलिये वह लडका डडे से कोशिश करना छोडकर पेंड़ पर चढने लगता है किन्तु चढ नही पाता। इस पर वह ककड मारकर आम गिरा लेने में सफल होता है। इस प्रकार वह चूक-चेष्टा द्वारा आम तोडकर उन्हे खा सकने के उद्देश्य को पूरा करने में सफल होता है।

२—परोक्ष चूक-चेष्टा (implicit trial and error)—प्रत्यक्ष चूक-चेष्टा के अलावा समस्या समाधान में परोक्ष चूक-चेष्टा से भी काम लिया जाता है। चूक-चेष्टा के इन दोनो प्रकारो मे कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नही खीची जा सकती। अब मान लीजियें कि कोई तीसरा लडका भी पेड पर लगे आम खाना चाहता है। वह भी पेड के नीचे बैठ जाता है लेकिन पहले लड़के की तरह रोता नही। वह एक बार आमो की ओर देखता है और फिर डडे की ओर और मन ही मन यह निर्णय कर लेता है कि डडा छोटा है। वह पेड की ऊँचाई और अपनी शक्ति का अनुमान करके पेड पर चढने के विचार को भी मन ही मन अस्वीकृत कर देता है। फिर उसकी नजर ककडो की ओर जाती है और वह मन ही मन में उन्हे मारकर आम तोडने का निश्चय कर लेता है।

इस प्रकार दूसरा और तीसरा दोनो लडके आम तोडने के लिए चूक-चेष्टा करते है। अन्तर केवल इतना है कि दूसरे लडके की चूक-चेष्टा प्रत्यक्ष होती है जिससे उसे देखा जा सकता है क्योकि दूसरा लडका अपने हाथ-पैरो का उपयोग करता है। तीसरे लडके की चूक-चेष्टा परोक्ष होती है और सोच-विचार के रूप की होती है जिसे देखा नही जा सकता। चूक-चेष्टा का ज्यादा सफल रूप प्रत्यक्ष और परोक्ष चूक-चेष्टा (trial and error) का मेल होता है। अलग अलग व्यक्तियो में चूक-चेष्टा के उपर्युक्त किसी एक प्रकार की प्रधानता अधिक हो सकती है। बहिर्मुखी (extravert) व्यक्ति में प्रत्यक्ष चूक-चेष्टा और अन्तर्मुखी (introvert) व्यक्ति में परोक्ष चूक-चेष्टा की प्रधानता होती है।

चूक-चेष्टा के प्रत्येक रूप के पीछे मनुष्य की वुद्धि रहती है जो उसके पास स्थिति से अपना सतुलन कर सकने का सवसे उत्तम साधन होती है।

जहाँ वाह्य कठिनाई से संतुलन करने के लिए चूक-चेष्टा से काम लिया जाता है वहाँ मानसिक सघर्ष की स्थिति से सतुलन करने के लिए अवरोध (inhibition) से काम लिया जाता है। चूक-चेष्टा मे देर लगती है और मानसिक सघर्ष की स्थिति में तत्काल सतुलन करने की जरूरत होती है इसलिए चूक-चेष्टा की जगह अवरोध की जरूरत पड़ती है।

३—अवरुद्ध प्रतिक्रियाएँ (inhibitory reactions)– दैनिक जीवन में विभिन्न ग्राहकों द्वारा हमें प्रतिक्षण अनेक प्रकार की उत्तेजनाएँ मिलती रहती है जो एक साथ ही अनेक दिशाओं में काम करने की प्रेरणा देती है। हम किसी समय एक ही दिशा में काम करने की प्रेरणा देने वाली विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो का अवरोध (inhibition) करते रहते है। यह अवरोध ग्राहको के न्यूरोनीय-सामीप्यो (synapses) पर होता है जिससे अनेक प्रतियोगी उत्तेजनाएँ हमारी न्यूरोनीय शक्ति के उस एकमार्गी प्रवाह में बाधा नही डाल पाती जो किसी समय एक ही दिशा मे काम करते रहने के लिये बहुत जरूरी होता है। अवरोध द्वारा किसी प्रवृत्ति को कार्यान्वित होने से रोका जाता है।

अवरोध के दो पक्ष होते है। अवरोध से एक ओर तो प्रवृत्ति का अवरोध होता है और दूसरी ओर अवरोध-जन्य शक्ति का व्यय करने के लिये उसके निर्गम का मार्ग बनाना पडता है। गुस्से का अवरोध कर लेने पर एक प्रकार का मानसिक तनाव पैदा हो जाता है जिससे हमारा आन्तरिक शारीरिक प्रबन्ध थोडी देर के लिये अव्यवस्थित बन जाता है। इस प्रकार उस तनाव से अपना सतुलन करने के लिए हमें उसके निर्गम के लिये कोई अहानिकर उपाय ढूँढना पडता है। गुस्से को पी जाने की अपेक्षा उसे किसी अन्य रूप मे प्रकट कर देना स्थिति के प्रति कही अधिक सतुलित व्यवहार करना होता है। गुस्से आदि से उत्पन्न होने वाले शारीरिक तनाव को दूर न करने से हो सकता है कि घटे आध घटे बाद सिरदर्द, कब्ज या थकान मालूम होने लगे।

किसी उत्तेजना का अवरोध करने का अर्थ उसे सदा के लिये दबा देना न होकर भविष्य में उसके फिर जाग्रत करने की सम्भावना बनाए रखना होता है। अवरोध की प्रतिक्रिया में व्यक्ति को अवरुद्ध की जानेवाली प्रवृत्ति का ज्ञान रहता है और भविष्य में उसके जाग्रत होने पर उसे उस प्रतिक्रिया से उत्पन्न होने वाला गुणात्मक (रागात्मक) अनुभव भी होता है।

चूक-चेष्टा का स्थान अवरोध के दूसरे पक्ष में होता है। अपने उद्देश्यो (motives) की अवरुद्ध-शक्ति का उचित इस्तेमाल कर सकना सीखना

पडता है। वैयक्तिक भेद के कारण अवरुद्ध शक्ति का इस्तेमाल करना सीखना व्यक्तिगत स्थिति पर निर्भर करता है। यदि कोई युवक किसी कारणवश अपनी कामेच्छा का अवरोध करता है तो उसके सामने उस कामेच्छा से पैदा होने वाले तनाव को दूर करने के लिये किसी अन्य सन्तोषप्रद साधन ढूँढने की समस्या आती है और यही पर उसे चूक-चेष्टा की जरूरत पडती है। एक अपना तनाव गाना सुनकर, दूसरा नाच देखकर और तीसरा प्रेम कहानियाँ पढकर दूर कर सकता है।

अवरोध के विषय मे एक महत्वपूर्ण प्रश्न और रह जाता है। जब किसी उत्तेजना का अवरोध होता है तो उस अवरोध को करने वाली चीज क्या होती होगी ? निश्चय ही कोई शक्ति या फिर और कुछ। इस प्रश्न का निर्णय कर लेना बहुत जरूरी है। अवरोध करने वाली चीज व्यक्ति के उद्देश्यो का वह संगठन होती है जो उस व्यक्ति के आत्मनिर्धारण (ego identification), जीवन की सार्थकता और व्यक्तित्व की समर्थक होती है। इसी सगठन से व्यक्ति का अहम् निर्मित होता है। व्यक्ति अपने को जो कुछ समझता है, अपने बारे में जो कुछ अनुभव करता है और अपने को जैसा बनाए रखना चाहता है, वह उसका विरोध करने वाली प्रत्येक उत्तेजना का अवरोध करता है। यदि व्यक्ति किसी प्रेरणा में बह कर अपने मन के समर्थन के प्रतिकूल क्रिया करने को विवश हो जाता है तो यह अवरोध की दशा न होकर अनायास व्यवहार की दशा कहलाती है।

एक ही उद्देश्य या प्रेरणा विभिन्न स्थितियो मे व्यक्ति की अहम्-भावना के प्रतिकूल भी हो सकती है और अनुकूल भी। बच्चे द्वारा किए गये अपमान का अवरोध कर लिया जाता है किन्तु वयस्क द्वारा किए गए का नही। जीवन की विभिन्न कठिनाइयो का सामना करने और उनसे अपना सतुलन वनाये रख सकने में अवरोध और चूक-चेष्टा की प्रतिक्रियाएँ सबसे ज्यादा प्रकृत (normal) होती है। यदि व्यक्ति बचपन से वृद्धावस्था तक उन्ही का सहारा ले तो उसके व्यक्तित्व के विकृत होकर अप्रकृत (abnormal) वन जाने की सम्भावना नही रहेगी। किन्तु अभाग्यवश अधिकाश लोग जीवन की कठिनाइयो का समाधान करने के लिए कुछ ऐसी प्रतिक्रियाओ का सहारा लेते है जो कम सतुलित होती है।

अर्द्ध-संतुलित प्रतिक्रियाएँ

व्यक्ति अपने जीवन का सचालन अपने कुछ आदर्शों के अनुसार करता है। अनुभव, परम्परा और अपने समाज की प्रथाओ के अनुसार वह अपने

जगत की सार्थकता प्राप्त करता है और उसी के आधार पर उसका दृष्टिकोण बनता है जो उसकी हर प्रतिक्रिया को प्रभावित करता रहता है। व्यक्ति के अधिकांश मूलभूत आदर्श उसके बचपन में ही बनते है जिस समय कि उसकी मानसिक क्षमताओ का पूर्ण विकास भी नही हो सका होता है इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि प्रारम्भिक अवस्था मे बन चुके आदर्श बाद में व्यक्ति के लिये घातक साबित होने लग जाते है।

यदि व्यक्ति के आदर्शो का निर्माण समाज के समर्थन के अनुकूल होता है तो व्यक्ति मे अपने प्रति एक पक्की निष्ठा, पूर्णता और परिवेश तथा अन्य लोगो से सम्बन्धित होने की भावना आ जाती है। जिस व्यक्ति का आदर्श उसकी सामाजिक परम्परा के प्रतिकूल बनता है उसमे पक्की निष्ठा, पूर्णता और परिवेश तथा अन्य लोगो से सम्बन्धित होने की भावना नही आ पाती जिससे वह अपने आप को लोगो से अलग समझने लग जाता है। धोबी के घर में पैदा होने वाला लड़का यदि धोबी न बनकर डिप्टी कलेक्टर या और कुछ बनना चाहे तो उसे अपने परिवेश में बहुत से अभाव मिलेंगे। अपने लोगो के अलावा जब वह अन्य सुशिक्षित लोगो के बीच मे जायगा तो उसमें आत्मा-भाव और हीनता की भावना रहेगी।

अपने समाज और परम्परा के प्रतिकूल आदर्शों का निर्माण करने से व्यक्ति में हीनता-काम्प्लेक्स (inferiority complex) पैदा होता है। हीनता की भावना कुछ क्षमताओ, प्रवृत्तियो या प्रतिक्रियाओ तक सीमित हो सकती है या उसका सामान्यीकरण हर स्थिति के लिए हो सकता है। जो व्यक्ति बचपन मे निश्चित आदर्शो का निर्माण नही कर पाता उसमें वयस्क होने पर हीनता की भावना तो नही होती किन्तु उसका दृष्टिकोण कुछ अनि-श्चयात्मक अवश्य बन जाता है।

हीनता-काम्प्लेक्स पैदा करने वाली कुछ सामान्य बातें—हीनता काम्प्लेक्स (inferiority complex) सदा व्यक्ति के आत्मनिर्धारण (ego-identi-fication) के कारण नही होता। वह अन्य कारणो से भी होता है। अपरिवर्तनीय परिस्थितियो के कारण लडके को कभी कभी विवश होकर अपना आत्मनिर्धारण सामाजिक परम्पराओ के अनुकूल करना पड़ता है, नही तो उसके परिवार के लोग उसकी उपेक्षा करने लग जाते है जिससे अनभिज्ञतावश लड़के को उन्ही के निर्णयो के अनुसार चलना पड जाता है। इस प्रकार लडके का आत्म असन्तोष उसमें हीनता-काम्प्लेक्स पैदा कर सकता है।

शारीरिक दोष भी चाहे वे वास्तविक हो या काल्पनिक हीनता-काम्प्लेक्स उत्पन्न करने में सहायक बनते है। लँगडे-लूले, अन्धे-काने लडके मे हीनता-काम्प्लेक्स बन जाना स्वाभाविक है। किन्तु यदि लडका बुद्धिमान हो और उसके माँ-बाप समझदार हो तो उसका आत्मनिर्धारण किसी अन्य दिशा में हो सकता है जिससे उसमे हीनता-काम्प्लेक्स बनने की सम्भावना कम हो सकती है। हीनता-काम्प्लेक्स पैदा करने में माँ-बाप की प्रवृत्ति का बडा असर पडता है। मेरे एक विद्यार्थी की नाक जरा बेडौल थी और उसके माँ-बाप उसकी नाक की तुलना सदा अन्य लडको की नाक से कर उसकी आलोचना किया करते थे। फलत उस लडके मे अपने शरीर के प्रति घृणा भाव पैदा हो गया और हीनता की भावना जड पकड गई। अगर उसके माँ-बाप की प्रवृत्ति मूर्खता-पूर्ण न होती तो उसमे हीनता की भावना कभी न पनप पाती।

हीनता-काम्प्लेक्स निम्न सामाजिक या आर्थिक स्तर पर होने से भी पैदा होता है। जरा सोचिए कि हिन्दू-समाज की जाति-प्रथा कितने लोगो में हीनता-काम्प्लेक्स की भावना उत्पन्न करती होगी? घर से वहुत समय तक पिता की अनुपस्थिति या बिना बाप का होना भी लडके मे हीनता-काम्प्लेक्स पैदा करने में सहायक बनते है। हीनता-काम्प्लेक्स को उत्पन्न करने वाले और कारण भी है किन्तु अब हम यह देखेगे कि हीनता-काम्प्लेक्स से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयो के प्रति व्यक्ति किस तरह प्रतिक्रियाएँ करता है।

४--क्षतिपूरक (compensatory) प्रतिक्रियाएँ—राबिन्सन आदि लेखको ने मनुष्य के सारे प्रत्यक्ष व्यवहार और चिन्तन को क्षतिपूरक प्रति-क्रिया कहा है। किन्तु क्षतिपूरक प्रतिक्रियाओ का क्षेत्र इतना विशद् बना देना वर्णन और व्याख्या करने के दृष्टिकोण से निरर्थक हो जाता है। इसलिए हम क्षतिपूरक प्रतिक्रियाओ को सीमित अर्थ में ही समझने की चेष्टा करेंगे।

प्रत्येक मनुष्य के जीवन की सार्थकता अन्य बातो की अपेक्षा प्रमुख रूप से अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा तथा अपने को दूसरो के समान समझ सकने में होती है। उसकी सारी प्रतिक्रियाओ के पीछे इन्ही दो प्रमुख लक्ष्यो को प्राप्त करने का उद्देश्य रहता है। जब तक व्यक्ति अपने आपको निश्चित ढग से सुरक्षित और अपनी ही उम्र और समाज के लोगो के समान नही समझता तब तक इन दो प्रमुख समस्याओ का उसके जीवन में सबसे बडा महत्त्व रहता है। जो व्यक्ति अपने आत्म-निर्धारण (ego-identific-ation) से गिर जाता है और अपने आपको दूसरो के समान समझ सकने

में असफल रहता है वह क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ करने लग जाता है। आत्मनिर्धारण से गिर जाने पर उससे लिए उसके परिवेश की सार्थकता कम हो जाती है और वह अनेक प्रकार के अभावो का अनुभव करने लग जाता है। अभाव या अपूर्णता की भावना हर स्थिति में हीनता-काम्प्लेक्स (inferiority complex) को पैदा करती है जिससे वह अपने अन्दर कमी अनुभव करने के कारण आत्म-सम्मान (self regard) का स्थायीभाव (sentiment) नही बना पाता और अपनी ही नजर मे गिर जाता है।

क्षतिपूरक क्रिया व्यक्ति की स्वयकृत स्थानापन्न क्रिया होती है जिसके द्वारा वह अन्य लोगो से अपनी समानता स्थापित करने की कोशिश करता है। हीनता की भावना ही व्यक्ति से स्थानापन्न क्रिया करवाती है क्योकि हीनता की भावना के दबाव से व्यक्ति किसी स्थिति के प्रति सतुलित ढग से प्रतिक्रिया कर सकने में अपने को असमर्थ पाता है और किसी अन्य उपाय से आत्म-सन्तोष और दूसरो का समर्थन पाने की चेष्टा करता है। क्षतिपूरक प्रति-क्रिया उसकी हीनता की भावना से प्रेरित होती है, उसके स्वाभाविक आत्म-निर्धारण के उद्देश्यो से नही।

जिस व्यक्ति में हीनता की भावना नही होती उसे किसी स्थिति से अपना सतुलन कर सकने मे असफल होने पर हीनता की भावना से उत्पन्न होने वाला गुणात्मक (रागात्मक) अनुभव नही होता और वह एक प्रतिक्रिया को आसानी से छोड़कर दूसरी प्रतिक्रिया करने लग जाता है। हीनता की भावना रखने वाले व्यक्ति को हीनता का गुणात्मक यानी रागात्मक अनुभव होता है। क्षतिपूरक प्रतिक्रिया द्वारा व्यक्ति अपनी कठिनाई से उत्पन्न होने वाली हीनता की भावना के दुखदायी अनुभव से मुक्त होना चाहता है और अपने को सक्षम समझना चाहता है।

उद्देश्य (motive) को जाने बिना किसी प्रतिक्रिया को क्षतिपूरक नही कहा जा सकता। झूठ वोलना या आत्मप्रशसा करना क्षतिपूरक हो भी सकता है और नही भी। इसे जानने के लिए हमें यह जान लेना होगा कि व्यक्ति के झूठ वोलने या आत्मप्रशसा करने का उद्देश्य क्या है।

अधिक अन्तर्मुखी व्यक्ति क्षतिपूरक क्रिया दिवा-स्वप्नो द्वारा करते है। दिवा-स्वप्न किसी उद्देश्य के विस्थापन का परिणाम होते है। वे उद्देश्य या तो आत्मनिर्धारण सम्वन्धी होते है या सेक्स (sex) सम्बन्धी। आत्मसापेक्ष होने से दिवा-स्वप्नो द्वारा व्यक्ति प्रकृत रूप से सन्तुष्ट नही हो पाता। दिवा-स्वप्नो में अपने आप को खोकर व्यक्ति जगत की कटु वास्तविकता से छुटकारा

पा जाता है और अपने आप को स्वतन्त्र समझने लगता है। इन सब बातो से स्पष्ट है कि दिवास्वप्न व्यक्ति को वास्तविकता से विमुख कर देते है। पागलखानो मे दिवास्वप्न के अनेक उदाहरण मिलते है। कोई अपने को गाधी बताता है तो कोई कालिदास। ऐसे लोग वास्तविक जीवन से सघर्ष करके जिस सुख-सन्तोष को नही पा सके होते हैं उसे वे अपने दिवास्वप्नो द्वारा पाने का उपक्रम करते है और जीवन की कठिनाइयो से अपना सतुलन (?) करते है।

यदि क्षतिपूरक प्रतिक्रिया एक हद के बाहर नही होती तो वह व्यक्ति के प्रकृत व्यवहार के सामान्य स्तर की सहायक बनती है। जिस व्यक्ति की परिस्थितियाँ उसकी वासनाओ को पूरा नही होने देती उसे क्षतिपूरक प्रतिक्रिया द्वारा वासना जन्य शारीरिक और मानसिक तनाव से कुछ मुक्ति मिलती है। नीरस काम करने वाले लोग यदि लडकियो के नख-शिख के बारे में बातें कर लेते हैं तो उनकी नीरसता कुछ हद तक सरसता में बदल जाती है जो उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए जरूरी है। यदि दिवास्वप्न प्रकृत (normal) व्यवहार के सामान्य स्तर में सहायक बनते है तो उन्हे वास्तविक अर्थ में क्षतिपूरक क्रिया न कहकर पूरक (complementary) क्रिया कहना ही अच्छा होगा।

यह न समझ लेना चाहिए कि क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ अन्तर्मुखी व्यक्ति ही अधिक करते हैं क्योकि हीनता की भावना उन्ही में अधिक होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति भी हीनता की भावना रखता है और क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ करता है। चूँकि उसका ध्यान सदा बहिर्मुखी बना रहता है इसलिए जब तक उसे बताया न जाय वह अपनी हीनता की भावना को जान नही पाता। बहिर्मुखी व्यक्ति का व्यवहार ही कुछ ऐसा होता है जो उसकी हीनता की भावना पर पर्दा डाले रखता है।

बहिर्मुखी व्यक्ति अपने आपको किसी बडे या अमीर आदमी, बडी सस्था या किसी बडे काम से सम्बन्धित कर क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ करते है। लेखक के परिचित एक ग्रामीण डाक्टर है जो अत्यन्त मामूली हैसियत के है लेकिन अपने को दूसरो के सामने दिखाना चाहते है बहुत बडी हैसियत का। इत्तफाक से उनकी एक लडकी की शादी बँगला और मोटर रखने वाले व्यक्ति के मामूली योग्यता रखने वाले लडके से हो गई है। बस, वे हर समय हर मिलने वाले से अपने समधी और दामाद की हद से ज्यादा बडाई करके अपनी हीनता की भावना को छिपाने के लिए क्षतिपूरक प्रतिक्रिया करते रहते है। हिन्दू

जाति भी अपने पूर्वजो का हद से ज्यादा गुणगान करके अपनी गिरी हुई हालत पर पर्दा डालने की क्षतिपूरक प्रतिक्रिया करती रहती है।

कभी कभी क्षतिपूरक प्रतिक्रिया अतिशय-निर्धारण (over-identification) का रूप ले लेती है। छोटे कद की स्त्री लम्बे व्यक्ति से शादी करना चाहती है जिससे उसके अतिशय-निर्धारण को सन्तोष मिल सके। बहुत से मामूली माँ-बाप अपनी क्षतिपूरक क्रिया का आरोप अपने बच्चे में करके उसे वह बनाना चाहते है जो वे स्वय कभी नही बन सकते थे। अगर बच्चा नालायक निकल जाय तो माँ-बाप को इतना सदमा पहुँचता है मानो वे स्वय नालायक बन गए हो। लेखक एक ऐसे व्यक्ति को जानता है जिसने नैतिक मूल्यो से अपना अतिशय-निर्धारण कर रक्खा था और फलस्वरूप अपनी अविवाहित लडकी के गर्भवती होने पर उसे जहर दे दिया था, लेकिन सौभाग्य से उस लड़की की जान बच गई थी। बहुत से लोगो का अतिशय-निर्धारण जड वस्तुओ से भी हो जाया करता है। यदि उनकी किसी प्रिय वस्तु की निन्दा कर दी जाय तो वे बुरी तरह बिगड़ उठते है।

अतिशय-निर्धारण से व्यक्ति कभी कभी अपने को ऐसी चीजो से सम्बन्धित कर लेता है जिनको सँभालना उसकी शक्ति के बाहर होता है। तब यह खतरा रहता है कि कही वह उसी चीज के ख्याल में हरदम न डूबा रहे। ऐसा हो जाने पर उसका व्यक्तित्व मिट जाता है और वह स्वयं अपनी प्राप्य वस्तु की छाया मात्र बनकर रह जाता है।

हीनता की भावना पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों मे ज्यादा होती है। बहुत सी स्त्रियाँ अपने बनाव-श्रृगार मे इतना समय लगा देती है कि उन्हे अपने मानसिक विकास के लिए समय नही मिल पाता। कोई लडकी औसत बुद्धि की हो सकती है लेकिन बनाव-श्रृगार की ओर ज्यादा ध्यान देकर पढाई की उपेक्षा कर परीक्षा में फेल हो जाती है।

हम आप रोजाना नही तो हफ्ते भर में कितनी परनिन्दा करते हैं ? मुझे न बताइये लेकिन अपने आप से पूछ जरूर लीजिये क्योकि परनिन्दा करना क्षतिपूरक प्रतिक्रिया का ही एक रूप है। हम जिस व्यक्ति से अपने को हीन समझते है उससे या तो अपने को बडा बताते है या उसकी निन्दा करके उसे अपने आप से नीचा बताते है। दूसरो का मजाक उड़ाकर हम अपनी कमियो और दुर्बलताओ पर पर्दा डालने की कोशिश करते है। मेरा अनुभव है और आपका भी होना चाहिए कि हमारे और आपके घर की औरते दिन-रात न जाने कितनी परनिन्दा किया करती है। अब उनको कौन समझाए

कि परनिन्दा करके वे अपनी ही हीनता की भावना को छिपाने का असफल प्रयत्न करती है। यह रह गया है भारत की आदर्श नारियो का रूप! पर-निन्दा द्वारा क्षतिपूरक प्रतिक्रिया करने के लिए ऐसे व्यक्ति को चुना जाता है जो परनिन्दा करने वाले से श्रेष्ठ होता है। जिन्हे हम यथार्थ में अपने से छोटा या नीचा समझते है उनकी निन्दा नही करते।

दूसरो पर दोषारोपण करना क्षतिपूरक प्रतिक्रिया का एक और रूप है। कम नम्बर पाने वाले विद्यार्थी परीक्षक को दोष देते है कि वह उनसे चिढा हुआ था जिससे उन्हे कम नम्बर मिले। दूसरे पर दोषारोपण करके व्यक्ति अपनी हीनता की भावना से अपनी रक्षा करता है। परदोषारोपण से व्यक्ति रचनात्मक दिशा में काम करने की उपेक्षा करन लग जाता है।

भाग्य के सहारे बैठे रहना, चोरी करना, झूठ बोलना और अन्य प्रकार के असामाजिक काम करना, आत्मप्रशसा करना, बहुत जोर से बात करना, बना-वटी काम करना या बनावटी दिखावा आदि जहाँ तक हीनता की भावना को छिपाने के प्रयत्न होते हैं वहाँ तक उन्हे क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ कहा जा सकता है।

५—प्रतिष्ठापन (Rationalisation)—किसी बात को अपनी और दूसरो की दृष्टि में उचित साबित करने की कोशिश करना प्रतिष्ठापन कहलाता है। प्रतिष्ठापन द्वारा कोई बात अपनी और सब की दृष्टि में प्रतिष्ठित बनाई जाती है। अनेक प्रकार की क्षतिपूरक प्रतिक्रियाएँ प्रतिष्ठापन द्वारा सम्भव होती है। किसी विचार, इच्छा या काम के पीछे जो उद्देश्य होता है उसे प्रति-ष्ठापन द्वारा उचित बनाया जाता है। प्रतिष्ठापन का कारण या तो साध्य या फिर साधन का निन्दनीय होना होता है। कामचोर आदमी यह नही कहता कि वह स्वय काम से जी चुराता है वरन् काम न कर सकने के अनेक बहाने ढूँढकर अपनी कामचोरी का प्रतिष्ठापन करता है। दैनिक जीवन में हम सभी अनेक प्रकार से अनुचित बातो का प्रतिष्ठापन करते रहते हैं। प्रतिष्ठापन करना अपने आपको धोखा देना होता है। प्रतिष्ठापन का एक रूप आत्मभर्त्सना करना भी होता है। आत्मभर्त्सना के पीछे आत्मप्रशसा का ही उद्देश्य रहता है। जिस लडकी को अपनी सुन्दरता पर बडा अभिमान होता है यदि कोई उसकी सुन्दरता की प्रशसा करे तो वह जबाब में यह कहती है : "मैं क्या हूँ ? मुझसे भी अच्छी-अच्छी पडी है।"

क्षतिपूरक क्रियाएँ व्यक्ति की अक्षमता की भावना से एक सीमा तक उसका सतुलन करा सकने में सहायक वन सकती है। किन्तु कभी कभी उनके कारण व्यक्ति का व्यवहार विल्कुल असतुलित वन जाता है। क्षतिपूरक

क्रियाएँ और प्रतिष्ठापन यद्यपि अधिकांश लोगों के लिए जरूरी हो सकते हैं किन्तु वे अच्छे सतुलन के लिए कदापि जरूरी नही होते। उनकी आवश्यकता वही तक है जहाँ तक वे व्यक्ति की मानसिक शाति को बनाए रख सकने मे सहायता देते हैं।

असंतुलित प्रतिक्रियाएँ

६—ऋणात्मक (negativistic) प्रतिक्रियाएँ—किसी स्थिति से प्रभावित न होने का पक्का इरादा बनाकर प्रतिक्रिया करने से इनकार कर देने को ऋणात्मक प्रतिक्रिया कहा जाता है। बहुत से लोग ऋणात्मक प्रतिक्रिया कर इस बात का अभिमान करने लग जाते हैं कि उनके निर्णय को ससार की कोई शक्ति बदल या प्रभावित नही कर सकती। ऋणात्मक प्रवृत्ति का असर पाचन-क्रिया पर पड़ सकता है और व्यक्ति खतरनाक कब्ज से पीडित बन सकता है। ऋणात्मक प्रतिक्रियाएँ वे लोग ज्यादा करते हैं जिनमें आत्म-रक्षा की भावना कम होती है और जो स्वाभाविक ढग से समाज अनुमोदित प्रतिक्रियाएँ कर सकने में अक्षम होते हैं। आत्मरक्षा की भावना कम होने के दो कारण हो सकते हैं भावात्मक आत्मनिर्धारण न कर पाना और जातीय उद्देश्यो (racial motives), विशेषकर निर्देशनग्राह्यता (suggestibility) का अप्रकृत रूप से विकसित हो जाना। दोनो दशाओ मे व्यक्ति को अपने आचरण के लिए उचित मार्ग-दर्शक नही मिल पाता जिससे वह दूसरो के कहने-सुनने पर ज्यादा निर्भर होने लग जाता है। यदि उसमें समाज अनुमोदित प्रतिक्रियाओ का निर्माण स्वाभाविक रूप में हो चुका होता तो वह आत्मानुमोदन (self-assertion) और आत्मनिवेदन (self-submission) की भावनाओ मे समझौता कर पाता। लेकिन ऐसा न होने पर उसे या तो अन्य व्यक्तियो या स्थितियो के प्रभाव मे आना पड़ता है या वह उनके प्रभाव को रोकने की चेष्टा करता है। अन्य व्यक्तियो या स्थितियो से प्रभावित न हो सकने की भावना ही ऋणात्मक प्रतिक्रिया को जन्म देती है। लेखक द्वारा विश्लेषित एक केस देखिए :

केस १—राम—नामक ठाकुरो की निम्न जाति का लगभग ४४ वर्षीय व्यक्ति। उसका बाल्यकाल गाँव के पिछडे और अविकसित परिवेश में बीता और उसके मनस् पर उसके जातीय संस्कारो की अमिट छाप पड गई। बाद में जब वह स्कूल में अध्यापक हुआ तो अपने स्वभाव के कारण किसी का भी प्रिय न बन सका। अब वह एक इटर कालेज का प्रधान है। लेकिन निम्न सामाजिक स्तर पर से इतना ऊँचा उठने के

कारण वह अन्य अध्यापको को बात-बात में डराने-धमकाने आदि में ही अपना बडप्पन समझता है क्योकि यह उसके अपने ही अविकसित गाँव के परिवेश का प्रभाव है। एक ओर तो बचपन में उसे सभ्य एव शिष्ट समाज अनुमोदित नैतिक या सास्कृतिक आदर्शों से अपना भावात्मक आत्मनिर्धारण (ego-identification) कर सकने का अवसर नही मिला और दूसरी ओर उसके परिवेश ने उसके जन्मत प्राप्त जातीय सस्कारो को अप्रकृत -रूप से विकसित हो जाने का पर्याप्त अवसर दिया जिससे वह आत्मानुमोदन और आत्मनिवेदन की भावनाओ में शिष्ट समाज सापेक्ष कोई समझौता नही कर पाता। फलत विद्यालय में अपने से सभ्य और शिक्षित अध्यापको के सम्पर्क में आने पर भी वह उनके सस्कृत प्रभाव की छाप से अप्रभावित रहने की बलात् चेष्टा करता है। नतीजा यह है कि वह अपनी ही बुद्धि पर ज्यादा भरोसा कर सदा अपने ही हठ पर दृढ रहता है और दूसरो की बात को समझना तो दूर रहा सुनने की भी चेष्टा नही करता। इस प्रकार ऋणात्मक प्रतिक्रियाओ द्वारा वह इस सन्तोप का अनुभव करता है कि उसके निश्चयो पर किसी का प्रभाव नही पड़ सकता जबकि उसकी यह भावना स्वय उसके ही अस्वस्थ आत्मानुमोदन से प्रेरित और प्रभावित होती रहती है।

ऋणात्मक प्रतिक्रिया के पीछे आत्म-अनुमोदन और आत्मनिवेदन प्राय दोनो भावनाएँ रहा करती है। अधिकाश उदाहरणो में ऋणात्मक प्रतिक्रियाओ के पीछे आत्मनिवेदन की भावना हुआ करती है। किन्तु आत्मरक्षा के अभाव मे आत्मनिवेदन की भावना अतिरजित बन जाती है और उसकी इसी अतिरजना के कारण व्यक्ति के अहम् की तत्कालिक आवश्यकताएँ उसकी आत्मनिवेदन की भावना को रोकने लगती है। उपर्युक्त केस में राम में कालेज का प्रधान होने के अहम् की तत्कालिक आवश्यकता उसकी आत्मनिवेदन की भावना को रोकती है। इस प्रकार ऋणात्मक व्यवहार किसी वाह्य स्थिति के प्रति की गई प्रतिक्रिया न होकर अपनी ही आत्मनिवेदन की अतिरजित आन्तरिक भावना के प्रति की जाने वाली प्रतिक्रिया होती है।

७—रीग्रेशन (Regression)—रीग्रेशन की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। यहाँ पर फिस्टर की परिभाषा से ही सन्तोष किया जायगा। फिस्टर के अनुसार "यदि आन्तरिक या वाह्य सघर्षों से किसी प्रवृत्ति में बाधा पड़े तो मानसिक शक्ति के प्रवाह की दिशा उलटी हो जाती है। मानसिक शक्ति के प्रवाह की दिशा के उलट जाने को ही रीग्रेशन कहा जाता है। रीग्रेशन में मानसिक शक्ति का प्रवाह हमेशा बचपन की ओर हो जाता है जिससे उसकी

अभिव्यक्ति या तो बचकानी कल्पनाओं, अनुभवों या चेष्टाओं मे होती हैं या बचपन के स्तर के व्यवहार मे।"

बचपन मे माँ के प्रति बच्चे के निश्चित स्थायीभाव होते हैं। वह माँ को अपने से ज्यादा शक्तिशाली, श्रेष्ठ और सर्वज्ञ मानता है। वह यह भी जानता है कि उसका जीवन माँ पर निर्भर है। माँ उसे खिलाती-पिलाती है और हर तरह से उसकी रक्षा करती है। वही बच्चा जब वयस्क हो जाता है तो माँ के प्रति बचपन में बने उसके स्थायीभाव बदल जाते हैं। अब वह माँ को न तो किसी तरह अपने से श्रेष्ठ मानता है और न उस पर निर्भर ही रहता है। युवावस्था में माँ के प्रति उसकी अधिकाश प्रतिक्रियाएँ बचपन की प्रतिक्रियाओ की उलटी हो जाती हैं। लेकिन अगर किसी कारणवश वह युवावस्था में भी माँ के प्रति वही प्रतिक्रियाएँ करने लग जाय जो बचपन में करता था तो यह रीग्रेशन का उदाहरण होगा।

रीग्रेशन (regression) दो प्रकार का हो सकता है : एक में तो व्यक्ति के बचपन के स्थायीभावो, रुचियो और प्रतिक्रियाओ का पुनरावर्तन होता है और दूसरे में व्यक्ति युवावस्था के स्तर की प्रतिक्रियाओ की जगह बचपन के स्तर की प्रतिक्रियाएँ करने लग जाता है। रीग्रेशन का प्रभाव जब व्यक्ति की सारी प्रतिक्रियाओ पर पड़ने लग जाता है तो उसे सामान्यीकृत (generalised) रीग्रेशन और जब किसी निश्चित उद्देश्य से सम्बन्धित प्रतिक्रियाओ पर ही पड़ता है तो उसे विशिष्ट (specific) रीग्रेशन कहा जाता है।

गत्यात्मक दृष्टिकोण से कोई स्थायीभाव, प्रवृत्ति या आत्मनिर्धारण किसी निश्चित दिशा में निश्चित ढग से शक्ति का विस्थापन (displacement) कर सकने की क्षमताएँ होती हैं। विकास-क्रम में व्यक्ति के किसी स्थायीभाव आदि का गत्यात्मक पक्ष कम या ज्यादा परिवर्तित हो सकता है। इस परिवर्तन की अभिव्यक्ति उस स्थायीभाव को नये ढंग से प्रकट करने में होती है। आप जिस व्यक्ति से आज ज्यादा प्रेम करते है कल उससे प्रेम करना छोड़कर किसी और से प्रेम करने लग सकते हैं। किन्तु प्रेम के स्थायीभावं का विस्थापन कर नये ढंग से प्रतिक्रिया कर सकने पर भी आप पुराने ढग से प्रतिक्रिया कर सकने की क्षमता रखते हैं यानी जिस व्यक्ति से पहले प्रेम करते थे उससे फिर प्रेम कर सकते है। युवावस्था में लोग मन-बहलाव के लिये कभी-कभी खिलौनो से खेल लेते है। खिलौनो से खेलना किसी युवा व्यक्ति की सारी प्रतिक्रियाओ का बहुत छोटा भाग होता है। किन्तु मान लीजिये कि

किसी युवक की अधिकाश प्रतिक्रियाएँ खिलौनो से खेलना ही बन जाँय तो यह रीग्रेशन का उदाहरण होगा। रीग्रेशन द्वारा मानसिक शक्ति परिपक्व और सतुलित प्रतिक्रियाओ से कम परिपक्व और कम सतुलित प्रतिक्रियाओ की ओर विस्थापित हो जाती है।

म्कडूगल ने रीग्रेशन का गत्यात्मक (dynamic) कारण डर मे माना है। रीग्रेशन के हर केस के पीछे कारण रूप में डर अवश्य रहता है, चाहे वह मृत्यु का हो, चोट का हो या आत्म-सम्मान को खोने का। रीग्रेशन द्वारा व्यक्ति अप्रकट रूप में अपने सामने किसी कठिनाई के न होने को प्रकट करता है और ऐसा करने के लिये वह उस कठिनाई से सम्वन्धित हर प्रकार की प्रतिक्रिया करने से इनकार कर देता है। अतिशय रीग्रेशन में कभी-कभी किसी प्रतिक्रिया के साथ साथ उस प्रतिक्रिया से सम्बन्धित स्थायीभाव का भी पूरा कार्यात्मक (functional) अभाव हो जाता है।

केस २—एक युवा लड़की एक व्यक्ति से प्रेम करती थी और उससे विवाह करने की बड़ी इच्छुक थी। किन्तु उसका प्रेमी उससे विवाह करने को तैयार नही था। वह चाहता था कि विवाह के पहले लडकी उसके साथ कुछ समय आमोद-प्रमोद में बिताए। ऐसे अनुत्तरदायी व्यक्ति के साथ विवाह करने के बाद के परिणामो को सोचकर लडकी को बड़ा धक्का लगा। रिश्तेदारो और मित्रो के समझाने पर लड़की ने अविवाहित ही रहने का निश्चय करने की चेष्टा की। लेकिन अनिश्चित काल तक अविवाहित रहने का विचार भी उसके लिये कम दुखदायी नही था। अब उसकी हालत साँप-छछूँदर की सी हो गई थी, वह विवाह भी करना चाहती थी और विवाह करने से डरती भी थी। इससे उसके अन्दर यह इच्छा पैदा हुई कि काश वह प्रेम के वारे में कुछ न जानती। अगर वह फिर बालक बन सके तो फिर विवाह की कोई समस्या ही न रह जाय और उसकी मुसीवत का अन्त हो जाय। अब वह अपने को एक वच्ची समझने लग गई और उसके स्थायीभाव भी एक अबोध वालिका के समान बन गये जिससे उसको वडा सन्तोष मिलने लग गया। किन्तु कभी कभी उसकी शारीरिक परिपक्वता उसे अपने आप को एक नवयुवती समझने को बाध्य कर देती थी। उसने आत्म-हत्या करने का प्रयत्न भी किया। बाद में उचित उपचार द्वारा उसके स्थायीभावो को फिर से युवावस्था के स्तर पर लाया गया और उसके दृष्टिकोण को सही दिशा की ओर मोडा गया।

रीग्रेशन वहुत कुछ अवरोध (inhibition) से मिलता-जुलता है। किन्तु रीग्रेशन और अवरोध में कुछ महत्वपूर्ण भेद हैं। अवरोध में व्यक्ति का

आत्मनिर्धारण सुरक्षित रहता है और संघर्षशील उद्देश्य वाञ्छित प्रतिक्रिया के रूप मे अभिव्यक्त होते है। रीग्रेशन में स्थिति ऐसी नाजुक होती है कि उससे डर लगने लगता है और वह डर ही अवरोध का कारण बन जाता है। डर के कारण आत्मरक्षा खतरे में पड़ जाती है जिससे व्यक्ति समस्या को सुलझाने का प्रयत्न छोडकर रीग्रेशन द्वारा बालपन के सरल जीवन की ओर लौट जाना चाहता है।

८—बचकानी प्रतिक्रियाएँ (Infantile reactions)—बहुत से लोगो का विकास उनकी आयु के अनुपात से नही हो पाता जिसके परिणाम-स्वरूप उनमे प्रकृत रागात्मक परिपक्वता नही आ पाती और उनकी रुचि, प्रवृत्तियाँ और प्रतिक्रियाएँ बचकानी बनी रह जाती है। सतुलित व्यवहार कर सकने के लिये ज्ञान और बुद्धि के साथ रागात्मक परिपक्वता भी जरूरी है क्योकि मानवी सम्बन्ध राग-प्रधान होते है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति कुछ स्थितियो में तो परिपक्व ढग से प्रतिक्रिया करे और कुछ मे बचकाने ढग से।

रीग्रेशन और बचकानी प्रतिक्रियाओ का भेद समझ लेना बहुत जरूरी है। प्रौढ़ व्यक्ति यदि अपनी पत्नी के बीमार होने पर खिलौनो से खेलता है तो या तो उसकी प्रतिक्रियाओ का रीग्रेशन हो चुका है या फिर उसमे प्रौढ़ावस्था के स्तर की प्रतिक्रियाओ का विकास ही नही हो पाया है। रीग्रेशन की दशा मे खोई हुई प्रतिक्रियाओ की पुनर्प्राप्ति आसानी से करवाई जा सकती है। किंतु यदि प्रौढ व्यक्ति का रागात्मक विकास बचपन के स्तर के आगे न हो सका हो तो उसे प्रौढावस्था के स्तर तक लाना बड़ा कठिन काम है।

कुसंतुलित प्रतिक्रियाएँ

(९) शमन (Repression)—व्यक्ति के जीवन में ऐसी अनेक बातें आया करती है जिनकी पूर्ति वह लोकलाज, समाज-भय या अन्य कारणो से करना पसन्द नही करता। इसलिये वह अपने मन की उन बातो का शमन करता है। शमन करना किसी उद्देश्य (motive) को अस्वीकार करना ही नही होता किन्तु उस उद्देश्य के होने से ही इनकार करना होता है। शमन को समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए :

केस ३—तेईस या चौबीस साल की एक लड़की को अजीब तरह की बेचैनी हुआ करती थी और वह न जाने क्या चाहती थी जिसके बिना उसे अपना जीवन बिलकुल नीरस जान पड़ता था। लेकिन वह स्वय यह नही समझ पाती थी कि आखिर वह चाहती क्या है। उसके मन में यह

विश्वास घर कर गया था कि उसका जीवन बिलकुल निरर्थक है। उसे डर लगता था कि कही वह आत्महत्या न कर बैठे। एक बार उसने आत्म-हत्या करने की असफल चेष्टा की भी थी। वह अकेले में सोने से घबडाती थी लेकिन अन्य व्यक्ति की उपस्थिति में सो भी नही पाती थी।

उसकी इस विचित्र मनोदशा के कारण की खोज करने पर कुछ ऐसी बाते पता चली जिनको वह बिलकुल भूल चुकी थी। गर्मियो में उसके घर के और लोग तो किसी दूसरी जगह चले जाया करते थे और घर में लड़की, उसकी माँ और उससे तीन चार साल उम्र में बड़ा उसका चचा ये तीन लोग ही रह जाया करते थे। उसकी माँ को गठिया रोग था और वह चलने-फिरने से मजबूर थी। एकान्त मे लडकी का चचा उसके गालो और शरीर के अन्य स्थलो को सहला दिया करता था। इससे लडकी को एक विशेष शारीरिक सुख मिला करता था और वह कभी कोई आपत्ति नही करती थी। एक रात जब वह अपने कमरे में अकेली सो रही थी उसका चचा उसके पास आया। आँख खुलने पर लडकी ने अपने को अर्द्ध-नग्न हालत में अपने चचा की भुजाओ मे आबद्ध पाया और उसका मन एकदम घृणा और विद्रोह से भर गया। चचा का यह व्यवहार लडकी को अत्यन्त कुत्सित, लज्जापूर्ण और अनैतिक लगा। उस समय लडकी की उम्र सत्रह या अठारह साल की रही होगी। उसी समय से लड़की का सेक्स विषयक दृष्टिकोण पूरी तरह से बदल गया। उसमें विवाह के प्रति विरक्ति और घृणा पैदा हो गई। वह औरतो को केवल बच्चा पैदा करने की मशीन समझने लगी और उसकी मातृत्व की सहज भावना पूरी तरह से कुचल गई। बाद में उसका विवाह तो हुआ लेकिन उसने पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। उसी समय से उसके अन्दर उप-र्युक्त लक्षण प्रकट हुए।

यह केस शमन (repression) का एक अच्छा उदाहरण है। लडकी का अपने चचा के साथ जो अनुचित सम्बन्ध था उससे लडकी के अन्दर दो विरोधी उद्देश्यो में सघर्ष होता था। एक उद्देश्य था शारीरिक सुख का और दूसरा था नैतिक आदर्श का। चचा के साथ शारीरिक सुख भोगने का विचार लडकी में शर्म, घृणा और पाप की भावनाएँ भरता था और वह भावनाएँ उसके पवित्रता और सतीत्व के नैतिक आदर्शो से टकराती थी। चचा द्वारा अगो का सहलाया जाना हर बार लडकी के उन दो विरोधी उद्देश्यो में सघर्ष का कारण बनता था। सहसा उसके नैतिक आदर्शो ने शारीरिक सुख के

विचारो पर विजय पाई। उस सघर्षमय स्थिति से बचने के लिए उसके पास केवल एक यही साधन था कि वह शारीरिक सुख के विचारों का शमन करके शारीरिक सुख के उद्देश्य (motive) की सत्ता से ही इनकार कर दे।

शमन को और अच्छी तरह से समझने के लिए उसकी तुलना अवरोध (inhibition) से कर लेना अच्छा होगा। अनेक विद्वान शमन और अवरोध को एक ही बात समझते है जो अत्यन्त भ्रामक है।

अवरोध मे किसी उद्देश्य का स्थानान्तरण होता है जिससे आन्तरिक रुकावट के बिना उस उद्देश्य से जिस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है वह नही हो पाती। जिस उद्देश्य का एक बार अवरोध हो चुका हो अगर वह वैसी ही स्थिति में दुबारा जाग्रत हो जाय तो व्यक्ति उस उद्देश्य को ठीक-ठीक पहचान लेगा और उस उद्देश्य से उत्पन्न होने वाली रागात्मकता का भी चेतन अनुभव करेगा। किन्तु यदि किसी उद्देश्य का शमन हो चुका है तो उसके वैसी ही स्थिति मे दुबारा जाग्रत होने पर व्यक्ति उस उद्देश्य को नही जान सकेगा और उस उद्देश्य के गुणात्मक (रागात्मक) पक्ष का चेतन अनुभव भी नही कर सकेगा। शमन और अवरोध मे यही मुख्य भेद है। उद्देश्यो, स्थायीभावो या प्रवृत्तियो का शमन हो चुकने के बाद भी वे परोक्षत॰ व्यक्ति के विचार और कर्म के निर्धारक बने रहते है। व्यक्ति को केवल उनका ठीक-ठीक ज्ञान और उनसे सम्वन्धित रागात्मक अनुभव नही होता और इस प्रकार वह चेतन रूप से उन उद्देश्यो पर प्रकृत नियत्रण की क्षमता खो बैठता है।

अवरोध व्यक्ति अपने उन उद्देश्यो का करता है जो उसके नैतिक आदर्शों के ज्यादा प्रतिकूल नही होते या आकस्मिक रूप से जाग्रत नही होते या बहुत तीव्रता से नही उभरते। उद्देश्यो का शमन व्यक्ति तब करता है जब कोई उद्देश्य उसके आदर्शो का घोर प्रतिद्वन्दी बन जाता है। जिस उद्देश्य का अवरोध होता है उस उद्देश्य के दुबारा जाग्रत होने पर व्यक्ति वैसी ही प्रतिक्रिया कर सकता है जैसी वह उस उद्देश्य के प्रति पहले किया करता था। शमन किया हुआ उद्देश्य दुबारा जाग्रत होने पर व्यक्ति की प्रतिक्रिया के रूप को बदल देता है जिससे उसकी प्रतिक्रिया एक दूसरे प्रकार का गौण रूप धारण कर लेती है और व्यक्ति का उस पर कोई नियत्रण नही रहता।

ऊपर दिए गए केस मे लड़की की प्रतिक्रिया का अवरोध (inhibition) नही हुआ था बल्कि शमन (repression) हुआ था। वह शारीरिक सुख की उत्तेजना के प्रति बिल्कुल संवेदनशून्य बन गई थी और अपने चचा के साथ के कटु अनुभव को बिलकुल भूल चुकी थी और उस घटना को बडी

कठिनाई से ही याद कर पाती थी। शारीरिक सुख के प्रति लडकी की वैसी प्रतिक्रिया नही होती थी जैसी कि प्रकृत (normal) व्यक्ति की होती है।

शमन किया हुआ उद्देश्य फिर जाग्रत हो सकता है किन्तु वह नैतिक उद्देश्यो से उत्पन्न होने वाली आन्तरिक बाधा के कारण अपनी अभिव्यक्ति प्रकृत रूप में नही कर पाता। जाग्रत होने पर उसकी अभिव्यक्ति लाक्षणिक और अप्रत्यक्ष ढग से होती है। शमन हो चुके उद्देश्य की शक्ति प्रायः अपनी ही विरोधी बन जाती है। सेक्सीय प्रवृत्ति का शमन कर देने वाले लोग सेक्सीय अनैतिकता का विरोध करने में बडी रुचि लेने लगते है। वे सेक्सीय प्रवृत्ति का शमन तो कर देते है किन्तु रुचि फिर भी सेक्सीय मामलो में ही लिया करते है। इस प्रकार उनकी सेक्स-प्रवृत्ति का शमन होने पर भी उसकी पूर्ति अभावात्मक रूप से होती है।

व्यक्ति को शमन किए हुए उद्देश्य के गुणात्मक (रागात्मक) पक्ष का अनुभव नही होता क्योकि उसकी आन्तरिक बाधा एक दूसरा ही रूप ले लेती है जिसके कारण शमन किया हुआ उद्देश्य जाग्रत हो जाने पर भी व्यक्ति में उस प्रकार का गुणात्मक अनुभव उत्पन्न करने में विफल रहता है जिस प्रकार का अनुभव उस उद्देश्य से उत्पन्न होना चाहिए। आन्तरिक बाधा मानसिक पृष्ठभूमि में घृणा या विवशता की भावना का रूप ले लेती है जिसके कारण व्यक्ति उस प्रकार का अनुभव नही कर पाता जिस प्रकार का अनुभव उसे होना चाहिए।

किसी उद्देश्य के प्रति की गई प्रतिक्रिया के अनेक पक्ष होते है और शमन का प्रभाव प्रतिक्रिया के किसी भी पक्ष पर पड सकता है। सेक्सीय शमन के उदाहरण में शमन का प्रभाव सेक्सीय प्रतिक्रिया की प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओ जैसे स्पर्श, आलिगन या चुम्बन करने आदि पर न पडकर परिणामिक प्रतिक्रियाओ जैसे स्तम्भन-शक्ति की कमी, सम्भोग करने के योग्य न रहना आदि पर पड सकता है और व्यक्ति उन पर अपना सायास नियत्रण रख सकने की क्षमता खो सकता है।

शमन का प्रभाव विशेष श्रेणी की प्रतिक्रियाओ, विशेष व्यक्तियो और विशेष प्रकार की स्थितियो पर वैयक्तिक रूप से अलग अलग पडता है। यदि दो व्यक्तियो में एक ही उद्देश्य का शमन हुआ है तो यह जरूरी नही है कि उसका प्रभाव उन दोनो व्यक्तियो पर एक-सा ही पडे। किसी एक स्त्री के प्रति कामेच्छु न बन सकने वाले व्यक्ति के लिए यह जरूरी नही कि वह अन्य स्त्रियो के प्रति भी कामेच्छु न बन सके।

शमन केवल सेक्सीय उद्देश्यो और प्रतिक्रियाओ तक ही सीमित नही होता। शमन किसी भी उद्देश्य का हो सकता है। एनोरेक्सिया नर्वोसा

(Anorexia Nervosa) नामक हालत में भूख का शमन हो जाता है और व्यक्ति को भूख बिलकुल नही लगती। अगर उसे जबर्दस्ती खिलाया भी जाय तो वह खाने से घृणा करने लगता है। इसी प्रकार डर और रागात्मक भावो का भी शमन हो सकता है और होता है।

शमन (repression) मानसिक विघटन (mental dissociation) का कारण बन सकता है। शमन हुए उद्देश्य मे इस बात की सभावना रहती है कि वह उद्देश्य किसी न किसी रूप मे अपनी वास्तविक प्रतिक्रिया कर सकता है या अवसर विशेष पर उस उद्देश्य से सम्बन्धित स्वाभाविक प्रतिक्रिया पूर्ण या आशिक रूप में हो सकती है। किन्तु मानसिक विघटन में व्यक्ति के किसी उद्देश्य का उसके मानसिक सगठन से पूरा कार्यात्मक विच्छेद हो जाता है जिससे मानसिक विघटन की दशा मे वह उस उद्देश्य से सम्बन्धित प्रतिक्रिया बिलकुल नही कर पाता। मानसिक विघटन का एक उदाहरण लीजिए

> केस ४—युद्ध-क्षेत्र मे एक सैनिक शत्रु द्वारा फेका हुआ बम शत्रु पर ही फेकने की नीयत से उठाने को रुका। वह बम को उठाने पहुँचा ही था कि बम फट गया। सैनिक बम फटने से घायल तो नही हुआ किन्तु उसका मुँह (निस्सन्देह डर के मारे चिल्लाने की तैयारी में) खुला का खुला ही रह गया और वह न तो अपने मुँह को ही बन्द कर सका और न अपनी जीभ ही अन्दर ले जा सका। कुछ घंटे बाद उसका मुँह अपने आप बन्द हो गया और जीभ भी अन्दर चली गई। तब से वह एकदम गूँगा-सा हो गया और जरा भी बोल नही पाता था। उसकी यह हालत कई महीने तक रही।

सैनिक में डर का शमन पहले से ही हो चुका था और बम फटने से उसे जो रागात्मक धक्का लगा उसने पहले से ही हो चुके शमन के आधार पर सैनिक के अन्दर विघटन (dissociation) भी पैदा कर दिया। विघटन से उसके उद्देश्य (डर) और प्रतिक्रिया (चिल्लाने) मे पूरा कार्यात्मक विच्छेद हो गया जिससे वह डर के उद्देश्य से सम्बन्धित चिल्लाने की स्वाभाविक प्रतिक्रिया कर सकने मे बिल्कुल अक्षम हो गया। अगर वह चिल्लाकर अपने आकस्मिक डर को निकलने का रास्ता दे देता तो शायद उसमे विघटन न हो पाता। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि शमन और मानसिक सघर्ष विघटन के पूर्वगामी होते है।

शमन की व्याख्या—शमन क्यो होता है ? हम अपनी अग्राह्य प्रवृत्तियो और रागात्मक भावनाओ का अवरोध (inhibition) मात्र ही क्यो

नही करते ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि शमन की प्रतिक्रिया व्यक्ति के नैतिक आदर्शों और उसके आत्म-अनुमोदन (self-regard) की सेवक होती है। जो बाते हमारे मान्य नैतिक आदर्शों की घोर विरोधी होती है शमन द्वारा हम उनकी सत्ता से ही इनकार करते है। शमन द्वारा मनुष्य अपने मन मे अपना जो आदर्श चित्र वनाए होता है उसकी रक्षा करता है।

बहिर्मुखी व्यक्ति में अपने अनैच्छिक उद्देश्यो और विचारो का शमन करने का रुझान अन्तर्मुखी व्यक्ति से ज्यादा होता है। इसका कारण वहिर्मुखी व्यक्ति की चेतनता की मात्रा की कमी में होता है। चेतनता की मात्रा की कमी के कारण वहिर्मुखी व्यक्ति अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियो के प्रति यथेष्ट रूप से जागरूक नही वन पाता। वह अपनी आन्तरिक भावनाओ को भी अपने सासारिक व्यवहार के मापदण्डो से सचालित करना चाहता है जिससे वह अपने आत्मनिर्धारण (ego-identification) का कोई आदर्श निर्मित कर सकने में स्वतन्त्र नही रह पाता। इस प्रकार वह अपनी आन्तरिक वाधाओ के प्रति भी उसी प्रकार का व्यवहार करने लगता है जिस प्रकार का सासारिक वाधाओ के प्रति करता है। आन्तरिक प्रवृत्तियो के प्रति समुचित न्याय न कर सकने के कारण वह उनकी उपेक्षा या उनकी सत्ता से से ही इनकार (शमन) करने लग जाता है।

१०—आत्म-प्रताड़ना—अव तक जिन प्रतिक्रियाओ पर विचार किया जा चुका है वे सर्वविदित है और उनको समझने में कोई कठिनाई नही होती। प्रतिक्रियाओ के जिन रूपो का वर्णन ऊपर किया जा चुका है वे व्यक्ति के अहम्, व्यक्तित्व और नैतिकता को सुरक्षित रख सकने के अनुकूल होती है। किन्तु कुछ प्रतिक्रियाएँ व्यक्ति के व्यक्तित्व और स्वार्थ के प्रतिकूल भी होती है। समाज ने व्यक्ति की उद्दण्ड प्रतिक्रियाओ पर कानूनी रोक लगा रक्खी है। किंतु व्यक्ति स्वय भी अपनी उद्दण्ड प्रतिक्रियाओ पर रोक लगाता है और अपने अतिशय स्वार्थ के प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ करता है। ऐसी प्रतिक्रियाओ का आधार उसकी नैतिक दीक्षा न होकर उसके अन्दर पहले से ही मौजूद अहम्-सामाजिक सगठन का सिद्धान्त होता है। जव सामाजिक वधन या जगत की वास्तविकता व्यक्ति की स्वार्थपूर्ण इच्छाओ पर प्रतिवन्ध नही लगाती तो व्यक्ति वैसा प्रतिवन्ध अपने ऊपर स्वय लगा लेता है। नीचे दिए केस को देखिए ·

केस ५–प्रकाश नामक युवक का लालन-पालन शहर के परिवेश में हुआ था। वह मेधावी और अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का अधिक था। जव उसके पिता की मृत्यु हुई वह तेरह साल का था। वाद में वह कमाने लग गया और अपनी सारी कमाई अपनी माँ को देने लगा जिससे वह

बहुत प्रेम करता था । उन्नीस साल का होने पर उसे स्त्री-सुख का पहला अनुभव हुआ । तब से वह स्त्रियो का साहचर्य स्वच्छन्दतापूर्वक करने लगा और उसकी जुआ खेलने और शराब पीने की आदतें भी पड गई । पच्चीस साल का होने पर वह एक लड़की पर मोहित हो गया । किन्तु वह विवाह नही करना चाहता था क्योकि इससे उसके स्वच्छन्द जीवन मे बाधा पडती। वह लडकी से प्रेम तो करता था किन्तु था बहुत ही स्वार्थी । लडकी ने उसकी बेरुखी से तग आकर दूसरे व्यक्ति से विवाह कर लिया । इससे प्रकाश को बडा सदमा पहुँचा और तब से वह स्त्रियो को केवल विलासिता की सामग्री-मात्र समझने लगा । उसकी जुआ, शराब और वेश्यागमन आदि की आदते और भी जोर पकड गई । धीरे-धीरे वह नपुसक होनें लगा और उसकी परिचित एक निर्लज्ज स्त्री ने उस पर एक दिन छीटाकशी भी कर दी । उसी समय से प्रकाश उस दुखदायी आत्मबोध और आत्मप्रताडना (self-repudiation) के विचारो से परेशान रहने लगा । वह समझने लगा कि लोग उसे स्त्रियो की भाँति कोमल समझते है। वह अपरिचितो को भी नजर उठाकर देखने में झिझकनें लगा । तभी से सहसा उसके मन में यह विचार घर कर गया कि उसकी जननेन्द्रियाँ सज्ञाशून्य हो रही है और वह इसे बिलकुल सत्य समझने लगा ।

प्रकाश कार्यात्मक रूप से तो पहले ही नपुसक बन चुका था किन्तु छीटाकशी से उत्पन्न होने वाले विचार ने उसके अन्दर घर क्यो कर लिया ? इलाज कराने के दो महीने बाद प्रकाश अपने दुखदायी विश्वास को भूल चुका था। किंतु जब उसे इलाज दो महीने और जारी रखने को कहा गया तो उसने अपने आपको बिलकुल ठीक समझकर इलाज जारी रखने से इनकार कर दिया । सात-आठ महीने बाद वह अपने को अप्रकृत रूप से अजेय और अमिट समझने लगा (इस मानसिक रोग को पैरानोइया कहा जाता है जिस पर और कही विस्तृत प्रकाश डाला गया है) । वह यह कहा करता था कि वह जो चाहे पा सकता है और उसकी इच्छा-प्राप्ति मे ससार की कोई शक्ति बाधक नही बन सकती । अब प्रकाश के नपुसकता के दुखदायी विचार को आसानी से समझा जा सकता है । नपु सकता का विचार उसकी ईश्वर के समान बनने की अतिरजित महत्वाकाक्षा (जो बाद मे उसे पैरानोइया की ओर ले गई) को रोकने का एक साधन-मात्र था ।

जिस प्रकार एक वृक्ष अपनी जड़ें जमीन के अन्दर गहराई तक गड़ा कर अपना सतुलन बनाए रखता है उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी जाति और स्वार्थ

के लक्ष्यो और वहुअर्थी प्रयोजनो के प्रति अपनी शक्ति का सगठन और सतुलन स्थापित करने का प्रयत्न करता रहता है। अगर व्यक्ति की अधिकाश शक्ति उसकी अहम्-तृप्ति की दिशा मे ही प्रवाहित होने लगती है तो उसका मनस् उसी दिशा की ओर शक्ति का निरतर प्रवाह होते रहने के विरुद्ध प्रतिक्रिया करने लग जाता है जिससे शक्ति अन्त दिशाओ की ओर भी प्रवाहित हो सके। प्रकाश की सारी मानसिक शक्ति एक ही दिशा की ओर प्रवाहित होने लगी थी जिससे उसका मनस् आत्म-प्रताडना (Self-repudiation) के रूप मे उसका विरोध करके शक्ति को अन्य दिशाओ की ओर प्रवाहित करना चाहता था।

आत्म-प्रताडना की प्रतिक्रियायें ग्राहकीय, प्रभावकीय या मानसिक किसी भी स्तर पर हो सकती है जिनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जाता रहेगा।

११-प्रक्षेपण—अपने अन्दर सक्रिय किसी असहनीय उद्देश्य, इच्छा या कामना का आश्रय किसी दूसरे व्यक्ति को वना देना प्रक्षेपण (projection) कहलाता है। प्रक्षेपण अक्सर आत्म-प्रताडना की भावना का किया जाता है। जिस भावना का प्रक्षेपण किया जाता है वह व्यक्ति के अन्दर ही उत्पन्न होती है किन्तु वह उसे स्वीकार नही करता और यह समझने लगता है कि वह भावना उसके अन्दर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जवर्दस्ती उत्पन्न करायी जा रही है। व्यक्ति को प्रक्षेपण की भावना का गुणात्मक अनुभव होता है।

प्रक्षेपण और तादात्म्यीकरण (Identification) में भेद होता है और उन्हे एक ही नही समझना चाहिए। तादात्म्यीकरण द्वारा व्यक्ति अपना सम्बन्ध किसी सार्थक बात से जोडने का प्रयत्न करता है। प्रक्षेपण द्वारा वह अपनी किसी दुखदायी भावना से छुटकारा पाने की चेष्टा करता है। व्यक्ति अपना तादात्म्यीकरण महत्वपूर्ण बातो से करता है और अवाछित बातो का प्रक्षेपण करता है।

प्रक्षेपण और प्रतिष्ठापन (Rationalization) में भी अन्तर होता है। प्रतिष्ठापन द्वारा व्यक्ति अपने उद्देश्य या प्रवृत्ति को किसी झूठी सार्थकता से ढँकता है। वह अपनी प्रवृत्ति को स्वीकार तो कर लेता है किन्तु एक ऐसे रूप में जो उसको हर तरह से मान्य होता है। प्रक्षेपण में वह अपनी प्रवृत्ति को अस्वीकार करके उसका आश्रय किसी अन्य व्यक्ति को वनाता है।

प्रक्षेपण अहम्-जन्य होता है। व्यक्ति अपने गुनाह की भावना को, नैतिक गन्दगी की भावना को या अपने किसी अभाव को प्रक्षेपित करता है। वह उसी वात का प्रक्षेपण (projection) करता है जो उसके अहम् को

असहनीय या आघात पहुँचाने वाली होती है। प्रक्षेपण कभी-कभी व्यक्ति की गौण प्रतिक्रिया का रूप भी ले लेता है। उसकी प्रमुख प्रतिक्रिया या तो शमन हो सकती है या आत्म-प्रताड़ना। शमन द्वारा बात दब तो जाती है किन्तु उसका रागात्मक पक्ष नही दब पाता। वह रागात्मक पक्ष दुखदायी बन जाता है और व्यक्ति को प्रक्षेपण करने को विवश कर देता है।

जहाँ व्यक्ति की मुख्य प्रतिक्रिया आत्मप्रताड़ना का रूप ले लेती है वहाँ मानसिक क्रिया का एक जटिल रूप उपस्थित हो जाता है। अहम् की अतिरंजित कामनाओ के कारण इस बात का खतरा रहता है कि कही व्यक्ति का मानसिक सगठन छिन्न-भिन्न न हो जाय। व्यक्ति को इस खतरे से बचाने के लिए आत्म प्रताडना की प्रतिक्रिया का आविर्भाव होता है। इस प्रकार एक ओर तो आत्म-प्रताड़ना होती है और दूसरी ओर उसको सहन न कर सकने का उद्देश्य, जिसके कारण व्यक्ति प्रक्षेपण द्वारा आत्म-तिरस्कार की भावना से बचना चाहता है। उसका अहम् स्वतन्त्र हो जाता है। यह पैरानोइया (Paranoia) नामक मानसिक रोग की पहली सीढी होती है।

अर्जित पत्र

१०

सीखना

हम परिवेश को जानने के साधनो और परिवेश से अपना सतुलन कर सकने की क्रियाओ पर विचार कर चुके हैं। परिवेश को जानने और उससे कुछ सीमा तक अपना सतुलन कर सकने के वे साधन जिन पर विचार किया जा चुका है जन्मजात होते हैं; उन्हे सीखना नही पडता। किन्तु इतना ही काफी नही है। हमारा परिवेश (environment) विशाल होता है और उसके प्रत्येक पक्ष से अपना संतुलन कर सकने के लिए हमें वहुत सी नई वातें सीखनी पडती हैं। मनुष्य का परिवेश आहार, निद्रा, भय और मैथुन तक ही सीमित नही है। उसके परिवेश के अनेक पक्ष होतेहैं—सामाजिक, व्यापारिक, वैधानिक इत्यादि। परिवेश के इन पक्षो के प्रति विना सीखे सतुलन नही किया जा सकता। मनुष्य ने अपनी शिक्षा, पूर्वजो के अनुभवो और परम्परा से आज तक जो कुछ सीखा है यदि वह उससे छीन लिया जाय तो मनुष्य का सारा परिवेश निरर्थक वन जायगा और वह अपने निरर्थक परिवेश का कठपुतला-मात्र होकर रह जायगा।

किसी वच्चे को दियासलाई की डिव्वी दे दीजिये तो वह उससे वडे हर्ष-पूर्वक खेलने लगेगा; कभी उसे वजाएगा, कभी मुँह में रक्खेगा। किन्तु यदि आप एक वार उसी दियासलाई से उसका हाथ जला दें तो वह फिर दिया-सलाई की डिव्वी को छुएगा तक नही। फिर जलाए जाने पर वह उस जगह जाने से भी डरेगा जहाँ दियासलाई रक्खी होगी। यदि दो-तीन वार वच्चे का हाथ जलने पर उसे दियासलाई शब्द मालूम जो जाय तो वह दियासलाई का नाम भर ले देने से डर कर चिल्लाने लगेगा। यह घटना स्वाभाविक रूप से सीखने का एक अच्छा उदाहरण है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि प्राणी का सारा व्यवहार किसी उत्तेजना के प्रति की गई प्रतिक्रिया होता है। दूध का जला जिस तरह छाछ को फूँक फूँककर पीता है उसी तरह दियासलाई से जला वच्चा दियासलाई के नाम से भी डरने लगता है। जलने के पहले दिया-सलाई के प्रति उसकी प्रतिक्रिया हर्ष-पूर्वक खेलने के रूप में होती थी। जलने के वाद दियासलाई के प्रति उसकी प्रतिक्रिया में परिवर्तन हो जाना ही सीखना है। सीखना किसी उत्तेजना के प्रति व्यवहार का वदल जाना होता है।

सीखना और परिपक्वता—किन्तु व्यवहार शरीर की प्राकृतिक वृद्धि के साथ-साथ भी बदलता है। क्या इसे भी सीखना कहा जाय ? नही। शारीरिक विकास से व्यवहार में जो परिवर्तन हो जाते है उन्हे परिपक्वता (maturity) कहना ठीक होगा। परिपक्वता और सीखना अन्योन्याश्रित है और व्यवहार-परिवर्तन का कारण किसी एक को मान लेना गलत होगा। सीखने से व्यवहार पुनर्व्यवस्थित बनता है। व्यवहार मे जो न्यूरोनीय व्यवस्था रहती है वह सीखने से दृढ बनती है। स्नायु-प्रबन्ध के प्रसंग में हमने देखा था कि हमारा मनस् विभिन्न न्यूरोनीय प्रेरणाओ का ऐसा सगठन करता है जिससे हम व्यवस्थित ढग से क्रिया कर सकने में समर्थ हो पाते है। यह सगठन और व्यवस्था ही सीखना है चाहे वह बोधवाहक हो या क्रियावाहक। समुचित न्यूरोनीय सगठन और व्यवस्था के लिए मनस् और मासपेशियो के परिपक्व होने की अपेक्षा होती है। बहुत छोटा बच्चा वस्तुओ मे भेद नही कर पाता क्योकि भेद कर सकने की क्रिया के लिए जिस न्यूरोनीय व्यवस्था की आवश्यकता होती है बच्चे का मनस् अपरिपक्व होने से वह व्यवस्था नही कर पाता। छोटा बच्चा चल नही पाता क्योकि उसकी मासपेशियो मे क्रियावाहक सगठन कर सकने योग्य परिपक्वता नही होती। खाना, पीना, चलना, साँस लेना, दौड़ना, वस्तुओ मे भेद कर सकना आदि क्रियाएँ ऐसी है जो जन्मजात होती है और परिपक्वता के साथ-साथ प्राणी उन्हे अनायास ही सीख जाता है। यहाँ सीखने से हमारा तात्पर्य उन न्यूरोनीय बोधवाहक और क्रियावाहक सगठनो से है जो प्राणी मे जन्मजात या उसकी परिपक्वता का परिणाम न होकर चेष्टा द्वारा सीखे जाते है। उदाहरण के लिये पढना, बुनना, बाइसिकिल चलाना, चिंतन करना आदि को लिया जा सकता है। सीखने से प्राणी की बोधवाहक और क्रियावाहक न्यूरोनीय प्रेरणाओं मे नया सम्बन्ध स्थापित होता है जो जन्मजात या पहले से नही होता और उसको स्थापित करने के बाद प्राणी परिवेश से अपना सतुलन और भी अधिक कुशलता से कर सकने की क्षमता अर्जित कर लेता है। अतएव सीखने से तात्पर्य प्राणी की अर्जित क्रियाओ से है, जन्मजात क्रियाओ से नही।

परिवेश से भली-भाँति सतुलन कर सकने के लिए न्यूरोनीय प्रेरणाओ मे नए सम्बन्ध अनेक प्रकार से स्थापित किए जा सकते है। नीचे सीखने के कुछ प्रमुख प्रकारो पर दृष्टिपात किया जायगा।

(१) सापेक्षीकरण

यह देखा जा चुका है कि हर प्रतिक्रिया तत्सम्बन्धी उत्तेजना मिलने पर ही होती है। उत्तेजना और तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया में सक्रिय सम्बन्ध होता

है। यदि किसी उत्तेजना से तत्सम्बन्धी प्रतिक्रिया नही होती तो वह उत्तेजना उस प्रतिक्रिया के लिये तटस्थ उत्तेजना कही जाती है। खाना देखकर मुँह मे लार का आना, सुई चुभने पर पैर का हट जाना, तेज प्रकाश मे पुतली का सिकुड जाना आदि उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ में सक्रिय सम्बन्ध है। घटी सुनकर मुँह मे लार नही आती, किताब देखकर पुतली नही सिकुडती और दरी छूने पर पैर नही हटते क्योकि यहाँ उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ मे सक्रिय सम्बन्ध नही है। मुँह में लार आने, पुतली सिकुडने और पैर हटने की प्रतिक्रियाओ के लिए घटी, किताब और दरी आदि की अपेक्षा नही होती इसलिये वे उपर्युक्त प्रतिक्रियाओ के लिए तटस्थ उत्तेजनाएँ होती है। सक्रिय उत्तेजनाओ से तो तत्सम्बन्धी प्रतिक्रियाओ का होना स्वाभाविक है किन्तु सिखाए जाने पर वही प्रतिक्रियाएँ तटस्थ उत्तेजनाओ से भी होने लगती है। इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए यहाँ रूसी शरीर-विज्ञानवेत्ता ईवान पावलोफ की खोजो का अध्ययन कर लेना आवश्यक है।

ईवान पावलोफ मनोविज्ञानी नही था, शरीर-विज्ञानवेत्ता था। पाचन-क्रिया सम्बन्धी अध्ययन करते समय उसे सीखने के एक महत्वपूर्ण प्रकार का पता चला। तब से उसने इस बात का बडा विशाल अध्ययन किया कि सीखने में मनस् किस प्रकार क्रियाएँ करता है। अपनी प्रयोगशाला में वह कुत्तो पर प्रयोग करता था। उसने एक कुत्ते की लार सम्बन्धी ग्लैंड की नली (duct) निकाल दी और कुत्ते के निचले जबडे में रबड की नली लगा दी जिससे कुत्ते की लार कटोरे में इकट्ठी की जा सके (चित्र ५४)। इस प्रकार एक निश्चित समय में कुत्ते की लार कितनी टपकी यह नाप सकना सम्भव हो गया।
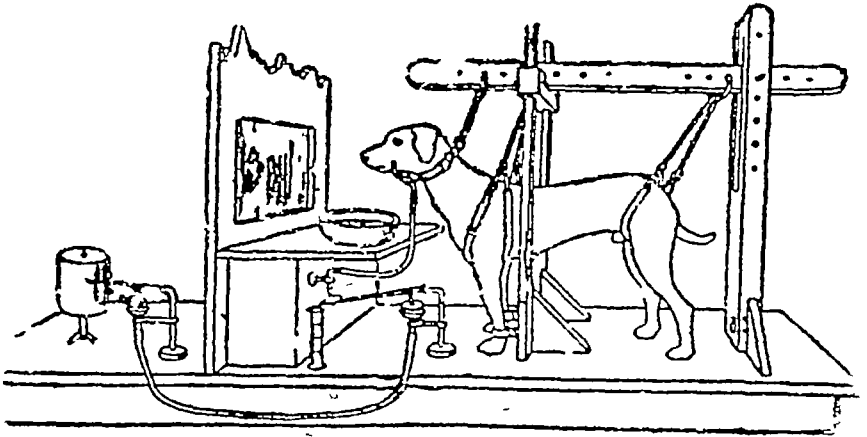
चित्र ५४

पावलोफ ने कुत्ते को खाना देने के पहले घटी बजाना शुरू किया। खाना

पाते ही कुत्ते के मुँह से लार बहने लगती थी क्योकि लार बहने की प्रतिक्रिया के लिए खाना सक्रिय उत्तेजना है। बाद मे कुत्ते को घटी बजने और खाना देने की दोनो उत्तेजनाएँ लगातार साथ-साथ दी जाने लगी। थोड़े दिनों के बाद देखा गया कि केवल घटी बजाने से ही कुत्ते के मुँह से लार बहने लगती थी। इस प्रकार खाने और कुत्ते की लार बहने मे पहले जो सम्बन्ध था वही अब पावलोफ के उपर्युक्त प्रयोग के बाद घटी और लार में स्थापित हो गया। खाना-लार की जगह घटी-लार के इस नए सम्बन्ध के स्थापित होने को पावलोफ ने सापेक्षीकरण (conditioning) नाम दिया। किसी सक्रिय उत्तेजना (खाने) से होने वाली प्रतिक्रिया (लार बहने) का किसी तटस्थ उत्तेजना (घटी) से भी होने लगना सापेक्षीकरण कहलाता है।

इसके बाद पावलोफ और उसके साथियो ने कुत्ते की लार बहने की प्रतिक्रिया का देखने, सूँघने और छूने आदि की विभिन्न उत्तेजनाओ से सापेक्षीकरण किया। पावलोफ का विचार था कि विभिन्न उत्तेजनाओ द्वारा सापेक्षीकरण करने पर कान, आँख, नाक, खाल आदि और लारवाही यन्त्र में कुछ नए 'न्यूरोनीय द्वार' बन जाते है जिनका सचालन कोर्टेक्स (cortex) से होता है। अब अनेक प्रयोगो के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि यद्यपि सापेक्षीकरण में सामान्यतः कोर्टेक्स का भाग रहता है तथापि सापेक्षीकरण कोर्टेक्स पर निर्भर नही होता। कोर्टेक्स निकाल दिए जाने पर भी प्राणी का सापेक्षीकरण करना सम्भव है। किन्तु यह विवादग्रस्त विषय है कि कोर्टेक्स रहित अवस्था मे प्राणी के सापेक्षीकरण को वास्तविक सापेक्षीकरण कहा जा सकता है या नही। पावलोफ का विश्वास था कि प्राणी जो कुछ भी सीखता है उस सब को सापेक्षीकरण कहा जा सकता है। "तरह-तरह की आदतें, शिक्षा और हर प्रकार का संयम और दीक्षा सापेक्षीकृत प्रक्षिप्त क्रियाओ (conditioned reflexes) की एक लम्बी शृखला के अतिरिक्त और कुछ नही है।"

सापेक्षीकरण की दिशा—सापेक्षीकरण अनुसन्धान का बहुत बडा विषय रहा है और उससे सम्बन्धित अनेक जटिल प्रश्न है। वास्तव में सापेक्षीकरण की क्रिया उतनी सरल नही है जितनी कि लग सकती है। पहला प्रश्न सापेक्षीकरण की दिशा के बारे में है—सापेक्षीकरण किस दिशा में होता है और क्यो होता है ? यह ठीक है कि घटी की आवाज लार बहने की प्रतिक्रिया के लिए तटस्थ उत्तेजना है किन्तु घटी सुनकर कुत्ता अपने कान खडे कर सकता है जो स्वाभाविक है। फिर खाने की उत्तेजना से कान खड़े करने की प्रतिक्रिया

का सापेक्षीकरण क्यों नही होता ? सक्रिय उत्तेजना (खाना) तटस्थ उत्तेजना (घटी) से होने वाली स्वाभाविक प्रतिक्रिया (कान खडे होने) का सापेक्षीकरण क्यो नही करती, तटस्थ उत्तेजना (घटी) ही सक्रिय उत्ते-जना (खाने) की प्रतिक्रिया (लार बहने) का सापेक्षीकरण क्यो करती है ? दूसरे शब्दो में सापेक्षीकरण घटी से लार बहने की दिशा में ही क्यो होता है, खाना देखकर कान खडे होने की दिशा में क्यो नही होता ?

इसलिए नही होता कि खाने और लार बहने का सम्बन्ध आन्तरिक प्रेरणा (भूख) पर आधारित होने से अधिक प्रबल होता है। सापेक्षीकरण आन्तरिक प्रेरणा की प्रबलता की दिशा में होता है। लार बहना एक प्रबल और प्रधानता रखनेवाली आन्तरिक प्रेरणा पर आधारित खाना खाने की प्रतिक्रिया की तैयारी का उपकरण है। यदि घटी की आवाज इतनी तेज होती कि वह कुत्ते मे डर की प्रतिक्रिया पैदा कर सकती तो सापेक्षीकरण विपरीत दिशा में होता और कुत्ता खाना सामने होने पर भी घटी की डरावनी आवाज सुनकर अपने कान खडे कर भाग जाता। यह प्रयोग बिल्ली पर करके देखा गया है। जब बिल्ली चूहे पर झपटती थी तभी उसे बिजली की करेंट का झटका मार दिया जाता था। कई बार झटका मारने के वाद यह देखा गया कि तब बिल्ली चूहे को देखते ही भागने लगती थी। तब चूहे का दिखाई पडना उसके लिए तर माल की आशा न होकर मौत का सामना हो गया था। तब चूहे (खाने) को देखकर बिल्ली के मुँह में लार नही आती थी वरन् आँखो के सामने मौत का अँधेरा नाच उठता था क्योकि यहाँ आत्मरक्षण की आन्तरिक प्रेरणा खाने की आन्तरिक प्रेरणा से अधिक प्रबल हो गई थी जिससे सापेक्षीकरण आत्म-रक्षण की प्रतिक्रिया (भागने) की दिशा में होने लगा था।

उत्तेजनाओं की पुनरावृत्ति—दूसरा प्रश्न यह है कि सापेक्षीकरण सक्रिय और तटस्थ उत्तेजनाओ को कितनी बार साथ-साथ देने पर हो सकता है ? सापेक्षीकरण के लिए क्या सक्रिय और तटस्थ उत्तेजनाओ की पुनरावृत्ति (repetition) आवश्यक है ? पावलोफ के प्रयोगो में खाने और घटी की उत्तेजना अनेक बार दी जाती थी इसलिए सापेक्षीकरण के लिए उनकी पुनरावृत्ति को आवश्यक समझा जाता था। किन्तु वाट्सन और अन्य मनोविज्ञानी अपने प्रयोगो से इस नतीजे पर पहुँचे है कि कभी कभी सक्रिय और तटस्थ उत्तेजनाओ को केवल एक ही बार देने से सापेक्षीकरण हो सकता है। वाट्सन ने अपने प्रयोगो से बच्चो में डर की प्रतिक्रिया का सापेक्षीकरण करके देखा। बच्चे के सामने एक खरगोश लाया गया और उसी क्षण वडी डरावनी आवाज की गई। बच्चा तत्काल खरगोश की ओर से विमुख हो डरकर भाग

गया। एक ही बार के प्रयोग से बच्चे मे ऐसा पक्का सापेक्षीकरण हो गया कि वह खरगोश को देखते ही भागने लगता था। खरगोश अब बच्चे के लिए खेलने की चीज न होकर बचने की चीज बन गया। किन्तु बच्चे का यह सापेक्षीकरण उसकी सचारी-भावात्मक (emotional) प्रतिक्रिया पर आधारित था। इससे यही सिद्ध होता है कि जहाँ प्रतिक्रिया संचारीभावात्मक होती ह वहाँ सापेक्षीकरण के लिए सक्रिय और तटस्थ उत्तेजनाओ की पुनरावृत्ति आवश्यक नही होती। किन्तु यह देखा गया है कि जो प्रतिक्रियाएँ सचारी-भावात्मक नही होती वहाँ सापेक्षीकरण उत्तेजनाओ की पुनरावृत्ति के अनुपात से ही दृढ बनता है।

सापेक्षीकरण में उत्तेजनाओ की पुनरावृत्ति के अलावा भी महत्वपूर्ण बातें होती है। सापेक्षीकरण ठीक से तभी हो सकता है जब सक्रिय और तटस्थ उत्तेजनाओ पर पूरा ध्यान दिया जाय। यदि कोई तीसरी उत्तेजना पूरी तरह से ध्यान देने मे बाधक बन जाती है तो सापेक्षीकरण नही हो पाता। सापेक्षीकरण बाधक उत्तेजनाओ के अभाव में ही अच्छी तरह हो पाता है। पावलोफ ने इसीलिए बाद में अपने कुत्ते को खिड़की रहित अकेले कमरे में रखकर उस पर प्रयोग किए और तब पावलोफ को कुत्ते के सापेक्षीकरण में उत्तेजनाओ की अधिक पुनरावृत्ति नही करनी पड़ी। सापेक्षीकरण में बाहरी उत्तेजनाएँ ही बाधक नही होती, प्राणी के शरीर की आन्तरिक उत्तेजनाएँ भी बाधक बन सकती है। इसलिए बाधक उत्तेजनाओ के पूरी तरह हटाए जाने पर ही सापेक्षीकरण भली-भाँति हो सकता है। आन्तरिक बाधक उत्तेजनाओ को हटा सकना असम्भव नही तो बहुत कठिन अवश्य होता है। शायद पुनरावृत्ति किसी सीमा तक बाधक उत्तेजनाओं को हटाने में सहायक वनती हो।

उत्तेजनाओं का क्रम और अवधि-सम्बन्ध—सापेक्षीकरण करने के लिए साधारणत तटस्थ उत्तेजना को पहले देना चहिए और सक्रिय उत्तेजना को वाद मे। यह क्रम उलट देने पर भी कुछ दशाओ में सापेक्षीकरण होना सम्भव है। पावलोफ के प्रयोग मे घटी-खाना या खाना-घंटी की उत्तेजना के इन दोनो क्रमो से सापेक्षीकरण हो सकता है। किन्तु सक्रिय उत्तेजना को तटस्य उत्तेजना के वाद देना अधिक उपयुक्त होता है। सापेक्षीकरण हो चुकने पर प्रतिक्रिया तटस्थ उत्तेजना (घटी) मिल चुकने के वाद होती है इसलिए इस वात का ख्याल रखना चाहिए कि तटस्थ उत्तेजना तव तक मिलती रहे जव तक प्रतिक्रिया ठीक से न होने लगे। यदि कोई लड़का कमरे में घुसते ही अपनी कितावें ठीक से न रखकर इधर-उधर डाल देता है तो उससे कितावे

उठवाकर उसे कमरे से बाहर जाकर फिर अन्दर आकर किताबें ठीक से रखने को कहिए। थोडे दिनो बाद कमरे के दरवाजे को देखने से ही लडके के अन्दर ऐसा सापेक्षीकरण हो जायगा कि वह अन्दर आने पर किताबे ठीक से रखने लगेगा। हमारा शरीर इस ढग से क्रिया करने की चेष्टा करता रहता है जिससे उसकी शक्ति का अपव्यय न हो। शक्ति का अपव्यय रोकने की प्रधानता के कारण व्यक्ति उस काम को शीघ्र करने लगता है जिसको सिखाने के लिए उसकी शक्ति का अपव्यय जबर्दस्ती कराया जाय।

लार बहना, झटका खाने पर शरीर के किसी अग, उँगली आदि को हटा लेना आदि साधारण प्रक्षिप्त (reflex) क्रियाओ के सापेक्षीकरण के लिए तटस्थ और सक्रिय उत्तेजनाओ को देने की अवधि में ०·२ से ०·६ सेकेंड का अन्तर अभीष्ट है। इस अवधि के बढाए जाने पर भी सापेक्षीकरण हो जाता है। पावलोफ के प्रयोग में घटी और खाने की उत्तेजना देने में दो मिनट का अन्तर किया जा सकता है किन्तु तब सापेक्षीकरण हो जाने के बाद घटी बजाए जाने पर कुत्ते की लार दो मिनट के बाद ही टपकना शुरू होगी क्योकि कुत्ता लार टपकाने की प्रतिक्रिया को दो मिनट तक रोक रखना सीख लेता है।

सापेक्षीकरण पर आयु का प्रभाव—सापेक्षीकरण और आयु के सम्बन्ध पर किए गये प्रयोगो से यह पता चला है कि सापेक्षीकरण बच्चे के भ्रूणकाल से प्रारम्भ हो सकता है। कुछ मनोविज्ञानी मुट्ठी बँधने को सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया मानते है जो बच्चे की गर्भावस्था के पाँचवे महीने से शुरू हो जाती है।

जन्म के बाद के प्रारम्भिक सप्ताहो में बच्चो पर सापेक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए गए है। स्कूल जाने की अवस्था पर बच्चे का सापेक्षीकरण अधिक सक्रिय होने लगता है। एक प्रयोग में बच्चे में निगलने की प्रतिक्रिया का सापेक्षीकरण किया गया। इस प्रयोग में एक वर्ष की आयु में सापेक्षीकरण सक्रिय और तटस्थ उत्तेजना को ८ बार साथ-साथ देने पर हुआ, दो वर्ष की आयु में ७ बार देने पर, तीन वर्ष की आयु में ५ बार देने पर और चार और पाँच वर्ष की आयु में ४ बार देने पर।

स्कूल जाने की अवस्था बीत जाने पर सायास (voluntary) प्रतिक्रियाओ का सापेक्षीकरण करना कठिन हो जाता है। इस अवस्था में बच्चे की प्रवृत्तियाँ अपने प्रभाव से सापेक्षीकरण के प्रदर्शन मे बाधा डालती है। बच्चा प्रयोगकर्ता की इच्छा को जानकर उसके अनुकूल प्रतिक्रिया कर सकता

है या वह अपनी पराजय न मानने के हठ मे आकर प्रयोगकर्त्ता की इच्छा के प्रतिकूल प्रतिक्रिया कर सकता है। यदि प्रयोग के बीच में बच्चे की मनोवृत्ति बदल जाय तो उसकी प्रतिक्रिया पर अकथनीय प्रभाव पड़ सकता है जिससे सापेक्षीकरण बिगड़ सकता है।

इन कारणो से प्रौढ बच्चो और वयस्को का सफल सापेक्षीकरण तभी किया जा सकता है जब वे प्रयोगकर्त्ता के उद्देश्य को न जान पाएँ या उनकी उन प्रतिक्रियाओ को सापेक्षीकृत किया जाय जिन पर वे सायास नियत्रण न रख सकें।

उत्तेजनाओं का सामान्यीकरण और विभेदीकरण--जिस उत्तेजना मे सापेक्षीकरण हो चुका है उस उत्तेजना से समानता रखनेवाली अन्य उत्तेजनाएँ भी वही सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया करवा सकती है। बच्चे के डर की प्रतिक्रिया का यदि सफेद बिल्ली से सापेक्षीकरण करा दिया जाय तो वह अन्य सफेद चीजो जैसे खरगोश, रूई के ढेर आदि के प्रति भी डर की प्रतिक्रिया कर सकता है। यह उत्तेजनाओ के सामान्यीकरण (generalisation) का उदाहरण है। सापेक्षीकरण किसी विशेष उत्तेजना से न होकर उससे समानता रखने वाली उत्तेजनाओ के वर्ग से होता है। उस वर्ग की कोई भी उत्तेजना सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया करवा सकती है।

यद्यपि सापेक्षीकरण समान उत्तेजनाओ के वर्ग से होता है किन्तु विशिष्ट उत्तेजना से भी किया जा सकता है। विशिष्ट उत्तेजना से सापेक्षीकरण करने के लिए उस उत्तेजना के साथ सक्रिय उत्तेजना को बार-बार देना चाहिए; अन्य समान उत्तेजनाओ के साथ सक्रिय उत्तेजना नही देना चाहिए। ऐसा करने से विशिष्ट उत्तेजना के प्रति सापेक्षीकरण पुनर्शक्त (reinforce) होता जायगा और अन्य समान उत्तेजनाओ के प्रति अशक्त। परिणाम-स्वरूप पुनर्शक्त और अपुनर्शक्त उत्तेजनाओ मे विभेदीकरण (differentiation) कर सकने की योग्यता बढ जायगी।

विभेदीकृत सापेक्षीकरण द्वारा विभिन्न बोधागो द्वारा ग्रहण की जाने वाली उत्तेजनाओ का विश्लेषण कर सकने मे आसानी होती है। बच्चे और पशु यह नही बता सकते कि उन्हे क्या बोध होता है। उन्हे क्या बोध होता है इसका पता उनकी विभेदीकृत सापेक्षीकृत प्रतिक्रियाओ से चल सकता है। यदि हम यह जानना चाहे कि बच्चा या पशु तीव्रता की किस मात्रा तक के विभेद का बोध कर सकता है तो हमें तीव्रता की एक निश्चित मात्रा और उसके आसपास की विभिन्न तीव्रताओ से उसका सापेक्षीकरण कर विभिन्न तीव्रताओ को पुनर्शक्त नही करना चाहिए। जब बच्चे या पशु मे उस निश्चित मात्रा की तीव्रता के प्रति डर की प्रतिक्रिया का सापेक्षीकरण हो जाय तो हमे तीव्रता

को धीरे-धीरे घटाना चाहिए। इस प्रकार यह निर्धारित किया जा सकता है कि बच्चा या पशु तीव्रता के कितने भेद तक सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया कर पाता है। वह तीव्रता के जितने भेद तक सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया करेगा, उसे तीव्रता के उतने ही विभेद का बोध होगा।

सापेक्षीकरण का महत्व—मनुष्य के दैनिक व्यवहार का बहुत बडा भाग सापेक्षीकरण द्वारा अर्जित किया जाता है। विभिन्न लोगो, स्थितियो, विचारो, पदार्थों, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक दृष्टिकोणो आदि के प्रति मनुष्य का राग या विराग जीवन के प्रारम्भ मे अर्जित सापेक्षीकरण का ही परिणाम होता है। जो लोग, स्थितियाँ, विचार या पदार्थ सुखदायी होते है उनके प्रति मनुष्य की भावना रागात्मक हो जाती है और जो दुखदायी होते है उनके प्रति विरागात्मक। चूँकि मनुष्य की भावनाएँ उसके चरित्र और व्यक्तित्व का निर्माण करती है इसलिए चरित्र और व्यक्तित्व के विकास मे सापेक्षीकरण का बडा महत्व है। साधारण मनुष्य की पाप-पुण्य, अच्छाई-बुराई की धारणाओ, घृणा और प्रेम की प्रवृत्तियो और भाषा के अभिधात्मक सम्बन्धो का सापेक्षीकरण उसके समाज में प्रतिष्ठित मापदडो और व्यक्तिगत सम्पर्क से प्राप्त अनुभवो द्वारा होता है।

किन्तु सापेक्षीकरण का प्राणी पर अवाछनीय प्रभाव भी पड सकता है। कुछ बच्चो में हाथी को देखकर डर की प्रतिक्रिया का ऐसा सापेक्षीकरण हो जाता है कि वे घर से बाहर निकलने में डरने लगते है जो अवाछनीय है। इसी प्रकार मनुष्य के सामाजिक, व्यक्तिगत, राजनैतिक या धार्मिक दृष्टिकोणो का भी अनेक प्रकार से अवाछनीय सापेक्षीकरण हो सकता है। ऊँची जगह जाने में डरना, सीढी पर चढने में काँपना, बहता पानी देख कर भयभीत हो जाना, खून देखकर हाथ-पाँव फूल जाना आदि अवाछनीय सापेक्षीकरण के कुछ उदाहरण है। अवाछनीय सापेक्षीकरण की निर्मूलता और अनर्गलता जानते हुए भी लोग अपने पर नियत्रण कर सकने में असफल रहते है। अवाछनीय सापेक्षीकरण कुशलता-प्राप्ति में बाधक बनकर जीवन की सफलता के मार्ग में रोडा बन सकता है। क्या अवाछनीय सापेक्षीकरण का उच्छेद कर सकने के उपाय है?

सापेक्षीकरण का उच्छेद—सापेक्षीकृत प्रतिक्रियाओ का निर्माण चूँकि व्यवहार में होता है इसलिए उनका उच्छेद (extinction) भी सम्भव है। सापेक्षीकरण को यदि समय-समय पर पुनर्शक्त (reinforce) न किया जाय तो वह धीरे-धीरे लुप्त होने लगता है। पावलोफ के प्रयोग में यदि कुत्ते को

बहुत अवधि तक घटी के बाद खाना न दिया जाय तो उसमे घटी से लार वहने की प्रतिक्रिया क्षीण पडते-पड़ते लुप्त होने लगेगी। किन्तु यह भी देखा गया है कि लुप्त हो चुकी सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया कभी-कभी फिर प्रस्फुटित हो जाती है, इसलिए सापेक्षीकरण के अधिक सक्रिय उच्छेद के लिए कोई दूसरा उपाय ढूँढना चाहिए।

एक अच्छा उपाय पुनर्सापेक्षीकरण (reconditioning) है। पुनर्सापेक्षीकरण द्वारा जिस उत्तेजना से पहले सापेक्षीकरण हो चुका है प्राणी का उस उत्तेजना से ऋणात्मक समायोजन (negative adaptation) कराया जाता है। जब कोई पहले-पहल किसी कारखाने या बाजार के पास रहता है तो वहाँ के शोरगुल से परेशान होता है किन्तु धीरे-धीरे उसका उस शोरगुल से ऋणात्मक समायोजन हो जाता है और तब वह परेशान नही होता। घोडा शुरू-शुरू मे अपने मुँह मे लगाम नही लगाने देता किन्तु धीरे-धीरे उसका लगाम के प्रति ऋणात्मक समायोजन कर दिया जाता है और वह लगाम लगाने देता है।

सापेक्षीकरण के उच्छेद का एक और उपाय सापेक्षीकरण करने वाली उत्तेजना को किसी वाञ्छनीय सचारीभावात्मक (emotional) प्रतिक्रिया से सम्बन्धित कर देना होता है। यदि कोई बच्चा बिल्ली से डरता है तो जिस समय बच्चे मे किसी सुखद प्रतिक्रिया (खेलने आदि) की प्रधानता हो उस समय उसे दूर पर बिल्ली को खेलते हुए दिखाया जाय। इस प्रकार बच्चे की उस समय प्रधानता रखने वाली सुखद प्रतिक्रिया (खेलना) बिल्ली की उत्तेजना से सम्बन्धित हो जायगी और तब बिल्ली की उत्तेजना से हो गई डर की पुरानी सापेक्षीकृत प्रतिक्रिया का उच्छेद हो जायगा। लेकिन इसमें बहुत सावधान रहना चाहिये कि कही बिल्ली को देखकर बच्चे की डर की प्रतिक्रिया उसके खिलौनो आदि से सम्बन्धित न हो जाय। यदि किसी व्यक्ति को कोई ऐसी चीज खिलाना है जिसमें उसे रस न मिलता हो तो उस चीज को उसकी मनचाही चीजो के साथ देना चाहिए। मनचाहे खानो के प्रति उस व्यक्ति की सुखमय प्रतिक्रिया नापसन्द चीज से सम्बन्धित की जा सकती है।

(२) चूक और चेष्टा

ज्ञान-विज्ञान की महान् से महान् खोजो का मूल दैनिक जीवन के बहुत मामूली से लगने वाले अनुभवो में होता है। फलो को पेड़ो से गिरते हुए कौन नही देखता ? किन्तु इस साधारण दैनिक अनुभव से गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की खोज करने के लिए इसे न्यूटन की आंखो से देखना चाहिए। खौलते पानी

की पतीली के ढक्कन को उछलते हुए सभी देखते है किन्तु यह जेम्स वाट की पैनी दृष्टि थी जिसने इस मामूली अनुभव के पीछे भाप की वह अदम्य शक्ति देख ली जो वर्तमान मानव-सभ्यता के पहिए की धुरी बनी हुई है। जीवन के साधारण अनुभवो और घटनाओ को यदि पैनी दृष्टि से देखा जाय तो उनसे महत्वपूर्ण तथ्यो का पता चल सकता है। मनोविज्ञान के सिद्धान्त दैनिक अनुभवो से प्राप्त तथ्य ही तो है। ऐसी मनोरजक घटनाओ की कमी नही है किन्तु यहाँ उस मनोरजक घटना को सुनिये जिससे सीखने के एक महत्वपूर्ण प्रकार पर प्रकाश पड़ा।

प्रसिद्ध वनस्पति-शास्त्री लायड मॉर्गन अपने पालतू कुत्ते के साथ सवेरे टहलने जाया करते थे। टहलते समय कभी-कभी वे खिलवाड के लिए अपनी छडी कुत्ते के आगे फेंक देते थे। कुत्ता दौडकर छडी अपने मुँह मे दबाकर अपने स्वामी के पास ले आता था। एक दिन टहलते-टहलते वे ऐसी जगह जा पहुँचे जहाँ तारो का एक घेरा बना हुआ था। कौतूहलवश उन्होने अपनी छडी तारो के घेरे के उस पार फेंक दी। घेरे मे कुत्ते के उस पार निकल सकने भर के लिए एक छेद था। कुत्ता उस छेद में से निकल गया और छडी को मुँह में दबाकर उसी छेद से इधर आने लगा किन्तु छडी उसके मुँह में बीच से दबी होने के कारण नही निकल सकी। कुत्ते ने बार-बार चेष्टा की कि वह छडी सहित छेद से निकल आए किन्तु हर बार उसकी चेष्टा विफल रही। वह छडी को मुँह से छोडकर बार-बार फिर पकड़ता था और छेद से निकलने की कोशिश में चूक जाता था। अकस्मात उसने छडी के एक सिरे को मुँह से पकडा और इस बार वह छड़ी सहित छेद से इधर निकल आया।

प्रश्न उठता है कि यदि छड़ी दुबारा घेरे के उधर फेंक दी जाती तो क्या कुत्ता उसको सिरे से पकड़कर छेद से फिर इधर निकल आता ? क्या कुत्ते ने छेद से निकल सकने के लिए छडी को सिरे से पकडना सीख लिया था ? इसके उत्तर के लिए मॉर्गन ने छडी फिर घेरे के उधर फेंक दी। कुत्ता फिर छेद से उधर जाकर छडी को लाने लगा किन्तु फिर चूक गया। स्पष्ट था कि उसने अपने पूर्व अनुभव से कुछ नही सीखा। बार-बार कोशिश करने और चूकने पर अकस्मात उसने छडी फिर सिरे से पकड ली और छेद से छडी सहित निकल आया। किन्तु इस बार की चेष्टा में उसे उतना समय नही लगा जितना पहली बार की चेष्टा मे लगा था; शायद यह एक सयोगमात्र ही रहा हो। किन्तु देखा यह गया कि दिन प्रतिदिन कुत्ते की चूक (error) और उसकी सफल चेष्टा (trial) मे समय का अन्तर क्रमश घटता रहा और एक दिन उसने एक बार भी चूक (error) न करके छडी को सिरे से पकड़

कर छेद से निकल आना सीख लिया। इससे इस तथ्य का पता चला कि सीखने मे चूक और चेष्टा (trial and error) का भी सापेक्षीकरण के बराबर ही महत्व होता है।

चूक-चेष्टा के प्रयोग—इसके बाद प्रयोगशालाओ मे चूक-चेष्टा के अनेक प्रयोग करके सीखने से सम्बन्धित बहुत से तथ्यो का अनुसन्धान किया गया। प्रयोगशालाओ मे पशुओ पर ही अधिक प्रयोग किया गया। किन्तु इसका अर्थ यह नही है कि मनुष्य चूक-चेष्टा द्वारा कुछ नही सीखता। पशुओ के व्यवहार मे उतनी जटिलता नही होती जितनी मनुष्य के व्यवहार मे होती है इसलिए पशुओ पर प्रयोग कर सकना अपेक्षत आसान होता है और सीखने के जो नियम उन पर लागू होते है वही मनुष्य के सीखने पर भी लागू होते है। पशुओ पर सीखने का प्रयोग करने के लिए पहले उनका उनके परिवेश (environment) से सम्बन्ध तोड दिया जाता है और फिर समुचित दड या पुरस्कार द्वारा उनका परिवेश से पुनर्संतुलन (readjustment) कराया जाता है। पशुओ का उनके परिवेश से सम्बन्ध तोड़ने के लिए मनोविज्ञानी या तो उन्हे किसी ऐसे पिंजड़े मे बन्द कर देते है जिससे बाहर निकल सकना उनके लिए एक समस्या बन जाती है या उन्हे किसी भूल-भुलैया (maze box) मे छोड़ देते है जिसमें चक्करदार अनेक गलियारे होते है किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने का केवल एक ही गलियारा होता है। तब प्रयोगकर्ता यह देखता है कि परिवेश से पुनर्संतुलन करने (समस्या का हल करने या भूलभुलैया मे लक्ष्य तक पहुँचने) के लिए पशु ने कैसे चेष्टा की और कितनी बार की; वह कितनी बार चूका और सफलता से पुनर्संतुलन करने में उसे कितना समय लगा। यह कह सकना कठिन है कि प्राणी बिना उद्देश्य के भी सीख सकता है या नही। चूक-चेष्टा के इन प्रयोगो मे पशुओ के सामने उनकी उद्देश्यात्मक प्रतिक्रिया को सन्तुष्ट कर सकने वाली उत्तेजनाएँ इस तरह प्रस्तुत की जाती ह जिन तक पहुँचने मे कोई बाधा पडे।

प्रसिद्ध मनोविज्ञानी थार्नडाइक ने प्रारम्भ मे बिल्लियो पर प्रयोग किए। भूखी बिल्ली को पिंजडे मे बद कर दिया गया और खाना पिंजडे के बाहर रख दिया गया जो उसकी पहुँच के बाहर था। आन्तरिक उद्देश्य भूख से प्रेरित होकर बिल्ली खाने तक पहुँचने की चेष्टा करने लगी किन्तु पिंजड़ा उसमें बाधक बनता था। खाने तक पहुँच सकना उसके लिए एक समस्या थी जिसको हल कर सकने का सही साधन केवल एक ही था— पिंजड़े के दरवाजे से निकलने के लिए चिटकनी खोलना। बिल्ली देर तक पिंजडे मे इधर उधर भटक-भटक कर पंजे और मुँह मारती रही। सहसा उसका पंजा चिटकनी पर पड गया जिससे दरवाजा खुल गया और वह बाहर आकर खाने तक पहुँच गई। क्या

बिल्ली ने बाहर आने के लिए चिटकनी खोलना सीख लिया ? क्या वह पिंजडे से बाहर निकलने और चिटकनी खोलने का सम्बन्ध जान गई ?

नही। दूसरी बार उसे जब पिंजडे मे फिर बन्द किया गया तो वह फिर बाहर निकलने के लिए पंजे और मुँह मार मार कर अनावश्यक चेष्टाएँ करती रही जिससे स्पष्ट था कि उसने भी मॉर्गन के कुत्ते की भाँति अपने पूर्व अनुभव से कुछ नही सीखा। किन्तु दिन प्रतिदिन उसकी चेष्टाओ में लगने वाला समय कम होता गया और एक दिन उसने भी मार्गन के कुत्ते की भाँति बिना चूके बाहर आना सीख लिया।

इसी भाँति चूहो को भूलभुलैया (maze) मे रखकर प्रयोग किए गए। भूलभुलैया के बीचोबीच कोई खाने की चीज रख दी जाती है। भूल-भुलैया के
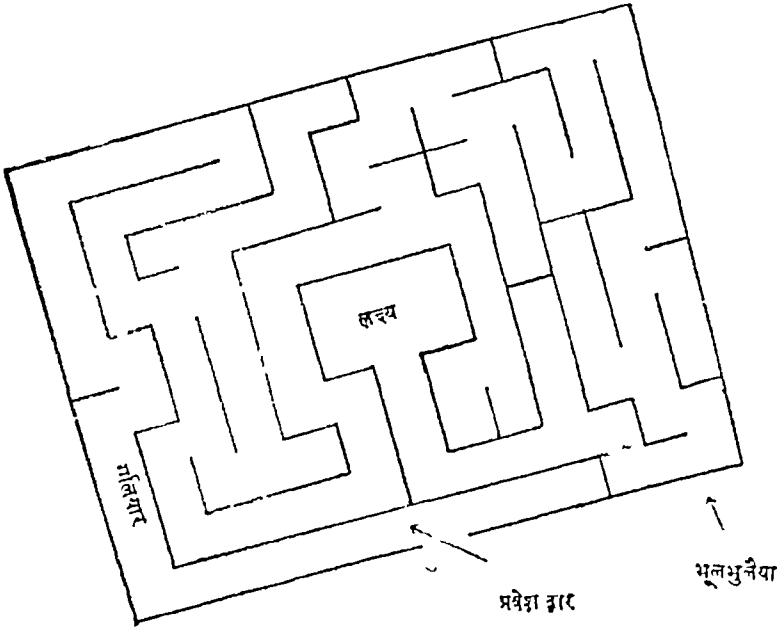
चित्र ५५

अनेक चक्करदार गलियारो में से केवल एक गलियारा खाने तक पहुँचता है, शेष गलियारे बीच ही में रुक जाते हैं (चित्र ५५)। चूहे को जब पहली बार भूलभुलैया में छोडा जाता है तो वह चक्करदार गलियारो मे इधर उधर भटकता और सूँघता सा घूमता रहता है। घूमते-घूमते वह खाने तक पहुँच जाता है। तब उसे निकाल कर भूलभुलैया में फिर से छोडा जाता है। अब वह जल्दी जल्दी इधर उधर चक्करदार गलियारो में घूम कर खाने तक पहुँचने की चेष्टा करता है। इस प्रयोग की अनेक बार आवृत्ति कराने पर चूहा धीरे धीरे इधर उधर के गलियारो मे व्यर्थ भटकना छोडता जाता है और भूल-भुलैया के आदि से खाने के अन्त तक दिनो दिन शीघ्र पहुँचता रहता है।

प्रयोगों की व्याख्या—अब बिल्ली ने पिंजडे से बाहर निकलने और चूहे ने भूलभुलैया के चक्करदार गलियारो से खाने तक पहुँचने मे जो चेष्टाएँ की उनकी व्याख्या करने की समस्या पैदा होती है। बिल्ली और चूहे की असफल चेष्टाएँ दिन-प्रतिदिन क्यो छूटती चली जाती है ? क्या उनमें उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्वन्ध को जान सकने की क्षमता आ जाती है ? इन प्रश्नो की व्याख्या करने के लिए थार्नडाइक ने 'प्रभाव का नियम' (Law of Effect) प्रतिपादित किया । इस नियम के अनुसार सफलता की दिशा म जो चेष्टा की जाती है उससे सन्तोष होता है और इसलिए उसका प्रभाव प्रतिक्रिया और न्यूरोनीय व्यवस्था के सम्बन्ध को दृढ बनाता है । असफल चेष्टाओ के प्रति खीझ पैदा होती है जिससे उनका प्रभाव प्रतिक्रिया और न्यूरोनीय व्यवस्था के सम्वन्ध को दृढ नही बना पाता । बार बार की चेष्टा से बिल्ली और चूहे की न्यूरोनीय व्यवस्था पर सफल चेष्टाओ की छाप पड़ती रहती है और ज्यो ज्यो वह छाप गहरी होती जाती है त्यो त्यो बिल्ली और चूहे की असफल चेष्टाएँ अपने आप छूटती जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि बाद मे वे बिना चूके ही पिजड़े से निकलने और भूलभुलैया मे खाने तक पहुँचने की सही प्रतिक्रिया करना सीख जाते है।

सीखने का सैद्धान्तिक पक्ष—सीखना कैसे सम्भव होता है ? इस विषय पर अनेक मत है। सीखने के व्यवहार-पक्ष से सम्बन्धित दो प्रश्न बहुत महत्व-पूर्ण है। पहला प्रश्न यह है कि प्राणी क्या सीखता है ? प्राणी उत्तेजनाओ से स्वत होने वाली प्रतिक्रियाएँ सीखता है या उनकी सार्थकता सीखता है और सार्थकता को सीख लेने के बाद क्या प्रत्याशित प्रतिक्रिया करता है ? दूसरे शब्दो मे उत्तेजनाओ और सीखी गई प्रतिक्रियाओ मे कोई मध्यस्थ व्यापार होता है या नही ? दूसरा प्रश्न यह है कि प्राणी जो कुछ सीखता है वह कैसे सीखता है ? दूसरे शब्दो में सीखने के लिए पहले किन परिस्थितियो का मौजूद होना आवश्यक होता है। सीखने के लिए क्या उत्तेजना और प्रतिक्रिया में समीपता (contiguity) होनी चाहिए या दोनो की पुनरावृत्ति होनी चाहिए या दोनो का पुनर्शक्तीकरण (reinforcement) होना चाहिए ?

सीखने मे तीन चीजे होती है· उत्तेजना, प्राणी और प्रतिक्रिया। हमें जानना यह है कि उत्तेजना और सीखी गई प्रतिक्रिया के बीच प्राणी के अदर क्या होता है ? उत्तेजना मिलने के वाद और सीखी गई प्रतिक्रिया करने के पहले प्राणी के अन्दर जो व्यापार होते है उन्हे मध्यस्थ परिवर्त्य (intervening variables) कहा जाता है। सीखने से सम्बन्धित मध्यस्थ परिवर्त्य क्या है और वे कैसे पैदा होते है ?

इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए प्रोफेसर हल और टोलमैन ने चूहो पर प्रयोग करके कुछ परिणाम निकाले। हल के अनुसार चूहे भूलभुलैया के गलियारो से सम्बन्धित उत्तेजनाओ के प्रति स्वत होने वाली प्रतिक्रियाएँ (इधर-उधर घूमना) सीखते हैं। ठीक तरह से घूमने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक होती है (१) उद्देश्य (motive), जैसे भूख या दुखदायी उत्तेजना से बचना; (२) पहली बार अकस्मात् ठीक दिशा में घूम पडना, (३) भूलभुलैया के गलियारो या अपने ही अन्दर से ठीक दिशा में घूमने की प्रतिक्रिया करने में सकेतो (cues) का मिलना; (४) पुनर्शक्तीकरण (reinforcement) होना, जैसे भूख का मिटना या दुखदायी उत्तेजना से बच जाना; (५) उत्तेजना, प्रतिक्रिया और पुनर्शक्तीकरण मे समीपता (contigvity) होना; और (६) इन सब बातो की पुनरावृत्ति (repetition)। पुनरावृत्ति से आदत पड जाती है जो सीखने के लिए शक्ति देती है।

हल के अनुसार प्राणी उत्तेजनाओ के प्रति अपने आप होने वाली प्रतिक्रियाएँ सीखता है और उसके सीखने के पीछे आदत से मिलने वाली शक्ति रहती है। चूहे वही प्रतिक्रिया सीखते हैं जिनका (पुरस्कार मिलने से) पुनर्शक्तीकरण होता रहता है। यो तो हल ने सीखने में और भी मध्यस्थ परिवर्त्य माने हैं किन्तु आदत से मिलने वाली शक्ति उन सबमें ज्यादा प्रधान होती है।

टोलमैन का मत हल के मत का विरोधी है। टोलमैन के मतानुसार चूहे उत्तेजनाओ के प्रति अपने आप होने वाली प्रतिक्रियाएँ ही नही सीखते, वे उत्तेजनाओ की सार्थकता भी सीखते है। वे यह सीखते है कि अमुक उत्तेजना का अर्थ है भोजन। चूहे उस सार्थक स्थान को सीखते है जहाँ उन्हे खाना मिलता है। दूसरी ओर टोलमैन के अनुसार सीखने के लिए पुनर्शक्तीकरण आवश्यक नही होता। उत्तेजनाओ और प्रतिक्रियाओ की समीपता (contiguity) के सहचार की पुनरावृत्ति यह सीखने के लिए पर्याप्त होती है कि किधर से किधर जाया जाता है।

सीखने मे पुनर्शक्तीकरण का स्थान—सीखने में पुनर्शक्तीकरण की अनावश्यकता का समर्थन सयोगात्मक (incidental or latent) सीखने के प्रयोगो से होता है। सयोगात्मक सीखना उसे कहते हैं जिसमें प्राणी अपने प्रकट व्यवहार के अतिरिक्त और भी बातें सीख जाता है जो व्यवहार में प्रकट नही होती। सयोगात्मक सीखने के एक प्रयोग में चूहो को विना पुरस्कार के भूलभुलैया में दस बार चेष्टाएँ कर लेने के वाद खाने का पुरस्कार दिया गया। चित्र ५६ को देखिए। भूखे अपुरस्कृत वर्ग के चूहो की चूके उसी समय कुछ कम हुई जब भूखे पुरस्कृत चूहो की कम हुई। अब भूखे-अपुरस्कृत-पुरस्कृत

वर्ग के चूहो की प्रगति पर ध्यान दीजिए। पुरस्कृत होने के पहले इस वर्ग के चूहो की चूके भी सापेक्षतः कुछ कम हो गई थी। पुरस्कार मिलने के बाद एक ही चेष्टा में उनकी चूके बारह बार की चेष्टाओं में निरन्तर पुरस्कार पाते रहने वाले वर्ग के चूहो से भी कम हो गई। इस आकस्मिक उन्नति से यह स्पष्ट हो जाता है कि चूहो ने अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग तब तक नही किया जब तक दस दिन के बाद वह उनके लिए लाभदायक नही हो गया। यह स्पष्ट है कि अर्जित ज्ञान उन्हे खाने के पुनर्शक्तीकरण के पहले ही मिल चुका था। यहाँ तक तो ठीक हैं; लेकिन पुनर्शक्तीकरण की और भी शर्ते तो होती हैं। पुनर्शक्तीकरण करने के कुछ सकेत भूलभूलैया मे ही होते हैं। अगर चूहो मे अन्वेषण प्रवृत्ति (exploratory drive) होती हैं (जिसे बच्चों में उत्सुकता प्रवृत्ति कहा जाता हैं) तो उस प्रवृत्ति का सन्तुष्ट होना ही पुनर्शक्तीकरण का कारण बन जायगा। सीखने मे पुनर्शक्तीकरण को अनावश्यक बताते समय टोलमैन द्वारा इसी तथ्य की उपेक्षा हो जाती है कि पुनर्शक्तीकरण करने के कुछ सकेत तो भूलभुलैया मे ही होते है।
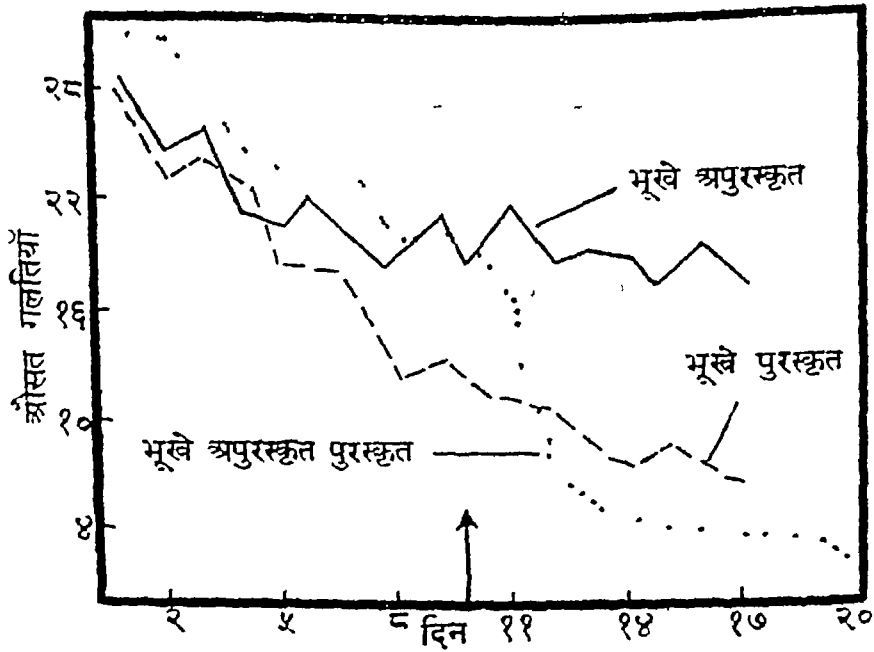
चित्र ५६

सीखने में ग्राहको और प्रभावकों का स्थान—सीखना विभिन्न ग्राहको और प्रभावको की क्रियाओ के सगठन का परिणाम होता है। यदि ग्राहक और प्रभावक निर्दोष हो तो उनकी क्रियाओ का सगठन भी निर्दोष होगा और व्यक्ति अच्छी तरह सीख सकेगा। सीखने पर ग्राहको-प्रभावको के निर्दोष होने का सापेक्षिक प्रभाव पडता है। जिस व्यक्ति के सारे ग्राहक-प्रभावक निर्दोष होते हैं उसे दोषपूर्ण ग्राहक-प्रभावक वाले व्यक्ति की अपेक्षा सीखने में अधिक

सुगमता होती है और कम समय लगता है। यो तो अन्धा भी उभरे अक्षरो द्वारा पढना सीख सकता है किन्तु उसे निर्दोष आँख वाले व्यक्ति की अपेक्षा ज्यादा समय लगता है और कम कुशलता प्राप्त होती है। दोषपूर्ण ग्राहक या प्रभावक की सक्रियता के अभाव में न्यूरोनीय प्रेरणाओ मे वह सगठन नही हो पाता जो अच्छी तरह सीखने के लिए जरूरी होता है।

सीखने में ग्राहकों और प्रभावको के सापेक्षिक प्रभाव का अध्ययन करने के लिए अनेक प्रयोग किए गए है। एक प्रयोग मे अनेक चूहो को पाँच गलियारो वाली एक भूलभुलैया (maze) सिखाई गई। पहले सब चूहो के सारे ग्राहक निर्दोष थें। बाद में उनमे से कुछ को अधा, कुछ को अंधा-वहरा और कुछ को अधा-वहरा और गध के प्रति असवेदनशील बनाकर भूलभुलैया में दौड़ाया गया। जब तक चूहो के ग्राहक निर्दोष रहे तक तक उन सब ने भूलभुलैया लगभग समान ढग से सीखी। ग्राहको के दोषपूर्ण हो जाने के वाद उनके सीखने में जो अन्तर पाया गया उसको चित्र ५७ में दिए सीखने के लेखे मे दिखाया गया है।
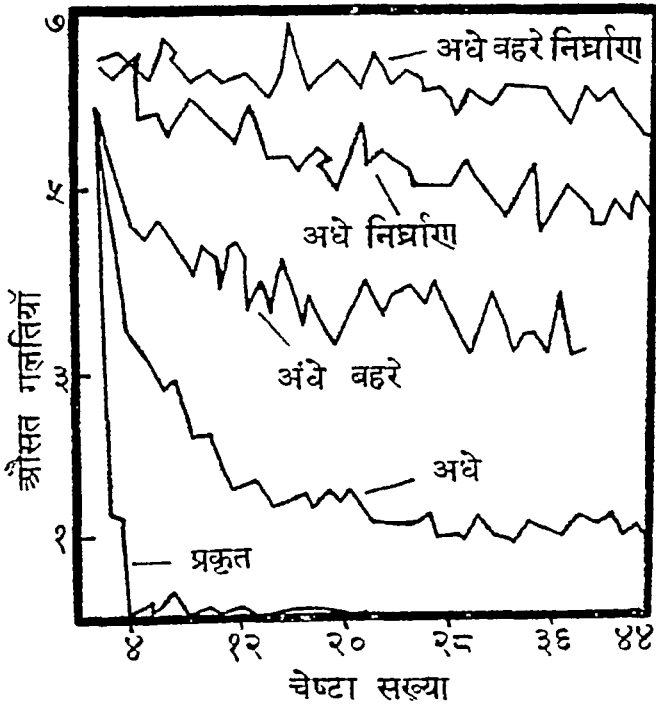
चित्र ५७

(३) सूझ-बूझ द्वारा सीखना

किन्तु इस व्याख्या पर आक्षेप उठाया गया है न्यूरोनीय व्यवस्था पर उन्ही क्रियाओ की छाप गहरी पडती है जो वार वार की जाती हो।

प्रयोगो मे बिल्ली और चूहे की असफल चेष्टाएँ उनकी सफल चेष्टाओं से बहुत ज्यादा थी अतएव उनकी न्यूरोनीय व्यवस्था पर असफल क्रियाओ की छाप गहरी पड़नी चाहिए जिसका यह अर्थ हुआ कि उन्हे पिजड़े से बाहर निकलना और भूलभुलैया के चक्करदार गलियारो से खाने तक पहुँच जाना नही सीखना चाहिए था। किन्तु फिर भी यदि वे लक्ष्य तक पहुँचने की सफल क्रियाओ को सीख गए तो इसका कारण सीखने के पीछे उनकी सूझ-बूझ (insight) को मानना पडेगा, न्यूरोनीय व्यवस्था पर पड़ी छापो को नही।

जर्मनी के मनोविज्ञानियो किफ्का और कीलर आदि ने अपने प्रयोगो से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि सीखने मे पशु भी सूझ-बूझ से काम लेते है। पशुओ की सूझ-बूझ (insight) का यह अर्थ नही है कि वे सीखते समय मनुष्यो की भाँति विचार करते है या आगा-पीछा सोचते है। पशुओ की सूझ-बूझ का यही अर्थ है कि वे उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध की सार्थकता को जान जाते है। पिजडे से निकलने और भूलभुलैया के चक्करदार मार्गो से खाने तक पहुँचने की समस्या बिल्ली और चूहे जैसे पशुओ के लिए अत्यन्त जटिल है जिससे सीखने में उनकी सूझ-बूझ प्रदर्शित नही की
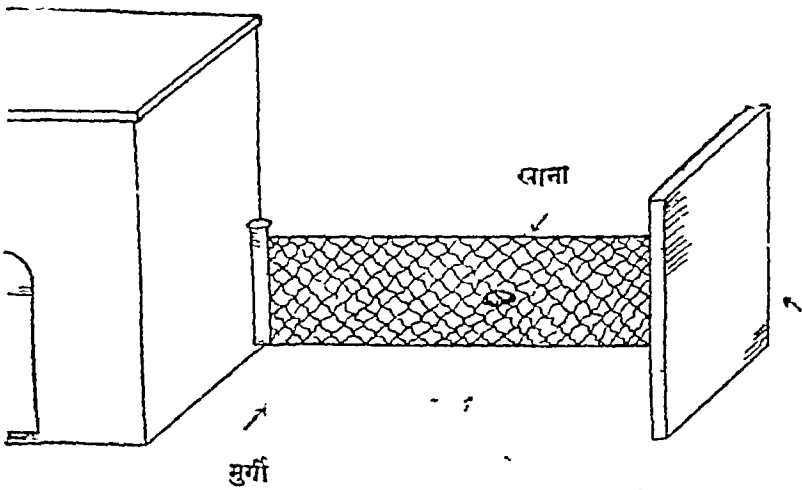
चित्र ५८

जा सकती। बच्चो को भी यदि वैसी ही जटिल समस्याये दी जाँय तो वे भी समस्याओ के सार्थक सम्बन्ध को न समझ पाकर चूक-चेष्टा (trial and error) द्वारा ही सीखने का प्रयत्न करने लगेगें। इस बात को ध्यान में रखकर कीलर ने सरल समस्याओ को बनाकर कुत्तो, मुर्गियो और बन्दरों आदि पशुओ पर प्रयोग किए। उसने एक जालीदार दीवार के उधर खाना रख दिया। जालीदार दीवार के इधर मकान और एक दीवार थी। मकान और दीवार के बीच एक मुर्गी को छोड़ दिया गया। पहले तो मुर्गी जालीदार

दीवार के उस पार रक्खे खाने को न देख सकी और इधर ही दीवार और मकान के बीच चक्कर काटती रही किन्तु जब उसने खाना देखा तो उसके व्यवहार में एकदम परिवर्तन आ गया और वह दीवार के पीछे से होकर खाने तक पहुँच गई (चित्र ५८) ।

खाने को देख पाने तक मुर्गी के लिए मकान और दीवार का वह अर्थ नही था जो खाने को देखने के बाद हो गया । खाने को देखने के बाद उसने जालीदार दीवार के उस पार रक्खे खाने और इधर की दीवार के नए सम्बन्ध को जान लिया या उनकी सार्थकता को देख लिया । जब तक उसने खाना नही देखा था तब तक इधर की दीवार उसके लिए एक अर्थहीन बाधा थी किन्तु खाने को देख लेने के बाद वही अर्थहीन बाधा एक सार्थक बाधा हो गई जिसके बगल से घूमकर खाने तक पहुँचा जा सकता था । इस सार्थकता से मुर्गी की बोधवाहक व्यवस्था (sensory organisation) में भी परिवर्तन हो गया और उसने दीवार की बाधा और खाने के नए सम्बन्ध की सार्थकता को जान लिया । नए सम्बन्ध की सार्थकता को जान लेने और परिणाम-स्वरूप बोधवाहक व्यवस्था में नया परिवर्तन हो जाने को ही कीलर ने 'सूझ-बूझ' (insight) कहा ।

पशुओ में उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध की सार्थकता को जान लेने की सूझ-बूझ आ जाने का प्रदर्शन करने के लिए कीलर ने लगूरो पर प्रयोग किए । एक लगूर को पिजडे में बन्द कर दिया गया और पिजड़े के बाहर केले रख दिए गए जो लगूर की पहुँच के अन्दर नही थे । पिजड़े में बाँस की दो छोटी लकडियाँ डाल दी गईं जो एक दूसरे में घुसेड कर जोड़ी जा सकती थी । लगूर पहले तो केलो तक पहुँचने के लिए पिजडे की सलाखो से हाथ बढा-बढा कर चूक-चेष्टा करता रहा किन्तु कुछ देर बाद उसने चेष्टा करना छोड़ दिया । फिर उसने एक लकडी उठाकर उससे केलो को अपनी ओर सरकाने की चेष्टा की लेकिन लकडी केलो तक पहुँच सकने के लिए छोटी थी और लगूर की यह चेष्टा भी असफल रही । अन्त में वह मन मारकर बैठ गया और दोनो लकडियो से खेलने लगा । अकस्मात् उसमें सूझ-बूझ जाग्रत हो गई । उसने लकडियो को एक दूसरे में घुसेडकर केलो तक पहुँचने के लिए लम्बा बना लिया । किन्तु केलो को सरकाते वक्त दोनो लकडियाँ फिर अलग हो गईं । लगूर का इस समय का व्यवहार ध्यान देने योग्य था । वह केलो की ओर से ध्यान हटाकर लकडियो को जोडने में जुट गया मानो उसे इस नए आविष्कार से बडा सन्तोष मिल रहा हो । लकडियो को फिर से जोडकर वह केलो को अपने पास तक सरका लाने में सफल हो गया । केलो

की उत्तेजना और लकड़ियो को जोड़कर केलो को सरका लाने की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध की सार्थकता जान लेने के बाद लगूर से फिर कभी चूक नही हुई। यह प्रयोग सूझ-बूझ द्वारा सीखने का अच्छा उदाहरण है। सूझ-बूझ (insight) उम्र और पूर्व अनुभव पर निर्भर होती है और उसके जाग्रत हो जाने पर चूकने की सम्भावना नही रह जाती।

मनुष्यो का सीखना—मनुष्य के सीखने की क्रियाओ का अध्ययन करने के लिए भी भूलभुलैया (maze) आदि बनाकर प्रयोग किया जाता है। यो तो मनुष्य जीवन भर कुछ न कुछ सीखता रहता है किन्तु उन सबका अध्ययन कर सकने के लिए न तो उसकी परिस्थितियो पर नियत्रण रक्खा जा सकता है और न उसकी पूर्व अनुभव और शिक्षा से लाभ उठाने की क्षमता को अलग किया जा सकता है। भूलभुलैया या अन्य तरह की पहेलियाँ मनुष्य के लिए भी नई होती है और उन पर नियत्रण भी रक्खा जा सकता है जिससे मनुष्य जब उन्हे सीखता है तो उसकी हर चेष्टा का ठीक-ठीक अवलोकन किया जा सकता है। भूलभुलैया को सीखने की समस्या नई होने के कारण उसे सीखने मे मनुष्य अपनी पहले की अर्जित कुशलता या शिक्षा से लाभ नही उठा पाता।

मनुष्य के लिए भूलभुलैया लकड़ी के तख्ते को खोदकर बनाई जाती है। पहले मनुष्य की आँखो पर पट्टी बाँध दी जाती है जिससे वह भूलभुलैया को पूरी तौर से न देख पाए। इस के बाद उससे उँगली से भूलभुलैया के चक्करदार गलियारो से सही मार्ग ढूँढने की चेष्टा करने को कहा जाता है। मनुष्य और चूहे आदि पशुओ की भूलभुलैया सीखने की तुलना करके यह देखा गया है कि जितने समय में मनाय्य भूलभुलैया का सही गलियारा सीखता है उतने ही समय मे चूहा भी सीख लेता है। किन्तु मनुष्य और चूहे के भूलभुलैया सीखने में बड़ा अन्तर होता है। मनुष्य भूलभुलैया सीखने में मौखिक सहायता ले सकता है। वह मन ही मन में यह हिसाब लगा सकता है कि सही मार्ग ढूँढ़ने के लिए उँगली को इतनी बार इधर, इतनी बार उधर, फिर इतनी बार ऊपर और नीचे फेरना चाहिए। चूहा यह नही करता। भूल-भुलैया सीख चुकने के बाद मनुष्य उसके सही गलियारे का चित्र बना सकता है और भूलभुलैया के नक्शे को खीच सकता है। चूहा यह भी नही कर सकता। मनुष्यो से यह पूछे जाने पर कि वे भूलभुलैया कैसे सीखते है यह पता चला है कि वे सही गलियारे ढूँढने के लिए सामान्य दिशा और विशेप स्थनो का सहारा लेते हैं जिस प्रकार आप अपने मित्र का मकान ढूँढने में बिजली के खम्भो या दुकानो का सहारा लेते है।

इसी प्रकार मनुष्य को पहेलियाँ देकर उनका समाधान सीखने पर भी प्रयोग किए गए हैं। आपने मेलो में तार के बने गोरख-धन्धे नामक खिलौने देखे होगे जिनमें कोई न कोई गोरख-धन्धा यानी जटिल पहेली होती है। तारो के जाल मे एक छल्ला पडा होता है और समस्या होती है उसे निकाल लेना। आप खिलौने को हाथ में लेकर गौर से देखते है कि छल्ला शायद आपके किसी पूर्व परिचित सिद्धान्त को लागू करने से निकल आए और आप मन ही मन चूक-चेष्टा (trial and error) द्वारा उसके हर सम्भावित हल को सोचते हैं। आप खिलौने को घुमाकर छल्ले और तारो का कोई सार्थक सम्वन्ध जानने की चेष्टा करते है। हो सकता है कि आपके सामने तारो का कोई ऐसा भाग आ जाय जो आपकी सूझ-बूझ को जाग्रत कर दे। अगर आप छल्ले और तारो का सार्थक सम्वन्ध नही समझ पाते तो आप तुक बैठाने के लिए छल्ले के साथ इधर-उधर खीचतान करना शुरू कर देते हैं।

इससे यह परिणाम निकलता है कि सूझ-बूझ (insight) आपकी अपनी बोध-वाहक व्यवस्था (sensory organisation) कर सकने की शक्ति पर निर्भर होती है। किसी समस्या के प्रति यदि आप अपनी समुचित बोध-वाहक व्यवस्था नही कर पाते तो आपका व्यवहार चूक-चेष्टा के स्तर का हो जाता है। वडे-बडे विचारशील व्यक्ति भी सकट के समय अपना हाथ दिखाने या मन्त्रजाप करने में लग जाते हैं। इसका कारण यह है कि वे सकट का समाधान कर सकने के लिए अपनी समुचित बोधवाहक व्यवस्था नही कर पाते।

इन प्रयोगो से एक यह भी परिणाम निकलता है कि चूकचेष्टा (trial and error) और सूझ-बूझ (insight) साथ साथ चलती है। कीलर के प्रयोग मे बन्दर पहले तो केलो तक पहुँचने के लिए चक-चेष्टा ही करता रहा, बाद मे लकडियो को जोड लेने से उसमें सूझ-बूझ जाग्रत हो सकी। छल्ले को तारो से निकालने में सूझ-बूझ से काम लेने के पहले आप भी मन ही मन चूक-चेष्टा द्वारा हर सम्भावित हल करते रहे थे केवल आपकी चूक-चेष्टा की अभिव्यक्ति ही तो आपके वाह्य व्यवहार मे नही हुई। मनुष्य को चूक-चेष्टा वहाँ ज्यादा करनी पडती है जहाँ किसी काम को सीखने में विशेष प्रकार के मासपेशीय सगठन (muscular pattern) की जरूरत पड़ती है जैसे टाइप करना, नाचना या एक पहिए की वाइसिकिल चलाना आदि।

(४) अनुकरण द्वारा सीखना

किसी छोटे वच्चे के सामने एक शीशे की दीवार वना कर उसके पीछे कोई खिलौना रख दीजिए। वच्चा खिलौने को लेने के लिए शीशे पर हाथ वढाएगा। उसके लिये शीशे के पीछे से हाथ डाल कर खिलौना ले लेना एक कठिन समस्या

होगी। इस प्रकार की समस्याओ को कतराने की समस्याये (detour problems) कहा जाता है क्योकि उनका हल कतरा कर प्रतिक्रिया करने मे होता है। कतराने की समस्याओं का हल करने के लिये पूर्वज्ञान की आवश्यकता पडती है और चूँकि छोटे बच्चे का पूर्वज्ञान नही के बराबर होता है इसलिए वह कतराने (detour) की समस्या के प्रति ठीक से प्रतिक्रिया नही कर पाता। बच्चा कतराने की समस्या को हल करने की तरकीब अपने से बडो का अनुकरण करके सीखता है। अनुकरण द्वारा तभी सीखा जा सकता है जब सीखने के लिये कुछ आवश्यक कुशलता पहले से ही मौजूद हो। बहुत सी जटिल कुशलताएँ अनुकरण द्वारा ही सीखी जाती है। अनुकरण करने से प्रतिक्रिया की सार्थकता समझ में आती है और समस्या को हल करने के विभिन्न सोपानो का एक मानसिक प्रतिबिम्ब सा बन जाता है। साथ ही मन ही मन मे मौखिक रूप से समस्या का हल करने का दिशा-निर्धारण भी होता रहता है। कभी-कभी मौखिक क्रिया के साथ हाथ-पैर भी अनुकृति करते रहते है। अनुकरण द्वारा सीखने से समय की बचत होती है जो चूक-चेष्टा द्वारा सीखने से नही होती। चूक-चेष्टा की अपेक्षा अनुकरण द्वारा बाइसिकिल चलाना सीखने में कम समय लगता है। अनुकरण से बाइसिकिल चलाने की आवश्यक प्रारम्भिक क्रियाओ का पूर्वज्ञान हो जाता है जो चूक-चेष्टा से नही होता क्योकि चूक-चेष्टा में हर क्रिया का ज्ञान स्वय करना पडता है।

सीखने का सक्रमण—कभी-कभी एक सीखी गई कुशलता का प्रभाव अन्य सीखी जाने वाली कुशलताओ पर भी पडता है। इसे सीखने का सक्रमण (transfer of learning) कहा जाता है। सक्रमण का प्रभाव अनुकूल भी पड सकता है और प्रतिकूल भी। टेनिस खेलना सीख लेने के बाद बैड-मिन्टन खेलना आसानी से और जल्द सीख लिया जाता है क्योकि टेनिस खेलने की कुशलता बैडमिन्टन खेलना सीखने की नई स्थिति पर अनुकूल रूप से सक्रमित (transfer) हो जाती है। पूर्व अर्जित कुशलता से नई स्थिति को सीखने में अगर अनुकूल प्रभाव पड़े तो उसे अनुकूल सक्रमण (positive transfer) कहा जाता है। क ख ग घ ङ को उलटे क्रम ङ घ ग ख क से सीखने की चेष्टा कीजिए। आप देखेगें कि सीखने में बाधा पडेगी। यह बाधा पहले से पड़ चुकी आदत के हस्तक्षेप के कारण पडती है। जब आदत के हस्त-क्षेप के कारण संक्रमण का प्रभाव नई स्थिति को सीखने पर प्रतिकूल पडकर बाधक बनता है तो उसे प्रतिकूल सक्रमण (negative transfer) कहा जाता है।

द्विपार्श्व-संक्रमण—अनुकूल सक्रमण का एक अच्छा उदाहरण दाहिने हाथ से किसी काम करने का अभ्यास कर लेने के बाद उस काम को बाएँ हाथ से भी कर लेने में सुविधा मिलने का है। एक हाथ से किए गए अभ्यास की अर्जित कुशलता का सक्रमण दूसरे हाथ से की जाने वाली क्रिया में हो जाता है। इसे द्विपार्श्व सक्रमण (bilateral transfer) कहते है। द्विपार्श्व सक्रमण पर किया जाने वाला एक प्रचलित प्रयोग दर्पण-लेखन (mirror drawing) का है (चित्र ५६)। दर्पण-लेखन के प्रयोग में विपय को एक दिए गये तारे का चित्र-लेखन करना पडता है। लेखन के समय वह अपने हाथ की गति का प्रतिविम्ब दर्पण में देखता है। तारे का लेखन एक बार बाये हाथ से कर लेनें के बाद विषय तारे का लेखन निर्धारित आवृत्ति सख्या के अनुसार दाहिने हाथ से करता है। इसके बाद वह एक बार फिर बायें हाथ से लेखन करता है। बायें हाथ से पहली और अन्तिम बार के लेखन में होने वाली चूको की सख्या और लगे समय की तुलना की जाती है। बायें हाथ से पहली बार के लेखन की अपेक्षा अन्तिम बार के लेखन में बहुत सुधार पाया जाता है जब कि सारा अभ्यास दाहिनी हाथ से ही किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि दाहिने हाथ की कुशलता बायें हाथ मे सक्रमित होकर उसकी क्रिया को सुधार देती है।
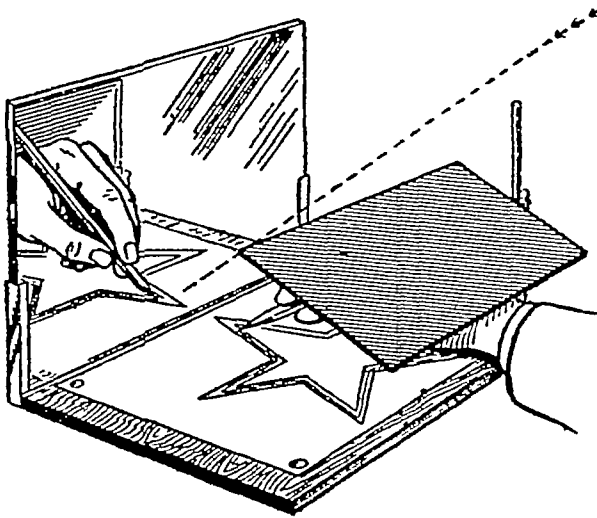
चित्र ५६

सक्रमण के अधिक प्रयोग क्रियात्मक सीखने पर ही किये गये है और उनसे यह पता चला है कि अनुकूल सक्रमण काफी बडी मात्रा में होता है। प्रतिकूल सक्रमण के अधिक प्रयोग मौखिक सामग्री पर ही किये गये है। एक प्रयोग मे बच्चो को निरर्थक शब्दो की तालिका याद कराई गई और उसके बाद कुछ

गद्य-खड । देखा यह गया कि निरर्थक शब्द-तालिका याद करने का गद्य-खड याद करने पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । निरर्थक शब्द-तालिका याद करने में बच्चो ने जिस प्रविधि (technique) का सहारा लिया वह गद्य-खडो को याद करने मे बाधक बना ।

प्रयोगो से यह भी पता चला है कि सक्रमण अल्पकालीन होता है । विषय कालान्तर में पहले प्रयुक्त की गई प्रविधियो को भूल जाते है । कुछ समय के बाद प्रयोगात्मक और नियत्रित वर्ग के निष्पादन में कोई अन्तर नही रह जाता ।

सक्रमण के आधार—क्रियात्मक या मौखिक सक्रमण सीखने की स्थितियो या सीखने की प्रविधियो (techniques) अथवा सिद्धान्तो मे समानता होने पर ही सम्भव होता है । ताश के बहुत से खेल जानने वाले के लिये कोई नया खेल सीखना आसान होता है क्योकि नये खेल के बहुत से नियम उसे पहले से ही मालूम रहते है । मौखिक सीखने मे भी भाषा और प्रतीको की समानता रहती है । हिन्दी जानने वाला गुजराती आसानी से सीख लेता है क्योकि दोनो भाषाओ मे बहुत बडी समानता है । इसी प्रकार नई स्थितियो मे पहले की सीखी प्रविधियो या सिद्धान्तो का भी सक्रमण होता है । तर्कशास्त्र के विद्यार्थी तर्कशास्त्र के नियम दैनिक विचारधारा पर लागू करते है और तर्कशास्त्र मे सीखी हुई प्रविधियाँ नई स्थितियो पर भी सक्रमित होने लगती है । एक प्रयोग मे कुछ लडको को प्रकाश के वक्रीकरण के सिद्धान्त समझाए गये और कुछ को नही समझाये गये । बाद मे दोनो वर्गों के लडको से पानी के अन्दर निशाना लगाने को कहा गया । दोनो वर्ग लगभग समान रूप से सफल रहे । फिर पानी के अन्दर रखे निशाने की स्थिति बदल दी गई । अब वे लडके निशाना लगा सकने मे ज्यादा सफल रहे जिन्हे प्रकाश के वक्रीकरण के सिद्धान्त समझाये गये थे और उन्होने नई स्थिति से अपना पुनर्सतुलन वक्रीकरण के सिद्धान्त न जानने वाले वर्ग की अपेक्षा जल्द और अधिक आसानी से कर लिया । इस प्रयोग से स्पष्ट है कि पहले सीखे गए सिद्धान्तो का नई स्थिति मे सक्रमण (transfer) होता है ।

आदत का हस्तक्षेप—सीखने की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे जो चूके होती है वे पहले की पडी हुई आदतों के कारण होने वाली अनुपयुक्त रूप से सक्रमित प्रतिक्रियाएँ होती है । कभी कभी उन अनुपयुक्त प्रतिक्रियाओ को हटा सकना बडा मुश्किल होता है । सक्रमण का प्रतिकूल या अनुकूल होना व्यक्ति की पूर्व शिक्षा के बाधक बनने या न बनने पर निर्भर होता है । दैनिक जीवन में प्रतिकूल सक्रमण के अनेक उदाहरण मिलते है । जो व्यक्ति दाहिनी ओर से बाइसिकिल पर चढता है उसके लिये बाई ओर से चढना बहुत कठिन

होता है । प्रतिकूल संक्रमण मौखिक क्रियाओ में भी होता है । नया वर्ष शुरू हो जाने पर भी कलम काफी अर्से तक पिछला वर्ष ही लिख जाती है ।

अनुकूल सक्रमण की भाँति प्रतिकल सक्रमण में भी सीखने की स्थितियो, प्रविधियो या सिद्धान्तो की समानता अपेक्षित होती है । किन्तु प्रतिकूल सक्रमण मे सीखने की स्थितियो, प्रविधियो आदि की समानता सीखी जाने वाली नई स्थिति की विरोधी होती है । इसको यो कहा जाता है जव नई स्थितियो में पुरानी प्रतिक्रियाएँ करनी पडती है तो सक्रमण अनुकूल हो सकता है और जब पुरानी स्थितियो में नई प्रतिक्रियाएँ करनी पडती है तो सक्रमण प्रतिकूल हो सकता है ।

सीखने का लेखा

यह ठीक है कि 'सीखने' को प्रत्यक्ष रूप से नही देखा जा सकता और इसलिए उसका लेखा भी नही वनाया जा सकता। किन्तु सीखते समय प्राणी के व्यवहार क्रम को प्रत्यक्षत. देखा जा सकता है और उसका लेखा तैयार किया जा सकता है । सीखने का अर्थ है कुशलता प्राप्त करना और प्राणी ज्यो-ज्यो कुशलता प्राप्त करता जाता है त्यो त्यो उसके व्यवहार में अन्तर पडता जाता है और उसके व्यवहार के अन्तर का लेखा वनाकर प्राणी के सीखने से सम्बन्धित अनेक वातो का अनुमान और निर्देशन किया जा सकता है, जैसे प्राणी के सीखने की उन्नति की गति कैसी रही? सीखने मे उसे कितना समय लगा और वह कितना सीख पाया ?

मान लीजिए आप किसी वच्चे को दो का पहाडा सिखा रहे है । आप उसके सीखने का लेखा यो वना सकते है . पहले आप एक ग्राफ (graph) तैयार कर लीजिए जिसमें एक ओर गलतियो का खाना रहे और दूसरी ओर दिन या समय लगने का । यदि वच्चा पहले दिन ग्यारह गलतियाँ करता है तो आप पहले दिन और ग्यारह गलतियो के खाने में एक विन्दु लगा दीजिए। इसी तरह वच्चा पहाडा सीखने में जितने दिन लगाए और रोज जितनी गलतियाँ करे आप उसी हिसाव से दिनो और गलतियो के खानो मे विन्दु लगाते चले जाइए । जव वच्चा पहाडा अच्छी तरह सीख जाय और कोई गलती न करे तो आप ग्राफ में वने सारे विन्दुओ पर एक रेखा खीच दीजिए (चित्र ६०) । आप देखेंगे कि यह रेखा तिर्यक् (curved) होगी । यह तिर्यक-रेखा (curve) वच्चे के पहाडा सीखने का लेखा है जिससे आप यह निर्देशन कर सकते है कि पहाडा सीखने की कुशलता प्राप्त करने में वच्चे को

कितने दिन लगे, उसने प्रतिदिन के हिसाब से कितनी गलतियाँ की और सीखने की कुशलता की दिशा में उसकी उन्नति की गति कैसी रही।
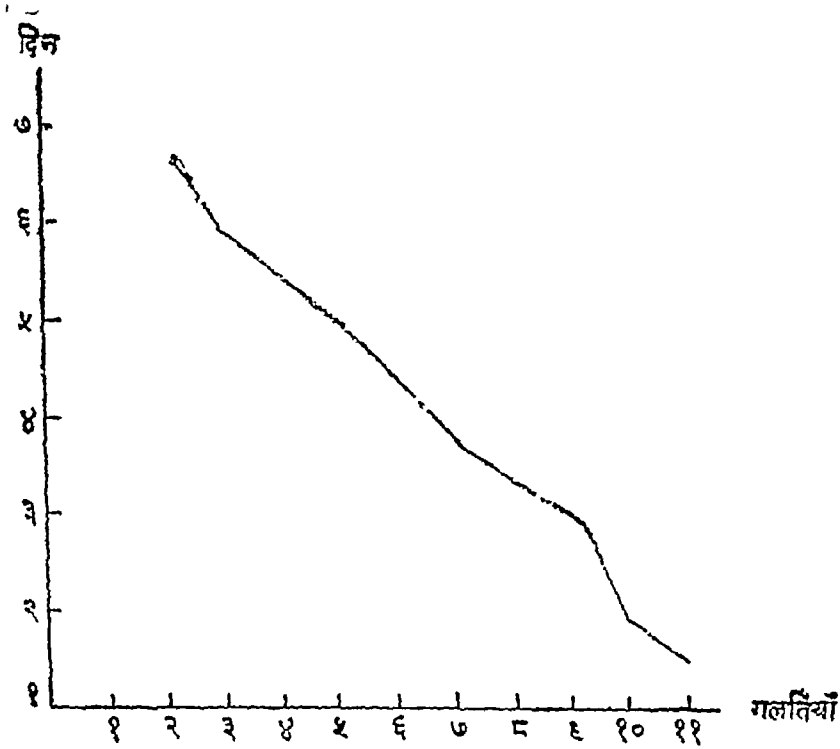
चित्र ६०

टाइप करना सीखना, तारबर्की सीखना आदि जैसी अनेक प्रकार की बोधवाहक-क्रियावाहक कार्य-कुशलताओ का लेखा इसी प्रकार बनाया जा सकता है और तिर्यक-रेखाओ (curves) के आधार पर सीखने का निर्देशन किया जा सकता है। तिर्यक-रेखाओ के उतार-चढाव के आधार पर यह पाया गया है कि हर व्यक्ति की कोई काम सीखने की क्षमता अलग अलग होती है।

सीखने की तिर्यक-रेखाओ (curves) के उतार-चढाव के अध्ययन से यह पता चलता है कि शुरू शुरू में सीखने की गति अच्छी रहती है, फिर मामूली सी होती जाती है और एक स्थल ऐसा आता है जहाँ अभ्यास से कुशलता मे और वृद्धि होना रुक जाता है। ऐसे स्थल पर सीखने की तिर्यक-रेखा समतल हो जाती है। तिर्यक-रेखा के समतल हो जाने वाले स्थल को तिर्यक-रेखा का पठार (plateau) कहते है (चित्र ६१)। तिर्यक-रेखा के पठार का सामान्य अर्थ यह होता है कि व्यक्ति में सीखने की जितनी शारीरिक सीमा थी वह उस तक पहुँच चुका है। सीखने की शारीरिक सीमा वस्तुत मांसपेशियो की कार्यशक्ति और न्यूरोनीय प्रवाह की गति से निर्धारित होती है जो प्राणी की परिपक्वता पर निर्भर है।
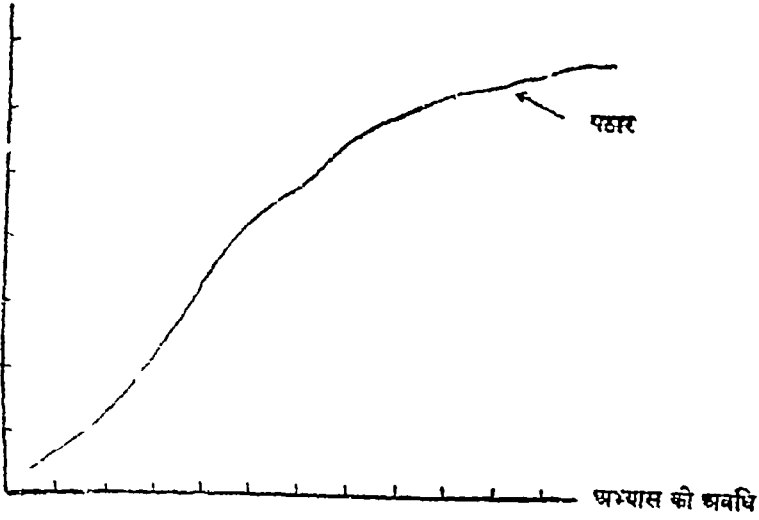
चित्र ६१

किन्तु तिर्यक-रेखा (curve) प्राणी के व्यवहार-क्रम का लेखा होती है, उसके 'सीखनें' का नही, इसलिए तिर्यक-रेखा के पठार की व्याख्या सावधानी से करना चाहिए। पठार की सही व्याख्या में यही कहा जा सकता है कि पठार सीखनें में प्रकट रूप से कोई उन्नति न होनें का ही निर्देशन करता है, सीखने की शारीरिक क्षमता या सीमा का निर्देशन नही करता। तिर्यक-रेखा में पठार आने के अनेक कारण हो सकतें हैं।

यदि व्यक्ति सीखने मे कुछ समय के लिए रुचि न ले तो उसके सीखने की तिर्यक-रेखा मे पठार आ जाता है। इसका यह अर्थ कदापि नही हो सकता कि उस व्यक्ति के सीखने की शारीरिक क्षमता का अन्त हो चुका है। हो सकता है कि वही व्यक्ति फिर उस काम में रुचि लेकर उसे दुगने उत्साह से सीखे और पठार के बाद उसके सीखने की तिर्यक-रेखा उसकी कार्य-कुशलता की वृद्धि का फिर निर्देशन करने लगे।

व्यक्ति यदि किसी समस्या को हल करते समय कोई नया ढग अपनाता है तो तिर्यक-रेखा (curve) में पठार आ जाता है। कोई व्यक्ति एक उँगली से टाइप करना सीख रहा हो और उसकी गति अच्छी हो गई हो और यदि वह इतने के बाद पाँचो उँगलियो से टाइप सीखनें का नया ढग अपना ले तो उसके सीखने की तिर्यक-रेखा में पठार (plateau) आ जायगा क्योकि वह अपने नए ढग में पुराने ढग से अर्जित कुशलता से लाभ नही उठा सकेगा।

सीखने में किसी प्रकार की बाधा पडने से भी तिर्यक-रेखा में पठार आ जाता हैं। जिस विद्यार्थी ने रटने-घोटने की आदत डाल ली है उसे यदि कोई ऐसी

बात बताई जाय जिसमे रटने की सम्भावना न हो तो उस विद्यार्थी के सीखने की तिर्यक-रेखा मे पठार आ जायगा। इसका यह अर्थ नही है कि वह उस बात को सीख नहीं सकता वरन् उसका रट्टूपन उस बात को सीखने मे बाधा डालता है।

बहुत से कामो को सीखने की तिर्यक-रेखा मे पठार नही आते जिससे स्पष्ट है कि पठार सीखने का अनिवार्य अग नही होते। सीखने के लेखे मे पठारो का आना काम की जटिलता और व्यक्ति द्वारा उस काम को सीखने के ढग और अपनी पूर्व शिक्षा-दीक्षा से लाभ उठा सकने की क्षमता पर निर्भर होता है।

११

सीखना और याद रखना

परिवेश से सतुलित व्यवहार कर सकने की क्षमता का विकास सीखने से होता है। मूलप्रवृत्तियो (instincts) के स्तर से हटकर परिवेश से अपना सतुलन करने में प्राणी पूर्व अनुभव से सीखी कुशलता का उपयोग करता है। सतुलित व्यवहार पूर्व अनुभव और नवीन स्थिति मे सघर्ष का परिणाम होता है। जो प्राणी प्रक्षिप्त (reflex) क्रियाओ और मूलप्रवृत्तियो के स्तर से उठकर परिवेश से अपना सतुलन कर सकने में असमर्थ रहते है, विकास क्रम में उनका विनाश हो जाता है। ससार के प्राणियो की अनेक जातियो के विनाश का यही कारण है। सीखने का महत्व इसी से स्पष्ट है कि मनुष्य धन, शक्ति और समय लगाकर उन बातो को सीखने की चेष्टा करता है जो उसके उद्योग-धन्धो और सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक होती है।

उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध की सार्थकता को अच्छी तरह जान लेना सीखना है और अच्छी तरह से सीख लेना याद रखना है। यद्यपि याद रखने का तात्पर्य सामान्यत मौखिक (verbal) सीखना ही समझा जाता है, जैसे किसी कविता को याद रखना, किन्तु एक अर्थ मे हमारा शरीर भी सीखी गई कुशलता को 'याद रखता' है। सीखना एक क्रिया है और याद रखना उस क्रिया से अर्जित कुशलता द्वारा लाभ उठा ले जाने की क्षमता है।

सीखने पर प्रभाव डालने वाली बाते

ससार का हर प्राणी किसी उद्देश्य से ही कुछ सीखता है। यदि सीखने के पीछे कोई उद्देश्य न हो तो यह कह सकना कठिन है कि प्राणी सीखने का इरादा भी रक्खेगा या नही। उद्देश्य के पीछे सीखने का निश्चित इरादा होता है। मै अपने विद्यार्थियो को अनेक ऐसी बातें बताता रहता हूँ जिन्हें मै तो भल जाता हूँ किन्तु विद्यार्थी याद रखते हैं। इसका कारण यही है कि उन बातो को याद रखने का मेरा कोई इरादा नही होता जबकि विद्यार्थियो का होता है। उद्देश्य के न होने पर भी सीख सकना सम्भव है या नही ? यह तो एक विवादग्रस्त प्रश्न है किन्तु प्रयोगो द्वारा सीखने पर उद्देश्य की प्रभावशीलता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। प्राणी बिना किसी उद्देश्य के भी सीख सकता है

लेकिन तब उसके सीखने मे वह कुशलता नही आ पाती जो उद्देश्य के रहने पर आती है। कई बार आपने कोई किताब पढने पर यह अनुभव किया होगा कि आप पृष्ठ तो पढ जाते है लेकिन बाद में क्या पढा है यह नही समझ पाते। स्पष्ट है कि आपके पढने के पीछे कोई इरदा नही था। इरादा न होने पर मौखिक क्रियाओ की भाँति हम क्रियात्मक बाते भी ठीक से नही सीख पाते।

सीखने मे उद्देश्य की प्रभावशीलता सिद्ध करने के लिये टोलमैन ने चूहों पर प्रयोग किये। भूखे चूहो को भूलभुलैया (maze) सिखाई गई। कुछ चूहो को भूलभुलैया का सही गलियारा पाने पर खाना मिला और कुछ को नही मिला। फिर खाना पाने और न पाने वाले चूहो के सीखने की तुलना की गई और यह देखा गया कि जिन चूहो को खाना मिलता रहा वे तो भूल-भुलैया का सही गलियारा सीखने में उन्नति करते रहे किन्तु जिनको खाना
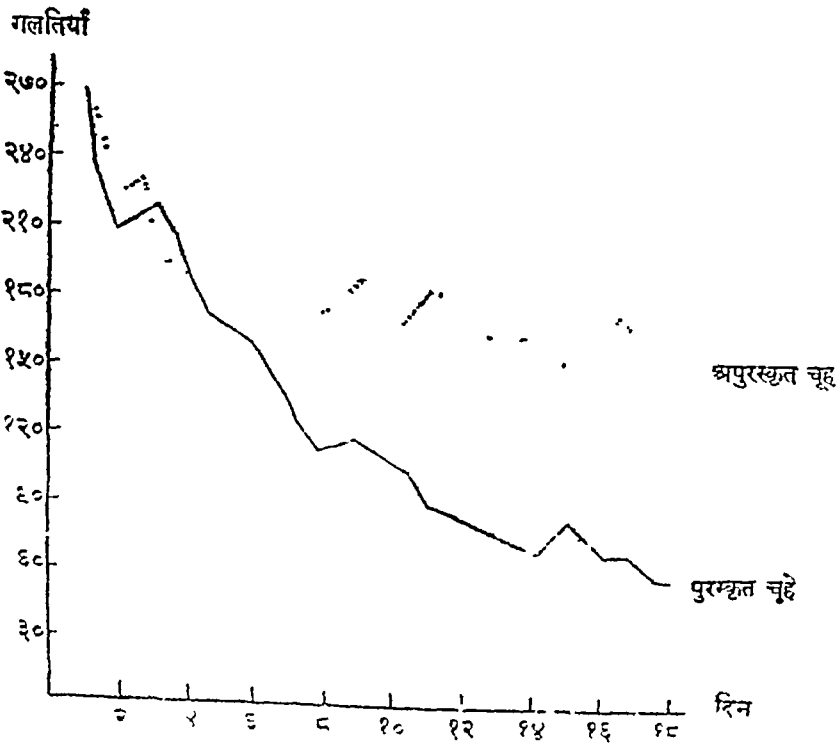
चित्र ६२

नही मिला वे उन्नति नही कर सके। इसके बाद जिन चूहो को खाना मिलता रहा था उन्हे खाना देना बन्द कर दिया गया और जिन्हे नही मिलता था उन्हें दिया जाने लगा। तुलना करने पर यह देखा गया कि जिन्हें पहले खाना मिलता रहा था किन्तु अब नही मिलता था वे भूलभुलैया के सही गलियारे पर जाने मे अवनति कर रहे थे और जिन्हें पहले खाना नही मिलता था किंतु अब मिलने लगा था वे सही गलियारे पर जाने मे उन्नति कर रहे थे (चित्र ६२)।

मनुष्य के सीखने पर उद्देश्य की प्रभावशीलता का निश्चय कर सकने के लिए पर्याप्त प्रयोग नही किए गए हैं। इसका कारण मनुष्य के गौण उद्देश्यो पर नियन्त्रण कर सकने की कठिनाई है। प्रयोग द्वारा यह साबित हो चुका है कि मनुष्य यदि अपने सीखने की प्रगति को जानता रहता है तो वह जल्दी सीखता है। सीखने की प्रगति जानते रहने से मनुष्य में अपनी सफल क्रियाओ को दुहराने की प्रवृत्ति पदा होती है जिससे वह अपनी असफल क्रियाओ को सुधारता चलता है। सीखने की प्रगति जानते रहने से मनुष्य की चेतन प्रवृत्ति ठीक तरह काम करने की दिशा में लगी रहती है।

पुरस्कार और दंड का प्रभाव—मनुष्यो को सिखाने के लिए पुरस्कार और दड का विधान मानव-समाज में प्राचीन काल से चला आ रहा है। समाज में प्रतप्ठित व्यवहार के लिए पुरस्कार और अप्रतिष्ठित के लिए दड सदा दिया जाता है। किन्तु पुरस्कार और दड के पीछे कुछ सिद्धान्त काम करते हैं जिनकी उपेक्षा नही करनी चाहिए यद्यपि प्राय की जाती है।

वास्तविक पुरस्कार वही होता है जो व्यक्ति की किसी तत्कालीन इच्छा को सन्तुष्ट करे। भरे पेट व्यक्ति को अच्छे काम के लिए खाने की चीज देना निरर्थक पुरस्कार है। पुरस्कार की सार्थकता व्यक्ति की इच्छा पूर्ति पर निर्भर होती है। हो सकता है कि जिसे पुरस्कार समझा जा रहा हो वह किसी व्यक्ति के लिए पुरस्कार न हो। इसलिए किसी व्यक्ति को कोई पुरस्कार देने से पहले यह पता लगा लेना चाहिए कि वह पुरस्कार उस व्यक्ति के लिए सार्थक होगा या नही। पुरस्कार प्रतिक्रिया के तत्काल वाद ही मिलना चाहिए नही तो उसकी सार्थकता नष्ट हो जाने का भय रहता है। अच्छे कामो के लिए अगले जन्म में फल मिलने के पुरस्कार का प्रलोभन देकर हम अपने समाज के नैतिक स्तर को आज तक ऊँचा नही कर सके है। "कौन जीता है तेरी जुल्फ के सर होने तक।"

दड की अपेक्षा पुरस्कार का प्रभाव प्राणी पर ज्यादा हितकर पडता है क्योकि वह पुरस्कार देने वाले व्यक्ति का सहयोगी और आज्ञाकारी बन जाता है। दड का प्रभाव कभी-कभी दड के उद्देश्य को पराजित कर सकता है और प्राणी दड देने वाले के प्रति विद्वेष रखकर उसी काम को फिर कर सकता है जिसके लिए उसे दड दिया गया हो। दड देने से यदि प्राणी की प्रतिक्रिया में परिवर्तन नही होता और यदि वह निष्क्रिय वन जाता है तो दड निरर्थक हो जाता है। दड का उद्देश्य प्राणी को सही तिक्रिया सिखाना है न कि उसे निष्क्रिय वनाना। दड भी तभी प्रभावशाली होता है जब वह प्रतिक्रिया के क्षण ही दिया जाय क्योकि इससे दड और प्रतिक्रिया का साहचर्य दृढ़ वनता

है और मनुष्य अपनी प्रतिक्रिया की गलती तत्काल जानकर उसे छोड़ने की चेष्टा करता है। पुरस्कार और दड देने में कोई अपवाद नही होना चाहिए। अपवाद से पुरस्कार और दड की सार्थकता घट जाती है।

प्रशंसा और निंदा का प्रभाव—सीखने पर प्रशसा और निन्दा का सापेक्ष प्रभाव भी बहुत पडता है। एक प्रयोग मे १०६ लड़कियो को योग्यता और आयु के अनुसार चार वर्गों मे बाँट दिया गया। फिर उन्हे गणित की तीस समस्याएँ दी गईं और उनसे १५ मिनट के अन्दर जितना बन सके उतनी समस्याओ का हल करने को कहा गया। निंदित वर्ग को रोज कक्षा के सामने खडा करके उसकी असावधानी, गलतियाँ करने और कोई सुधार न कर सकने की निन्दा की जाती थी, चाहे उसने काम कितना ही अच्छा क्यो न किया हो। निंदित वर्ग यह भी नही जानता था कि उसने कितनी समस्याओ का सही हल किया है। प्रशसित वर्ग की कक्षा के सामने रोज प्रशसा की जाती थी चाहे उसका काम अच्छा रहा हो या बुरा। तीसरा उपेक्षित वर्ग था जो रोजाना दूसरे वर्गो की निन्दा और प्रशसा ही सुना करता था किन्तु उससे कुछ नही कहा जाता था। चौथा नियन्त्रित वर्ग था जो अपना काम एक अलग कमरे मे करता था। उसके काम मे कोई हस्तक्षेप नही किया जाता था और उसे अन्य वर्गो के प्रति रोजाना किए जाने वाले व्यवहार का पता भी नही चलता था।

इस प्रयोग से प्राप्त परिणामो को चित्र ६३ मे दिखाया गया है। शुरू
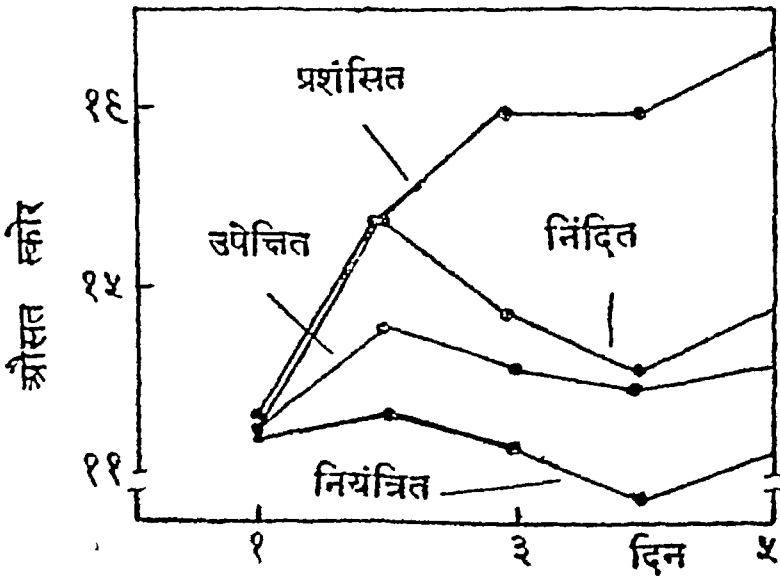
चित्र ६३

में चारो वर्गो का औसत स्कोर (score) बराबर था। चारो वर्गो ने लगभग १२ समस्याओं को सही हल किया था। दूसरे दिन प्रशसित और निंदित दोनो

वर्गों ने समान रूप से लगभग १६ समस्याएँ ठीक की। यहाँ से प्रशसित वर्ग तो निरन्तर उन्नति करता रहा और निन्दित वर्ग की दिन प्रति दिन अवनति होती गई। उपेक्षित और नियत्रित वर्गो ने कोई अविच्छिन्न उन्नति नही की।

प्रतिद्वन्दिता का प्रभाव—प्रतिद्वन्दिता की भावना से सीखने में काफी उन्नति होती है। लेखक ने अपने एक प्रयोग में छोटी कक्षा के एक ही उम्र के और समान योग्यता रखने वाले छात्रो को क, ख, ग, घ, वर्गों में बाँट दिया। फिर उनको प्रतिदिन चार वार के अभ्यास में पाँच दिन तक हस्तलेख सुधारने को कहा गया। क और ख वर्गों को प्रतिद्वन्दी वना दिया गया और ग घ वर्गो में प्रतिद्वन्दिता की भावना न जाग्रत कर नियत्रित रक्खा गया। प्रयोग से जो परिणाम प्राप्त हुआ वह चित्र ६४ में दिखाया गया है। शुरू मे प्रतिद्वन्दी और नियत्रित दोनो वर्गो का निष्पादन लगभग बराबर ही रहा किन्तु बाद मे प्रतिद्वन्दी वर्ग के हस्तलेख में नियत्रित वर्ग की अपेक्षा अधिक सुधार होने लगा। किन्तु यह भी नही भूलना चाहिए कि तीव्र प्रतिद्वन्दिता से सीखने पर कुप्रभाव पडता है और वह सुचारु ढग से सीखने मे बाधक बनती है।
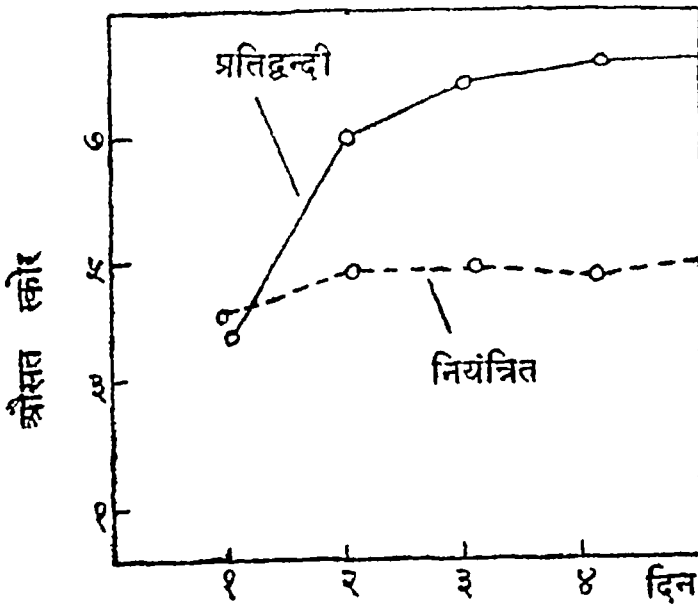
चित्र ६४

सीखने पर अभ्यास का प्रभाव—उद्देश्य के रहते हुए भी ज्यादा कुशलता प्राप्त करने के लिए सीखने का प्रारम्भ कैसे करना चाहिए? अन्य दैनिक कामो से फुर्सत पाने के बाद मान लीजिए किसी व्यक्ति को केवल चार घटे मिलते है और उन्हे वह टाइप करना सीखने में लगाना चाहता है। वह अपने समय का उपयोग दो तरह से कर सकता है। वह चार घटो को या तो छोटे-

छोटे टुकडो मे वितरित करके रोज कई बार अभ्यास करे या एकत्रित रूप में लगातार चारों घटे। उसे वितरित (distributed) और एकत्रित (massed) अभ्यास मे किसे अपनाना चाहिए ? अभ्यास की इन दो प्रणालियो में से किससे ज्यादा अच्छी तरह सीखा जा सकता है ?

इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नही है। प्रयोगो द्वारा यह देखा गया है कि सीखने की अनेक स्थितियो में वितरित अभ्यास एकत्रित अभ्यास से सामान्यत उत्तम पड़ता है। किंतु कुछ स्थितियो मे एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखने से अधिक कुशलता आती है। विभिन्न स्थितियो में किए गए प्रयोगो से वितरित और एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखने पर सापेक्ष प्रभाव डालने वाली अनेक बातो का पता चला है।

यदि सीखने की सामग्री थोडी हो तो एकत्रित (massed) अभ्यास वितरित (distributed) अभ्यास से उत्तम होता है। कोई काम करने के लिए पहले 'तैयारी' करनी पडती है। आप जब पढने बैठते है तो पहले पानी पी लेते है, फिर किताब खोलकर उसे मेज पर ठीक से रखते है, फिर पेंसिल नुकीली करते हैं, फिर अपना ध्यान चारो ओर से समेट कर पुस्तक पर एकाग्र करते है, तब पढना शुरू करते है। इस 'तैयारी' में समय लगता है और यदि आप पढने के समय को वितरित करके रोज कई बार पढे तो बहुत-सा समय फिर से 'तैयार' होने मे नष्ट होगा। एकत्रित अभ्यास मे एक बार 'तैयार' हो जाने के बाद फिर 'तैयार' होने के लिए समय नष्ट नही होता।

सीखने में यदि शारीरिक या मानसिक चेष्टा ज्यादा करना पडती है तो वितरित (distributed) अभ्यास से ज्यादा अच्छी तरह सीखा जाता है। एकत्रित अभ्यास से शरीर या मनस् थक जाता है जिससे सीखने की क्षमता घट जाती है। वितरित अभ्यास से बीच बीच में विश्राम मिलता रहता है जिससे शरीर या मनस् सीखने के लिए फिर तरोताजा हो जाता है।

परिधीय और केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध के प्रसंग में देखा जा चुका है कि एक बार उत्तेजना मिलने पर शरीर के स्नायु सज्ञाशून्य हो जाते है और उनकी संज्ञाशून्यता (refractory period) के समय किसी क्रिया की पुनरावृत्ति जल्दी नही हो सकती। एकत्रित अभ्यास में क्रिया की पुनरावृत्ति जल्दी जल्दी होती है किन्तु वितरित अभ्यास में विश्राम-काल मिलते रहने से सीखने में शीघ्र पुनरावृत्ति की आवश्यकता नही रहती। वितरित अभ्यास की प्रभावशीलता के पीछे शायद यही कारण होता हो।

वितरित (distributed) अभ्यास के विश्राम-काल में व्यक्ति को सीखने के प्रसग मे की गई असफल प्रतिक्रियाओ के सम्बन्धो को भूल जाने का अवसर मिलता रहता है। असफल प्रतिक्रियाएँ दृढ नही बन पाती और वे वितरित अभ्यास के विश्राम-काल में क्षीण हो जाती है।

वितरित अभ्यास मे दो प्रमुख समस्याएँ होती है एक बार के अभ्यास मे कितना समय लगाना चाहिए और दो अभ्यासो के बीच विश्राम-काल में कितना अन्तर देना चाहिए ? टाइप करना सीखने के लिए चार घटो में से एक बार के अभ्यास मे तीस मिनट लगाना चाहिए या पैतालीस या एक घटा ? दूसरे, टाइप करने के दो अभ्यासो के बीच विश्राम-काल डेढ घटा होना चाहिए या दो या तीन ?

वितरित अभ्यास में विभिन्न विश्राम-कालो के प्रभाव को जानने के लिए एक प्रयोग मे १८ निरर्थक शब्द-तालिकाओ को प्रत्येक बार की चेष्टा में २० बार दिखाया जाता था। एकत्रित अभ्यास द्वारा सीखने वाले वर्ग ने पूरी तालिका को २२ बार की निरतर चेष्टाओ द्वारा सीखा। अन्य वर्गों को प्रत्येक चेष्टा के बाद क्रमश ८, ३½, २, १¼ मिनट का विश्राम-काल दिया गया। इस प्रयोग के परिणाम का लेखा चित्र ६५ में दिया गया है। ज्यादा देर के विश्राम-काल कम देर के विश्राम-कालो से ज्यादा वाछनीय साबित हुए। किन्तु विश्राम रहित एकत्रित अभ्यास की तुलना में ज्यादा अच्छी तरह सीखने के लिए कम से कम १¼ मिनट का विश्राम-काल दिया जाना अत्यन्त अपेक्षित था।
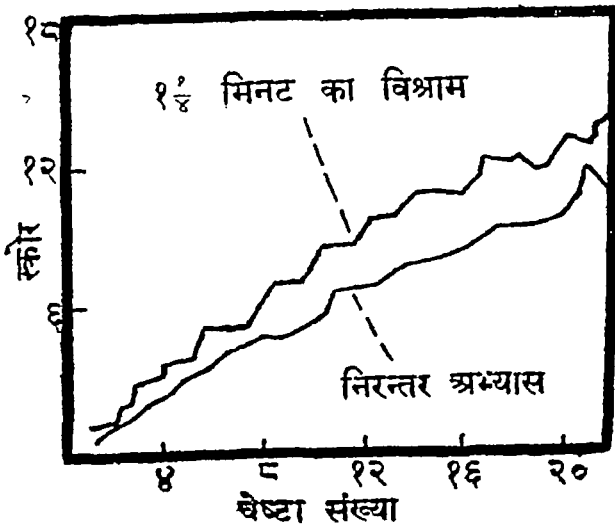
चित्र ६५

सीखने की प्रगति पर प्रत्येक अभ्यास में लगाए जाने वाले समय और वितरित अभ्यासो के बीच विश्राम-काल के अन्तर दोनो का प्रभाव पड़ता है।

सीखने की कुशलता के लिए प्रत्येक अभ्यास मे लगाया जाने वाला समय और वितरित अभ्यासो के बीच विश्राम-काल का अन्तर सीखने की विभिन्न स्थितियो मे अलग अलग होता है और सीखने वाले व्यक्ति और उसके उद्देश्य से निर्धारित होता है।

सामग्री को सीखने के ढंग का प्रभाव—सीखने की सामग्री को दो तरह से सीखा जा सकता है . या तो प्रत्येक अभ्यास मे पूरी सामग्री को एकदम से या फिर थोडा थोड़ा करके । पूरी सामग्री (whole) को एकदम से सीखने मे ज्यादा कुशलता आती है या प्रत्येक अभ्यास में उसके एक हिस्से (part) को सीखने से ? मान लीजिए आप भूलभुलैया (maze) सीख रहे है। आप या तो प्रत्येक अभ्यास मे पूरी भूलभुलैया सीखने का प्रयत्न कर सकते है या भूलभुलैया के चार हिस्से करके बारी बारी से प्रत्येक हिस्से को सीख सकते है। सामग्री को सीखने के इन दोनो ढगो मे कौन ढग अच्छा है ? किस ढग से कम समय मे अधिक कुशलता आ सकती है ?

सामग्री को पूरा या थोड़ा-थोड़ा करके सीखने पर किए गए प्रयोगो से इस वात पर कोई निश्चित प्रकाश नही पडता कि सीखने के लिए कौन ढंग ज्यादा अच्छा है। वहुत से लोगो को एक ही काम पूरा और खण्ड खण्ड करके सिखा-कर जब उनके सीखने के परिणाम की तुलना की गई तो भी दोनो ढगो की सापेक्षिक उत्तमता सिद्ध नही हो सकी। कुशाग्र बुद्धि के लोगो के लिए पूरी सामग्री सीखना अच्छा रहता है। वुडवर्थ ने सामग्री को पूरा और खण्ड-खण्ड करके सीखने पर किए गए प्रयोगो का निष्कर्ष यो दिया है ·

> ...सामग्री को पूरा सीखने की अपेक्षा उसके खण्डो को वारी बारी से सीखना आसान पड़ता है। खण्डों को सीखने में व्यक्ति समस्या से अपना सतुलन भलीभाँति कर लेता है। खण्डो द्वारा सीखी गई कुशलता का कुछ अश पूरी सामग्री सीखने के समय रहता है। किन्तु खण्डो को एक साथ श्रृखलाबद्ध करने मे व्यक्ति को और परिश्रम करना पड़ता है। हो सकता है कि खण्डो को सीखने से शक्ति और समय की वचत होती हो, किन्तु यह सीखने की सामग्री की कठिनता और व्यक्ति के सीखने के कौशल पर निर्भर है। यदि व्यक्ति पूरी सामग्री को सीखने के लिए अपना पर्याप्त सतुलन कर सकता है तो वह पूरी सामग्री को एकदम सीखने के प्रयत्नो से कम समय में अधिक कुशलता प्राप्त कर सकता है। किसी व्यावहारिक स्थिति मे पूरी सामग्री को एकदम सीखना ही अच्छा होता हैं, किन्तु यदि किसी विशेष वात को सीखना हो तो उसके किसी खण्ड पर एकाग्र हो सकने मे स्वतन्त्र रहना चाहिए..

याद रखना

अब तक हमने प्राणी कुशलता कैसे अर्जित करता है इसी पक्ष पर अधिक जोर दिया है। प्राणी सीखने से जो कुछ अर्जित करता है उससे वह आगे चलकर लाभ उठाता है। यदि सीखी हुई क्रियाएँ याद न रहती तो हमे हर काम रोज नए सिरे से करना पडता और सारा सीखना वेकार हो जाता। सीखने से किसी उत्तेजना के प्रति प्रारम्भ में की जाने वाली प्रतिक्रियाओ में आवश्यक सशोधन हो जाता है। बाइसिकिल चलाना या तैरना सीख लेने के बाद व्यक्ति की क्रियाओ मे बाइसिकिल चला सकने या तैरने के लिए आवश्यक सशोधन होता है जिससे वह बाद मे बाइसिकिल चलाने या तैरने के समय अनाडी की भाँति वे चेष्टाएँ नही करता जिन्हे सीखते समय करता था। सीखने से क्रियाओ में जो आवश्यक सशोधन हो जाते हैं उनका बहुत समय तक न मिटना या दूसरे शब्दो मे उन्हे धारण (retain) किये रहना ही याद रखना है।

भूलभुलैया सीख लेने के कुछ लम्बे समय तक चूहे या मनुष्य का लक्ष्य तक पहुँचने की सही प्रतिक्रिया में भूल-चूक न करना यह साबित करता है कि भूलभुलैया सीखने से उनकी क्रियाओ में हुए आवश्यक सशोधन नष्ट नही हुए और वे उनको धारण किए रहे—उनको भूलभुलैया के लक्ष्य तक पहुँचने की सही प्रतिक्रिया याद रही। याद रखने मे शरीर के अन्दर किस तरह के परिवर्तन या सशोधन होते हैं और वे कोषो मे होते हैं या न्यूरोनीय-सामीप्यो (synapses) मे या और कही यह विवादग्रस्त विषय है और इस पर अब तक कोई निश्चित मत नही बन सका है।

प्राणी को बहुत सी याद हो गई बातो का बोध तक नही होता। बचपन मे आप पैरो पर खडे होकर चल नही पाते थे। धीरे धीरे आपके पैरो की मासपेशियो मे चलने के लिए आवश्यक सशोधन होते गए और आपका शरीर उन्हें 'याद करता' गया यानी वे सशोधन नष्ट नही हुए। क्या आप को कभी ऐसा लगता है कि बचपन में सीखा गया चलना आपको आज तक याद है? नही। आपको अनेक ऐसी बातें याद होगी जिनके याद होने का शायद आपको बोध भी न होता हो। यदि प्राणी में याद रखने या अर्जित कुशलता को धारण (retain) कर सकने की क्षमता न होती तो वह कुछ भी नही सीख पाता।

याद रखना एक ऐसी विशद् क्रिया का नाम है जिसके अन्दर पुनरावर्तन (recall), पहचानना और ऐसी बातो का धारण करना भी आ जाता है जो न मौखिक (verbal) हो और न जिनका कभी बोध होता हो। बचपन में आपने कविताएँ याद की होगी। उनमें से कोई तो आपको ज्यो की त्यो याद

हो सकती है और आप उसका पुनरावर्तन कर सकते है । कुछ ऐसी भी हो सकती है जो आपको याद न रही हो किन्तु यदि दिखाई जाँय तो आप पहचान लेगें कि बचपन मे आपने उन्हें याद किया था ।

सामान्यत यह देखा गया है कि क्रियात्मक सीखना आसानी से नष्ट नही होता और प्राणी उसे जीवन भर याद रख सकता है । बाइसिकिल चलाना या तैरना क्रियात्मक सीखना है और यदि एक बार सीख लेने के बाद वह सात-आठ साल तक छुटा रहे तब भी अच्छी तरह याद रहेगा । सात-आठ साल बाद भी बाइसिकिल चलाने या तैरने मे कोई कमी नही पडेगी । मौखिक सीखना अपेक्षाकृत अधिक आसानी से नष्ट हो जाता है । आज याद की हुई कविता या कोई पाठ सात-आठ साल के बाद उसे अच्छी तरह याद नही रह पाता जिस तरह बाइसिकिल चलाना या तैरना रहता है ।

याद रखने पर प्रभाव डालने वाली बातें——मनुष्यो के मौखिक सीखने पर पहले-पहल एबिगहाउस नामक मनोविज्ञानी ने प्रयोग किए थे । चूँकि मनुष्य सार्थक बातो को सीखने मे अपनी अर्जित कुशलता से लाभ उठा सकता है इसलिए एबिगहाउस ने अपने प्रयोगो मे निरर्थक शब्दो को रक्खा जिससे उन्हे सीखने में मनुष्य अपनी पूर्व अर्जित कुशलता से लाभ न उठा सके । सार्थक शब्दो के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया निश्चित हो सकती है किंतु निरर्थक शब्दो के प्रति नही होती । जब मनुष्य को निरर्थक शब्दो का समूह सीखने को दिया जाता है तो वह उसे सीखने मे अपनी पूर्व अर्जित कुशलता से लाभ उठा सकने से वंचित रह जाता है ।

सार्थकता का प्रभाव—एक प्रयोग में कुछ मनुष्यों को क्रमशः २०० निरर्थक शब्द, २०० अमिश्रित अक, सार्थक गद्य के २०० शब्द और सार्थक पद्य के २०० शब्द याद करने को दिए गए । उन सबको याद करने में जो समय लगा उनका ब्योरा यों है :

निरर्थक शब्दों को याद करने में औसतन ९३ मिनट लगे ।
अमिश्रित अकों को याद करने में औसतन ८५ मिनट लगे ।
सार्थक गद्य के शब्दो को याद करने में औसतन २४ मिनट लगे ।
सार्थक पद्य के शब्दो को याद करने मे औसतन १० मिनट लगे ।

इस ब्योरे से स्पष्ट है कि सार्थक गद्य और पद्य के शब्दो को याद करने मे बहुत कम समय लगा । सार्थक शब्दो को याद करने मे कम समय इसलिए लगा है कि मनुष्य उनसे पहले से ही परिचित होता है जिससे उसे बहुत

से अश को याद नही करना पडता । सार्थकता स्वय याद रखने का परिणाम होती है इसलिए सार्थक बात जल्द हो जाती है ।

कुछ लोग निरर्थक शब्दो को याद करने के लिए उनसे विभिन्न प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेते है । इससे याद रखने मे बडी सहायता मिलती है । केवल ज्ञानेन्द्रियो या कर्मेन्द्रियो के सम्बन्ध-मात्र से ही याद करने को तोता-रटन (rote memory) कहा जाता है । तोतारटन की अपेक्षा सार्थक सम्बन्ध स्थापित करने से ज्यादा अच्छी तरह याद किया जा सकता है ।

सार्थक शब्दो को याद कर लेना केवल पूर्व परिचय पर ही निर्भर नही होता । यदि सार्थक शब्द वाक्य मे यथास्थान न हो तो उन्हे याद करना कठिन होता है । 'उर वीणा के तार न छेड़ो' वाक्य को याद कर लेना आसान है क्योकि इसमें प्रत्येक सार्थक शब्द यथास्थान है; किन्तु 'वीणा न उर छेडो के तार' को याद करना कठिन है क्योकि इसमें प्रत्येक शब्द सार्थक होते हुए भी यथास्थान नही है ।

किन्तु सभी निरर्थक शब्द अर्थहीन नही होते और वे कभी-कभी सार्थक शब्दो की ओर सकेत कर सकते है । तश् निरर्थक शब्द है किन्तु वह ताश या तश्तरी आदि सार्थक शब्दो की ओर सकेत कर सकता है । किसी निरर्थक शब्द की सार्थक शब्दो की ओर सकेत कर सकने की शक्ति को उसकी अनुषगिक महत्ता (association value) कहते है । अनुषगिक महत्ता रखने से निरर्थक शब्द की अर्थहीनता घट जाती है और उस निरर्थक शब्द को अन्य निरर्थक शब्दो की अपेक्षा आसानी से याद किया जा सकता है ।

ज्ञानेन्द्रियो का प्रभाव—शिक्षा की दृष्टि से यह प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण है कि मौखिक सीखने पर किस ज्ञानेन्द्रिय का सापेक्ष प्रभाव ज्यादा पडता है । सर्वमान्य मत यह है कि सुनने की अपेक्षा देखने से ज्यादा अच्छी तरह याद रक्खा जा सकता है । यद्यपि प्रयोगो इस से सर्वमान्य मत की पुष्टि होती है किन्तु याद रखने पर दो या दो से अधिक ज्ञानेन्द्रियो का सम्मिलित प्रभाव ज्यादा अनुकूल पडता है । पोर्ट ने याद रखने की अच्छी से कमजोर पद्धतियो का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है ।

पढ़ना और सुनना
दूसरे के बोलने पर लिखना
जोर से पढना
चुपचाप पढना

सुनी वात की मौखिक पुनरावृत्ति
सुनना
नकल करना

किन्तु ऊपर दिया हुआ क्रम लोगों के अभ्यस्त होने और अवधान की दिशा पर निर्भर होता है और अन्य प्रभावो के पडने से बदल भी सकता है।

आयु का प्रभाव—सीखने पर आयु का क्या प्रभाव पड़ता है ? सीखना अपनी पराकाष्ठा पर किस आयु तक पहुँच जाता है और किस आयु से सीखने में ह्रास होने लग जाता है ? लोगो की विकास और ह्रास गति अलग-अलग होने से इन प्रश्नो का कोई एक उत्तर नही दिया जा सकता। थार्नडाइक ने अपनें प्रयोगो से यह परिणाम निकाला कि बच्चो की अपेक्षा वयस्क विदेशी भाषाएँ, चित्रकला, गणित और पढना शीघ्र गति से सीखते है। सीखने की कुशलता २२ से ४२ की आयु तक लगभग १५ प्रतिशत घटती है। कार्यात्मक कुशलता और भी जल्द घटती है और बौद्धिक कुशलता सबसे बाद में कम होना शुरू होती है। अध्यापको में पचास साल की उम्र तक सीख सकने की योग्यता पाई गई है।

सेक्स (sex) का प्रभाव—लडकियाँ सामान्यत: अपनी ही उम्र के लड़को से पढाई-लिखाई और याद रखने मे औसतन ज्यादा निपुण होती है। यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि इसका कारण आनुवशिक भेद में होता है या नही। हो सकता है कि लड़कियो की निपुणता का कारण उनके ज्यादा सहयोग और रुचि में हो।

उद्देश्य आदि का प्रभाव—याद रखने पर उद्देश्य का भी प्रभाव पड़ता है। उद्देश्य याद रखने का 'अचेतन इरादा' होता है। साथ ही साथ याद रखने पर दुहराने का भी प्रभाव पडता है। जो वात जितनी वार दुहराई जाती है वह उतनी ही दृढता से याद हो जाती है। उद्देश्य और दुहराने के अतिरिक्त याद करने पर याद की जाने वाली सामग्री के प्रकार का भी प्रभाव पड़ता है। गद्य की अपेक्षा पद्य ज्यादा आसानी से याद हो जाता है।

अच्छी तरह याद करने के उपाय—किसी भी उत्तेजना को अच्छी तरह याद करने के कुछ विशेष उपाय है जिनमें प्रपाठ (recitation) और ज्यादा सीखना (overlearning) मुख्य है।

प्रपाठ (Recitation)—मौखिक सीखने पर पढ़ने मात्र की अपेक्षा प्रपाठ का महत्व जानने के लिए अनेक प्रयोग किये गये है। एक प्रयोग में विभिन्न कक्षाओं के लड़कों को निरर्थक शब्द-तालिकायें और छोटी छोटी जीव-

नियाँ याद कराई गई । कुछ लड़को ने निरर्थक शब्द-तालिकाओ और जीव-नियो को अपने शत प्रतिशत समय में केवल पढा मात्र, कुछ ने ८० प्रतिशत पढा
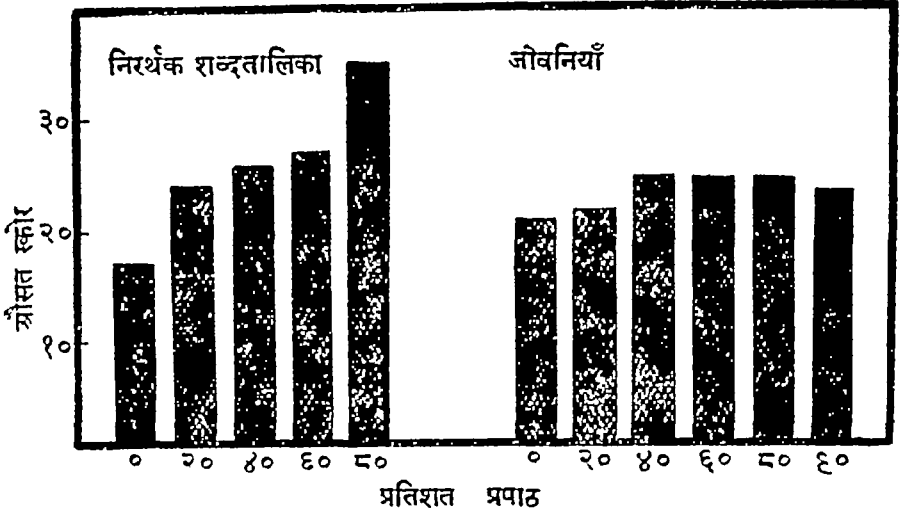
चित्र ६६

और २० प्रतिशत पढे हुए का प्रपाठ किया, कुछ ने ६० प्रतिशत पढा और ४० प्रति-शत-प्रपाठ किया, शेष लडको ने २० प्रतिशत पढा और ८० प्रतिशत प्रपाठ किया । निरर्थक शब्द-तालिका याद करने में प्रपाठ की सीमा ८० प्रतिशत और जीवनियाँ याद करन में ६० प्रतिशत तक रक्खी गई । इस प्रयोग से प्राप्त परिणामो को चित्र ६६ में दिखाया गया है । स्पष्ट है कि प्रपाठ का जितना प्रभाव निरर्थक शब्द-तालिका याद करने पर पडा उतना सार्थक जीवनियाँ याद करने पर नही पडा । फिर भी प्रपाठ के हर प्रतिशत का प्रभाव जीवनियाँ याद करने पर उत्तरोत्तर अच्छा ही पड़ा।

प्रपाठ से अच्छी तरह याद होने के अनेक कारण हो सकते हैं । पहला तो यह हो सकता है कि प्रपाठ करने की नीयत से पढना उद्देश्य या सीखने की इच्छा को जाग्रत करता है और सीखने पर उद्देश्य का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है । दूसरे प्रपाठ से याद करने की प्रगति का पता चलता रहता है जिससे याद करने का पुनर्शक्तीकरण (reinforcement) होता जाता है ।

धारण-क्षमता जानना—प्राणी जो कुछ सीखता है उसे धारण कर सकने की क्षमता रखता है इसलिए उसकी धारण-क्षमता-परीक्षा करके वह कितना याद रख सका है इसका पता लगाया जा सकता है । धारण-क्षमता का पता लगाने का सरल उपाय सीखी हुई बात को फिर से दुहराना है । जिस बात को जितने प्रतिशत दुहराया जा सकता है उसकी धारण-क्षमता भी उतने ी तिशत होती है ।

धारण-क्षमता को जानने का एक और उपाय यह भी है कि प्राणी जो कुछ जिस तरह सीख चुका है वही उसे दुबारा फिर उसी तरह सीखने दिया जाय। मान लीजिए कि किसी चूहे ने भूलभूलैया सीखने मे पहले बत्तीस प्रयत्न किए थे किन्तु दूसरी बार वह उसी भूलभुलैया को आठ प्रयत्नो में ही सीख गया। पहली बार जिस भूलभुलैया को सीखने के लिए बत्तीस प्रयत्नो की अपेक्षा होती थी उसे फिर सीखने मे केवल आठ प्रयत्नो की ही अपेक्षा हुई और इस प्रकार ७५ प्रतिशत प्रयत्नो की बचत हुई। इससे यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि चूहे की भूलभुलैया का सही मार्ग धारण करने की क्षमता ७५ प्रतिशत थी।

एबिंगहाउस ने धारण-क्षमता की परीक्षा के इस उपाय को 'बचत का उपाय' (saving method) नाम दिया। इस उपाय से सीखी हुई चीज को फिर से सीखने मे जितना समय लगता है, जितने बार प्रयत्न करना पड़ता है और जितनी गलतियाँ होती है उनकी पहली बार सीखने में लगे समय, किए गए प्रयत्नो और होने वाली गलतियो से तुलना करके समय, प्रयत्नो और गलतियो की 'बचत' देखी जाती है और वह बचत प्राणी की धारण-क्षमता की निर्देशक होती है।

ज्यादा सीखने (over-learning) का प्रभाव---धारण करने पर दुहराने का बहुत प्रभाव पडता है और यह भी निर्विवाद मान लिया जाता है कि दुहराने से मनस् पर क्रमश पड़ने वाले संस्कारो की शक्ति बराबर होती है। एबिंगहाउस ने धारण करने पर दुहराने का प्रभाव जानने के लिए प्रयोग कर जरूरत से ज्यादा सीखने के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातो की खोज की। प्रयोग में एक ही लम्बाई की विभिन्न उत्तेजनाओ में से कुछ कम को और कुछ को ज्यादा बार दुहराने को दिया जाता था और बाद में धारण-क्षमता की परीक्षा की जाती थी। ६४ बार तक अभ्यास करने में धारण करने पर दुहराने की सख्याओ का प्रभाव लगभग बराबर ही पड़ा किंतु अच्छी तरह से याद करने के लिए ६४ बार अभ्यास करना जरूरत से ज्यादा था। एबिंगहाउस ने एक महत्वपूर्ण बात यह पाई कि अच्छी तरह याद हो जाने के बाद भी जरूरत से ज्यादा दुहराने का प्रभाव धारण करने पर अच्छा पड़ता है। क्रूगर (Krueger) ने अपने प्रयोगो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि धारण-क्षमता पर ५० प्रतिशत ज्यादा सीखने का प्रभाव तो अच्छा पड़ता है किंतु ५० प्रतिशत से ज्यादा सीखने का अच्छा नहीं पड़ता। मन्द की अपेक्षा कुशाग्र बुद्धि वालो पर ज्यादा सीखने का प्रभाव अच्छा पड़ता है। ज्यादा समय तक धारण किए रहने के लिए ज्यादा सीखना अपेक्षित है।

पुनरावर्तन करना

प्राणी जो कुछ सीखता है उसका पुनरावर्तन (recall) किसी न किसी रूप मे अवश्य कर सकता है। बचपन में याद की गई कविताओ का थोडा-बहुत पुनरावर्तन किया जा सकता है चाहे वह सुनाकर किया जाय या लिखकर। पुनरावर्तन सीखने से अर्जित कुशलता को धारण करने का एक और प्रमाण है।

पुनरावर्तन करने की शक्ति लोगो में एक-सी नही होती। कोई लम्बे नामो का पुनरावर्तन कर सकता है और कोई नही। नीचे विभिन्न अकों की सख्याएँ दी गई हैं। अपनी और अपने परिचितो की परीक्षा करके देखिए कि आप और वे एक प्रयत्न में कितने अको की सख्या का पुनरावर्तन कर सकते हैं।

५ ८ १ ७
४ ७ ३ ८ ५
७ ६ १ ३ २ ८
३ २ ५ ८ ७ ४ ६
१ ६ ७ ६ २ ४ ३ ५
५ ७ ८ ३ ६ १ ६ २ ४
६ ७ ३ ८ ४ ३ ५ १ २ ७

हो सकता है कि आपसे और आपके परिचितो से पहली परीक्षा में भूल हो जाय इसलिए इसी प्रकार विभिन्न अको की अन्य सख्याएँ बना लीजिए और चार-पाँच बार परीक्षा करके उन सबका औसत निकाल लीजिए। उस औसत से आप सबके पुनरावर्तन करने के विस्तार (span) का पता लगा सकेंगे। पुनरावर्तन के विस्तार को प्रचलित भाषा में स्मृति-विस्तार (memory-span) कहा जाता है। बहुत से छात्रो का अको का स्मृति विस्तार सात तक होता है। वे ६ अको की माला का ८० प्रतिशत समय तक और ५ अको की माला का ६५ प्रतिशत समय तक पुनरावर्तन कर सकते हैं।

स्मृति-विस्तार पर आयु का प्रभाव—प्रयोगो से यह पता चला है कि चार-पाँच साल के बच्चो में प्राय चार अको तक की सख्याओ का पुनरावर्तन कर सकने की क्षमता होती है और वह क्षमता उनकी आयु के अनुसार बढती जाती है और फिर स्थायी बन जाती है। स्मृति-विस्तार और आयु के सामान्य सम्बन्ध को चित्र ६७ में दिखाया गया है।
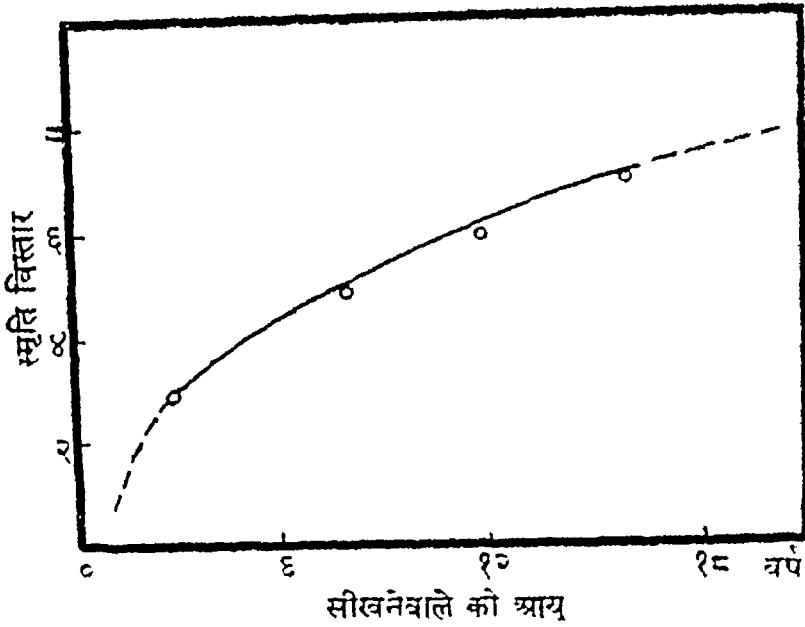
चित्र ६७

पुनरावर्तन में सहायक बातें—यद्यपि पुनरावर्तन सीखी गई उत्तेजना को धारण करने का सकेत करता है किन्तु पुनरावर्तन धारण किये जाने की निश्चित परीक्षा नही है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी सीखी हुई उत्तेजना का पुनरावर्तन न कर सके किन्तु इससे यह साबित नही होता कि वह व्यक्ति सीखी उत्तेजना को धारण नही कर सका है। यह ठीक है कि पुनरावर्तन उत्तेजना की अनुपस्थिति में ही किया जाता है किन्तु पुनरावर्तन कर सकने के लिये किसी अन्य उत्तेजना के सकेत की आवश्यकता होती है। अन्य उत्तेजनाओ का सकेत मिलने पर पहले से बने साहचर्य (associations) जाग्रत हो जाते है जिससे पुनरावर्तन करने में बडी सहायता मिलती है।

साहचर्य—किसी अनुभव और विचार के बीच या दो विचारो के बीच के उस सम्बन्ध को साहचर्य (association) कहते है जिसकी सहायता से एक के चेतनता में आने से दूसरा भी स्वत आ जान की प्रवृत्ति रखता है। साहचर्य निर्माण के तीन नियम है समीपता, सदृशता और विरोध।

समीपता का नियम (Law of Contiguity)—दो उत्तेजनाओ का ज्ञान साथ-साथ होते रहने से किसी एक के अनुभव में दूसरे की सहचारिता का सम्बन्ध बन जाता है। अगर हम दो आदमियो को सदा एक साथ देखते रहे तो उनमें से किसी एक को देखने से ही हम दूसरे का पुनरावर्तन कर लेंगे। इसी प्रकार दावात को देखकर कलम का या पके आमो को देखकर उनकी गन्ध और मीठे स्वाद का पुनरावर्तन जरूर होगा।

सदृशता का नियम (Law of Similarity)--यदि दो उत्तेजनाओ में काफी सादृश्य हो तो एक के देखने से दूसरी का पुनरावर्तन हो जाता है। चाँद को देखकर किसी चन्द्रमुखी का, बुझते दिये को देखकर जीवन के अन्त का पुनरावर्तन हो जाता है। इसका कारण सादृश्य रखने वाली उत्तेजनाओ का पहले साथ-साथ अनुभव होना नही है किन्तु उनका सादृश्य-मात्र ही है। जो व्यक्ति जितना अधिक कल्पनाशील और तेज नजर वाला होता है वह अपने मन में उतनी ही जल्दी किसी उत्तेजना को देखने पर उससे सादृश्य रखनेवाली अन्य उत्तेजनाओ का चित्र बना लेता है।

विरोध का नियम (Law of Contrast)—सादृश्य की भाँति विरोध भी पुनरावर्तन में सहायक बनता है। दुर्दिन के समय सुदिन भी याद आने लगते है, देवताओ की चर्चा दैत्यो की याद दिला देती है। कुछ मनोविज्ञानी विरोध को कोई स्वतन्त्र नियम नही मानते। विरोध का ज्ञान सदृशता के ज्ञान से होता है। कोयल और कौवे मे विरोध का ज्ञान इसलिये होता है कि उनमें अनेक बातो की सदृशता होती है। कोयल से कौवे की ही याद आती है, शेर की नही। लेकिन क्यो ? क्योकि कोयल का ज्ञान पक्षियो के ज्ञान की अपेक्षा रखता है और कौवा भी पक्षियो के सदृश होता है और उन्ही की जाति में आता है। यद्यपि कोयल और कौवे में बोली का विरोध होता है, एक की आवाज सुरीली होती है और दूसरे की कर्कश, लेकिन उन दोनो के विरोध के पीछे उनका जातिगत सादृश्य होता है। इसी प्रकार गर्मी सर्दी की याद दिलाती है क्योकि दोनो तापमान के ही रूप होते है, पुण्य से पाप की याद आती है क्योकि दोनो चरित्र के रूप होते है, लेकिन गर्मी पाप की याद नही दिलाती और न पुण्य सर्दी की क्योकि उनके विरोध के पीछे उनका जातिगत सादृश्य नही होता।

हैमिल्टन ने समीपता और सदृशता के नियमो को पूर्णजागृति के नियम (law of redintegration) मे मिला दिया है। पूर्णजागृति के नियम के अनुसार चेतनता में इकट्ठे होने वाले सब अनुभवो से जो मानसिक अवस्था बनती है वह समुच्चय रूप मे होती है जिससे अगर अनुभव का कोई खड चेतनता में आता है तो वह मानसिक अवस्था के समुच्चय रूप की पूर्णजागृति कर देता है।

ड्रेवर आदि अन्य मनोविज्ञानी सदृशता के नियम को प्रबन्धात्मक सम्बन्धो के नियम (law of systematic relations) की एक विशेष क्रियात्मक दिशा ही कहते है। "हमारे अनुभव रुचि की अविच्छिन्नता तथा रुचि

मे निर्धारित अवधान की प्रक्रिया की एकता के आधार पर इकाइयों और समष्टियो का निर्माण करते है परिणाम यह होता है। कि समष्टियां और उनके सघटको के बीच, सघटको में ही एक दूसरे के बीच और सघटको तथा सब इकाइयो के बीच साहचर्य सम्बन्ध बन जाते है।"

पुनरावर्तन करने के बहुत से सकेत आन्तरिक भी होते हैं। शारीरिक कष्ट में जीवन की दुखद घटनाओ या किसी की सेवाओं को याद आना पुनरावर्तन के आन्तरिक सकेत है। कभी-कभी एक अनुभव के प्रसग में अनेक अनुभवो का अपने आप पुनरावर्तन होने लग जाता है। जब हम किसी घनिष्ठ मित्र को अपनी रामकहानी सुनाने लगते है तो प्रसगवश ऐसी-ऐसी बातो का पुनरावर्तन होने लग जाता है जो शायद चेष्टा करने पर भी नही हो पाता। ऐसा स्वतन्त्र सहचार के कारण होता है जिसमें एक विचार दूसरे को निर्बाध रूप से सुझाता चलता है।

पुनरावर्तन को प्रभावित करने वाली बातें—जिन अनुभवो के साथ हमारा सचारी-भावात्मक सम्बन्ध जुड जाता है उनका पुनरावर्तन बडी आसानी से किया जा सकता है। सुखद अनुभव दुखद अनुभवों की अपेक्षा ज्यादा समय तक याद रहते है। अगर याद रखने का विषय सामाजिक दृष्टि से विवादग्रस्त हो तो याद रखने पर व्यक्ति की उस विषय के प्रति मनोवृत्ति का बहुत प्रभाव पडता है। जो अनुभव हमारी मनोवृत्ति के अनुकूल होते हैं वे जल्दी और अच्छी तरह याद हो जाते है।

त्साईगार्निक प्रभाव—प्रयोगो द्वारा यह पता चला है कि अधूरे छोड दिए गए कामो का पुनरावर्तन पूरे कर लिए गए कामो की अपेक्षा अधिक होता है। इस तथ्य का पता त्साईगार्निक (Zeigarnik) नामक मनोविज्ञानी ने अपने प्रयोगो द्वारा लगाया था और इसीलिए इस व्यापार को त्साईगार्निक प्रभाव कहा जाता है। अपने प्रयोग में त्साईगार्निक ने विषयो को मामूली काम करने को दिए, जैसे कठस्थ मुहावरो को लिखना और मन ही मन में पहेलियो या गणित की मामूली समस्याओ को हल करना। ये काम इतने आसान थे कि पर्याप्त समय मिलने पर आसानी से किए जा सकते थे। कुछ कामो मे पूरा होने के पहले ही बाधा डाल दी जाती थी और कुछ काम पूरे कर लेने दिए जाते थे। अधूरे कामो की अपेक्षा पूरे किए गए काम में ज्यादा समय लगने पर भी परीक्षण के कुछ घटे बाद विषय अधूरे छोडे कामो का पूरा किए गए कामो की अपेक्षा अधिक पुनरावर्तन कर सके। किन्तु अधूरे कामो का पुनरावर्तन करने की योग्यता चौबीस घन्टे बाद नष्ट हो गई। इससे पता चला कि वह योग्यता क्षणिक उद्वेगो से प्रेरित परिणाम ही थी।

आपने स्वय अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कोई जटिल समस्या हल करते-करते आप आराम से लेट जाते है और उसे दूसरे दिन हल करने के लिए छोड देते है। किन्तु फिर भी वह समस्या आपकी चेतनता में जब तब आती रहती है और कभी-कभी सोने भी नही देती। त्साईगार्निक प्रभाव इस बात का सूचक ह कि जो काम शुरू किया जाता है उसे लक्ष्य प्राप्त न होने तक करते ही रहने की प्रवृत्ति बनी रहती है। लक्ष्य-प्राप्ति के बाद प्रेरक-जन्य तनाव कम हो जाता है और तब हम उस काम को आसानी से भूल सकते है।

आधुनिक प्रयोगो से यह पता चला है कि त्साईगार्निक प्रभाव उन्ही बातो के याद करने पर लागू होता है जिन्हे याद करने में उलझन न पडती हो। एक प्रयोग मे दो वर्गों को कई पहेलियाँ हल करने को दी गई। दोनो वर्गों के हर विपय को कुछ पहेलियाँ पूरी हल कर लेने दी गई और कुछ को अधूरा ही छुड़वा दिया गया। उलझन हटाने के लिए एक वर्ग से यह कहा गया कि पहेलियाँ भविष्य में प्रयोग करने के लिए बनाई गई है और प्रयोगकर्त्ता केवल यह जानना चाहता है कि वे काम दे सकेंगी या नही। दूसरे वर्ग को उलझन में डालने के लिये यह कहा गया कि पहेलियाँ हल करने के माध्यम से वुद्धि की परीक्षा ली जा रही है और यदि कोई पहेली निश्चित समय में हल न कर ली जायगी तो विषय परीक्षा में अनुत्तीर्ण हो जायगा। इस प्रकार दूसरे वर्ग के विषयो के स्वाभिमान को चुनौती देकर उनके लिए प्रयोग मे उलझन पैदा कर दी गई।

बाद में सबकी स्मृति-परीक्षा ली गई और यह देखा गया कि उलझन-रहित स्थिति में काम करने वाले वर्ग पर त्साईगार्निक प्रभाव पडा। किन्तु उलझन में काम करने वाले वर्ग पर त्साईगार्निक प्रभाव का विपरीत परिणाम देखने में आया क्योकि इस वर्ग ने पूरे किए हुए कामो का अधूरे छोडे गए कामो की अपेक्षा ज्यादा पुनरावर्तन किया। उलझन में काम करने के इस प्रयोग से बहुत से वैयक्तिक भेदो पर प्रकाश पडा। कुछ विषयो ने अपने वर्ग की सामान्य प्रवृत्ति की विरोधी दिशा में चुनी बातो का पुनरावर्तन करने का प्रदर्शन किया। उलझनपूर्ण स्थिति में पूरे किए गए और अधूरे छोडे कामो से व्यक्ति किनका पुनरावर्तन अधिक कर सकेगा यह उसके गत्यात्मक पक्ष पर निर्भर होता है।

पुनरावर्तन मे बाधायें—कुछ उत्तेजनाओ का प्रभाव पुनरावर्तन करने में बाधक बनता है। डर के कारण बहुत-सी बातो का समय पर पुनरावर्तन नही हो पाता। कुछ विद्यार्थी अध्यापक के प्रश्न पूछने पर इतना डर-सा जाते है कि वे प्रश्न का उत्तर जानते हुए भी उसे नही दे पाते। कुछ लोग सभाओ मे

बोलते समय इतना घबरा जाते हैं कि वे जो कुछ कहना चाहते हैं उसका ठीक से पुनरावर्तन नही कर पाते । चिन्तित होने पर भी पुनरावर्तन में बाधा पडती है ।

जब एक ही प्रकार की दो वस्तुएँ ध्यान में एक साथ आ जाती हैं तो पुनरावर्तन मे बाधा पडती है । यदि हम किसी से कुछ कहने जा रहे हो और उसी क्षण कोई दूसरी बात ध्यान मे आ जाय तो हम पहली बात का पुनरावर्तन नही कर पाते । आपने अनेक बार अनुभव किया होगा कि कभी-कभी कोई बात जुबान पर आकर ही रह जाती है ।

पुनरावर्तन के कुछ विशेष उपाय—हम बचपन की बहुत-सी घटनाओ का पुनरावर्तन नही कर सकते । प्रयोगों द्वारा यह पाया गया है कि अधिक-से-अधिक साढे तीन वर्ष की आयु तक की घटनाओ का पुनरावर्तन किया जा सकता है । किन्तु कुछ ऐसे विशेष उपाय भी है जिनके द्वारा और भी पहले की घटनाओ का पुनरावर्तन कराया जा सकता है । पुनरावर्तन के विशेष उपायो मे सम्मोहन (hypnosis) मुख्य है ।

सम्मोहन (Hypnosis)—सम्मोहन कृत्रिम रूप से लाई गई नीद के समान अवस्था होती है जिसमें घटनाओ का अविश्वसनीय पुनरावर्तन कराया जा सकता है । सम्मोहन पर आगे किसी अध्याय में विस्तृत प्रकाश डाला जायगा । यहाँ पर इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति से जिस आयु-स्तर की बातो का पुनरावर्तन कराया जाता है वह उन्हे ज्यो का त्यो कर देता है । यहाँ तक कि उससे बचपन मे लिखने-पढने में जो जो गलतियाँ होती थी सम्मोहन द्वारा पुनरावर्तन मे वे भी प्रकट हो जाती है । सम्मोहन द्वारा पुनरावर्तन कराने का उद्देश्य व्यक्ति के दूषित विकास के कारणो का पता लगाना होता है । मनोविश्लेषण और मनोचिकित्सा में सम्मोहन का बडा महत्व है ।

पहचानना

पुनरावर्तन करने की अपेक्षा पहचानना आसान होता है क्योकि पुनरावर्तन में उत्तेजना नही होती किन्तु पहचानने में होती है । पहचानने के लिए उत्तेजना का पूर्व अनुभव होना आवश्यक है । जिस उत्तेजना का अनुभव कभी नही हुआ है उसको पहचाना भी नही जा सकता ।

पहचानने का सम्बन्ध धारण करने से उतना नही है जितना सज्ञा करने से है । पहचानने और सज्ञा करने मे केवल यही एक अन्तर है कि पहचानने मे उत्तेजना से 'परिचित होने' का भाव रहता है जो सज्ञा करने में नही रहता ।

पहचानने मे गलतियाँ भी होती है और वे दो प्रकार की होती है परिचित उत्तेजना को न पहचान सकना और नई या अपरिचित उत्तेजना को पहचानने मे गलती करना। परिचित उत्तेजना को परिवर्तित रूप या परिवर्तित परिस्थितियो में पहचानने मे गलती हो जाती है क्योकि उसे उस रूप या उन परिस्थितियो मे देखने के लिए हमारा विन्यास नही होता।

दूसरी ओर जब हमारा विन्यास परिचित उत्तेजना को पहचानने का होता है तो हम परिचित उत्तेजना से सादृश्य रखने वाली नई उत्तेजनाओ को परिचित समझ लेते है। सादृश्य जितना अधिक होता है पहचान करने की गलती भी उसी अनुपात से होती है, चाहे हमारा विन्यास उससे लिये न भी हो।

भूलना

प्राणी के जीवन मे भूलने का भी उतना ही महत्व होता है जितना याद करने का। यदि प्राणी निरर्थक बातों को न भूले तो उसको अपनी आवश्यकताओ और उद्देश्यो से सम्बन्धित सार्थक बाते याद रख सकने में भी बाधा पडती रहे। धारण करने मे असफल रहना ही भूलना है। याद की हुई बातो का भूलते रहना दैनिक अनुभव से स्पष्ट है। किन्तु यह कह सकना कठिन है कि धारण की हुई बातो के भूलने की गति क्या रहती है ? वह शुरू शुरू में ज्यादा होती है या बाद में या स्थायी रहती है।

इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए एबिंगहाउस ने अनेक प्रयोग किए। उसने निरर्थक शब्दो की कुछ तालिकाओ को अच्छी तरह याद करने के बाद कुछ समय का अन्तर देकर उन्हे फिर याद किया। अगर पहली बार तालिकाओ को याद करने मे २० प्रयत्न करने पडे थे और दो दिन बाद फिर याद करने पर १४ तो भूलना ६ प्रयत्नो के बराबर या ७० प्रतिशत हुआ। इस प्रकार एबिगहाउस ने पहले २४ घटो में भूलने की गति तेज पाई। निरर्थक शब्दो को भूलने की गति २० मिनट में लगभग ४२ प्रतिशत, २४ घटो में ६६ प्रतिशत और तीन दिन बाद ७६ प्रतिशत रही। यह ठीक है कि इस प्रयोग के निष्कर्ष को सब लोगो पर लागू नही किया जा सकता किन्तु सामान्यत यह देखा गया है कि भूलना शुरू शुरू में ज्यादा होता है और बाद में कम होता चला जाता है।

चूँकि धारण करना मनस् पर निर्भर होता है इसलिए मनस् को क्षति पहुँचने पर प्राणी अपनी धारण-क्षमता को खोकर सब कुछ भूल जाता है। मादक पदार्थों का ज्यादा सेवन करते रहने से मनस् के कोषो पर प्रभाव पडता रहता है जिससे धारण-क्षमता घटती है।

एबिगहाउस ने अपने प्रयोग में यह देखा कि वह निरर्थक शब्दो को २४ घटे वाद उतना नही भूला था जितना ८ घटो में। उसने इसका कारण नीद मे माना। जाग्रतावस्था के आठ घटो में जितना ज्यादा भूला गया उतना २४ घटो में इसलिए नही भूला गया कि उनमें से कुछ घटे सो भी लिया गया था। इसके वाद उसने भूलने पर नीद का प्रभाव जानने के लिए अनेक प्रयोग किए। उन प्रयोगो से यह पता चला कि प्राणी जाग्रतावस्था की अपेक्षा नीद मे कम भूलता है।

जाग्रतावस्था में ज्यादा भूलने का कारण नई नई वातो को सीखते रहना है जो पुरानी वातो को भूल जाने मे सहायक बनती है। नई वात का पुरानी वात से जितना अधिक सादृश्य होगा नई के सामने पुरानी वात का भूल जाना भी उतना ही ज्यादा होगा।

अस्थायी रूप से भूलने के पीछे कुछ विशेषताएँ होती हैं जो भूलने के कारणो का विश्लेपण करने से कभी कभी पता चल जाती है। अस्थायी भूलने के साथ कभी कभी गलत पुनरावर्तन भी हो जाता है। भूली वातो को याद करने की चेष्टा करते समय हमारी चेतनता मे कुछ स्थानापन्न वातें आ जाती है। हम जानते है कि वे गलत है किन्तु वे फिर भी चेतनता में अड़ी-सी रहती है। चेतनता में स्थानापन्न वातो के आने का कारण भूली हुई वात के पुनरावर्तन करने के व्यापार का विस्थापन (displacement) होता है। यह विस्थापन यो ही न होकर कुछ नियमो के अनुसार होता है। स्थानापन्न बात का भूली हुई वात से कोई न कोई उद्देश्यमूलक सम्वन्ध अवश्य होता है।

भूलने के पीछे कोई न कोई शमन किया गया (repressed) उद्देश्य अवश्य रहता है और अक्सर वह उद्देश्य सचारीभावात्मक (emotional) होता है। अपनी वहन के एक अच्छे मकान में चले जाने पर एक स्त्री ने उसे वधाई का पत्र लिखा लेकिन पत्र के ऊपर पता गलत लिखा। जब उसकी सहेली ने वताया कि वह पता गलत ही नही वरन् पुराने मकान का लिख गई है तो उस स्त्री को वडा आश्चर्य हुआ। किन्तु पुराने पते को लिखने में उसका एक उद्देश्य था। उसे अपनी वहन के अच्छे मकान मे जाने पर ईर्ष्या हो रही थी क्योकि वह स्वय एक मामूली मकान मे रहती थी और वह अचेतन रूप से अपनी वहन को पहले वाले मकान में ही देखना चाहती थी इसीलिए वह पुराना पता लिख गई। वाद में उस स्त्री नें अपनी ईर्ष्या को स्वय स्वीकार किया। इसी प्रकार बोलने, लिखने या गलत तरह से कोई काम कर डालने के पीछे कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है।

प्रतीपकारी अवरोध (Retro-active inhibition)—किसी चीज को याद कर लेने के तत्काल बाद होने वाली नई मानसिक क्रिया उस चीज को भुला देने में सहायक बनती है। पुरानी याद की गई बातो पर नई मानसिक क्रिया के पड़ने वाले प्रभाव को प्रतीपकारी अवरोध (retro-active inhibition) कहा जाता है क्योकि उससे पहले की याद की गई बातो का पुनरावर्तन करते समय अवरोध होता है। यह अवरोध नई क्रिया द्वारा पुरानी याद की गई बात में बाधा डालने से होता है। नई और पुरानी बातो में जितनी समानता होती है उनके पुनरावर्तन मे उतना ही अवरोध होता है और दोनो पर नए और पुराने साहचर्यों के सघर्ष का थोडा-बहुत प्रभाव अवश्य पडता है। अगर पुरानी बातें सुखद हो और उनकी दृढ स्थापना हो चुकी हो तो नई मानसिक क्रिया का प्रतीपकारी अवरोध उन पर बहुत कम पडता है।

एक प्रयोग में दो समतुल्य वर्गों को निरर्थक शब्दो की एक ही तालिका 'अ' याद करने को दी गई। प्रयोगात्मक वर्ग को 'अ' तालिका याद कर लेने के बाद एक 'ब' तालिका भी याद कराई गई जबकि नियन्त्रित वर्ग को मनोरजन में लगाए रक्खा गया जिससे वह 'अ' तालिका को और न याद कर सके। जब प्रयोगात्मक वर्ग ने 'ब' तालिका याद कर ली तो दोनो वर्गों से 'अ' तालिका का पुनरावर्तन करने को कहा गया। नियन्त्रित वर्ग का पुनरावर्तन प्रयोगात्मक वर्ग की अपेक्षा ज्यादा अच्छा रहा। इससे यही परिणाम निकलता है कि 'ब' तालिका याद करने से 'अ' तालिका में प्रतीपकारी अवरोध हुआ।

क्या धारण-क्षमता को उन्नत किया जा सकता है?—बहुत से लोगो की याद करने की शक्ति कमजोर होती है और वे उसे बढाना चाहते हैं। धारण-क्षमता मानसिक-स्तर की एक क्रियात्मक कुशलता है और उसे दवाओ और किसी जादू-मतर से उन्नत नही किया जा सकता। धारण-क्षमता कमजोर होती नही, उसे कमजोर बना लिया जाता है—अपनी उपेक्षा और लापरवाही से।

धारण-क्षमता चूंकि व्यक्ति की अपनी लापरवाही से कमजोर बनती है इसलिये यदि व्यक्ति सीखने में लापरवाही न करे तो उसकी धारण-क्षमता अवश्य अच्छी बनेगी। जो बात सीखना हो उसमें रुचि लेना चाहिये। रुचि लेने से ध्यान लगता है जिससे सीखने में कसर नही रह पाती।

ऊपर यह देखा जा चुका है कि निरुद्देश्य होकर सीखना या रट लेना याद नही रहता इसलिए अच्छी तरह याद रखने के लिए रटना नही चाहिए वरन् जिस बात को याद रखना है उसका अन्य उत्तेजनाओ से सम्बन्ध स्थापित कर

लेना चाहिए जिससे उसका पुनरावर्तन करने में कठिनाई न हो या कोई बाधा न पडे।

अच्छी धारण-क्षमता के लिए परिवेश से अपना समुचित सचारीभावात्मक सतुलन बनाना चाहिए। उचित सचारीभावात्मक सतुलन के अभाव में धारण-क्षमता को दृढ बनाने के सारे सुप्रयत्न असफल हो सकते है।

स्मृति-सम्बन्धी विकार

स्मृति या याद रखना अन्य ज्ञानात्मक क्रियाओ जैसे अवधान, सज्ञा करने, कल्पना आदि से अलग कार्य करने वाली कोई शक्ति नही होती। याद करना अच्छी तरह सज्ञा करने पर निर्भर होता है। सज्ञा करने के लिए अवधान और ध्यान बँटाने वाली उत्तेजनाओ के अवरोध की जरूरत पडती है। अवधान के लिए सायास चेष्टा करनी पडती है जिसके लिए उद्देश्य, रुचि और जीवन के अन्य गत्यात्मक पक्षो की अपेक्षा होती है। इस प्रकार स्मृति का अध्ययन अन्य मानसिक क्रियाओ से अलग नही किया जा सकता और स्मृति के विकारो को सीखने के विकार समझा जा सकता है। केवल वर्णन करने और समझने की सुविधा के लिए याद करने की क्रिया का अध्ययन अन्य मानसिक क्रियाओ की भाँति अलग किया जाता है।

याद रखने का भाषा के प्रतीको से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है क्योकि हम भाषा की सहायता से ही याद करते है। जैसा कि पहले देखा जा चुका है याद करने में चार बातें होती है सीखी हुई बात का स्थायीकरण (fixation), सीखने से पडे सस्कारो (impressions) की देर जिसे धारण करना कहा जाता है, पुनरावर्तन और पहचानना। उचित रूप से सतुलित प्रतिक्रियाएँ कर सकने में याद रखने का बड़ा महत्व है। स्मृति विकारो से सतुलित प्रतिक्रियाएँ कर सकने मे बाधा पड़ती है।

स्मृति के बहुत से विकार उत्तेजनाओ का अच्छी तरह से स्थायीकरण (fixation) न हो सकने के कारण होते है। मन पर अस्पष्ट और क्षीण उत्तेजनाओ के सस्कार (impressions) नही के बराबर पडते है इसलिए क्षीण उत्तेजनाएँ बडी कठिनाई से ही याद रह पाती है। उत्तेजनाओ के अस्पष्ट और क्षीण सस्कार पडने का कारण थकान, उद्दीपन या सचारीभावात्मक आवेश में होता है जिससे मन में उत्तेजनाओ का ठीक से स्थायीकरण नही हो पाता। स्मृति के जो विकार सचारीभावात्मक सघर्ष, मानसिक अगो की क्षति, खून में टॉक्सिनो (toxins) की उत्पत्ति, तेज बुखार, छूत और कोर्टेक्सीय रक्त-प्रवाह के दोष के कारण होते है उन्हे ऐम्नीसिया (amnesia) कहा जाता है।

व्यापक और सीमित ऐम्नीसिया—आकस्मिक दुर्घटनाओ आदि के कारण व्यक्ति कभी कभी-अपने अतीत के काफी बडे भाग को भूल जाता है। ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिनमे तेज बुखार के कारण लोग सीखी हुई भाषा तक भूल जाते है। कुछ केसो मे व्यक्ति दुर्घटना होने के पहले की बाते भूल जाता है। ऐम्नीसिया के ऐसे प्रकार को प्रतीपकारी (retroactive) ऐम्नीसिया कहा जाता है क्योकि उसका दुर्घटना होने के पहले की बातो पर प्रतीपकारी प्रभाव पडता है। ऐम्नीसिया मानसिक विघटन (mental dissociation) के कारण भी हो सकती है। सचारीभावात्मक उद्दीपन में याद रखने का जो क्षणिक विघटन हो जाता है वह कभी कभी अप्रकृत (abnormal) भी बन सकता है जिससे व्यक्ति या तो अपने पूरे अतीत का पुनरावर्तन कर सकने में या किसी घटना-विशेष का पुनरावर्तन कर सकने में सज्ञाशून्य हो जाता है। पूरे अतीत के प्रति सज्ञाशून्य हो जाने को व्यापक (diffused) ऐम्नीसिया और किसी घटना-विशेष के प्रति ही सज्ञाशून्य होने को सीमित restricted) ऐम्नीसिया कहा जाता है। व्यापक और सीमित ऐम्नीसिया मे अर्जित सस्कार नष्ट नही होते किन्तु विघटन के कारण उनका केन्द्रीय विचार-प्रवाह से विच्छेद-मात्र हो जाता है। सम्मोहन (hypnosis), पेन्टोथल (pentothal) के देने आदि विशेष उपायो से ऐम्नीसिया का उपचार किया जा सकता है। ऐम्नीसिया हिस्टीरिक लकवे (hysteric paralysis) के समरूप भी होती है जिसमें रोगी अपने हाथ, पैर आदि शारीरिक अगो से काम लेना भूल जाता है यद्यपि उनसे काम ले सकने की सम्भावना मौजूद रहती है। ऐसे केसो पर हिस्टीरिया के प्रसग मे विचार किया जायगा।

पेरेम्नीसिया (paramnesia)—स्मृति के निर्दोष होने पर किसी उत्तेजना को पहचानने में उससे परिचित होने का भाव रहता है। यह परिचित होने का भाव ही पहचानने की सबसे बडी विशेषता होती है। स्मृति के एक विकार को पैरेम्नीसिया कहा जाता है जिसमें पहचानते समय उत्तेजना से परिचित होने का भाव रह भी सकता है और नही भी। पैरेम्नीसिया के चार रूप हो सकते हैं (१) बिना पहचाने ही पुनरावर्तन, (२) पुनरावर्तन के बिना ही पहचानना, (३) अचेतन अनुमान से होने वाली पैरेम्नीसिया और (४) प्रतीपकारी (retroactive) पैरेम्नीसिया।

कभी कभी हमें अनेक बार खादे हुआ स्थान भी अपरिचित-सा लगत है और कभी कभी नितान्त अपरिचित स्थान पहले देखा हुआ सा लगता है। उपर्युक्त दोनो प्रकारो की ऐम्नीसिया थकान या सचारीभावात्मक उद्दीपन या

थकान के साथ साथ सचारीभावात्मक उद्दीपन के कारण होती है । थकान या संचारीभावात्मक उद्दीपन की हालत में परिचित उत्तेजनाएँ पहचानने के व्यापार को पूरी तरह से जाग्रत नही कर पाती जिससे पुनरावर्तन तो होता ह किन्तु पहचानना नही हो पाता । दूसरे ओर पहचानने का व्यापार पूरी तरह से जाग्रत हो या न हो किन्तु परिचित होने की कुछ धुँधली-सी भावना जाग्रत हो सकती है जिससे अपरिचित स्थान भी "कुछ परिचित-सा लग सकता है किन्तु उसका पुनरावर्तन नही हो पाता । परिचित उत्तेजनाओ को न पहचान सकना हिस्टीरिया के कारण भी हो सकता है जिसे हिस्टीरिया के प्रसग में देखा जायगा ।

'अचेतन अनुमान' के कारण होने वाली पैरेम्नीसिया दैनिक जीवन की गलतफहमियो से सम्बन्धित होती है इसलिए उसका व्यावहारिक महत्व होता है । कचहरी आदि में देखी हुई घटनाओ के अतिरिक्त गवाही में बहुत सी बातें अनुमान से भी कही जाती है । पुनरावृत्ति से अनुमानित बाते भी चेतनता में पहले से ही मौजूद रहने वाली मालूम पडने लगती है । चेतनता अनुमानित बातो की मे पहले से ही रहने की गौण पहचान और वास्तविक रूप से घटित होने वाली बातो की पहचान मे भेद नही हो पाता । अप्रकृत व्यवहार के अध्ययन में 'अचेतन अनुमान' से होने वाले स्मृति विकार के प्रति बडा सावधान रहना चाहिये । ऐसे स्मृति-विकार के निवारण के लिए रोगियो के वर्णनो की भलीभाँति परीक्षा कर लेनी चाहिए, नही तो उनके उपचार मे अडचन पड सकती है ।

प्रतीपकारी (retroactive) पैरेम्नीसिया मे व्यक्ति के अतीत जीवन की घटनाओ की याद का रूप दूसरो के कहने-सुनने से बदल जाता है । माँ-बाप अक्सर अपने बच्चो के बचपन की कुछ विशेष घटनाओ का अतिरजित वर्णन करते है जिससे बच्चा बडा होकर उन घटनाओ का यथार्थ रूप में पुनरावर्तन न कर पाते हुए भी उन्हे सच मान लेता है । इस प्रकार वह काल्पनिक बातो को भी अपने अतीत जीवन का अग समझने लग जाता है और उनके प्रतीपकारी प्रभाव के कारण कल्पना और वास्तविकता मे भेद नही कर पाता ।

हाइपरनीसिया (Hypermnesia)—कभी-कभी कुछ परिस्थितियाँ अतिरजित रूप से पुनरावर्तन करा सकने में सहायक बनती है । अतिरजित पुनरावर्तन को हाइपरनीसिया कहा जाता है जिसके कारण सस्कार, पुनरावर्तन और पहचानना बड़े ही असाधारण ढग से आसान बन जाते है । स्वप्न हाइपरनीसिया के अच्छे उदाहरण होते है क्योकि उनके द्वारा बिना किसी प्रयत्न

के ही बचपन और अतीत जीवन की घटनाओ का पुनरावर्तन हो जाता है। कुछ मादक पदार्थ भी हाइपरनीसिया की दशा उत्पन्न करने में सहायक होते है। नशे में आदमी बिना चेष्टा के अनेक घटनाओ का स्पष्ट पुनरावर्तन कर जाता है। कभी-कभी हाइपरनीसिया का प्रभाव प्रतीपकारी भी होता है। आकस्मिक दुर्घटना जैसे भूकम्प या मृत्यु के समय जीवन का सारा अतीत आँखो के सामने स्पष्ट रूप से आने लगता है। इस प्रतीपकारी (retro-active) प्रभाव का कारण सचारीभावात्मक उद्दीपन को माना जा सकता है क्योकि भूकम्प या मृत्यु के डर से सचारीभावात्मक उद्दीपन होना स्वाभाविक होता है।

१२

प्रतीकात्मक क्रियाएँ

अब तक उत्तेजनाओ के रहने पर जो विभिन्न मानसिक क्रियाएँ होती हैं उनका अध्ययन किया गया है। किन्तु कुछ मानसिक क्रियाएँ उत्तेजनाओ के न रहने पर भी होती है। कल्पना करना, सोचना, तर्क करना आदि ऐसी ही मानसिक क्रियाएँ हैं। मानसिक क्रियाएँ उत्तेजना की अनुपस्थिति में कैसे सम्भव होती है ?

उत्तेजना की अनुपस्थिति में हमारे मन मे उस उत्तेजना का कोई प्रतीक (symbol) रहता है। प्रतीक किसी उत्तेजना का स्थानापन्न सूचक होता है। उत्तेजना के प्रतीक के प्रति वही प्रतिक्रिया की जाती हैं जो वास्तविक उत्तेजना के प्रति। प्रतीकात्मक क्रिया उत्तेजना के अभाव में उस उत्तेजना के किसी प्रतीक के प्रति क्रिया कर सकने की मानसिक क्षमता को कहते है। पहले से उपस्थिति उत्तेजना के प्रति की गई क्रिया प्रतीक द्वारा न्यूनाधिक स्पष्ट रूप से जाग्रत होकर पुरानी उत्तेजना से अपना साहचर्य स्थापित कर लेती है। प्रतीकात्मक क्रिया के समय शरीर के प्रभावको की क्रिया में अवरोध हो जाता है जिससे चिंतन आदि प्रतीकात्मक क्रियाये करते समय शरीर निश्चल रहता है। प्रतीकात्मक क्रिया का स्थूल रूप पशुओ के व्यवहार मे भी मिलता है।

पशु के सामने खाने के तीन एक-से डिब्बे रख दिए जाते है। जिस डिब्बे के ऊपर प्रकाश दिखाया जाता है खाना उसी डिब्बे में होता है। पशु में खाने के डिब्बे और प्रकाश का सम्बन्ध पहले से ही अच्छी तरह सापेक्षित कर दिया जाता है। इसके बाद पशु और खाने के डिब्बे के बीच कोई बाधा डाल दी जाती है जिससे पशु डिब्बे को देख तो सके लेकिन उसे उसके पास जाने की प्रतिक्रिया में विलम्ब लगे। फिर किसी डिब्बे पर प्रकाश दिखाकर हटा लिया जाता है और थोड़ी देर बाद पशु और डिब्बे के बीच की बाधा भी हटा दी जाती है। अब पशु खाने के उस डिब्बे के पास पहुँचने का प्रयत्न करता है जिस पर प्रकाश दिखाया गया था। यदि वह सही डिब्बे तक पहुँचने में लगातार सफल होता है तो इसका कारण क्या हो सकता है ? प्रकाश की उत्तेजना हटा ली जाती है इसलिए यह मानना पड़ता है कि सही डिब्बे तक पहुँचने के लिए पशु के अन्दर कोई-न-कोई संकेत अवश्य रहता है।

विलम्बित प्रतिक्रिया (delayed reaction) के इन प्रयोगो मे यह देखा गया कि पशु को अधिक सफलता तब मिलती है जब वह उस डिब्बे की ओर अपना शारीरिक विन्यास कर लेता है जिस पर प्रकाश दिखाया जाता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है पशु की सही प्रतिक्रिया का कारण उसका मासपेशीय विन्यास होता है। प्रकाश की उत्तेजना हटाए जाने पर पशु खाने के डिब्बे तक पहुँचने के लिए अपने मासपेशीय विन्यास का पुनरावर्तन करता है। मासपेशीय विन्यास एक प्रकार का प्रतीक (symbol) है जिसकी सहायता से पशु खाने तक पहुँचने की सही प्रतिक्रिया करता है। एक अर्थ में पुनरावर्तन करना भी प्रतीकात्मक क्रिया ही है।

प्रतीकात्मक क्रिया का विकसित रूप मनुष्य के व्यवहार में मिलता है। बौद्धिक प्राणी होने से मनुष्य अपने व्यवहार में प्रतीको (symbols) का उपयोग प्रचुरता से करता है। अब प्रतीको के विभिन्न प्रकारो और उनका उपयोग कैसे किया जाता है इसका अध्ययन कर लेना चाहिए।

प्रतिमाएँ

प्रतीको के एक प्रकार को प्रतिमा (image) कहा जाता है। उत्तेजनाओ के अभाव में उनकी जो प्रतिमाएँ हमारे सामने आती हैं वे पूर्व अनुभव पर आधारित होती हैं। अनुभव प्रतिमाओ का पूर्ववर्ती होता है। जिन उत्तेजनाओ का कभी अनुभव नही होता मनस् में उनकी प्रतिमा भी नही बन सकती। प्रतिमाओ और अनुभव में यही भेद होता है कि प्रतिमाएँ अनुभव की भाँति वास्तविक, स्पष्ट और ध्रुव नही होती।

स्मृति-प्रतिमाएँ —सोने के समय जब आप अपने दिन भर के अनुभवो का पुनरावर्तन करते है तो आपके सामने अनुभव के विषय की प्रतिमायें (images) आने लगती है। इन प्रतिमाओ को स्मृति-प्रतिमायें कहा जाता है क्योकि उनके सहारे बीती बातो का स्मरण किया जाता है। स्मृति-प्रतिमाओ का आश्रय किसी भी ग्राहक में हो सकता है। आप जिन लोगो से मिले थे उनकी दृष्टि प्रतिमायें (visual images) सामने आती है, मर्मस्पर्शी सगीत की श्रवण-प्रतिमा (auditory image) सामने आती है। इसी प्रकार फूलो की सुगन्ध, किसी के जीवन-दायी स्पर्श, इमरती के स्वाद, असहनीय पीड़ा आदि की प्रतिमायें भी सामने आ सकती है।

स्मृति-प्रतिमायें केवल पुनरुत्पादक (reproductive) होती है क्योकि उनके द्वारा पूर्व अनुभव का पुनरावर्तन ही होता है। पुनरुत्पादक होने के अतिरिक्त प्रतिमायें सृजनात्मक (creative) भी होती है। सृजनात्मक प्रति-

ओं मे पूर्व अनुभव नये रूप मे व्यवस्थित होकर सामने आता है। ललित कलायें सृजनात्मक प्रतिमाओ का अच्छा उदाहरण है। ललित-कलाओं में कलाकार अपने पूर्व अनुभव के आधार पर बनाई गई प्रतिमाओ को नया रूप देकर कलासृष्टि करता है।

आइडेटिक प्रतिमाएँ—कभी-कभी आपने अनुभव किया होगा कि जब कोई बोल रहा होता है तो आप उसे ध्यान से नही सुनते किन्तु उसके बोलना बन्द कर देने पर आपको उसके शब्द साफ सुनाई पड़ते हैं। कभी-कभी कोई मनोहारी दृश्य देखने के बाद आप आँख बन्द कर लेने पर भी उसे कुछ देर तक स्पष्ट रूप से देखते रहते हैं। इस प्रकार की प्रतिमा को आइडेटिक-प्रतिमा (eidetic image) कहा जाता है। आइडेटिक प्रतिमा उत्तर-सवेदन (after-sensation) नही होती। उत्तर-सवेदन क्षणिक होता है किन्तु आइडेटिक प्रतिमा क्षणिक न होकर कुछ देर तक रहती है। आइडेटिक और स्मृति-प्रतिमा में भी भेद होता है। स्मृति-प्रतिमा पुनरावर्तन का परिणाम होती है किन्तु आइडेटिक (eidetic) प्रतिमा पुनरावर्तन-मात्र न होकर उत्तेजनाओ की सज्ञा करने की भाँति स्पष्ट और ध्रुव होती है।

आइडेटिक प्रतिमा बच्चो में ज्यादा पाई जाती है। बच्चे किसी उत्तेजना को देख लेने के बाद भी उस उत्तेजना का ऐसा वर्णन करते है मानो उसे 'देख' रहे हो। आइडेटिक प्रतिमा का रूप बच्चो की रुचि और रुझान के अनुसार बदल सकता है। बच्चो को किसी उत्तेजना की आइडेटिक प्रतिमा वास्तविकता से बडी या छोटी लग सकती है, उसका रंग तेज या फीका लग सकता है। बच्चा ज्यो-ज्यो बडा होता जाता है त्यो-त्यो उसमें आइडेटिक प्रतिमाओ की कमी होती जाती है।

मतिभ्रम—कुछ प्रतिमाएँ ऐसी होती है जिनमें उत्तेजना की वास्तविकता का भ्रम हो जाता है। व्यक्ति यदि अपने में ही खोया रहे तो बाह्य जगत से उसका सम्पर्क कुछ देर के लिये टूट जाता है और उसे तत्कालीन मानसिक स्थिति जन्य प्रतिमायें वास्तविक लगने लगती हैं। ऐसी प्रतिमाओ को मतिभ्रम (hallucination) कहा जाता है। अन्य कही भ्रमो और उनके कारणो का उल्लेख किया जा चुका है। भ्रम उत्तेजना का यथार्थ रूप न देख सकने के कारण उसकी गलत व्याख्या करने का परिणाम होता है। भ्रम में कोई उद्देश्य और उत्तेजना की स्मृति प्रतिमा नही होती, केवल उत्तेजना और उसकी गलत व्याख्या ही होती है। मतिभ्रम (hallucination) में उत्तेजना की गलत व्याख्या-मात्र न होकर स्मृति-प्रतिमा को वास्तविक उत्तेजना समझ

लिया जाता है। मतिभ्रम उद्देश्यमूलक होता है। प्यासे आदमी को रेगिस्तान में मृगमरीचिका में पानी का मतिभ्रम हो जाता है। मतिभ्रम किसी उद्देश्य या आवश्यकता की पूर्त्ति के लिए पूर्व अनुभव की स्मृति-प्रतिमाओ के आधार पर नई प्रतिमाओ का सृजन कर उन्हे वास्तविक समझ लेना होता है।

स्वप्न

स्वप्न देखना भी स्मृति-प्रतिमाओ का सृजन करने का एक साधारण अनुभव है। ससार में शायद ही ऐसा व्यक्ति हो जिसने कोई स्वप्न न देखा हो। स्वप्न देखने की क्रिया के पीछे कोई रहस्य नही होता। स्वप्न देखना स्वाभाविक मानसिक क्रिया है और उसके लिए उत्तेजनाओ की आवश्यकता पड़ती है। सोते समय भी वाह्य जगत से हमारा सम्पर्क बना रहता है और बोधवाहक उत्तेजनाएँ मनस् में पहुँचती रहती है। सोते समय यदि हमारा हाथ खाट के नीचे लटक जाता है तो हम किसी ऊँचे पेड पर लटके होने का स्वप्न देख सकते है। गर्म मोजे पहने हुए सो जाने पर हम आग पर चलने का स्वप्न देख सकते है।

स्वप्न में उत्तेजना रहती है और मनस् सोते समय पूर्व अनुभव के आधार पर उस उत्तेजना की सज्ञा करता है। सोते समय चूँकि मनुष्य अपने परिवेश की पूरी स्थिति नही जानता इसलिए मनस् द्वारा की गई स्वप्न उत्पादक उत्तेजना की सज्ञा ९९ प्रतिशत गलत होती है। स्वप्नो पर किए गए प्रयोगो से यह पता चला है कि स्वप्न की प्रतिमाओ की प्रचुरता के सामने स्वप्न उत्पादक उत्तेजना बिल्कुल दब-सी जाती है।

स्वप्नो की एक सामान्य विशेषता यह होती है कि वे अनायास ही प्रकट होते हैं और उनमें व्यक्ति की चेष्टा का कोई स्थान नही होता। स्वप्नो की इसी विशेषता के कारण प्राचीन काल में उन्हे वाह्य शक्तियो द्वारा प्रेरित माना जाता था और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार आजकल उन्हे अचेतन मन द्वारा प्रेरित माना जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण के अनुसार स्वप्न अचेतन मन की भाषा होते हैं। अचेतन मन अपनी अभिव्यक्ति स्वप्नो द्वारा करता है। अचेतन मन पर परिधीय और केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध के प्रसग में विचार किया जा चुका है। प्रश्न केवल यही रह जाता है कि आखिर अचेतन मन किन चीजो से निर्मित होता है। इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न प्रकार मे देने की चेष्टा की गई है जिससे स्वप्न और उनकी व्याख्या-सम्बन्धी अनेक मत प्रचलित हो गये है। हम यहाँ उन विभिन्न मतो में से कुछ प्रमुख मतो की विवेचना कर स्वप्नो को समझने की कोशिश करेंगे।

फ्रायट का मत—फ्रायट के मतानुसार अचेतन मन का निर्माण हमारी शमन (repress) हो चुकी उन सेक्सीय इच्छाओ से होता है जिनकी पूर्ति लोकलाज और समाजभय से नही की जा सकती। सेक्सीय इच्छाओ के शमन से मानसिक तनाव उत्पन्न होता है जिसकी अभिव्यक्ति दिन में न हो पाने से रात में स्वप्नो द्वारा होती है। व्यक्ति का जीवन केवल उसकी इच्छाओ पर ही निर्भर नही होता। समाज में प्रतिष्ठित ढग से जीवनयापन कर सकने के लिए उसे अपनी बहुत सी इच्छाओ का, विशेपकर सेक्सीय इच्छाओ का शमन कर देना पडता है मनुष्य का जीवन उसकी सुख की इच्छाओ और जीवन की वास्तविकता के द्वन्द पर प्रदोलित होता रहता है। अचेतन मन हर प्रकार के सुख की इच्छा करता है और जीवन की वास्तविकता उन पर अकुश लगाती है जिसके फलस्वरूप सुख-प्राप्ति की बहुत-सी इच्छाएँ चेतन मन से बलात् निकाल दी जाती है और वे अचेतन मन में वास करने लगती है। किन्तु अचेतन मन की इच्छाएँ ज्यादा बलशाली होती है और उनका शमन पूरी तरह से नही हो पाता जिससे उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न प्रकार के न्यूरोसिसो, पर्यावरणो (obsessions) और स्वप्नो द्वारा होती है।

स्वप्नो द्वारा जब अचेतन मन की इच्छाएँ मन के चेतन स्तर पर आती है तो उपचेतन मन की मध्यस्थता के कारण उनका कुछ रूप-परिवर्तन हो जाता है। उपचेतन मन खतरनाक सेक्सीय इच्छाओ से व्यक्ति की रक्षा करता है और उन्हे चेतन-स्तर तक नही आने देता। उपचेतन मन के इस नियत्रण से बचने के लिये अचेतन मन की इच्छाओ को चेतन मन तक आने के लिए छद्म-वेश रखना पडता है। यह छद्मवेश प्रतीकात्मक होता है और इस प्रकार अचेतन मन की सेक्सीय इच्छाएँ चेतन मन में विभिन्न प्रतीको के रूप में आती है। स्वप्नो के प्रतीक द्वयार्थक होते है। छुरा एक भयानक औजार है किन्तु स्वप्न में किसी लड़की द्वारा छुरा देखने का साधारण अर्थ यही लगाया जायगा कि छुरे से डर जाने के कारण लडकी ने स्वप्न मे उसे देखा होगा। किन्तु छुरा पुरुष के शिश्न (जननेन्द्रिय) का भी प्रतीक होता है और उसे स्वप्न में देखने का अर्थ लडकी का पुरुष के शिश्न यानी मैथुन की इच्छा से डरना भी हो सकता है। लडकी के मन में शिश्न (penis) को देखकर मैथुन के डर से जो तनाव पैदा होता है वह स्वप्न द्वारा चेतन मन तक आना चाहता है किन्तु उपचेतन मन के नियत्रण से बचने के लिए उसे छुरे का छद्मवेश रखना पड़ता है।

फ्रायट ने इसी प्रकार के अनेक सेक्सीय प्रतीको और उनके अर्थ को स्पष्ट किया है। साँप, छुरा या कोई लम्बी चीज मनुष्य के शिश्न की प्रतीक होती है। सन्दूक, कमरा, मकान आदि चीजें स्त्री की भग की प्रतीक होती हैं। राजा

पिता का और रानी माँ का प्रतीक होती है। फ्रायट के अनुसार स्वप्नो का आधार दैनिक जीवन की घटनाओ और अनुभवो में भी होता है। स्वप्न के दो पक्ष होते है . एक प्रकट (manifest) और दूसरा प्रच्छन्न (latent)। इस पक्ष भेद को समझने के लिए आप स्वप्न की तुलना कार्टून (cartoon) से कीजिए। मान लीजिए किसी कार्टून में एक गाड़ी उलटते हुए दिखाई गई है। प्रकट रूप से कार्टून का अर्थ यही होगा की कार्टून बनाने वाले ने किसी गाड़ी को उलटते हुए देखकर उसका चित्रण कर दिया है। किन्तु कार्टून का प्रच्छन्न अर्थ भी हो सकता है। गाडी का उलटना किसी अन्तर्राष्ट्रीय सकट के कारण राष्ट्रो के उलटने का सूचक हो सकता है। इसी प्रकार स्वप्नो में दिखाई देने वाले दैनिक अनुभवो के पीछे भी प्रच्छन्न अर्थ होता है, नही तो स्वप्न मे उसी अनुभव-विशेष को क्यो चुना जाता है अन्य अनुभवो को क्यो नही ? हमारा कोई दैनिक अनुभव दूसरो के लिए अनावश्यक हो सकता है किन्तु हमारे लिए उसका कोई प्रच्छन्न महत्त्व हो सकता है। स्वप्न में दैनिक जीवन का वही अनुभव चुना जाता है जो हमारे अचेतन मन की किसी बलवती इच्छा को स्पर्श या जाग्रत करता है।

अमर नामक एक व्यक्ति ने एक सुन्दर नितम्बो वाली स्त्री को देखने के बाद रात में यह स्वप्न देखा : "दो महलो के बीच एक छोटा सा मकान है जिसके दरवाजे बन्द है और जो पीछे की ओर हट रहा है। मैं उस मकान तक जाने वाली सडक पर होकर वहाँ जाता हूँ और दरवाजे खोल कर एक तग ढालू रास्ते से आँगन के अन्दर घुस जाता हूँ।" सुन्दर नितम्बो वाली स्त्रियाँ लोग अक्सर देखते है लेकिन ऐसा स्वप्न सभी नही देखते। फिर इस स्वप्न का उस स्त्री से क्या सम्बन्ध हो सकता है ? स्त्री के सुन्दर नितम्बो को देखकर अमर के मन में स्त्री के साथ पीछे से मैथुन करने की इच्छा जाग्रत हुई और उसने उसके अचेतन मन में शमन हो गए किसी पूर्व अनुभव को छू दिया। स्वप्न में देखे जाने वाले दो महल स्त्री के नितम्बो के प्रतीक है, बीच का मकान और उसका तग ढालू रास्ता भग का प्रतीक है। मकान के दरवाजो का बन्द होना उस स्त्री के साथ मैथुन कर सकने की सम्भावना का 'बन्द' होना है और मकान का पीछे हटना उस स्त्री को अपनी पहुँच से बाहर होते देखने का प्रतीक है।

अमर ने स्वय बताया कि उसकी पत्नी नितम्बनी नही थी और इससे उसके मन में पहले से ही सुन्दर नितम्बनी से नितम्ब-स्पर्श का सुख लेने के लिये पीछे से मैथुन करने की इच्छा मौजूद थी जो नितम्बनी को देखने के एक साधारण दैनिक अनुभव से जाग्रत होकर उपर्युक्त स्वप्न देखने का कारण

बनी । चूँकि नितम्बनी को देखने का अनुभव अमर के मन की प्रच्छन्न इच्छा को जाग्रत करने वाला था इसलिये स्वप्न में उस दिन के अनेक दैनिक अनुभवों में से केवल वही चुना गया था ।

स्वप्न उद्देश्यमूलक होते हैं । वर्जित सेक्सीय इच्छाओ और लोकलाज के कारण उनका शमन करने में जो द्वन्द होता है उससे मानसिक तनाव (tension) उत्पन्न होता है । फ्रायट के अनुसार स्वप्नो का उद्देश्य मतिभ्रमात्मक (hallucinatory) रूप से इच्छापूर्त्ति द्वारा मानसिक तनाव को दूर करके व्यक्ति को अच्छी तरह सो सकने के योग्य बना देना होता है । नितम्बनी को देखकर अमर के मन में परस्त्रीगमन की वर्जित इच्छा जाग्रत हुई और उससे मानसिक तनाव पैदा हुआ । स्वप्न ने उस इच्छा की पूर्त्ति करके अमर के मानसिक तनाव को हटा दिया जिससे वह अच्छी तरह सो सके ।

किन्तु स्वप्नो का उद्देश्य शमन की हुई इच्छाओ को सन्तुष्ट कर व्यक्ति को सो सकन योग्य बनाना ही नही होता । कभी कभी व्यक्ति ऐसे भी स्वप्न देखता है जो उसकी मानसिक शाति को भग कर उसकी नीद उचटा देते हैं। यह बात भयावह स्वप्नो (nightmares) के बारे में बिल्कुल सच होती है । स्वप्न में कुकृत्य या कोई अन्य जघन्य अपराध करते हुए पकड़े जाने पर हम जाग पडते हैं और फिर नीद आना कठिन हो जाता है । यह तो ठीक है कि स्वप्नो का उद्देश्य सेक्सीय इच्छाओ को अभिव्यक्त करना होता है किन्तु यह मानना पडेगा कि अनेक स्वप्नो का दुखद पक्ष उनके सुखद पक्ष की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होता है। हमारी बर्बर सेक्सीय इच्छाएँ इतनी खतरनाक होती है कि उन्हे दण्ड मिलना चाहिये और अनेक स्वप्नो का कार्य हमें उन खतरनाक भावनाओ का ज्ञान कराना ही होता है ।

स्वप्न-क्रिया (dream work)—चेतन मन की विरोधी अचेतन इच्छाओ को स्वप्नो द्वारा अभिव्यक्त होने के लिये चेतन मन द्वारा अनुमोदित रूप धारण करना पडता है । अचेतन इच्छाओ को चेतन मन की स्वीकृति के अनुरूप बनाने का काम उपचेतन मन करता है जिसे फ्रायट ने ठीक ही सेन्सर (censor) नाम दिया है क्योकि सेन्सर का काम काट छाँट करना होता है ।

उपचेतन मन द्वारा काट-छाँट का एक तरीका विस्थापन (displacement) होता है। पहले रागात्मकता या अनुभूति का विस्थापन होता है इसलिये स्वप्न में ज्यादा रागात्मक और आवश्यक प्रतीत होने वाली बातें वस्तुत बहुत कम महत्व की होती है जबकि नगण्य लगने वाली बातो के पीछे प्रच्छन्न अर्थ हो सकता है । इसी प्रकार स्वप्न में देखे जाने वाले पदार्थों

और व्यक्तियो का भी विस्थापन होता है। विस्थापन का प्रयोजन अचेतन इच्छा को सेन्सर (उपचेतन) के नियन्त्रण से बचने के लिये घुमा-फिरा कर प्रकट करना होता है।

एक दूसरा तरीका सक्षिप्तीकरण (condensation) होता है। स्वप्न बहुत सक्षिप्त हो सकता है किन्तु उसकी व्याख्या काफी लम्बी हो सकती है। स्वप्नो की व्याख्या करने के लिये स्वप्न के प्रत्येक प्रतीक से सम्बन्धित अनुभव को जानना जरूरी होता है जिसके बिना स्वप्न बिल्कुल असम्बद्ध और निरर्थक प्रतीत होता है।

स्वप्न अभिव्यक्ति के साधन—दैनिक जीवन में इच्छाओ, विचारो और अनुभवो आदि को प्रकट करने के लिये भाषा के प्रतीको का सहारा लिया जाता है। किन्तु स्वप्न दृश्यात्मक होते हैं इसलिये वहाँ भाषा को चित्र-रूप में परिर्वातित होना पडता है। भाषा के बहुत से शब्द और वाक्य चित्रात्मक होते हैं जैसे डर के मारे 'पैरो के नीचे से धरती खिसक जाना।' भाषा के चित्रात्मक वाक्य या शब्द स्वप्नो मे वास्तविक रूप में दिखाई पडते हैं। स्वप्न में भयभीत हो जाने वाला व्यक्ति यह देख सकता है कि वह धरती फट जाने से पाताल में धँसा चला जा रहा है। स्वप्न में अपने चारो ओर बहुत बडे लोगो को देखना बचपन की ओर सकेत करता है जब हमारे लिये हर चीज बहुत बडी होती थी। इसका प्रतीकात्मक अर्थ अपने आप को दूसरो से छोटा समझना भी हो सकता है जैसा कि 'उसने मुझे नीचा दिखा दिया' वाक्य-चित्र से ध्वनित होता है।

फ्रायट द्वारा प्रस्तुत स्वप्नक्रिया और अभिव्यक्ति के साधन उन लोगो को भी मान्य हैं जो फ्रायट की स्वप्न व्याख्या को स्वीकार नही करते।

स्वप्नों का प्रयोजन—फ्रायट के अनुसार "स्वप्नो का एकमात्र प्रयोजन किसी इच्छा की पूर्ति करना ही होता है।" किन्तु यह मान्यता कुछ हठपूर्ण-सी है। अपनी मान्यता को स्थापित करने के लिए फ्रायट ने एक स्वप्न का उदाहरण दिया है। "मै स्वप्न में अपने मकान के सामने एक स्त्री के हाथ में हाथ डाले टहल रहा हूँ। वहाँ एक बन्द गाडी खडी हुई है। एक व्यक्ति मेरी ओर आता है और अपने को पुलिस का आदमी बताकर मुझसे अपने साथ चलने को कहता है। मै उससे अपना मामला निपटाने के लिये कुछ समय माँगता हूँ।"

पूछे जाने पर स्वप्नदृष्टा ने यह बताया कि स्वप्न मे वह पुलिस द्वारा 'शिशु-हत्या' के अपराध में पकडा गया था। उसने उस विवाहित स्त्री के साथ एक रात बिताई थी और उसे यह डर था कि कही स्त्री के गर्भ न रह जाय।

फ्रायट के अनुसार इस स्वप्न मे शिशु-हत्या के अतिरजित रूप का आशय बच्चे का पिता न बनने की इच्छा है। निस्सन्देह स्वप्नद्रष्टा के मन में उस स्त्री से किसी बच्चे का पिता न बनने की इच्छा थी और वह उसको अच्छी तरह से जानता भी था इसलिये उसे उस इच्छा का ज्ञान कराने के लिए स्वप्न की कोई जरूरत नही थी। स्वप्न की मुख्य बात स्वप्नद्रष्टा का पुलिस द्वारा पकड़ा जाना थी। यह उसके अपराध का उद्घाटन था जिससे वह बचना चाहता था किन्तु स्वप्न उसको बचने नही देना चाहता था। उपर्युक्त स्वप्न केवल इच्छापूर्त्ति ही नही करता वरन् इच्छा के अनुचित होने को भी बताता है। स्वप्नद्रष्टा को अपनी इच्छा का पूर्ण ज्ञान था; वह उसकी अचेतन इच्छा नही थी। वह केवल अपने अपराध का सामना करने से बचना चाहता था। स्वप्न ने उसको चेतावनी दी थी कि यदि वह इसी प्रकार पापकर्म करता रहेगा तो उसे उसका फल (पुलिस द्वारा पकडा जाना) भुगतना पडेगा। स्पष्ट है कि स्वप्न केवल इच्छापूर्त्ति ही नही करते वरन् खतरनाक इच्छाओ की निन्दा करके व्यक्ति को उसके उत्तरदायित्व का ज्ञान भी कराते हैं। इसलिये फ्रायट की इस मान्यता को अक्षरश नही माना जा सकता कि स्वप्न केवल इच्छाओ की पूर्त्ति ही होते है।

फ्रायट ने बाद मे इस तथ्य को स्वय स्वीकार किया था। चूँकि उपचेतन मन ही इच्छा की वास्तविक अभिव्यक्ति में बाधक बनता है इसलिये फ्रायट ने इच्छाओ की निन्दा का कारण उपचेतन मन की क्रियाओ मे माना; इच्छाओ की निन्दा को स्वप्न के मुख्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार नही किया। किन्तु जैसा कि देखा जा चुका है स्वप्न का मुख्य प्रयोजन इच्छा की निन्दा करके व्यक्ति को उसके प्रति उत्तरदायी बनाना भी होता हैं। स्वप्न इच्छाओ की अभिव्यक्ति-मात्र न होकर उन इच्छाओ से उत्पन्न होने वाली समस्याओ की अभिव्यक्ति और उनका हल करने का प्रयत्न भी होता हैं। स्वप्नो का दुखद पक्ष उपचेतन के नियत्रण के कारण न होकर अपराध या पाप जैसी दुखद समस्याओ के सामने आने से होता है जिनसे हम बचना चाहते है किन्तु जिनको स्वप्न हमारे आगे रखकर हमसे उनका समाधान कराना चाहता है।

स्वप्न का प्रयोजन हमारी पापमय इच्छाओ की निन्दा करना ही न होकर पाप की गलत धारणाओ को मन से निकाल फेंकने की प्रेरणा देना भी होता है। एक युवक ने स्वप्न देखा कि वह एक धोबिन के सामने नगा नहा रहा है लेकिन धोबिन उसकी ओर कोई ध्यान नही दे रही है। इस युवक मे नग्न-प्रदर्शन (exhibitionism) की प्रवृत्ति थी जिसके लिये बचपन मे उस पर हमेशा डाट-फटकार पडा करती थी। इससे युवक के मन मे सेक्स के

प्रति पाप की एक गलत धारणा बन चुकी थी। स्वप्न ने अनुचित पाप-धारणा को युवक के मन मे निकालने के लिए मौलिक स्थिति को नाटकीय ढग से प्रस्तुत करके और यह दिखाकर कि उसके नग्नप्रदर्शन को धोबिन कोई परवाह नही करती सेक्स के प्रति उसे स्वाभाविक दृष्टिकोण अपनाने को प्रेरित किया।

इससे यह परिणाम निकलता है कि स्वप्न इच्छापूर्ति-मात्र न होकर इच्छा द्वारा प्रस्तुत समस्या को सामने रखकर उसका समाधान भी कराते हैं। इच्छा का जैविक (biological) कार्य हमें कोई काम करने की प्रेरणा देना होता है। हम जिस चीज की इच्छा करते हैं उसको पाने के लिये प्रयत्न भी करते है। स्वप्न इच्छाओ की मतिभ्रमात्मक पूर्त्ति करके हमे रात में सो सकने योग्य ही नही बनाते किन्तु दिन में कार्य करने की प्रेरणा भी देते है। इस प्रकार स्वप्नो का कार्य इच्छापूर्त्ति का खेल खेलना-मात्र न होकर रचनात्मक और उद्देश्यमूलक होता है। स्वप्नो का जैविक महत्व यूङ्क द्वारा प्रस्तुत स्वप्न विषयक दृष्टिकोण से अधिक स्पष्ट हो जायगा।

यूङ्क का मत—फ्रायट की भाँति यूङ्क ने भी स्वप्नो को अचेतन मन की भाषा माना है। यूङ्क का अचेतन-मन-विषयक दृष्टिकोण फ्रायट के मत के विपरीत है और इसी से यूङ्क की स्वप्न-व्याख्या भी फ्रायट की व्याख्या से भिन्न है। फ्रायट के अनुसार अचेतन मन हमारी उन इच्छाओ से निर्मित होता है जिनका हमें कभी चेतन अनुभव हुआ था लेकिन बाद में किसी कारण से उनका शमन कर दिया गया था। शमन की हुई इच्छाएँ सेक्सीय होती हैं। इससे यही परिणाम निकलता है कि अचेतन मन का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही होता और इसलिये अचेतन मन में नैतिक द्वन्द नहीं हो सकता। अचेतन मन में शमन की हुई इच्छाएँ प्रतीकात्मक रूप में स्वप्नो द्वारा प्रकट होती है।

यूक ने यह स्वीकार किया है कि व्यक्ति के विगत अनुभवो का शमन होता है। शमन हुए अनुभवो से निर्मित होने वाले अचेतन मन को यूक ने 'व्यक्तिगत अचेतन' (Personal unconscious) नाम दिया है। लेकिन स्वप्नो में कुछ ऐसी बातें भी होती हैं जो व्यक्तिगत अनुभव से प्राप्त नही हो सकती। उनकी प्राप्ति अवश्य मन के गहन आदिम-स्तरो से होती होगी। मन का गहनतम स्तर जातीय अनुभवो से निर्मित होता है। मन के ऐसे गहन स्तर को यूक ने 'सामूहिक अचेतन' (collective unconscious) नाम दिया है—सामूहिक इसलिए कि वह व्यक्तिगत अनुभवो का भण्डार न होकर जातिगत अनुभवो का भण्डार होता है।

सामूहिक अचेतन में "मानवी कल्पना की आनुवशिक रूप से प्राप्त होने वाली शक्तियाँ रहती है।" सामूहिक अचेतन प्रागैतिहासिक काल की प्रतिध्वनि

होता है और वह मानव जाति के श्रेष्ठतम कार्यों का आगार ही न होकर उसके निकृष्टतम कर्मों का आगार भी होता है। सामूहिक अचेतन अनजाने में हमारे व्यवहार को प्रभावित करता रहता है। चूंकि हमें सामूहिक अचेतन की शक्तियो का कभी चेतन अनुभव नही होता इसलिए फ्रायडीय अर्थ में उनका शमन होना नही माना जा सकता। सामूहिक अचेतन की आदिम शक्तियाँ वडी उग्र और प्रचण्ड होती है और उनके वशीभूत होने पर मनुष्य क्या कुछ नही कर वैठता। हत्यारा शायद ठीक ही कहता है कि हत्या करते समय उसे 'न मालूम क्या हो गया था' जिसको न तो वह समझ ही सकता था और न अपने पर उस समय कावू ही रख सकता था। आदिम (primitive) होने से सामूहिक अचेतन की शक्तियो का स्वभाव चेतन मन की विचारधारा और स्वभाव से विलकुल अलग होता है। उन शक्तियो के नियम अलग होते है और वे अतार्किक और अबौद्धिक होती है। सामूहिक अचेतन की आदिम शक्तियाँ चेतन स्तर तक आकर हमारे भाग्य का निर्धारण कर सकती है। उनके पास चेतन स्तर तक आने का एक साधन स्वप्न होते है।

आर्केटाइप (archetype)—सामूहिक अचेतन की शक्तियाँ चेतन स्तर पर जिस रूप में आती है उसे यूक ने आर्केटाइप नाम दिया है। आर्केटाइप का अर्थ होता है अनुभव का आदिम (primitive) मौलिक रूप। आर्केटाइप अनुभवो के उदाहरण देव-कथाओ और पौराणिक कथाओ में भरे पडे है जिनके सस्कार अनजाने मे ही हमारे ऊपर पड़ जाते है और वे आर्केटाइप सस्कार स्वप्नो के रूप में चेतन मन को प्रभावित करने का प्रयत्न करते है। आर्केटाइप सस्कार स्वप्नो मे आर्केटाइप प्रतिमाओ के रूप में प्रकट होते है। अतएव कुछ प्रमुख आर्केटाइप प्रतिमाओ को समझ लेना चाहिए।

आर्केटाइप प्रतिमाएँ—आर्केटाइप प्रतिमाओ का एक रूप छाया (shadow) होता है। छाया हमारे व्यक्तित्व का अविकसित और ऐतिहासिक दृष्टि से मानवी पक्ष का अपरिपक्व और बचकाना रूप होता है। जब मनुष्य कठिन परिस्थितियो में पड जाता है तो वह बचकानी प्रतिक्रियाएँ करने लगता है क्योकि तब वह अपनी छाया को पकड़ लेता है।

आर्केटाइप प्रतिमा का एक अन्य रूप पर्सोना (persona) कहलाता है। पर्सोना का अर्थ होता है आवरण। चूंकि हमें समाज में रहना पडता है इसलिए हम अपनी वास्तविकता को छिपाने के लिए उस पर आवरण डाले रहते है। वह आवरण ही हमारा पर्सोना है जिसे अपने ऊपर डालकर हम दुनियाँ को अपना असली रूप न दिखाकर कोई दूसरा ही रूप दिखाते है। पर्सोना हमारी सामाजिक आवश्यकताओ का परिणाम होता है क्योकि हमें सामाजिक

समर्थन पाने के लिए अपने व्यक्तित्व के असली रूप को छिपाना पड़ता है। पर्सोना का आधार हमारे व्यक्तिगत अचेतन मन मे होता है।

आर्केटाइप प्रतिमाओ के दो अन्य रूपो को एनिमा (anima) और एनिमस (animus) कहा जाता है। एनिमा मनुष्य में अन्तर्निहित उसका स्त्रैण पक्ष होता है जो स्वप्न में किसी स्त्री के रूप में प्रकट होता है। मनोवैज्ञानिक एव शारीरिक दृष्टिकोण से पुरुष के अन्दर स्त्री और स्त्री के अन्दर पुरुष की विशेषताएँ अवश्य रहती है। पुरुष में पुरुषगत विशेपताओ की प्रधानता होने से उसकी स्त्रीगत विशेषताओ का शमन हो जाता है और पुरुष का शमन हो गया स्त्रैण पक्ष यानी एनिमा (anima) स्वप्नो मे स्त्री-रूप लेकर प्रकट होता है। इसी प्रकार स्त्री मे अन्तर्निहित पुरुष पक्ष यानी एनिमस (animus) उसके स्वप्नो मे पुरुष-रूप में प्रकट होता है। अगर पुरुष अपने एनिमा को नही जानता तो उसका एनिमा स्वप्न में उसकी भावनाओ के अनुरूप उसकी किसी परिचित स्त्री पर प्रक्षेपित होकर प्रकट होता है। बहुत से लोग अपने एनिमा को इतना चाहने लगते है कि अगर उन्हे उनके एनिमा के अनुरूप स्त्री नही मिलती तो वे शादी ही नही करते। एनिमा और एनिमस हमारे जन्मजात गुणो पर आधारित शक्तियाँ होते है। उनका आधार हमारी शरीर-रचना में होता है।

एनिमा और एनिमस पुरुष और स्त्री के पूरक पक्ष होते है और उनके अभाव में व्यक्तित्व अधूरा रह जाता है। उनका स्वप्नो में दिखाई देना हमारे जीवन के एक अभाव की ओर सकेत करता है जिसका पूरा होना आवश्यक है। फ्रायट के अनुसार स्वप्न में स्त्री को देखना मैथुनेच्छा पूर्त्ति का सूचक होता है किन्तु यू क के अनुसार वह मैथुनेच्छा पूर्त्ति के साथ-साथ हमारे जीवन के एक अभाव का भी सूचक होता है जिसको पूरा करना व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए आवश्यक है।

एक अन्य आर्केटाइप अनुभवी वयोवृद्ध 'गुरु' का भी होता है जो युग-युगान्तर के ज्ञान का प्रतीक है। दुविधा और असमञ्जस में डालने वाली जीवन की समस्याएँ सामने आने पर हम एक गुरु और पथप्रदर्शक का सहारा चाहते है। वह 'प्राचीन ज्ञान' अन्तर्साक्ष्य (intuition) रूप में थोडा बहुत सभी में होता है और कठिन समय में हमारा पथप्रदर्शन भी करता है। उसकी अभिव्यक्ति स्वप्न में 'गुरु' या पिता के रूप में होती है।

इन आर्केटाइपो का सामूहिक अचेतन अनुभूतियो और प्रत्ययो से घनिष्ठतम सम्बन्ध होता है। उनको तार्किक भाषा द्वारा व्यक्त नही किया जा सकता। उनकी अभिव्यक्ति कला, सगीत, पौराणिक और देव-कथाओ और

स्वप्नो द्वारा ही अच्छी तरह हो सकती है। अगर उनकी अभिव्यक्ति भाषा द्वारा सम्भव होती तो कला और सगीत की कोई आवश्यकता या महत्ता नही रह जाती। आर्केटाइप प्रतिमाओ की सुन्दर अभिव्यक्ति कला के प्रतीकात्मक रूपो मे होती है इसलिए कला हमारे अचेतन मन की भावनाओ को अधिक मार्मिकता के साथ स्पर्श कर पाती है। बहुत से प्राचीन विचार धार्मिक कृत्यो में पाए जाते है। कुछ लोगो के अन्दर धार्मिक कृत्य करने से जो गम्भीर भावनाएँ पैदा होती है वे उन कृत्यो के वर्णन से नही होती।

पौराणिक और देवकथाओ का जो महत्व जाति के लिए होता है वही व्यक्ति के लिए स्वप्नो का होता है क्योकि पौराणिक कथाओ की भाँति स्वप्नो में भी हमारी भावनाओ और सचारीभावो का आदिम रूप प्रकट होता है। पौराणिक कथाओ और स्वप्नो के सहचार की घनिष्ठता के कारण ही यूक स्वप्न व्याख्या के लिए प्राय पौराणिक कथाओ का आश्रय लेता है। यूंक के आशय को समझने के लिए एक स्वप्न का उदाहरण लीजिए।

> पिता के निर्दयतापूर्ण व्यवहार से मेरे रोगी के रागात्मक जीवन का शमन हो गया था। नतीजा यह हुआ कि पिता को प्रसन्न करने के लिए लडकी की प्रवृत्ति ऊपर से अत्यन्त मधुर बन गई। उसने स्वप्न मे यह देखा कि वह अच्छी हो गई है और उसके ऊपर फूलो का एक सुन्दर पर्दा पड़ा हुआ है जिससे अगर वह अन्धी न होती तो भी न देख पाती। तब एक हब्शी प्रकट होता है और आगे बढकर लडकी के माथे का चुम्बन ले लेता है जिससे ऊपर पडा पर्दा हट जाता है और उसके नेत्रो की ज्योति वापस आ जाती है।

फ्रायट के अनुसार इस स्वप्न में हब्शी लडकी के पिता का, चुम्बन लेना मैथुन का, फूलो का पर्दा गिरना कौमार्य भग होने से योनिच्छद (hymen) के टूटने का और नेत्रो की ज्योति वापस आना जीवन के एक सुखद अनुभव-मैथुन सुख—का प्रतीक होगा। इस व्याख्या का आधार यह है कि पिता द्वारा पीटे जाने पर लडकी की मैथुनेच्छा जाग्रत हो जाया करती थी। यूक ने माना है कि इस स्वप्न के प्रतीको को फ्रायटीय ढग से घटाया जा सकता है किन्तु यूक स्वय ऐसे स्वप्नो की रचनात्मक व्याख्या करने के पक्ष में है। यूक के अनुसार इस स्वप्न की व्याख्या यो होगी सुन्दर फूलो का पर्दा लडकी का वह पर्सोना था जिसे वह दूसरो को दिखाया करती थी। वह पर्सोना था तो सुन्दर किन्तु उसकी वजह से लडकी जीवन की वास्तविकता नही देख पाती थी और न उसका सामना ही कर पाती थी। हब्शी लडकी का एनिमस था—उसके आदिम सचारीभावो से निर्मित उसके अपनत्व का वह रूप जिसे उसने

शमन करके अस्वीकार कर दिया था। किन्तु जीवन की वास्तविकता का सामना करने के लिए सचारीभावात्मकता के साथ साथ ठडे दिल से सोचने की जरूरत भी पडती है। अपने वनावटी पर्सोना से लडकी जीवन की वास्तविकता के प्रति अन्धी हो गई थी। जीवन की वास्तविकता पहचानने के लिए उसे अपनी आदिम सचारीभावात्मकता को स्वीकार करना चाहिए था। हब्शी को चुम्बन देना आदिम सचारीभावात्मकता को स्वीकार करने का प्रतीक है और पर्दे का गिरना अपने सुन्दर किन्तु गलत पर्सोना को गिरा देना है जिससे उसकी दृष्टि लौट सके यानी वह जीवन की वास्तविकता को देख सकने योग्य वन सके। पर्सोना के कारण उसके जीवन में जो कटु अभाव आ गया था उसकी पूर्त्ति सचारी-भावात्मक जीवन को स्वीकार करने से ही हो सकती थी। पर्सोना ने लडकी के व्यक्तित्व के दो टुकडे कर दिए थे। उसके सामने अपने छिन्न व्यक्तित्व को जोडने की समस्या थी। स्वप्न ने लडकी के सामने न केवल उसकी समस्या ही प्रस्तुत की वरन् उसका हल भी रख दिया।

उपर्युक्त स्वप्न इस अर्थ में रचनात्मक है कि वह व्यक्तित्व के दो टूटे हुए खण्डो मे सामञ्जस्य स्थापित कर सकने की दिशा की ओर सकेत करता है और यह वताता है कि अगर लडकी अपनी आदिम भावनाओ को स्वीकार कर ले (जो शमन के कारण उसके लिए खतरे का साधन वन चुकी थी) तो उसकी आँखें खुल जाँयगी यानी वह जीवन को ठीक से समझ कर उसका सामना अधिक अच्छी तरह कर सकेगी। अतएव यह स्वप्न रचनात्मक होने के साथ साथ सप्रयोजन भी है। इस प्रकार स्वप्न अचेतन मन की खतरनाक आदिम शक्तियो को ही प्रकट नही करते, उनका प्रयोजन हमें उन शक्तियो को जीवनोपयोगी वनाने का मार्ग दिखाना भी होता है।

यूक के अनुसार स्वप्नो का कार्य क्षतिपूरक होता है। स्वप्नो में दिखाई पडने वाली बातें चेतन मन की विरोधी होती है और इसलिए वे चेतन मन के अभाव की क्षतिपूर्त्ति करती है। इस दृष्टिकोण से स्वप्न हमारी 'इच्छाओ की ही नही किन्तु आवश्यकताओ की भी अभिव्यक्ति होते है और शमन किए जाने वाले उस अनुभव की ओर सकेत करते है जिसको पूरा करना व्यक्तित्व के लिए आवश्यक होता है। ज्यादा निष्ठुर आदमी ही स्वप्न मे ज्यादा भावुक होता है क्योकि जीवन में भावुकता का भी उचित स्थान हुआ करता है।

फ्रायट-यूङ्ग की स्वप्न-व्याख्या की तुलना—स्वप्नो के कार्य को प्रयोजनमूलक और क्षतिपूरक मानने से यूक और फ्रायट की स्वप्न-व्याख्याओ में वडा भेद हो गया है। फ्रायट स्वप्नो की व्याख्या कारणात्मक दृष्टि से करता है कि स्वप्न प्रतिमाएँ कहाँ से आती हैं, किन इच्छाओं को सन्तुष्ट करती हैं और किन काम्प्लेक्सो को प्रकट करता है। यूक स्वप्नो की व्याख्या लक्ष्यात्मक

दृष्टिकोण से करता है कि स्वप्न हमें कहाँ ले जाता है और हमारे जीवन को क्या देता है। स्वप्नो की कारणात्मक व्याख्या वैज्ञानिक दृष्टि से अपेक्षित अवश्य है किन्तु व्यक्ति का सम्बन्ध कार्य-कारण से ही न होकर लक्ष्यो और उद्देश्यो से भी होता है और स्वप्न उसके लक्ष्यो की ओर सकेत करते है। यूक का कहना है कि "फ्रायट काम्प्लेक्सो को ढूँढता है। मै नही ढूँढता। यही एकमात्र भेद है। मै यह ढूँढता हूँ कि अचेतन मन उन काम्प्लेक्सो के साथ क्या कर रहा है।" "मै यह नही जानना चाहता कि काम्प्लेक्स क्या है वरन् यह जानना चाहता हूँ कि स्वप्न उन काम्प्लेक्सो के विषय में क्या कहना चाहता है . मै यह जानना चाहता हूँ कि मनुष्य किस लक्ष्य की तैयारी कर रहा है।"

अचेतन मन की धारणा के विषय में भी फ्रायट और यूक में एक और महत्वपूर्ण मतभेद है। फ्रायट के अनुसार अचेतन मे केवल शमन की हुई अतृप्त इच्छाएँ रहती है किन्तु यूक के अनुसार अचेतन मे नैतिक मूल्य और अपराध की भावना भी रहती है जिससे अचेतन में नैतिक द्वन्द हो सकता है। नैतिक द्वन्द के परिणाम स्वरूप अचेतन की अपराध भावना स्वप्न में प्रकट होती है और स्वप्न का प्रयोजन केवल अतृप्त इच्छा की अभिव्यक्ति करना मात्र न होकर अपराध-भावना की अभिव्यक्ति करना भी होता है। फ्रायट ने भी स्वप्नो में होने वाले द्वन्द को स्वीकार किया था किन्तु द्वन्द होना उपचेतन के नियत्रण के कारण माना था। यूक ने अचेतन नैतिक द्वन्द को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित स्वप्न का उदाहरण दिया है .

> "मै एक विचित्र उपवन मे खडा हुआ हूँ और पेड से एक सेव तोड लेता हूँ। इसके पहले मै चारो ओर यह देख लेता हूँ कि कही कोई मुझे देख तो नही रहा है।"

स्वप्नदृष्टा ने स्वीकार किया कि उसने हाल ही में घर की नौकरानी से प्रेम करना शुरु किया था और स्वप्न देखने के एक दिन पहले वह अपनी प्रेमिका से चोरी से मिला भी था। इस स्वप्न में निस्सन्देह कुछ पौराणिक अश (वर्जित फल को चुराना) है। स्वप्नदृष्टा नन्दन उपवन के सेव चुराना चाहता था और सेव स्त्री के स्तनो के प्रतीक होते है। यहाँ तक तो उसकी इच्छापूर्त्ति हुई। किन्तु स्वप्न के बाद की घटनाएँ उसके कुविवेक को सूचित करती ह। यह तो ठीक है कि स्वप्नदृष्टा नौकरानी से मैथुन करना चाहता था। किन्तु यूक ने इस स्वप्न की लक्ष्यात्मक व्याख्या की है। स्वप्न का प्रयोजन अपराध भावना पर जोर देकर स्वप्नदृष्टा को यह बताना था कि नैतिक दृष्टि से उसे अपने विवेक का सामना करना चाहिए और कुविवेक के सामने झुकना नही चाहिये।

हमारी अतिरञ्जित प्रवृत्तियो और भावनाओ का जो शमन होता है उसका कारण हमारी अपनी मानसिक-रचना और क्रियाओ में ही होता है। यह एक नैतिक महत्व का तथ्य है। अपराध, पाप आदि की भावनाएँ बाह्य नैतिक शिक्षा का परिणाम न होकर हमारी मानसिक व्यवस्था का ही परिणाम होती है। अचेतन में रहने वाला नैतिकता का अश बचपन में शमन की जाने वाली अपराध-भावना की देन नही होता, वह हमारे सामूहिक अचेतन को मिलने वाला आदिम आर्केटाइप होता है।

अभी पीछे वर्णित शिशुहत्या वाले स्वप्न में फ्रायट की व्याख्या स्वप्न के केवल पहले अश पर आधारित है जिसमें स्वप्नद्रष्टा की इच्छा स्त्री-सुख पाने और गर्भ न रहने देने की थी। स्वप्न के बाद वाले अश में स्वप्नद्रष्टा अपनी अपराध-भावना के लिए पुलिस द्वारा पकड लिया जाता है जिसके द्वारा स्वप्न का प्रयोजन अपराध-भावना को प्रकट करना है। स्वप्न का पहला अंश कारणात्मक है और दूसरा लक्ष्यात्मक। फ्रायट स्वप्न के लक्ष्यात्मक अश की उपेक्षा कर देता है।

स्वप्न-प्रतीकों का कार्य—फ्रायट के अनुसार स्वप्न के प्रतीको का काम चेतनवर्जित इच्छाओ को उपचेतन के नियत्रण से बचाने के लिए उन्हे छद्मवेश में चेतनस्तर तक लाना होता है। यूक के मत से स्वप्न के प्रतीको का काम हमारी अचेतन भावनाओ को चेतन स्तर पर अधिक स्पष्टता से लाना होता है। "प्रतीक समझने समझाने के लिये एक उपमान होता है....स्वप्न का प्रतीक एक आख्यायिका के समान होता है, उसका काम छिपाना न होकर शिक्षा देना होता है।"

स्वप्नो में अतिरंजना और नाटकीयता—दैनिक अनुभवो का रागात्मक पक्ष स्वप्नो में अतिरजित रूप से प्रकट होता है। सोते समय कोर्टेक्सीय अवरोधो का मनस् के निम्न भागो से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिससे मनस् के रागात्मक केन्द्रो जैसे थैलेमस आदि का कार्य अनियत्रित और अतिरजित हो जाता है। स्वप्नो में अपराध या डर की अतिरजना का असर हमारे ऊपर दैनिक अनुभवो की अपेक्षा बहुत गहरा पड़ता है और हम अपनी हिंसक भावनाओ का शमन अधिक सक्रियता से करने को मजबर हो जाते है। वह मजबूरी हमें तत्काल कुछ करने को बाध्य कर देती है।

नौ साल के एक लड़के ने अपने भाई पर क्रुद्ध होकर उसे मारने के लिए उस पर चाकू फेंका जिससे वह बाल बाल बच गया। इस घटना के वाद लड़के ने स्वप्न देखा, लेकिन स्वप्न में फेंका गया चाकू उसके भाई को लग

गया और वह मर गया । स्वप्न द्वारा लडके को हत्यारा बनने, तिरस्कृत होने और फांसी पाने का भयंकर अनुभव हुआ । स्वप्न के कटु अनुभव ने लडके को भाई के प्रति हिंसक भावना का शमन अधिक सक्रियता से कर देन को मजबूर किया । निस्सन्देह स्वप्न का प्रयोजन लड़के की हिंसक और खतरनाक भावना का शमन कराना ही था । इससे स्पष्ट है कि स्वप्नो का कार्य फ्रायटीय दृष्टि से केवल इच्छा-पूर्त्ति कराना ही न होकर हिंसक और खतरनाक इच्छा का शमन कराना भी होता है ।

अतिरजना का प्रभाव स्वप्नो की नाटकीयता के कारण और भी वढ़ जाता है । स्वप्नो में हमारी भावनाएँ, इच्छाएँ, गहन शक्तियाँ और मनोवृत्तियाँ अक्सर किसी शारीरिक रूप में सामने आती है । वह शारीरिक रूप या तो हमारे किसी परिचित व्यक्ति का होता है या कल्पनिक व्यक्ति का । स्वप्न में हमारा क्रोध किसी बद्मिजाज आदमी का, मैथुनेच्छा वदचलन औरत का और बौद्धिकता किसी विद्वान का शारीरिक रूप लेकर सामने आ सकती है । स्वप्न में हमारी भावनाएँ और मनोवृत्तियाँ प्रचलित लोक-कथाओ में वर्णित मानवी या पाशविक पात्रो या प्राकृतिक शक्तियो पर प्रक्षेपित होकर भी प्रकट हो सकती है । क्रोध आँधी के रूप में, मैथुनेच्छा किसी रक्तजीवी पशु के और प्रतिहिंसा दैत्य के रूप में प्रकट हो सकती है । इस प्रकार स्वप्नो में देखे गए दृश्यो का हमारे ऊपर गहरा असर पड़ता है और हम तत्काल कुछ करने को विवश हो जाते है ।

दैनिक जीवन मे हम अपनी जिस हिंसक भावना को कार्यान्वित नही करते उसे स्वप्न में नाटकीय ढग से कार्यान्वित करके उसके परिणाम का सजीव अनुभव स्वय कर लेते है जिससे उसके कार्यान्वित होने के परिणाम का अनुभव हमें जाग्रतावस्था में उसकी पुनरावृत्ति नही करने देता । स्वप्नो के नाटक के विभिन्न पात्र हमसे अलग न होकर हमारी ही भावनाओ और मनोवृत्तियों से निर्मित हमारी विभिन्न मानसिक अवस्थाएँ होते है । स्वप्न में हम 'स्वय' अपने व्यक्तित्व के उस रूप में उपस्थित रहते है जिससे हमने अपना आत्मनिर्वारण कर लिया होता है । स्वप्नो की नाटकीयता द्वारा हम अपने आप को उस रूप में देखते हैं जिस रूप में हमारा उपचेतन मन हमें देखता है ।

भयावह स्वप्न (nightmares)—लोग अपने स्वप्नों की उपेक्षा तो कर सकते है लेकिन भयावह स्वप्नो की नही कर सकते क्योकि उनसे नीद ही नही उचटती वरन् उनका प्रभाव व्यक्ति पर पूरे दिन पड़ा रह सकता है । दिन मे कुत्ते से डरा बच्चा रात को किसी दैत्य का भयावह स्वप्न देखकर

दूसरे दिन भी भयभीत रहता है। अर्नेस्ट जोन्स ने भयावह स्वप्नो को शमन की गई किसी सेक्सीय इच्छा पर केन्द्रित तीव्र मानसिक द्वन्द की अभिव्यक्ति कहा है। जोन्स के अनुसार भयावह स्वप्न मे तीन बातें होती है : (१) पीड़ित करने वाला डर, (२) छाती पर बोझ का अनुभव करने से साँस लेने में बाधा पड़ना और (३) शारीरिक अगो के सुन्न या शिथिल होने का बोध और साथ ही साथ हृदय का जोर से धड़कना।

किन्तु उपर्युक्त तीनो बातो का कारण सेक्स के डर के अतिरिक्त अन्य प्रकार का डर भी हो सकता है। तीव्र मानसिक द्वन्द सेक्स के अतिरिक्त अन्य कारणो जैसे बचपन में दम घुटने के अनुभव या कठिन प्रसव से भी हो सकता है। स्वप्न और भयावह स्वप्न दोनो ही किसी न किसी समस्या का पुनरुत्पादन करते हैं किन्तु उनमें मुख्य भेद यह होता है कि स्वप्न तो उस समस्या के समाधान की ओर सकेत करता है किन्तु भयावह स्वप्न कोई समाधान प्रस्तुत नही करता। स्वप्न मे हम दिन की कठिन समस्याओ से बचने के लिए सोते रहते है किन्तु भयावह स्वप्न में रात की डरावनी समस्याओ से बचने के लिये जग जाते है।

स्वप्नो और भयावह स्वप्नो में एक महत्वपूर्ण भेद और होता है। एक ही समस्या से सम्बन्धित विभिन्न स्वप्नो का रूप ज्यो-ज्यो समस्या का हल निकट आता है त्यो-त्यो बदलने लगता है, किन्तु भयावह स्वप्नो की पुनरावृत्ति एक ही रूप में महीनो और सालो तक हो सकती है। भयावह स्वप्नो का आधार बचपन या युवावस्था की डरावनी घटनाओं का अनुभव, अपनी ही प्रवृत्तियो से भयभीत होने का अनुभव या शारीरिक विकारो का अनुभव हो सकता है। नीचे बाल्यावस्था के अनुभव पर आधारित भयावह स्वप्न का एक उदाहरण दिया जा रहा है जिसमें सेक्सीय प्रतीक तो मौजूद हैं किन्तु वह भयावह स्वप्न वास्तव में एक आघातिक (traumatic) अनुभव से सम्बन्धित है।

रोगी की उम्र डेढ साल की थी। उसे टहलने के बाद उसारे में बैठा दिया गया था जहाँ एक मिट्टी के तेल की बोतल रक्खी हुई थी जिसको उसने पी लिया। रोना-चिल्लाना सुनकर उसकी माँ दौड़ी आई और बच्चे को नमक का पानी पिलाया गया लेकिन इस उपचार का कोई असर नही हुआ। बाद में डाक्टर ने आकर रोगी बच्चे के पेट में नली डाली। इससे बच्चे को बड़ा ही आघातिक अनुभव हुआ। इसके बाद बच्चे को लगातार भयावह स्वप्न आने शुरू हुए जिनमें वह एक खम्भा और उसके नीचे गीली मिट्टी के बच्चो को देखा करता था। उसके भयावह स्वप्न का रूप यह था : "मैं एक गली में होकर जा रहा हूँ। रास्ते के दोनो ओर सफेद फूलो की तरह हिलती हुई

चीजें हैं। चारों ओर एक डरावनी निश्चलता छाई हुई है और मुझे लगता है कि कोई भयानक घटना होने वाली है। तब असम्भव संकट घटित होता है और कोई चीज बढती-सी आती है और सब कुछ एक तग रास्ते से जाकर दूसरी ओर से निकल आता है। किसी चीज के बढ़ते-से आने का क्षण सबसे भयानक होता है।

ऊपर से देखने में यह भयावह स्वप्न बिलकुल निरर्थक लगता है। इस भयावह स्वप्न में सेक्सीय इच्छा के प्रतीक भी ढूँढे जा सकते है। किन्तु रोगी के विचार-साहचर्य के अनुसार यह भयावह स्वप्न मिट्टी के तेल पीने की घटना से सम्बन्धित था। रोगी के स्वतन्त्र सहचार(free association)से यह पता चला कि खम्भा मुँह द्वारा पेट के अन्दर डाली जाने वाली नली था, गीली मिट्टी के बच्चे रोगी का अपना ही रूप था, सफेद फूल डाक्टर के कोट पर लगे सीपी के बटन थे, डरावनी निश्चलता रोगी के शरीर के अकड़ जाने का प्रतीक थी और फूलो का हिलना रोगी का शारीरिक कम्पन था। तग रास्ता रोगी का गला था जिससे नली पेट मे डाली और निकाली गई थी, नली का डाला जाना किसी चीज के बढते-से आने का आघातिक और पीड़ामय अनुभव था।

इसी प्रकार प्रसव के समय या बचपन के अन्य आघातिक अनुभव व्यक्ति को याद नही रहतें किन्तु उनके सस्कार मन पर पड़ जाते हैं और व्यक्ति के मन में जीवन के प्रति एक अप्रकृत डर पैदा कर सकते है। बाद में बचपन के आघातिक अनुभवो के सस्कार अपनी अभिव्यक्ति भयावह स्वप्नो के रूप में जब तक करते रहते है जिनमें कोई न कोई समस्या तो अवश्य रहती है किन्तु उसके समाधान का कोई सकेत नही रहता। भयावह स्वप्नो की व्याख्या उचित ढग से करके व्यक्ति के मन में घर कर गए अप्रत्याशित अप्रकृत डर को निकाला जा सकता ह।

दिवा-स्वप्न (day-dreams)—काल्पनिक और परियो की कहानियो में हम सभी आनन्द लेते है किंतु उन्ही में रम जाने और उनको अपने दैनिक विचारो में बड़ा महत्व देकर अपनी मानसिक क्रियाओ का एक अविभाज्य अग बना लेने को दिवा-स्वप्न कहा जाता है। स्वस्थ और प्रकृत व्यक्ति के दिवा-स्वप्न देखने का अनुमान करना कठिन होता है। इसके दो कारण हैं। एक तो दिवा-स्वप्नो और अन्य प्रकार की कल्पना-प्रधान मानसिक क्रियाओ में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती। दूसरे, दिवा-स्वप्न व्यक्ति की प्रधान मानसिक क्रियाओ के साथ साथ भी चला करते हैं जिससे व्यक्ति चेतन रूप से उनकी उपेक्षा कर उन्हे महत्वहीन समझ सकता है। बड़े होने

पर हमें जीवन की कठोर वास्तविकता का सामना करने के लिए अपनी विचार-धारा को तार्किक और ऐतिहासिक क्रम से व्यवस्थित करना पडता है जिससे हमारी कल्पना बहुत कुछ सीमित हो जाती है।

बच्चे अपनी उन्मुक्त कल्पना के कारण दिवा-स्वप्न अधिक देखते है। उनके दिवा-स्वप्नो का रूप प्राय क्षतिपूरक होता है। कमजोर लड़का अपने को रणभूमि के महान् वीर के रूप में देखता है, अकेला बच्चा कल्पनात्मक साथियो का निर्माण कर उनके साथ खेलता है। प्रौढ़ावस्था में दिवा-स्वप्नो का रूप ज्यादा रागात्मक और सेक्स सम्बन्धी हो जाता है। जब तब देखे जाने वाले दिवा-स्वप्न कालान्तर में व्यवस्थित होकर बच्चे के जीवन के निर्धारक भी बन सकते है।

दिवा-स्वप्न देखना एक स्वस्थकर देखना प्रतीकात्मक क्रिया होती है। साहित्य सृजन और वैज्ञानिक अन्वेषणो में उसका निर्विवाद महत्व रहा है। किन्तु जब दिवा-स्वप्न एक सीमा से बाहर निकल जाते है तो उनका प्रभाव अस्वस्थकर बन जाता है। दिवा-स्वप्नो में अत्यधिक निरत व्यक्ति अपने दिवा-स्वप्नो में इतना आनन्द लेने लगता है कि सामाजिक जीवन से विमुख हो जाता है। प्रौढ व्यक्ति की एक प्रधान समस्या अपने को समाज के अनुरूप बनाकर सतुलित व्यवहार करना होती है। लेकिन व्यक्ति दिवा-स्वप्नो में अपने दोषो की क्षतिपूर्त्ति करके दिवा-स्वप्नो को वास्तविक सफलता का स्थानापन्न बना सकता है। व्यक्ति को जीवन की वास्तविकता से विमुख और उदासीन बना देना दिवा-स्वप्न का बड़ा ही अस्वस्थकर प्रभाव होता है। और कही वर्णित स्काईजो-फ्रीनिया नामक मानसिक विकार के प्रारम्भिक लक्षण वास्तविकता से विमुख होना ही होते है।

दिवा-स्वप्नो से अनेक खतरे भी पैदा हो जाते है। दिवा-स्वप्नो में अधिक निरत व्यक्ति दिवा-स्वप्न और वास्तविक घटनाओ में भेद कर सकने की क्षमता खो बैठता है। उसके लिए सत्य और कल्पना में बहुत कम भेद रह जाता है। दूसरे वह दिवा-स्वप्न द्वारा किसी अपराध या कुकर्म का प्रधान पात्र होने का विचार भी कर सकता है। दिवा-स्वप्न द्वारा वह किसी अपराध या कुकर्म की कल्पना ही नही करेगा वरन् उसे कार्यान्वित करने की इच्छा भी रक्खेगा और दिवा-स्वप्न में सोची गई परिस्थितियाँ आने पर अपने कल्पित अपराध या कुकर्म को कार्यान्वित करने को मजबूर हो जायगा। रूसी लेखक दोस्ताइवस्की के उपन्यास "अपराध और दण्ड" का प्रधान पात्र हमेशा हत्या का दिवा-स्वप्न देखा करता था और अनुकल परिस्थितियाँ आने पर वह हत्या कर भी बैठा था।

प्रत्यय

प्रत्यय (concept) भी प्रतीक (symbol) का एक प्रकार है। प्रत्यय एक ही जाति के पदार्थों में पाई जाने वाली उनकी कोई व्यापक विशेषता होती है जिसके आधार पर उस जाति के पदार्थों का अन्य जाति के पदार्थों से भेद किया जाता है। यदि दो पदार्थों मे वहुत समानता हो तो उनमें भेद कर पाना कठिन होता है। कोयल और कौए में अत्यधिक समानता होने से ही उनमें भेद करना कठिन होता है। पदार्थों के प्रत्यय (concept) द्वारा हम सदृश उत्तेजनाओ के प्रति एक सी प्रतिक्रिया करते है। भेड़िए को कुत्ता समझने पर हम उसके प्रति वही प्रतिक्रिया करेगें जो कुत्ते के प्रति करते है।

किसी जाति के पदार्थों का प्रत्यय वना चुकने के वाद उस प्रत्यय का सामान्यीकरण (generalisation) किया जाता है। सामान्यीकरण द्वारा उस जाति के हर पदार्थ में उसके विशिष्ट गुणो को पाने की आशा की जाती है। सामान्यीकरण का साधारण रूप सापेक्षीकरण मे मिलता है। दूध का जला छाछ में भी दूध के जला देने वाले गुण का अनुचित सामान्यीकरण कर लेता ह और छाछ को दूध की भाँति फूँक फूँककर पीता है।

यदि हम प्रत्ययो (concepts) का सामान्यीकरण न करके भविष्य में किसी जाति के पदार्थों के प्रति वही प्रतिक्रिया न करें जो पहले करते रहे थे तो हम अपने अनुभव से लाभ उठाने से वचित हो जाएँगे और सारा अनुभव निरर्थक हो जायगा। सामान्यीकरण न करने पर व्यवहार में एकरूपता और अविच्छिन्नता नही रह सकती।

किन्तु प्रत्ययो को ध्रुव या अपरिवर्तनीय नही समझना चाहिए। अनुभव के विकास के साथ साथ प्रत्यय (concept) वदलते रहते हैं। पहले जमीन चपटी समझी जाती थी किन्तु अब गोल समझी जाती है। जब सामान्यीकरण गलत हो जाता है तो प्रत्ययो में परिवर्तन करने की आवश्यकता होती है।

प्रत्ययो का निर्माण करना सीखने की तीन प्रणालियाँ है—आगमन (induction) प्रणाली, निगमन (deduction) प्रणाली और आगमन-निगमन प्रणाली।

आगमन प्रणाली—इस प्रणाली द्वारा व्यक्ति दैनिक अनुभव में देखे हुए पदार्थों के प्रत्यय स्वाभाविक रूप से बनाता है। वह जिन पदार्थों मे अत्यधिक सादृश्य पाता है उन्हे एक जाति में रखकर उनका कोई प्रत्यय बना लेता है। वह गाय को देखकर उसका प्रत्यय बना लेता है। फिर , उसी गाय के सदृश अन्य पशुओ को देखने पर उन पर 'गाय' प्रत्यय का सामान्यीकरण कर देता है और इस प्रकार उन्हे भी 'गाय' जाति के अन्तर्गत ले आता है।

निगमन प्रणाली—इस प्रणाली द्वारा विभिन्न जातियो के पदार्थों की व्यापक विशेषताएँ व्यक्ति को पहले से ही बता दी जाती है। उसे बता दिया जाता है कि मनुष्य में बौद्धिकता होती है। इसके बाद वह जिस पदार्थ में बौद्धिकता पाता है उसे मनुष्य की जाति में रख देता है।

आगमन-निगमन प्रणाली—प्रत्यय (concepts) बनाने की यह प्रणाली सबसे अच्छी है। इस प्रणाली से उपर्युक्त दोनो प्रणालियो के दोष दूर हो जाते है। आगमन प्रणाली से हो सकता है कि व्यक्ति कोई प्रत्यय तो बना ले किन्तु उसे व्यक्त न कर पाए। निगमन प्रणाली से व्यक्ति प्रत्यय को खूब अच्छी तरह समझ सकता है किन्तु हो सकता है कि वह प्रत्यय की वास्तविक सार्थकता न जानता हो। यो तो विद्यार्थी अनेक परिभाषाएँ जानते है किन्तु वे उन परिभाषाओ की वास्तविक सार्थकता कम जानते है। आगमन-निगमन प्रणाली प्रत्यय-निर्माण के इन दोनो दोषो को दूर करती है।

भाषा

भाषा मौखिक (verbal) और लिखित प्रतीक (symbol) होती है। चिंतन करना, तर्क करना, दूसरो से बातचीत करना आदि प्रतीकात्मक क्रियाएँ भाषा के माध्यम से ही होती है। भाषा व्यक्ति का समाज से सम्पर्क स्थापित करने का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक ह।

मनुष्य भाषा को सीखना और उसका उपयोग करना बचपन से ही शुरू कर देता है। बच्चे का माँ-बाप द्वारा बोले जाने वाले शब्दो से सापेक्षीकरण होता रहता है और वह अनुकरण करके चूक-चेष्टा द्वारा उन शब्दो का सही-सही उच्चारण करना सीखता है।

शब्दो का उच्चारण करना सीख लेने के बाद बच्चा उन्हे उत्तेजनाओ से सम्बन्धित करना सीखता है। बच्चे से जब दूध पीने को कहा जाता है तो वह 'दूध' शब्द को सफेद-सफेद तरल पदार्थ से और 'पीने' शब्द को गले से नीचे उतारने की क्रिया से सम्बन्धित करता है। फिर वह 'दूध' और 'पीने' शब्दो से एक पदार्थ और उसके प्रति की जाने वाली प्रतिक्रिया का सम्बन्ध जान लेता है।

इसके बाद बच्चा धीरे-धीरे अन्तर्दृष्टि द्वारा यह जान लेता है कि शब्द किसी पदार्थ या क्रिया के सूचक होते है। अब जब उसे भूख लगती है तो वह दूध शब्द से एक अनुपस्थित उत्तेजना की ओर सकेत करता है जो उसकी भूख मिटा सकती है। इस स्तर पर बच्चा भाषा को अनुपस्थित पदार्थों के प्रतीक (symbol) की भाँति इस्तेमाल करना सीख जाता है।

फिर धीरे-धीरे वह शब्दों से वाक्य बनाना सीखता है और तब लिखना-पढ़ना। लिखना-पढना दूसरो का संदेश समझने और अपना सदेश दूसरों तक पहुँचाने का सर्वोत्तम प्रतीक है। लिखना एक विशेष प्रकार का सूक्ष्म मांस-पेशीय सगठन करने की कला है।

प्रतीकों का व्यावहारिक महत्व

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्राणी की प्रतिक्रिया का महत्व वही तक होता है जहाँ तक वह प्राणी को परिवेश से सतुलन करने में सहायता देती है। प्रतीकात्मक क्रिया भी प्राणी को परिवेश से सतुलन करने में सहायता देती है। अकेला बच्चा अपने कल्पित साथियो से खेल-खेलकर अपना मन भरता है और एक विषम स्थिति से अपना सतुलन करता है। प्रेम-कहानियाँ या साहस से भरे वर्णनो को पढकर हम सभी कल्पना द्वारा उन स्थितियों का आनन्द लेते हैं जिन स्थितियों की वास्तविकता में लोकलाज या खतरे के भय से नही पड़ा जा सकता। प्रेम कहानियाँ पढना आदि ऐसी स्थितियो से प्रतीकात्मक सतुलन करना है जिनसे हम वास्तविक जीवन मे किसी न किसी कारण वचित रहते हैं। प्रतीकात्मक क्रिया वास्तविकता की स्थानापन्न होती है और एक सीमा तक सतुलन करने का अच्छा साधन है। किन्तु जब वह सीमा के बाहर जाकर वास्तविकता का स्थान ले लेती है तो मानसिक सतुलन को बिगाड़ भी देती है। प्रतीकात्मक क्रिया में उचित सीमा के बाहर उलझ जाने पर व्यक्ति का वास्तविकता से बहुत कम सम्बन्ध रह जाता है और वह सनकी या विक्षिप्त बन जाता है।

सतुलन करने में सहायक होने के अतिरिक्त प्रतीकात्मक क्रिया समस्याओ को सुलझाने में भी सहायक बनती है। समस्या प्राणी को असतुलित कर देने वाली कोई स्थिति होती है। समस्याओ का समाधान सज्ञा-क्रिया के स्तर पर होता है, उदाहरण के लिए चूक-चेष्टा (trial and error) द्वारा समस्या का समाधान करना। सज्ञा-क्रिया के स्तर पर समस्याओ का समाधान करने मे प्राणी अपनी मासपेशीय क्रिया का सहारा लेता है। कुछ समस्याओ का समाधान मानसिक स्तर पर किया जाता है। उदाहरण के लिए सोचना, कल्पना करना, तर्क करना आदि। मानसिक स्तर पर समस्याओ का समाधान करने मे प्राणी को प्रतिमाओ, प्रत्ययो (concepts), भाषा आदि प्रतीको का सहारा लेना पड़ता है।

ललित कलाओ का सृजन और वैज्ञानिक आविष्कार भी प्रतीको द्वारा ही सम्भव होते हैं। किन्तु लोगो की प्रतीकात्मक क्रिया करने की शक्ति में वैयक्तिक भेद होता है। प्रतीकात्मक क्रिया के वैयक्तिक भेद के कारण ही

व्यक्ति अपनी बात दूसरो को समझा सकने में प्राय असफल रहता है क्योकि सबकी प्रतीकात्मक क्रिया अलग अलग होती है जिससे वे एक ही बात को सोचने के लिए विभिन्न प्रतिमाओ या अन्य प्रतीको का सहारा लेते है।

अब सोचने, तर्क करने और आविष्कार करने आदि विभिन्न प्रतीकात्मक क्रियाओ का अध्ययन कर लेना चाहिए।

सोचना

मनुष्य की मानसिक क्रिया ग्राहको द्वारा परिवेश की उत्तेजनाओ को ग्रहण करने और उनका सज्ञात्मक सगठन करने तक ही सीमित नही होती। वह उत्तेजनाओ का सवेदन, सज्ञा और पुनरावर्तन करने के अतिरिक्त उत्तेजनाओ के विषय में सोचता भी है। सोचने से वह परिवेश से अपना सम्बन्ध समझता है और प्राप्त किए गए अनुभव का विभिन्न स्थितियो की आवश्यकतानुसार विभिन्न तरह से उपयोग करता है।

सोचने की दिशा—किसी समस्या को हल करने के लिए सही दिशा में सोचना आवश्यक होता है। सोचने की दिशा ठीक न होने पर मामूली से मामूली बात की व्याख्या भी गलत ढग से की जा सकती ह। किसी को थका सा देखकर यह अनुमान करना कि वह व्यभिचार करके आया होगा या किसी को प्रसन्न देखकर यह अनुमान लगाना कि वह अपनी प्रेमिका से मिलकर आया होगा गलत दिशा में सोचने के उदाहरण है। सोचने की दिशा गलत होने पर दूसरो की मुखमुद्रा, सकेत, खाँसने, थूकने, बातचीत करने आदि महत्वहीन बातो के पीछे भी कोई न कोई प्रसग ढूँढने की कोशिश की जाती है।

सोचने की सही दिशा का प्रभाव समस्या का सही हल निकाल लेने पर भी पड़ता है। गलत दिशा में सोचने से समस्या हल करने में बाधा पडती है। चित्र ६८ को देखिए। इसमें नौ बिन्दु है। इन सब बिन्दुओ को एक ही बार
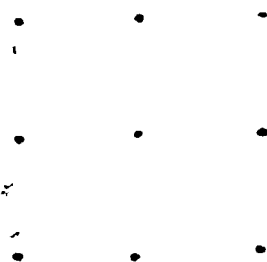
चित्र ६८

में चार सीधी रेखाएँ खीचकर मिलाना है—लेकिन शर्त यह है कि पेंसिल न तो कागज से उठे और न किसी रेखा पर दुबारा फेरी जाय। इस समस्या

को हल करने के लिए आप अनेक दिशाओ में सोचेंगे। अगर हल न निकल सके तो समझ लीजिए कि आपके सोचने की दिशा ठीक नही है। समस्या का हल अध्याय के अन्त में देख लीजिए। तव आप इस समस्या का हल सोचने की सही दिशा जान जायेंगे।

सही दिशा में सोचने के लिए समस्या को कई तरह से देखना चाहिए, उसके नए नए अर्थों का अनुमान करना चाहिए और नवीन सम्भावनाओ को खोजना चाहिए। प्रसिद्ध गणितज्ञ गास छे साल का था। एक दिन उसके अध्यापक ने कक्षा के सामने यह समस्या रकखी "१ + २ + ३ + ४ + ५ + ६ + ७ + ८ + ९ + १० को जोड़ना है। देखें पहले कौन वताएगा ?" गास ने जरा देर में ही हाथ उठा दिया जवकि अन्य लड़के १ + २ = ३ + ३ = ६ + ४ = १०....ही कर रहे थे। अध्यापक को वड़ा आश्चर्य हुआ। उसने गास से इतनी जल्दी जोड निकाल लेने की तरकीव पूछी। गास ने उत्तर दिया कि अगर मै भी १ + २ = ३ + ३ = ६ ही करता तो जोड़ने में वडी देर लगती और जोड गलत भी हो सकता था, इसलिए मैंने यो जोडा १ और १० ग्यारह होते हैं, २ और ९ भी ग्यारह होते है....इस प्रकार के पाँच जोड़े है और पाँच वार ग्यारह ५५ होते है। अतएव सव अको का जोड़ ५५ हुआ।" निस्सन्देह गास की तरह सोचने की क्षमता सवको प्राप्त नही होती। वह प्रतिभाशाली व्यक्तियो को ही मिलती है।

सोचना एक विशद् मानसिक क्रिया है जिसके अन्तर्गत कल्पना करना, तर्क करना और आविष्कार करना आदि सभी प्रतीकात्मक मानसिक क्रियाएँ आ जाती है। आप अपने किसी विगत अनुभव, सैर सपाटे या किसी से मिलने के वारे मे 'सोच' सकते हैं। विगत अनुभवो को सोचने पर आपके सामने उन अनुभवो की स्मृति-प्रतिमाएँ (memory images) आने लगती हैं। सैर-सपाटे में आप जिन जिन स्थानो पर गए थे, जो जो दृश्य देखे थे, जिन लोगो से मिले थे उनकी स्मृति-प्रतिमाएँ एक एक करके आने लगती है और आपकी सोचने की क्रिया मे स्मृति-प्रतिमाओ की प्रधानता रहती है। स्मृति-प्रतिमा-प्रधान सोचने की क्रिया को कल्पना करना कहा जाता है।

कल्पना भविष्य विषयक भी हो सकती है। आप कल्पना कर सकते है कि अगली छुट्टियाँ कहाँ विताई जायँ और कैसे विताई जायँ। भविष्य विषयक कल्पना करने में आप भविष्य से अपनी स्मृति-प्रतिमाओ का सम्बन्ध नए ढग से जोड़ते है। कल्पना करने में स्मृति-प्रतिमाओ की ही प्रधानता रहती है, भाषा की उतनी नही या बिल्कुल ही नही। स्मृति-प्रतिमाएँ अनुभव का पुनरावर्तन मात्र होती है, सृजनात्मक नही। कल्पना करना सृजनात्मक प्रतीकात्मक क्रिया मे सहायक

बनती है क्योकि सृजनात्मक क्रिया में स्मृति-प्रतिमाओ के आधार पर कोई नया प्रतीकात्मक सगठन सम्भव हो सकता है। सृजनशील सोचना वह होता है जिससे मानव-जाति के हित के लिए किसी नवीन वस्तु या विचार की सृष्टि होती है ।

तर्क करना

तर्क करना सोचने का ही एक प्रकार है । वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ सोचता ही रहता है और यदि उससे पूछा जाय 'क्या सोच रहे हो ?' तो वह उत्तर देगा 'कुछ नही यो ही ।' किन्तु तर्क करना 'यों ही' सोचना न होकर उद्देश्यमूलक होता है । मनुष्य तर्क तब करता है जब उसके सामने कोई ऐसी समस्या आ जाती है जिसका पहले से ही कोई समाधान मौजूद न हो । तर्क करने मे स्मृति प्रतिमाओ की उतनी प्रधानता नही रहती जितनी भाषा और प्रत्ययो (concepts) की । जब आप युद्ध के बारे में कल्पना करते है तो आपके सामने निर्दोष व्यक्तियो के खून, उनकी मुसीबतो, उनके मरने से उनके परिवार पर पडने वाली विपत्तियो, तोपो की गरज आदि के दृश्य-चित्र आते है जिनमें भाषा की प्रधानता नही भी हो सकती । किन्तु जब आप युद्ध के विरुद्ध तर्क करते है तो आपके सामने 'युद्ध' का प्रत्यय (concept) होता है और आप उस प्रत्यय को भाषा द्वारा दूसरो को बताकर युद्ध का विरोध करते हैं ।

तर्क करना चूँकि किसी समस्या को सुलझाना होता है इसलिए तर्क करने और सीखने में घनिष्ठ सम्बन्ध है । सीखने मे समस्या को सज्ञा-क्रिया के स्तर पर मासपेशीय क्रियाओ द्वारा सुलझाया जाता है किन्तु तर्क करने में मानसिक स्तर पर और प्रतीको (symbols) की सहायता से । तर्क करने के बाद प्राणी में स्थितियो के अनुकूल प्रतिक्रिया करने के ऐसे सगठन बन जाते है जो पहले से नही रहते ।

सीखने की भाँति तर्क करने में भी पूर्व अनभव से लाभ उठाया जाता है । पूर्व अनुभव के आधार पर 'अनुमान' करना तर्क करने की एक नई विशेषता होती है । अनुमान पूर्व अनुभव पर आधारित एक नया ज्ञान होता है । अनुमान के आधार पर पूर्व अनुभव की या तो सज्ञा हो सकती है या प्रतीक रूप में उसका पुनरावर्तन, किन्तु अनुमान सदा प्रतीकात्मक होता है। धुएँ को देखकर आग का अनुमान करने में धुएँ की तो सज्ञा होती है किन्तु उसके आधार पर आग का जो अनुमान किया जाता है वह प्रतीक रूप ही होता है ।

वास्तविक तथ्यो से मेल खाने पर अनुमान सही होता है और मेल न खाने पर गलत । अनुमान के गलत या सही होने का निर्णय करना तर्कशास्त्र (Logic) का विषय है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान चाहे गलत हो

या सही वह फिर भी अनुमान होता है। अनुमान की सत्यता परिवेश के प्रसग से जानी जाती है। यदि प्राणी को परिवेश का उचित और अच्छा ज्ञान न हो तो उससे अनुमान करने मे गलती होती है। बच्चों का अनुमान परिवेश का अच्छा और पूर्ण ज्ञान न होने से ही गलत होता है।

एक सज्जन अपना फाउन्टेनपेन ठीक कराने एक दूकान पर गए। उनके साथ उनका पाँच साल का बच्चा भी था। दूकान पर लिखा था 'बीमार पेनो का अस्पताल।' बच्चे ने कौतूहलवश पूछा कि क्या पेन भी बीमार होते हैं। उत्तर मिला कि टूटे पेन बीमार कहे जाते हैं। इस पर बच्चे ने दूकानदार से कहा, 'देखो हमारे पेन को ठीक करने के लिए मीठी दवा देना।' बच्चे का यह कहना उसके अपूर्ण ज्ञान पर आधारित गलत 'अनुमान' का एक अच्छा उदाहरण है।

अनुमान की सत्यता की कसौटी तार्किक अनिवार्यता मे होती है। तार्किक अनिवार्यता अनुभव का परिणाम होती है। हम जानते हैं कि कुत्ता बिल्ली से बडा होता है और हम 'बडे होने' का प्रत्यय (concept) बना लेते हैं। बाद में जब हमसे कहा जाता है 'और घोडा कुत्ते से बडा होता है' तो हम तत्काल अनुमान कर लेते है कि 'इसलिए घोडा बिल्ली से बडा होता है' और हमारा अनुमान 'बडे होने' के प्रत्यय की तार्किक अनिवार्यता का परिणाम होता है।

तार्किक अनिवार्यता कार्य-कारण सम्बन्ध पर निर्भर होती है। कार्य-कारण सम्बन्ध का प्रत्यय अनुभव के अबाधित होने पर बनता है। धुएँ और आग को सदा साथ-साथ देखा जाता है और चूँकि उनके साथ होने के अनुभव का कभी बाध (contradiction) नही होता इसलिए उनमें कार्य-कारण सम्बन्ध समझ लिया जाता है। जो अनुमान कार्य-कारण सम्बन्ध का विरोध करता है उसे असत्य माना जाता है। धुएँ को देखकर अगर पानी होने का अनुमान किया जाय तो वह असत्य होगा क्योकि धुएँ और पानी मे कार्य-कारण सम्बन्ध नही होता।

यो तो अनुमान की सत्यता पर तार्किक अनिवार्यता के कारण ही विश्वास किया जाता है किन्तु कुछ विश्वास ऐसे होते है जिनकी सत्यता के पीछे तार्किक अनिवार्यता न होकर सचारी-भावात्मक कारण होते है। धार्मिक पुस्तको के वाक्यो पर विश्वास करना, बिना सोचे-समझे बडो की हर बात मान लेना तर्क करने की शक्ति की कमी के ही सूचक है।

तार्किक अनिवार्यता के अभाव और सचारीभावो की प्रधानता से बन गए गलत विश्वासो को हठभ्रम (delusion) कहा जाता है। अपने को ससार का सबसे पूर्ण विद्वान और सर्वाङ्गीण अनुभव-सम्पन्न व्यक्ति समझना, ईश्वर

का अवतार समझना, धर्म का सरक्षक समझना आदि हठभ्रम के कुछ उदाहरण है। हमारा समाज तो हठभ्रम का एक जीता-जागता अजायबघर ही है। जिधर देखिए उधर हल्दी की गाँठ लेकर बन बैठे पसारी गौरक्षक, वेदरक्षक, धर्मरक्षक, सस्कृति उद्धारक, परलोक सुधारक, ससार को अहिंसा का पाठ पढाने वाले, सत्य का मार्ग दिखाने वाले घास-फूँस की तरह मिल जायँगे। हठभ्रम अगर इतने दृढ हो जायँ कि गम्भीर सोच-विचार से भी न हट सके तो वे व्यक्ति के लिए अस्वस्थकर हो जाते है। कही और वर्णित पैरानोइया नामक मानसिक विकार कुछ हठभ्रमो पर ही आधारित होता है। पैरानोइया के प्रसग में हठभ्रमो पर कुछ अधिक विस्तार से विचार करने का अवसर मिलेगा।

आविष्कार करना

आविष्कार करना सृजनात्मक सोचना होता है। सृजनात्मक सोचने का क्षेत्र बहुत बडा है। रेडियो, सिनेमा, हवाई जहाज, रेलगाडी, नदी पर पुल बनाना आदि आविष्कार सृजनात्मक सोचने के ही मूर्त उदाहरण हैं। किन्तु सृजनात्मक सोचने का क्षेत्र मूर्त वस्तुओ तक ही सीमित नही होता। शासन-व्यवस्था, शिक्षा-सुधार सम्बन्धी योजनाएँ बनाना, सिद्धान्तो का प्रतिपादन करना आदि अमूर्त बातें भी सृजनात्मक सोचने का परिणाम होती है।

मनुष्य का अपने पूर्व अनुभवो को नए रूप से व्यवस्थित करना ही सृजनात्मक सोचना होता है। तर्क करने में भी पूर्व अनुभवो को नए रूप से व्यवस्थित किया जाता है इसलिए तर्क करना भी सृजनात्मक सोचना होता है। फिर तर्क करने और आविष्कार करनें में क्या अन्तर है ?

तर्क करने और आविष्कार करने का अन्तर उनके फल में होता है। तर्क करने मे नये तथ्यो का अनुमान किया जाता है और उनकी सत्यता वास्तविकता के प्रसग से जानी जाती है। आविष्कार करने मे जिन नए तथ्यो की खोज की जाती है वे वास्तविकता से दूर होते है और जब तक वे मूर्त रूप में नही आ जाते तब तक उनकी सत्यता वाह्य जगत में न होकर आविष्कारक के मानसिक जगत में होती है।

आविष्कार कर सकने की योग्यता बहुत कम व्यक्तियो में होती है। आविष्कार करने के लिए प्रतिभा चाहिये और प्रतिभा एक ऐसी चीज है जिसे अर्जित नही किया जा सकता। आविष्कार करना पूर्व अनुभव को नए ढग से व्यवस्थित करना होता है इसलिये अनुभव के अभाव में प्रतिभा होते हुए भी आविष्कार नही किया जा सकता। अनुभव प्रतिभा को जाग्रत करने में सहायक बनता है।

सृजनात्मक सोचने पर प्रयोग नही किया जा सकता किन्तु सौभाग्य से अनेक आविष्कारक अपने सृजनात्मक अनुभवो का वर्णन छोड गए है। उन वर्णनो मे आश्चर्यजनक सादृश्य मिलता है जिससे उनमे सृजनात्मक क्रिया की चार प्रमुख अवस्थायें मिलती है।

सृजन करने के पहले अनुभवो को एकत्र किया जाता है। अनुभवों को एकत्र करना सृजन की तैयारी की अवस्था होती है। इस तैयारी के बाद विचारक जिस तरह का सृजन करना चाहता है उसके प्रति अपना विन्यास बना लेता है और हर पैंतरे से सोच-विचार करता रहता है। फिर एकाएक बिना चेष्टा किए उसके सामने सृजन का नया संगठित रूप उभर आता है जो उसे एक नवीन प्रेरणा से अनुप्राणित कर देता है। इसके बाद सृजन के नए रूप की परीक्षा उपादेयता और औचित्य की वास्तविकता के प्रसग से की जाती है।

आविष्कार करना दैवी प्रतिभा का परिणाम होता है। प्रतिभाशाली व्यक्ति के लक्षण बचपन से ही प्रकट होने लगते है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात।' सृजनात्मक प्रतिभा मानव-जाति के गौरव की वस्तु है इसलिए 'होनहार बिरवान' को सीचने और अच्छी खाद देने मे कोई कमी रखना मानव-जाति के गौरव के प्रति अन्याय करना है।

चित्र ६८ का हल

चित्र ६९

पाँचवाँ खण्ड

व्यक्तित्व

१३
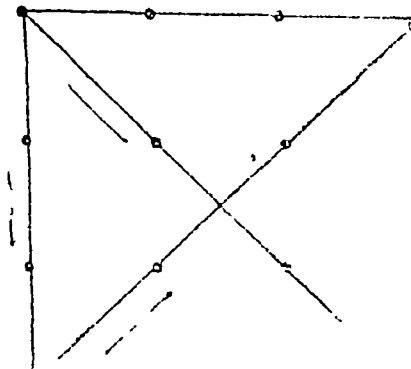
व्यक्तित्व

अब तक मनुष्य के जन्मजात, गत्यात्मक और अर्जित पक्ष का अध्ययन करने का प्रयास किया जा चुका है। जन्मजात क्षमताएँ और अर्जित कुशलताएँ शारीरिक और मानसिक क्रियाओ के विभिन्न प्रकार के सगठनो की विशेषताएँ और उनका परिणाम होती हैं । शारीरिक और मानसिक क्रियाओ के सगठनो का विश्लेपात्मक अध्ययन कर हम यह देख चुके हैं कि उनके किस तरह के सगठनो की विशेषताओ को सवेदन, अवधान, सज्ञा, सीखना, याद रखना, सोचना आदि नाम दिया जाता है। मनोविज्ञान में मनुष्य को प्रतिक्रियात्मक प्राणी समझ कर उसके व्यवहार का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य के व्यवहार को उसकी विभिन्न क्षमताओ का विश्लेषण करके और उनका अलग अलग अध्ययन करके ही नही समझा जा सकता क्योकि उसका व्यवहार उसकी एक-दो क्षमताओ पर निर्भर नही होता। मनुष्य का व्यवहार उसकी सारी शारीरिक और मानसिक क्रियाओ की सगठित इकाई का परिणाम होता है, इसलिए मनुष्य और उसके व्यवहार को अच्छी तरह समझने के लिए उसकी शारीरिक और मानसिक क्रियाओ की सगठित इकाई का अध्ययन अनिवार्य है।

सामान्यत व्यक्तियो की जन्मजात क्षमताओ और अर्जित कुशलताओ में कोई बहुत बडा अन्तर नही होता, फिर भी उनकी क्षमताओ और कुशलताओ की सगठित इकाई उनके व्यवहार में इतना बडा अन्तर डाल देती है जिससे वे एक से लगते हुए भी एक से नही होते। न मालूम क्या बात हो जाती है कि एक ही मिट्टी और पानी से विभिन्न रग और गन्ध के फूल पैदा हो जाते हैं, एक ही बीज के पेड मे हजारो पत्तो के हजारो रूप बन जाते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति के व्यवहार में विभिन्नता उत्पन्न करने वाली उनकी क्षमताओ और कुशलताओ की सगठित इकाई की विशेषता को व्यक्ति का त्व कहा जाता है।

व्यक्तित्व क्या है ?—व्यक्तित्व शब्द बहुत प्रचलित है और उसका उपयोग अनेक अर्थों में किया जाता है। दूसरे आदमियो पर अपने विचार प्रकट करते हुए लोग अक्सर यह कह देते हैं कि 'आदमी तो भला है किंतु उसका व्यक्तित्व कुछ नही है।' वे व्यक्तित्व को कोई ऐसा गुण समझते हैं जो कुछ भाग्यवानो को ही नसीब होता है। जनसाधारण व्यक्तित्व को 'आकर्षक' और 'बहुत बडा'

भी कह देते है क्योंकि वे व्यक्तित्व का अर्थ सुन्दर-स्वस्थ शरीर और अच्छे कपडे पहनना या धनाढ्य और अच्छे ओहदे पर होना समझते हैं।

मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व के इन प्रचलित भ्रामक अर्थों को स्वीकार नही किया जाता। मनोविज्ञान में व्यक्ति के व्यवहार का अध्ययन किया जाता है और प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार में थोडा-बहुत अन्तर होता है। व्यक्तियो के व्यवहार में अन्तर क्यो होता है? जन्मजात क्षमताओ और अर्जित कुशलताओ पर आधारित उनकी गत्यात्मक प्रवृत्तियों के विशेष रूप से सगठित होने के कारण। गत्यात्मक प्रवृत्तियो के विशिष्ट सगठन को ही व्यक्तित्व कहा जाता है। व्यक्तित्व व्यक्ति की नही वरन् उसके व्यवहार की विलक्षणता का सूचक होता है। मनोविज्ञान मे व्यक्तित्व शब्द विशेषण न होकर क्रियाविशेषण होता है।

गत्यात्मक प्रवृत्तियो का निर्माण और सगठन व्यक्ति की रुचि, क्षमताओ, मूल्यो, आदर्शों, उद्देश्यो आदि के आधार पर होता है किंतु व्यक्तित्व उन सबका योग न होकर उनका विभिन्न रूप से अन्तर्सम्बन्धित होकर और एक व्यवस्थित इकाई का रूप लेकर व्यक्ति के व्यवहार द्वारा अभिव्यक्ति होने लगना ही होता है।

व्यक्तित्व व्यक्ति की सामाजिक अन्तर्क्रिया से निर्मित और विकसित होता है। सामाजिक अन्तर्क्रिया एक ओर तो व्यक्ति के स्वभाव को सशोधित करती है और दूसरी ओर प्रतिक्रिया करने वाले व्यक्तियो के व्यक्तित्व से भी निर्धारित होती है। विभिन्न सामाजिक स्थितियो पर उन स्थितियो मे भाग लेने वाले व्यक्तियो के व्यक्तित्व की छाप पडती है। इस प्रकार व्यक्तित्व एक ओर तो पहले की गई अन्तर्क्रियाओ का परिणाम होता है और दूसरी ओर अन्तर्क्रियाओ को निर्धारित भी करता है जिससे व्यक्ति औरो को प्रभावित करने के साथ साथ स्वय भी प्रभावित होता रहता है।

इस प्रकार व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियो की व्यवस्थित इकाई स्थायी न होकर विकासशील होती है, इसलिए व्यक्ति के त्व को स्थायी नही समझ लेना चाहिए। व्यक्ति का त्व भी विकासशील होता है जिससे व्यक्ति अपने और अपने परिवेश से सतुलन करने के लिये जो प्रतिक्रियाएँ करता है वे अन्य लोगो की प्रतिक्रियाओ से विलक्षण होती हैं। विकासशील न होने पर व्यक्ति के त्व का परिवेश से सक्रिय सम्बन्ध नही रह सकता और जिसके अभाव मे व्यक्ति का व्यवहार असतुलित हो सकता है। व्यक्तित्व व्यक्ति में अन्तर्निहित 'कुछ' न होकर व्यक्ति और परिवेश का अन्तराश्रित और सक्रिय अनन्वय सम्बन्ध होता है।

व्यक्तित्व के निर्धारक

व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियो का सगठन ही उसका त्व होता है। गत्यात्मक प्रवृत्तियो का निर्माण और विकास व्यक्ति की मनोभौतिक परिस्थितियो पर निर्भर होता है और उसका त्व उन्ही से निर्धारित होता है। व्यक्तित्व की व्याख्या भली-भाँति कर सकने के लिए व्यक्ति के मनोभौतिक निर्धारको को जानना जरूरी है। किसी बात का सचालन करने वाले सिद्धान्तो का अच्छा ज्ञान होने से वह बात भी ज्यादा अच्छी तरह समझ मे आ सकती है। व्यक्तित्व के निर्धारको पर विचार करने से न केवल व्यक्ति के त्व के विकास को वरन् उसके स्वभाव को भी अच्छी तरह जाना जा सकता है।

व्यक्ति के त्व के निर्माण पर प्रभाव डालने वाली हर शारीरिक मनोवैज्ञानिक, आनुवशिक, सास्कृतिक, सामाजिक वात व्यक्तित्व की निर्धारक होती है। यह निश्चय नही किया जा सकता कि व्यक्तित्व के अनेक निर्धारको मे क्या अन्तर्सम्बन्ध होता है और व्यक्तित्व के विकास में उनमें से किसकी सापेक्षिक प्रधानता रहती है।

मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व के जन्मजात पक्ष पर आनुवशिकता (heredity) का प्रभाव शायद अधिक पडता है और अर्जित पक्ष पर आनुवशिकता से अन्य निर्धारको का। इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि आनुवशिकता और व्यक्ति का जन्मजात पक्ष एक ही चीज होती है। जन्मजात पक्ष का वाह्य प्रभावो द्वारा सशोधन होता रहता है जिसका अर्जित पक्ष पर परोक्ष या अपरोक्ष प्रभाव पडता है। सचारीभाव जन्मजात होते हैं किन्तु विकासक्रम में उनमें शिक्षा आदि से बहुत सशोधन हो जाता है। आनुवशिक पक्ष का वाह्य प्रभावो द्वारा सशोधन नही हो सकता।

शारीरिक निर्धारक—शरीर के ग्राहको, प्रभावको आदि के विकास और उनके स्वस्थ रूप से क्रिया करने का व्यक्तित्व पर जो प्रभाव पडता है वह तो अव तक के विस्तृत वर्णन से स्पष्ट हो गया होगा। शारीरिक विकास से प्राणी की अव्यक्त क्षमताएँ सक्रिय बनती है और उनमें क्रियात्मक परिपक्वता आती है। शारीरिक विकास और परिपक्वता के अभाव में व्यवहार असंतुलित बन जाता है जिसके परिणाम-स्वरूप व्यक्तित्व में भी असतुलन हो जाता है। ग्राहको और प्रभावको के अतिरिक्त व्यक्तित्व पर शरीर के ग्लैंडो (glands) की क्रिया का प्रभाव भी पडता है।

पिच्युइचरी (pituitary) ग्लैंड शारीरिक वृद्धि तथा विकास और अन्य इन्डोक्रीन ग्लैंडो की क्रियाओ को नियमित करता है। उसकी क्रिया में

दोष होने से प्राणी या तो नाटा रह जाता है या बेहद लम्बा हो जाता है। ऐड्रीनल (adrenal) ग्लैंड ऐड्रीनैलिन (adrenalin) नामक हार्मोन का स्राव करते है जिससे खन मे शक्कर अधिकता से आ जाती है और खून की ऑक्सीजन (oxygen) ग्रहण करने की क्षमता बढ जाती है। संचारीभावात्मक प्रतिक्रिया मे ऐड्रीनल ग्लैंड का महत्व देखा जा चुका है। इस ग्लैंड के दोषपूर्ण होने से न्यूरोनीय उद्दीपन की क्षमता घट जाती है जिससे प्राणी व्यवहार कुशलतापूर्वक नही कर पाता।

गोनड (gonads) नामक इन्डोक्रीन ग्लैंडो के हार्मोन के स्राव से स्त्री-पुरुष का भेद और उसके सूचक लक्षण प्रकट होते है। यह ग्लैंड स्त्री-पुरुष की जननेन्द्रियो के विकास और परिपक्वता से सम्बन्धित होता है। बालपन से युवावस्था मे प्रवेश करने के समय गोनडो की क्रिया का हमारे व्यक्तित्व पर भारी प्रभाव पडता है। थायरॉयड (thyroid) ग्लैंड के हार्मोन के अधिक स्राव से व्यक्ति बेचैन और कम स्राव से सुस्त बनता है।

आनुवंशिक प्रभाव—आनुवशिकता शारीरिक व्यापार है और उसका प्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्तित्व के उन्ही पक्षो पर पडता है जिनका आधार शारीरिक होता है। व्यक्ति के कद, शारीरिक गठन, आँख और खाल के रग और चेहरे-मोहरे का अपने माँ-बाप के अनुरूप होने का आधार क्रोमोजोम्स की विशेषताओ मे होता है। व्यक्ति में उसके माँ-बाप दोनो के क्रोमोजोम्स होने को आनुवशिकता (heredity) कहा जाता है।

मनोवैज्ञानिक क्षमताएँ जहाँ तक शारीरिक रचना पर निर्भर होती है वहाँ तक उन पर आनुवशिकता का परोक्ष प्रभाव अवश्य पडता है। प्रयोगात्मक खोजो से यह पाया गया है कि सगीत की विशेष योग्यता और मानसिक रोग आदि आनुवशिकता से विशेष रूप से प्रभावित होते है। सगीतज्ञो की अनेक पीढियाँ सगीत के प्रति विशेष रुझान रखते पायी गई हैं।

परिवेश का प्रभाव—हम प्राणी के प्रतिक्रियात्मक पक्ष का अध्ययन उसके परिवेश के प्रसग मे करते रहे है। परिवेश का अर्थ होता है प्राणी को परिवेष्ठित करने या घेरने वाला। प्राणी पैदा होने के समय से जीवन के अन्त तक अनेक तरह से 'घिरा' रहता है। माँ के गर्भ में प्राणी अपनी आनुवशिकता के परिवेश मे रहता है और उस समय उस पर माँ के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य और सचारीभावात्मक प्रवृत्तियो का पूरा प्रभाव पडता है।

गर्भ से वाहर आने पर प्राणी के सामने वाह्य जगत का परिवेश होता है। वाह्य परिवेश के अनेक पक्ष होते हैं, जैसे पारिवारिक, सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक इत्यादि। व्यक्तित्व को वनाने-वदलने मे वाह्य परिवेश के हर

पक्ष की शक्तियो का प्रभाव पडता है । वाह्य परिवेश प्राणी के व्यक्तित्व के विकास पर अलग अलग तरह से और विभिन्न मात्रा में प्रभाव डालते हैं ।

व्यक्तित्व के निर्माण पर घर के लोगो की मनोवृत्ति, उनकी रुचियो, सचारीभावात्मक स्थिरता, आर्थिक स्थिति, सफाई आदि का भारी प्रभाव पडता है । घर से बाहर व्यक्तित्व पर पडोसियो, मिलने-जुलने वाले लोगो, सामाजिक घटनाओ, क्रियाओ और अनुभवो का व्यापक प्रभाव पडता है । घर और शिक्षालय व्यक्तित्व को ढालने वाले मुख्य साँचे हैं । शिक्षालय में मित्रता, शिक्षा, सयम, सहयोग, प्रतिद्वन्दिता आदि से चरित्र का विकास होता है और व्यक्ति परिवेश की विभिन्नताओ के प्रति तरह तरह से सतुलित व्यवहार करना सीखता रहता है ।

घर और शिक्षालय के अतिरिक्त व्यक्ति जिस बिरादरी, सघ, राजनीतिक या धार्मिक सम्प्रदाय का सदस्य होता है या बनता है उसके व्यक्तित्व पर उन सस्थाओ के आदर्शो, मूल्यो और दृष्टिकोणो का भी प्रभाव पडता है ।

सांस्कृतिक प्रभाव—व्यक्तित्व के निर्माण मे सास्कृतिक प्रभाव का भी वडा महत्व होता है । सास्कृतिक प्रभाव से तात्पर्य रीति-रिवाजो, परम्पराओ, प्रथाओ आदि से है । हर जाति या देश की सस्कृति अलग होती है और उस जाति और देश के लोगो पर उसका प्रभाव पडता है । सास्कृतिक प्रभाव की झलक उस सस्कृति मे पले प्रत्येक व्यक्ति के व्यवहार मे थोडी वहुत अवश्य रहती है । सास्कृतिक शक्तियाँ परिवेश की शक्तियो की भाँति व्यक्ति के अत्यन्त निकट नही होती किन्तु फिर भी वे उसके व्यक्तित्व को निर्धारित कर सकती है ।

शिक्षा और उद्देश्य का प्रभाव—व्यक्तित्व पर शिक्षा का भी भारी प्रभाव पडता है । शिक्षा का क्षेत्र व्यक्ति के पढने, लिखने और विभिन्न प्रकार की कुशलताएँ अर्जित करने तक ही सीमित नही होता । शिक्षा में सयम, शिष्टाचार और सामाजिक आदते वनना भी होता है । सयम, शिष्टाचार और आदतें वच्चा अपने माँ-वाप का अनुकरण करके सीखता है । माँ-वाप वचपन में अपने वच्चे को जिस ढग से सयमित करके उसकी जैसी आदते वना देते है वे आगे चलकर वच्चे के त्व के निर्माण और विकास को निर्धारित करती हैं ।

गत्यात्मक प्रभाव—किन्तु व्यक्ति अपने आन्तरिक और वाह्य परिवेश का कठपुतला नही होता । वे उसे जिन सांचे में ढाल देते है वह वैसा ही नही वन जाता । व्यक्ति अपने परिवेश के हाथ का खिलौना नहीं होता, उसमें अपना निर्माण करने की क्षमता भी होती है । मनुष्य के दो पक्ष होते हैं—वह प्रकृति के हाथ का कठपुतला भी होता है और उसका निर्माता भी, कमजोर भी और

न्यायकर्त्ता भी, सागर की लहरो पर उछलने वाला काग का टुकड़ा भी और सागर की छाती को चीरकर अपना मार्ग निर्धारित करने वाला जहाज भी।

मनुष्य में वरण कर सकने की क्षमता होती है और वह वरण द्वारा अपने लक्ष्य और उसको प्राप्त करने की दिशा मे व्यवहार करने का निर्धारण करता है। यह ठीक है कि मनुष्य आनुवशिकता, शारीरिक क्षमताओ और विशेपताओ का वरण नही कर सकता किन्तु वह अपने व्यक्तित्व के उन निर्धारको का वरण अवश्य कर सकता है जिन पर आत्मनियत्रण कर सकना सम्भव है। आदतो को बनाने-बिगाडने, सायास व्यवहार करने, उचित ढग से सोचने आदि का आत्मनियत्रण करना सम्भव है और किया जा सकता है।

वरण द्वारा अपनी गत्यात्मक दिशा को निर्धारित करना आत्मनिर्धारण करना कहलाता है। आत्मनिर्धारण द्वारा व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति, सस्था, जाति या समाज से अपना तादात्म्यीकरण (identification) कर लेता है। तादात्म्यीकरण कर लेने से व्यक्ति अपनी मानसिक शक्ति को आत्मनिर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति करने के लिए लगाता है। आत्मनिर्धारण से चरित्र का निर्माण होता है। ईमानदारी, सच्चाई, वफादारी, जिम्मेदारी आदि चारित्रिक विशेषताएँ आत्मनिर्धारण द्वारा तादात्म्यीकरण करने का ही परिणाम होती है। आत्मनिर्धारण की क्षमता रखने से ही मनुष्य को नैतिक (ethical) प्राणी कहा जाता है क्योकि उसमें आत्मनिर्धारण द्वारा चरित्र का निर्माण करने की क्षमता होती है जो अन्य प्राणियो में नही होती।

व्यक्तित्व व्यक्ति की गत्यात्मक प्रवृत्तियो का गतिशील और परिवर्तनीय संगठन होता है। यह समझना कि 'मैं जो कुछ हूँ वही हूँ' अपने को धोखे में डालना है। व्यक्तित्व व्यक्ति और परिवेश के हजारो प्रकार के अन्तर्सम्बन्ध और उससे उत्पन्न होने वाली आन्तरिक और वाह्य स्थितियो के प्रति किए गए व्यवहार से प्रतिक्षण और प्रतिदिन निर्मित, परिवर्त्तित और आत्मनिर्धारित होता रहता है। गत्यात्मक प्रवृत्तियो की सशोधनशीलता के कारण व्यक्ति विभिन्न प्रकार की विषम स्थितियो में प्रकृत रूप से व्यवहार कर सकने योग्य वनता है। व्यक्ति के व्यवहार का प्रकृत होना उसके व्यक्तित्व से सापेक्षीकृत और निर्धारित होता है। प्रकृत व्यवहार व्यक्ति के त्व के अच्छी तरह निर्मित होने पर निर्भर होता है।

व्यक्तित्व का व्यवस्थापन

व्यक्तित्व के व्यवस्थापन को समझने के लिए मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण का आवार लेना अनिवार्य सा हो गया है। सच तो यह है कि व्यक्तित्व के

व्यवस्थापन को मनोविश्लेषणात्मक दृष्टिकोण से अलग करके समझना असम्भव सा है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से व्यक्तित्व का व्यवस्थापन इड (id), ईगो (ego) और सुपर-ईगो (super ego) से होता है। प्रकृत व्यक्तित्व में उनका व्यवस्थापन सामञ्जस्यपूर्ण रहता है। वे पारस्परिक सहयोग से क्रिया करके व्यक्ति को परिवेश से अच्छी तरह सतुलन कर सकने के योग्य बनाते हैं। किसी कारण से उनका सामञ्जस्य भग होने पर व्यक्तित्व अव्यवस्थित बन जाता है। ऐसी दशा में व्यक्ति परिवेश मे अपना सतुलन नही कर पाता जिससे उसे गहरा असन्तोष होता है और उसकी कार्यकुशलता कम हो जाती है।

इड—फ्रायट ने इड (id) को मनोशक्ति का मूल या केन्द्र माना है। इड का काम वाह्य या आन्तरिक उत्तेजना के दवाव से पैदा होने वाले तनाव को दूर करने के लिए शक्ति देना होता है। तनाव दूर होने से सुख मिलता है इसलिए फ्रायट ने इड के कार्य से मिलने वाली तृप्ति को सुखापेक्षी-सिद्धान्त (pleasure principle) कहा है। इड की शक्ति से हमारे जन्मजात प्रेरको की आवश्यकताओ की तृप्ति होती है। इड जन्मजात आवश्यकताओ की तृप्ति प्रक्षिप्त क्रियाओ द्वारा करती है। यदि हर प्रकार के तनाव प्रक्षिप्त क्रियाओ द्वारा ही दूर हो सकते तो शायद मनोवैज्ञानिक विकास की कोई आवश्यकता नही रह जाती। किन्तु प्रक्षिप्त क्रियाओ से हर प्रकार के तनाव दूर नही हो पाते। भूख लगने पर पेट में तनाव होने मात्र से खाना नही मिल जाता। खाना पाने के लिए मनुष्य और अन्य प्राणियो को प्रक्षिप्त क्रियाओ के अतिरिक्त अन्य स्तर की चेष्टाएँ भी करनी पड़ती हैं।

मनुष्य को मनोवैज्ञानिक विकास की आवश्यकता इसलिए और पड़ती है कि उसके सभी तनाव हर वार दूसरो की सहायता या प्रक्षिप्त क्रियाओ से दूर नही हो पाते। इसके लिए उसे सयम और शिक्षा का सहारा लेना पड़ता है। किन्तु सयम और शिक्षा से जहाँ कुछ तनाव घटते हैं वहाँ कुछ नए पैदा भी हो जाते हैं। मानवी विशेषताएँ और विफलताएँ इड को विकसित करने की प्रेरणा देती है। हमारी विभिन्न आवश्यकताओ की तृप्ति जिन विभिन्न वस्तुओ से होती है, हमारे मन में उनकी स्मृति-प्रतिमाएँ बन जाती है। उदाहरण के लिए खाते समय बच्चे के मन में खाद्य वस्तु के गुण, स्वाद, गन्ध आदि की स्मृति-प्रतिमाएँ बन जाती हैं। बाद में अगर बच्चे को भूख लगते ही खाना नही मिलता तो उसके सामने खाने की स्मृति-प्रतिमा आ जाती है जो भूख से उत्पन्न तनाव को कुछ हद तक कम कर सकती है। इड के लिए स्मृति-प्रतिमा और वास्तविक वस्तु में कोई भेद नही होता। स्वप्न इसके [illegible]

उदाहरण है। स्वप्न-प्रतिमाएँ बिल्कुल वास्तविक लगती है। तनाव कम करने के लिए किसी वस्तु की प्रतिमा का निर्माण करने को इच्छापूर्त्ति कहा जाता है। फ्रायट ने स्वप्नो को इसी अर्थ मे इच्छापूर्त्ति कहा है।

किन्तु मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्त्ति केवल स्मृति-प्रतिमाओ से ही नही हो सकती। भूखा व्यक्ति खाने की स्मृति-प्रतिमा मात्र से अपनी भूख शात नही कर सकता। भूख मिटाने के लिए उसे उद्योग करना पड़ता है और उद्योग करने के लिए पहले यह जानना जरूरी होता है कि वह क्या करना चाहता है। एक भूखा आदमी जिसके सामने खाने की स्मृति-प्रतिमा होती है अच्छी तरह जानता है कि वह क्या पाना चाहता है। स्मृति-प्रतिमाओ के अभाव मे व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए पशुओ की भाँति चूक-चेष्टाओ के अतिरिक्त कोई निश्चित कार्यविधि नही अपना सकता।

फ्रायट ने इड की कुछ और विशेषताएँ भी बताई है। इड मानसिक शक्ति का मूल स्रोत होती है। इड का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध शरीर से होता है उतना वाह्य जगत से नही। इड की शक्ति अव्यवस्थित और चचल होती है जिससे उसे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर बहुत आसानी से लगाया जा सकता है। समय और विकास के साथ इड में कोई परिवर्तन नही होता। वाह्य जगत से सम्पर्क न रखने के कारण इड व्यक्ति के अनुभवो से सशोधित या प्रभावित नही होती। हाँ, उसका नियत्रण और नियमन ईगो द्वारा अवश्य होता है और हो सकता है। इड का कार्य-सचालन तार्किक नियमो से नही होता और उसमे नैतिकता और मूल्यो का कोई स्थान नही होता। इड के कार्य-सचालन का केवल एक ही आधार होता है—सुखायेक्षी-सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकताओ की तृप्ति।

इड की शक्ति या तो किसी क्रिया या इच्छापूर्ति मे व्यय होती है या वह ईगो से प्रभावित होकर बँध जाती है। इड तनाव नही सह सकती। वह तत्काल तृप्ति चाहती है। वह प्रेरणारूप, अबौद्धिक, स्वार्थपूर्ण और सुखप्रिय होती है। व्यक्तित्व का निर्माण इड की नीव पर होता है। इड चितन नही करती, केवल इच्छा या कार्य करती है। इड हमारे व्यक्तित्व का गहनतम स्तर होती है। उसका थोडा-बहुत ज्ञान स्वप्नो और न्यूरोटिक लक्षणो का अध्ययन करने से ही हो सकता है।

ईगो—आवश्यकताओ से पैदा होने वाले तनाव को दूर करने के लिए इड या तो प्रभावकीय क्रिया करती है या स्मृति-प्रतिमा बनाती है। यह दोनो क्रियाएँ जीवित रहने और पुनरुत्पादन करने के विकासात्मक लक्ष्य को पूरा

करने के लिए पर्याप्त नही होती । मनुष्य की सब आवश्यकताओ की पूर्त्ति उसकी प्रक्षिप्त क्रियाओ या इच्छाओ-मात्र पर निर्भर नही होती । अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिए उसे अपने परिवेश का सहारा लेना पडता है । आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए वह अपने को या तो परिवेश के अनुकूल या परिवेश को अपनी आवश्यकताओ के अनुकूल बनाने की कोशिश करता है । व्यक्ति और परिवेश मे सक्रिय सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक नए मनोवैज्ञानिक माध्यम की जरूरत पडती है—और वह माध्यम है ईगो (ego)।

ईगो का निर्माण परिवेश की अन्तर्क्रिया से होता है किन्तु उसके प्रस्फुटन का आधार आनुवशिकता और अनुभव की परिपक्वता में होता है । इड के विपरीत ईगो का घनिष्ठ सम्बन्ध वाह्य जगत और परिवेश से होता है । ईगो का कार्यसचालन इड के कार्यसचालन के विपरीत सुखापेक्षी-सिद्धान्त (pleasure principle) से न होकर वास्तविकतापेक्षी-सिद्धान्त (reality principle) से होता है । वास्तविकतापेक्षी सिद्धान्त शक्ति के प्रवाह को तब तक रोके रखता है जब तक आवश्यकता को पूरा करने वाली वाछित वस्तु नही मिल जाती । शक्ति का प्रवाह रुकने से तनाव पैदा होता है और ईगो मे उस तनाव को सह सकने की क्षमता होती है । मनुष्य को जब तक खाने योग्य चीज नही मिल जाती तब तक वह बच्चो की भाँति किसी भी चीज को मुँह में नही रख लेता क्योंकि ईगो का विकास हो जाने से वह खाने योग्य चीज न मिल जाने तक अपने व्यवहार को रोक लेना सीख लेता है ।

ईगो वास्तविकतापेक्षी अवश्य होता है किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह सुखापेक्षी सिद्धान्त का विरोधी होता है । ईगो का काम इड की शक्ति को वास्तविकता के अनुरूप नियन्त्रित कर तनाव दूर करने (सुख पाने) का प्रयत्न करना होता है, चाहे इस प्रयत्न में पहले थोडा दुख ही क्यो न उठाना पडे । ईगो इड को वास्तविकता-सापेक्ष सुख प्राप्त करने मे सहायता देता है । वह वास्तविकता की माँग के अनुसार चिंतन करके इड की अव्यवस्थित शक्ति को व्यवस्थित ढग से वास्तविक स्थिति के अनुकूल नियन्त्रित और प्रवाहित कर व्यवहार करता है । ईगो वाह्य जगत और इड के बीच मध्यस्थ होता है ।

वास्तविकता के अनुकूल कार्य करने के अतिरिक्त इड की भाँति ईगो भी प्रतिमाओ का निर्माण करता है। दिवास्वप्न (daydreams) ईगो द्वारा निर्मित प्रतिमाएँ ही होते है । ईगो का प्रतिमा निर्माण करने का काम सुखापेक्षी-सिद्धान्त के अन्तर्गत होता है । किन्तु ईगो और इड के प्रतिमा निर्माण मे एक बडा अन्तर है । ईगो प्रतिमा और वास्तविकता के भेद को जानता है

जबकि इड प्रतिमा और वास्तविकता मे कोई भेद नही कर पाती । इड के लिए प्रतिमा वास्तविकता होती है । ईगो अपनी निर्मित प्रतिमाओ को सुखद और विनोदपूर्ण कल्पनाएँ ही समझता है जो उसको उसके गम्भीर कार्यों से कुछ देर के लिए छुट्टी दिला देती है ।

सुपरईगो—व्यक्तित्व का एक नैतिक पक्ष भी होता है जिसे सुपरईगो (superego) कहा जाता है । सुपरईगो हमारे आदर्शों का प्रतिनिधि होता है, वास्तविकता का नही । सुपरईगो का मुख्य लक्ष्य सुख या वास्तविकता की कामना न कर पूर्णता प्राप्त करना होता है । सुपरईगो का निर्माण ईगो से ही होता है । बच्चा नैतिक धारणाएँ अपने माँ-बाप या बड़े-बूढो से सीखता है । माँ-बाप जिसे अच्छा कहते है वह बच्चे के लिए अच्छा और जिसे बुरा कहते है वह बुरा होता है । बच्चा माँ-बाप के नैतिक मापदडो का अपने अन्दर अत -करण करके माँ-बाप का अनुमोदन पाने के लिए अपना व्यवहार उनकी इच्छानुकूल करता है । माँ-बाप पर निर्भर रहने के दीर्घकाल में बच्चे का सुपरईगो निर्मित होने लगता है ।

सुपरईगो के दो पक्ष होते है एक ईगो-आदर्श (ego-ideal) और दूसरा विवेक (conscience) । बच्चे का ईगो-आदर्श माँ-बाप के नैतिक मापदडो को ग्रहण करने से बनता है । माँ-बाप अपने मापदडो के अनुसार अच्छा आचरण करने पर बच्चे को पुरस्कृत कर उसका ईगो-आदर्श बनाने में सहायता देते है । रोज नहाने पर अगर बच्चे को पुरस्कार मिले तो नहाना उसका ईगो-आदर्श बन जायगा । विवेक का निर्माण बच्चे के अन्दर तब होता है जब माँ-बाप द्वारा उसे किसी बुरे काम के लिए दड मिलता है । माँ-बाप के मापदडो के अनुसार अच्छा आचरण बच्चे के ईगो-आदर्श को और बुरा आचरण विवेक को निर्मित करता है ।

पुरस्कार पाने से सुख मिलता है जिससे तनाव कम होता है । दड मिलने पर दुख होता है जिससे तनाव पैदा होता है । दड-जन्य तनाव से बचने के लिए बच्चो को माँ-बाप और वडे-बूढो की इच्छानुकूल और हमे समाज-अनुमोदित ढग से व्यवहार करना पडता है । पुरस्कार और दड दो तरह के होते है भौतिक और मनोवैज्ञानिक । भौतिक पुरस्कार से भौतिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति होती है । बच्चे को खिलौने या मिठाई देना भौतिक पुरस्कार और भाषा या मुखमुद्रा द्वारा समर्थन प्रकट करना या प्यार करना मनोवैज्ञानिक पुरस्कार होता है । शारीरिक पीडा पहुँचाना या कोई चीज छीन लेना या न देना भौतिक दड और डाटना, प्यार न करना या घृणाभाव प्रकट करना आदि मनोवैज्ञानिक दड होता है ।

सुपरईगो का काम हमारी उन चचल प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति को नियन्त्रित करना होता है जिनसे सामाजिक या नैतिक व्यवस्था भग होने का खतरा रहता है। वे प्रवृत्तियाँ मुख्यत. सेक्स और युयुत्सा है। सुपरईगो व्यक्ति पर आन्तरिक नियंत्रण लगाकर उसे उच्छृखल होने से रोकता है। ऐसा करने के लिए सुपरईगो भी पुरस्कार और दड का सहारा लेता है। सुपरईगो के पुरस्कार का रूप अभिमान और दंड का रूप पाप या हीनता की भावना होता है। अच्छा काम करने वाले व्यक्ति मे अभिमान पैदा होता है जो उसे सुपरईगो द्वारा दिया गया पुरस्कार होता है। जघन्य काम करने वाले के मन मे अपने काम के प्रति लज्जा, घृणा और पश्चाताप की भावना पैदा होती है जो उसे सुपरईगो द्वारा दिया गया दड होता है। इस प्रकार सुपरईगो व्यक्तित्व में अन्तर्निहित परम्परागत आदर्शों और नैतिक मूल्यो का सरक्षक होता है।

इड व्यक्ति के जैविक (biological) पक्ष की, ईगो व्यक्ति और परिवेश के सक्रिय सम्बन्ध जन्य वास्तविकता का और सुपरईगो सामाजिकता और सास्कृतिक परम्परा का प्रतिनिधि होता है। तीनो मे कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती। वे केवल विभिन्न स्तर की मानसिक गत्यात्मकता का वर्णन करने का ढग मात्र है।

व्यक्तित्व का विकास—इड शक्ति का केन्द्र या मूल होती है। मूल प्रवृत्तियो से उत्पन्न होने वाली आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए इड की शक्ति का उपयोग प्रक्षिप्त क्रियाओ और प्रतिमा-निर्माण द्वारा इच्छापूर्त्ति के रूप में होता है। प्रक्षिप्त क्रियाओ द्वारा इड की शक्ति का निकास किसी प्रभावकीय क्रिया द्वारा जैसे खाना खाने मे या सम्भोग के समय स्खलन में होता है। इड की शक्ति चचल होती है जिससे उसे एक दिशा से दूसरी दिशा की ओर बडी आसानी से लगाया जा सकता है। शक्ति का एक दिशा से दूसरी दिशा में लगना विस्थापन (displacement) कहलाता है। बच्चे को अगर दूध की बोतल न मिले तो वह अपना अँगूठा ही चूसने लगता है क्योंकि वह बोतल और अँगूठे में भेद नही कर पाता जिससे बोतल और अँगूठा उसके लिए एक ही अर्थ रखते है। इड द्वारा विभिन्न वस्तुओ में भेद न कर सकने और उन्हे एक ही समझने को विधेय-चिंतन (predicate thinking) कहा जाता है। विधेय-चिंतन द्वारा व्यक्ति दो वस्तुओ में समता देखकर उन्हे एक ही समझता है। गुफा और योनि में कुछ समानता होने से या घुड़सवारी करने और सम्भोग क्रिया मे आरोह-अवरोह गति की समानता होने से एक को दूसरे का स्थानापन्न समझना विधेय-चिंतन के उदाहरण है। विधेय-चिंतन स्वप्नों में विशेष रूप से मिलता है। विधेय-चिंतन जाग्रतावस्था में भी किया जाता है

जिससे व्यक्ति दो बातो मे ठीक से भेद कर सकने के योग्य नही रह जाता। लाल बाल वाले लोगो के स्वभाव को उग्र मान लेना क्योकि लाल रग उग्र होता है विधेय-चिंतन का परिणाम है। साम्प्रदायिक भावनाओ मे विधेय-चिंतन का काफी हाथ रहता है।

ईगो के पास अपनी कोई शक्ति नही होती। ईगो का विकास और कार्य इड से शक्ति मिलने पर ही सम्भव होता है। ईगो को निर्मित करने वाले व्यापार जैसे स्मृति, भेद करना, चिंतन करना, कल्पना करना आदि जन्मजात और अप्रकट होते है। उनका जटिल कार्य इड से शक्ति मिलने पर ही सम्भव होता है। ईगो के सक्रिय होने का आधार तादात्म्यीकरण (identification) मे होता है। इड आन्तरिक और वाह्य परिवेश मे भेद नही कर पाती। भूखे व्यक्ति के मन मे खाने की स्मृति-प्रतिमा बनती है किन्तु स्मृति-प्रतिमा बना लेने से ही तृप्ति नही मिलती। तृप्ति पाने के लिए भूखे व्यक्ति को वाह्य परिवेश में स्मृति-प्रतिमा से तादात्म्य रखने वाली किसी खाने की चीज की तलाश करनी पडती है। इस प्रकार इड को अपनी तृप्ति के लिए आन्तरिक और वाह्य परिवेश मे विभेद करने और सतुलित व्यवहार कर सकने के लिए दोनो परिवेशो मे सामञ्जस्य स्थापित करने की जरूरत पडती है। यह सामञ्जस्य तभी स्थापित हो सकता है जब मानसिक प्रतिमा या विचार और वाह्य परिवेश की वास्तविकता मे सही सही तादात्म्यीकरण हो सके। इस जरूरत को पूरा करने के लिए इड को अपनी शक्ति प्रतिमा-निर्माण (इच्छा-पूर्त्ति) मात्र में ही न लगाकर वाह्य जगत का सही मानसिक चित्रण करने मे भी लगानी पड़ती है। यहाँ इच्छापूर्त्ति का स्थान तार्किक चितन को मिल जाता है। इड-की शक्ति के इस प्रकार सज्ञात्मक (cognitive) व्यापारो में लगने से ईगो का विकास होना शुरू होता है। शक्ति का इड से ईगो की ओर पुनर्वितरित होना व्यक्तित्व के गत्यात्मक विकास में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

ईगो के कार्यो से इड की आवश्यकताओ की तृप्ति अच्छी तरह और अधिक सफलता से होने से इड के शक्ति भण्डार से ईगो को दिनोदिन ज्यादा शक्ति मिलती है। प्रकृत दशाओ में ईगो इड के शक्ति भण्डार पर अपना बहुत बडा अधिकार कर लेता है और तब मूलप्रवृत्तियो को तृप्त करने के अतिरिक्त ईगो उस शक्ति का व्यय अन्य कामो के लिए भी करता है। ईगो शक्ति का व्यय सज्ञा करने, ध्यान देने, सीखने, याद रखने, चितन करने, कल्पना करने आदि मनोवैज्ञानिक व्यापारो को विकसित करने के लिए करता है जिससे ज्ञानवृद्धि के साथ साथ व्यक्ति के लिए उसके परिवेश का अर्थ वदलता जाता है और वह

परिवेश को बहुत बडी सीमा तक अपने अनुकूल बना सकने के काबिल बन जाता है। वैज्ञानिक आविष्कार इसके ज्वलन्त उदाहरण है।

ईगो शक्ति की कुछ मात्रा न्यूरोनीय प्रेरणाओ का अवरोध (inhibition) करने के लिए भी लगाता है जिससे वे प्रभावकीय द्वारो से प्रवाहित न हो सकें। अवरोध करने का प्रयोजन यह होता है कि वास्तविक स्थिति को समझकर काम करने से पहले कोई निश्चित योजना बना ली जाय जिससे काम सुविधा और अधिक कुशलता से सम्पन्न हो सके। ईगो शक्ति की कुछ मात्रा अपने साथ इड और सुपरईगो का सगठन करने के लिए लगाता है। इस सगठन से आन्तरिक सामञ्जस्य स्थापित होता है जिससे वाह्य परिवेश का सामना और अच्छी तरह किया जा सकता है। ईगो के अधिक सशक्त होने से इड की शक्ति घटने लगती है। अधिक सशक्त न बन पाने से ईगो यदि इड की आवश्यकताओ की तृप्ति सफलतापूर्वक नही कर पाता तो इड बचकाने स्तर पर इच्छापूर्ति ही कराती रहती है जिससे व्यक्ति के व्यवहार करने का ढग परिपक्व नही हो पाता। नीद में ईगो कुशलतापूर्वक कार्य नही कर पाता जिससे इड अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मतिभ्रमात्मक (hallucinatory) प्रतिमाओ को उत्पन्न करती है जिनकी अभिव्यक्ति स्वप्नो के माध्यम से होती है।

माँ-बाप और बडे-बूढो के नैतिक मापदडो और आदर्शो से तादात्म्यीकरण (identification) करने से सुपरईगो का निर्माण होता है। माँ-बाप की भाँति सुपरईगो भी पुरस्कार और दड देता है। सुपरईगो अपना पुरस्कार ईगो-आदर्श (ego-ideal) द्वारा और दड विवेक (conscience) द्वारा देता है। विवेक इड और ईगो दोनो का विरोध करता है और सुखापेक्षी अथवा वास्तविकतापेक्षी दोनो सिद्धान्तो से प्रेरित कार्यों को रोकने की चेष्टा करता है। विवेक द्वारा लगाए गए अवरोध और ईगो द्वारा (इड पर) लगाए गए अवरोध में भेद होता है। ईगो अवरोध द्वारा तत्कान्न होने वाली प्रभावकीय क्रिया या विचार को निश्चित योजना बना लेने तक के लिए ही रोकता है किन्तु विवेक अवरोध द्वारा विचार को कार्यान्वित होने ही नही देता। ईगो मूलप्रवृत्तियो को आदेश देता है 'ठहरो', विवेक का आदेश होता है 'नही'।

ईगो और सुपर ईगो को इड की शक्ति तादात्म्यीकरण द्वारा मिलती है। शक्ति मिलने पर ईगो और सुपरईगो इड के उद्देश्य को या तो पूरा या पराजित कर सकते है। यह तो देखा ही जा चुका है कि ईगो मूलप्रवृत्तियो की तृप्ति के लिए इड का साथ देता है। ऐसा लग सकता है कि सुपरईगो

नतिकताप्रिय होने से सुखाकाक्षी मूलप्रवृत्तियो का शायद हमेशा विरोध करता हो । किन्तु ऐसा नही है । इड मूलप्रवृत्तियो की तृप्ति के लिए सुपरईगो से भी काम लेती है । सुपरईगो भी इड की तृप्ति का माध्यम बन सकता है । इड व्यक्ति के सुपरईगो से अनैतिक कार्यों और कामी या दुराचारी लोगो की निन्दा करवा कर अपनी ही अनैतिक और कामुक प्रवृत्तियो को तृप्त करती है ।

इड और सुपरईगो दोनो मे एक सामान्य विशेषता यह होती है कि वे वास्तविकता पर पर्दा डालने की कोशिश करते हैं । दूसरे शब्दो में वे ईगो के वास्तविकतापेक्षी चितन मे बाधक बनते है । ईगो परिवेश को जैसा वह होता है वैसा ही देखता है, सुपरईगो परिवेश को अपनी इच्छानुकूल जैसा होना चाहिए ईगो को वैसा ही देखने को विवश करता है । इसी प्रकार इड भी जगत को जैसा खुद देखना चाहती है ईगो को वैसा ही देखने को मजबूर करती है ।

मनुष्य का शक्ति-भण्डार सीमित होता है । अगर ईगो को ज्यादा शक्ति मिलती है तो इड या सुपरईगो या दोनो कमजोर हो जाते है । व्यक्तित्व के गत्यात्मक विकास मे शक्ति का वितरण परिवर्तित होता रहता है । मनुष्य का व्यवहार उसकी गत्यात्मकता से निर्धारित होता है । अधिकाश शक्ति का नियत्रण सुपरईगो द्वारा होने पर व्यक्ति का आचरण नैतिकता-प्रधान, इड द्वारा होने पर मूलप्रवृत्यात्मक और ईगो द्वारा होने पर वास्तविकता प्रधान होता है । व्यक्ति जो कुछ है और जो भी करता है वह उसकी शक्ति-वितरण की अभिव्यक्ति होता है ।

व्यक्तित्व के परिवर्तक

अब तक हमने मनोवैज्ञानिक विकास के जिन विभिन्न पक्षों का विवेचन किया है वे सभी मनुष्यो मे पाए जाते है । यद्यपि सब मनुष्यो की मानसिक क्रियाएँ एक ही प्रकार के मनोवैज्ञानिक नियमो से सचालित और नियत्रित होती है किंतु फिर भी मनुष्यो में एक दूसरे से बहुत बडा भेद होता है । हर मनुष्य अनन्वय होता है और उसकी कुछ अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ होती है जिनके कारण उसका अन्य लोगो से भेद होता है । मनुष्यो मे पारस्परिक व्यक्तिगत भेद का कारण बनने वाली विशेषताओ को व्यक्तित्व के परिवर्तक (variants) कहा जाता है ।

वैज्ञानिक अध्ययन के लिए किसी न किसी परिवर्तक के आधार पर वर्गीकरण करना आवश्यक होता है । मनुष्यो का वर्गीकरण विभिन्न दृष्टिकोणो से हमेशा किया जाता रहा है । वर्गीकरण का अभिप्राय सक्षिप्त रूप से वर्णन करना होता है जो वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है । गणित, रसायन तथा अन्य विज्ञानो मे जो वर्गीकरण किया जाता है उसमे स्थिरता होती है । किन्तु जैविक-

सामाजिक (biosocial) या शारीरिक परिवर्तको के आधार पर मनुष्यो का वर्गीकरण करना एक तो मुश्किल होता है और दूसरे उसमे मनुष्यों के वास्तविक भेद पर कोई समुचित प्रकाश भी नही पडता ।

वर्गीकरण द्वारा किसी तथ्य की उसी श्रेणी के तथ्यो से समानता और अन्य श्रेणियो के तथ्यो से भेद दिखलाना होता है । यदि दो तथ्यो मे गुणात्मक (qualitative) अन्तर हो तो उनके बीच निश्चित विभाजन रेखा खीची जा सकती है । नमकीन और मीठे मे गुणात्मक अन्तर होता है इसलिए दोनो में विभाजन रेखा खीचना आसान होता है । किन्तु जहाँ दो तथ्यों मे केवल सापेक्षिक या परिमाणात्मक (quantitative) अन्तर हो तो उनके बीच निश्चित विभाजन रेखा खीचना मुश्किल ही नही भ्रामक भी होता है ।

एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य से जो भेद होता है वह गुणात्मक न होकर सापेक्षिक होता है, इसलिए मनुष्यो का वर्गीकरण करना अत्यन्त भ्रामक है । हम मनुष्यो को 'छोटा', 'बडा' कहते है, किन्तु 'छोटा', 'बडा' सापेक्षिक शब्द है । नाटे आदमी से तुलना करने पर छोटा आदमी 'छोटा' नही रहता और पेड से तुलना करने पर बडा आदमी 'बडा' नही रहता । सापेक्षिक शब्दो का व्यावहारिक महत्व तो होता है किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन मे उनका प्रयोग भ्रामक बन सकता है । सापेक्षिक तथ्यो के वर्गीकरण मे पहली भ्रामक बात यह है कि सापेक्षिक भेद को गुणात्मक भेद समझा जा सकता है जिसमे तथ्यो का पारस्परिक सम्बन्ध अस्पष्ट बन जाता है । दूसरे, वर्गीकरण किसी तथ्य को ज्यादा अच्छी तरह समझने-समझाने के लिए किया जाता है किन्तु अक्सर यह देखा गया है कि किसी तथ्य का वर्गीकरण करने मात्र से लोगो की जिज्ञासा सन्तुष्ट हो जाती है और वे उसे आगे नही समझना चाहते । किसी तथ्य का वर्गीकरण करना मात्र उसे समझ लेना नही है । तीसरे, जिन तथ्यों का वर्गीकरण किया जाता है वे अक्सर बहुत जटिल होते है । जटिल तथ्यो का वर्गीकरण बाह्य परिवर्तको (variants) के आधार पर किए जाने की सम्भावना रहती है । वर्गीकरण बाह्य परिवर्तको के आधार पर न कर हमेशा आन्तरिक परिवर्तको के आधार पर करना चाहिए ।

मनोविज्ञान का इतिहास बाह्य परिवर्तको के आधार पर मनुष्यो का तरह तरह से वर्गीकरण करने की चेष्टाओ से भरा पडा है । वात्स्यायन ने स्त्री-पुरुषो के जो भेद किए है वे बाह्य परिवर्तको के आधार पर वर्गीकरण करने का अच्छा नमूना है । वात्स्यायन ने स्त्रियों को पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी और पुरुषो को शश, मृग, वृष और अश्व वर्गों में रखकर प्रत्येक की अलग अलग विशेषताएं बताई है । [illegible] के लिए इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ होती है —

कमल नयन युक्त क्षुद्र रन्ध्रा च नासा,
कृशतनु मृदुवाणी दीर्घकेशा शुभागी।
परिहित मतियुक्ता पद्मधा सुवेशा,
अविरल कुच युग्मा कीर्तित पद्मनी सा।

इसी प्रकार वात, कफ, पित्त के आधार पर भी वर्गीकरण किया गया मिलता है। वात प्रकृति का मनुष्य कृशगात, द्रुतभाषी, चचलमन और कम सोने वाला होता है। कफ प्रकृति का व्यक्ति सुडौल अग-प्रत्यग वाला, आकर्षक और बलवान होता है। वह गम्भीर और क्षमाशील होता है। उसका हृदय करुणा और दया से भरा रहता है। पित्त प्रकृति का मनुष्य क्रोधी, लाल नेत्र वाला, ज्यादा खाने वाला होता है। वह विद्वान होता है। उसके बाल जल्द सफेद हो जाते है और उसे पसीना अधिक आता है।

भरत मुनि ने तो अपने 'नाट्य शास्त्र' मे स्त्रियो का वर्गीकरण स्वभाव के अनुसार करके उन्हे शेरनी, हिरनी और गाय के वर्गो तक मे रख दिया है। उदाहरण के लिए जिस स्त्री की त्वचा रूक्ष, वाणी कर्कश' आखे हल्के कत्थई रग की हो वह शेरनी के स्वभाव की होती है, जिसकी नाक चपटी, उदर प्रदेश छोटा, बाल कम, आँखे बडी और लाल रग की हो'' उसका स्वभाव हिरनी के समान होता है, जिसके नितम्ब बड़े, मॉसल और उठे हुए '''हाथ और पैर छोटे हो उसका स्वभाव गाय का सा होता है।

आज भी कुछ विज्ञ इन्डोक्रीन ग्लैंडो के आधार पर मनुष्यो का वर्गीकरण करते है। व्यक्ति के विकास पर इन्डोक्रीन ग्लैडो की क्रियाओ का जो प्रभाव पडता है उससे कौन इन्कार कर सकता है ? किन्तु व्यक्ति के विकास पर आनुवशिक तथा गत्यात्मक पक्ष और परिवेश के जो प्रभाव पड़ते है क्या उनकी उपेक्षा कर व्यक्ति को केवल उसके इन्डोक्रीन ग्लैडो की क्रियाओ के आधार पर ही अच्छी तरह समभा जा सकता है ? नही।

मूलत सब मनुष्यो मे समानता होती है। किन्तु उनमे अनेक प्रकार के भेद भी होते है और सौ आदमियो के भेदो का अध्ययन कर लेने पर भी एक सौ एकवे आदमी के भेद का अध्ययन करना एक समस्या बनी रहती है। मूर्ख और बुद्धिमान मनुष्य मे कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नही खीची जा सकती क्योकि उन दोनो मे सापेक्षिक भेद होता है, किंतु वह भेद इतना बडा होता है कि एक को दूसरे के आधार पर समभा नही जा सकता। मनुष्यो के भेदो का अध्ययन करते समय हमें उनकी मूल समानताओ की उपेक्षा नही करनी चाहिए, नही तो उनके भेद को ठीक तरह से समभना जरा कठिन हो जायगा। उनके भेद को उनकी 'बहुमुखी समानताएँ' कहना ज्यादा ठीक होगा।

अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता—यूक ने व्यक्तित्व के एक प्रकार के आन्तरिक परिवर्तको को अन्तर्मुखता (Introversion) तथा वहिर्मुखता (Extraversion) नाम दिया है जो मनोविज्ञान में अत्यन्त प्रचलित है। यूक के ही शब्दो मे "मनुष्यो का एक वर्ग ऐसा है जो किसी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने से पहले कुछ झिझकता सा है, मानो मन ही मन वह प्रतिक्रिया करने से इन्कार कर रहा हो।..मनुष्यो का एक दूसरा वर्ग ऐसा है जो किसी भी स्थिति मे तत्काल प्रतिक्रिया करने को तैयार हो जाता है और ऐसा लगता है मानो उसे अपने व्यवहार के बिलकुल ठीक होने पर पूरा विश्वास हो पहले वर्ग का रुझान अन्तर्मुखी होता है और दूसरे का वहिर्मुखी।"

मनुष्यो का अन्तर्मुखी (introvert) या वहिर्मुखी (extravert) होना उनका सापेक्षिक भेद होता है। यदि हम अत्यन्त अन्तर्मुखी व्यक्ति को एक रेखा के एक ओर के अन्तिम विन्दु पर और अत्यन्त वहिर्मुखी व्यक्ति को दूसरी ओर के अन्तिम विन्दु पर रक्खे तो शेष व्यक्तियो को दोनो विन्दुओ को मिलाने वाली सीधी रेखा पर कही न कही रक्खा जा सकेगा। जो लोग रेखा के दोनो विन्दुओ के बीच मे रक्खे जायगे उन्हे उभयमुखी (ambivert) कहा जायगा। मनुष्यो का इस तरह वर्गीकरण करना वैज्ञानिक दृष्टि से अस्पष्ट है। इस प्रकार उनके अन्तर्मुखी या वहिर्मुखी होने की ठीक परीक्षा नही की जा सकती क्योकि उन दोनो में कोई गुणात्मक भेद नही होता। अन्तर्मुखी या वहिर्मुखी होने की सापेक्षिक परीक्षा मनुष्यो के व्यवहार को देखकर की जाती है।

अन्तर्मुखी (introvert) मनुष्य संकोची तथा लज्जालु होता है। वह नयी स्थितियो को नापसन्द करता है और उनके प्रति सावधान रहता है, कभी कभी उनसे डरता भी है। वह एकान्त-प्रेमी होता है और कम लोगो से सम्पर्क रखता है। वह विचार और कल्पना-प्रधान होता है। वह ज्यादा सवेदनशील होता है। जरा जरा सी वात भी उसे जल्दी लग जाती है और वह चिंतित हो उठता है। वह हठी होता है और वहस करना पसन्द करता है। वह नवीन विचारो का समर्थक होता है और प्राचीन रीति-रिवाजो एव परम्परागत वातो का ज्यादा आदर नही करता। वह कर्म की अपेक्षा उद्देश्य के प्रति ज्यादा सजग रहता है और उसका दृष्टिकोण आलोचनात्मक होता है। उसमे अपने आदर्शो और मूल्यो के प्रति अधिक उत्तरदायी भावना होती है।

वहिर्मुखी व्यक्ति खूब मिलनसार होता है। वह हर काम मे रुचि लेता है और जरा जरा सी वात पर चिंतित नही होता। वह ज्यादा बातचीत करना पसन्द करता है और दूसरो की वातो से जल्दी प्रभावित हो जाता है। उसका

दृष्टिकोण कुछ रूढ़िवादी होता है और वह परम्परा का आदर करता है। वह अपने कर्म और उद्देश्यो के प्रति ज्यादा सजग नही रहता। वह हर समय दूसरो की सहायता करने को तैयार रहता है। वह असंख्य व्यक्तियो के सम्पर्क में आना चाहता है। ऐसा ही व्यक्ति हमारे व्यापारिक और सामाजिक जीवन को अधिक सफलता से चलाता रहता है। वह अपनी बातो तथा कर्मो पर अन्तर्मुखी व्यक्ति के विपरीत आलोचनात्मक दृष्टि कम डालता है।

अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी दोनो ही प्रकार के व्यक्तियो मे कुछ अच्छाइयाँ-बुराइयाँ होती है। बहिर्मुखी व्यक्ति की सबसे बडी बुराई उसका ऊपरी दिखावा, गम्भीरता और आत्म-आलोचना की कमी होती है। अन्तर्मुखी व्यक्ति की बुराई उसकी एकान्तप्रियता और समाज से अलग रहने की इच्छा होती है। स्वस्थ सामाजिक जीवन के लिए दोनो प्रकार के व्यक्तियो का महत्व होता है। यद्यपि एक प्रकार के व्यक्ति दूसरे प्रकार के व्यक्ति को ठीक से समझ नही पाते और उनमें गलतफहमियाँ पैदा हो जाती है लेकिन सामाजिक दृष्टि से वे एक दूसरे के पूरक होते है।

उपर्युक्त वाते अत्यन्त अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी व्यक्तियो पर ही लागू होती है। अधिकाश व्यक्ति अत्यन्त अतर्मुखी-बहिर्मुखी नही हुआ करते। यद्यपि व्यक्तित्व के अतर्मुखी तथा वहिर्मुखी परिवर्तको का भेद सापेक्षिक है कितु है वह बडे महत्व का। यह भेद व्यक्ति के पूरे जीवन को प्रभावित करता है और इसी के आधार पर मनुष्य-मनुष्य की रुचियो, प्रवृत्तियो, भावनाओ, आदर्शों, दृष्टिकोणो और व्यवहार मे वडा अन्तर पड जाता है। अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता का अनुमान कर सकना उतना आसान नही है जितना कि ऊपर दिए गए वर्णन से लग सकता है। इस विपय मे वहुत सी भ्रामक धारणाएँ फैली हुई है। कुछ मनोविज्ञानी अन्तर्मुखी व्यक्ति में अहम् भाव देखते है और बहिर्मुखी व्यक्ति के व्यवहार को ज्यादा प्रकृत (normal) और सतुलित मानते है। कुछ विद्वान अन्तर्मुखी व्यक्ति को स्वार्थी और वहिर्मुखी को निस्वार्थी मानते है। किन्तु इस प्रकार की धारणाएँ विल्कुल निराधार है।

यूक के अनुसार अन्तर्मुखी-वहिर्मुखी व्यक्ति का मुख्य भेद उनके अवधान और रुचि की दिशा मे होता है। फ्रायट की भाँति यूक ने भी रागात्मक मानसिक शक्ति को लिविडो (libido) कहा है। अन्तर्मुखी व्यक्ति मे लिविडो का प्रवाह आन्तरिक दिशा की ओर होता है और वहिर्मुखी व्यक्ति में वाहरी दिशा की ओर। इसीलिए अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने मे ही केन्द्रित होता है और वहिर्मुखी का केन्द्र वाह्य जगत मे होता है। यूक ने अन्तर्मुखता-वहिर्मुखता को व्यक्ति के मनोभौतिक निर्माण की आनुवशिक विशेषता माना है।

व्यक्ति अवधान तथा रुचि की दिशा को आनुवशिक रूप मे प्राप्त करता है—इसे स्वीकार नही किया जा सकता । अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता का निर्धारण व्यक्ति की रुचि तथा अवधान की दिशा से न होकर उसकी मानसिक क्रियाओ के साथ रहने वाले चेतनता के अश से होता है । यह देखा जाता है कि कुछ लोगो के व्यवहार में चेतनता का अश ज्यादा रहता है और कुछ लोगो के व्यवहार में ज्यादा नही रहता । चेतनता का अश ज्यादा रहने से लोग अपने व्यवहार और उसके परिणाम को अच्छी तरह समझते है । चेतनता का अश कम रहने से लोग अपने व्यवहार और उसके परिणाम को अच्छी तरह नही समझते । अन्तर्मुखी व्यक्ति के व्यवहार में चेतनता का अश ज्यादा रहता है और बहिर्मुखी में कम ।

यूक के प्रतिकूल अवधान तथा रुचि की दिशा को जन्मजात मानने का कोई आधार नही है । यदि अवधान और रुचि की दिशा जन्मत प्राप्त होने वाली होती तो वह बहुत छोटे बच्चो में भी स्पष्टत पाई जाती । किन्तु ऐसा नही होता । छोटे बच्चो की रुचि और अवधान की दिशा सदा बहिर्मुखी ही होती है । बच्चे वयस्क लोगो की भाँति एकान्तप्रिय तथा विचार-प्रधान नही होते । किन्तु बडे होने पर कुछ बच्चो की अवधान तथा रुचि की दिशा आत्मकेन्द्रित बनती है और कुछ की बाह्य-केन्द्रित । जो व्यक्ति अन्तर्मुखी होता है उसमे चेतनता का अश जन्मत ज्यादा होता है । चेतनता का अश ज्यादा होने से वह किसी एक स्थिति के प्रति अत्यन्त सजग हो जाता है जिसके कारण वह अधिकाश अन्य स्थितियो से अपना सतुलन अच्छी तरह स्थापित नही कर पाता । किन्तु व्यक्ति अपनी मानसिक स्थितियो के प्रति ध्यान देने मे उतना सजग नही रहता जितना बाह्य स्थितियो पर ध्यान देने में रहता है । चेतनता का अश ज्यादा होने से व्यक्ति धीरे धीरे यह जान लेता है कि वह बाह्य स्थितियो की अपेक्षा अपनी मानसिक स्थितियो के प्रति अपना सतुलन अधिक आसानी से कर सकता है इसलिए ऐसे व्यक्ति में उसके मानसिक तथ्य बाह्य तथ्यो के स्थानापन्न बन जाते है ।

अन्तर्मुखी व्यक्ति की इस आत्म-चेतनता का परिणाम यह होता है कि वह बाह्य जगत की अपेक्षा अपने मानसिक जगत को ज्यादा महत्व देने लगता है । किन्तु सामाजिक प्राणी होने से वह अपने मानसिक जगत में ही लिप्त रहकर अपना काम नही चला सकता । उसे समाज मे उठना-बैठना पडता है और तब वह सामाजिक जीवनयापन की समस्याओ की जटिलता का सामना करने के लिए जहाँ तक बन पडता है उनका सरलीकरण करता है । वह अपने को ज्यादा आदमियो की सोहबत में ठीक से रखा नही पाता । आत्मचेतन के

दौरान मे अनेक प्रसग छिडते रहते है और व्यक्ति को अपना ध्यान जल्दी जल्दी एक प्रसग से दूसरे पर ले जाना पडता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति को ऐसा कर सकने मे जरा कठिनाई होती है और ध्यान या रुचि की दिशा परिवर्तन करने से कभी कभी उसकी मानसिक क्रियाओ का अवरोध हो जाता है जिससे उसे वडी बेचैनी सी मालूम होती है। इन्ही कुछ कारणो से अन्तर्मुखी व्यक्ति अपने मानसिक जगत मे ही ज्यादा स्वच्छन्दता से विचरण कर सकता है।

बुद्धि (Intelligence)—व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण परिवर्तक (variant) वुद्धि है। बुद्धि की अनेक परिभाषाएँ दी जा चुकी है। कुछ विद्वान वुद्धि को एक विशेष क्षमता या योग्यता, कुछ सीखने की शक्ति और कुछ सम्वन्ध जान सकने की शक्ति कहते है। कुछ परिभाषाओ में बुद्धि को जन्मजात भी वताया गया है। किंतु अधिक ऊहापोह मे पड़ने से कोई लाभ नही होता। वुद्धि विषयक ऊपर दी गई सब परिभाषाओ मे एक सामान्य वात यह मिलती है कि वुद्धि समस्या सुलझाने को कहते है, चाहे वे समस्याएँ शिक्षा सम्बन्धी हो, व्यक्तिगत हो, राजनैतिक हो, सामाजिक हो या अन्य किसी प्रकार की हो। इस प्रकार बहुत कुछ निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि वुद्धि कार्यात्मक कुशलता का एक स्तर होती है। बुद्धि का अध्ययन करने से हम समस्याओ का समाधान करने की योग्यता के प्रसग में अपना ही अध्ययन करते है।

वुद्धि पर आनुवशिकता का ज्यादा प्रभाव पडता है या परिवेश का ? यह प्रश्न वहुत महत्वपूर्ण है। दूसरे शब्दो मे बुद्धि आनुवशिक रूप मे मिलने वाली कोई जन्मजात शक्ति होती है या अर्जित अनुभव का परिणाम होती है ? इसका समाधान तीन प्रकार से किया जा सकता है (१) आनुवशिकता और परिवेश को यथासम्भव स्थायी रखकर, (२) आनुवशिकता को स्थायी रखकर और परिवेश को परिवर्तित करके; और (३) आनुवशिक विभिन्नता मे परिवेश को स्थायी रखकर। इस प्रकार के प्रयोग जुडवाँ वच्चो पर करके उपर्युक्त प्रश्नो का समाधान करने की चेष्टायें की गई है। यह माना जाता है कि जुडवाँ वच्चो की आनुवशिकता एक ही होती है। वाद मे उनकी वुद्धि में जो अन्तर पाया जाता है वह परिवेश के प्रभाव का परिणाम होता है।

प्रयोगो से यह पता चला है कि यदि आनुवशिकता और परिवेश एक ही हो तो वच्चो की वुद्धि मे वहुत कम अन्तर पाया जाता है। दूसरे, वच्चो को अलग-अलग परिवेशो में रखने पर यह पता चलता है कि वुद्धि पर आनुवशिकता का प्रभाव पडता है। तीसरे, आनुवशिक विभिन्नता के लिए अनेक वच्चो को

एक से परिवेश मे रखने पर यह पता चला है कि बुद्धि पर परिवेश की अपेक्षा आनुवशिकता का सापेक्ष प्रभाव ज्यादा पडता है।

मनुष्य के विकास के अनेक स्तर होते है और उसे हर स्तर की आवश्यकताओ के अनुरूप व्यवहार करके विभिन्न स्थितियो से अपना सतुलन स्थापित करना पडता है। वैज्ञानिक दृष्टि से बुद्धि उस मानवी कुशलता को कहा जाता है जिसके द्वारा मनुष्य नई-नई परिस्थितियो में अपने व्यवहार मे आवश्यक परिवर्तन करके अधिक सफलतापूर्वक सतुलित प्रतिक्रियाएँ करता है। बुद्धि को जन्मजात कुशलता मात्र नही कहा जा सकता क्योकि विभिन्न स्थितियो मे सफल सतुलन करने के लिए मनुष्य अपने अर्जित अनुभव से भी लाभ उठाता है। पूर्व अनुभव के आधार पर किसी नई स्थिति के सभी विभिन्न पक्षो को अच्छी तरह समझकर मनुष्य अपना सतुलन अधिक सफलता से करने की कोशिश करता है। सफलतापूर्वक सतुलन कर सकना चूँकि अनुभव-सापेक्ष होता है इसलिए बुद्धि को जन्मजात-मात्र मानना अतिशयोक्ति होगा। दूरदर्शिता, शीघ्रता और व्यवहार करने के ढग को बुद्धि का विशेप अग माना जाता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदर्शी होगा, दूसरो की अपेक्षा स्थिति की जटिलता को जितनी ज्यादा शीघ्रता से समझेगा और जिसके व्यवहार करने का ढग सतुलन की दिशा में दूसरो से जितना ही अच्छा और निराला होगा उसे उतना ही अधिक बुद्धिवाला कहा जायगा।

बुद्धि कोई ऐसी क्षमता नही होती जिसे अन्य मानसिक व्यापारो से अलग करके जाना जा सके। बुद्धि की धारणा मानवी व्यवहार के अन्तर का वर्णन करने के लिए बहुत उपयोगी है। मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र मानवी व्यवहार होता है। व्यवहार द्वारा मनुष्य प्रकट रूप से अपने कार्य में सफल हो सकता है या असफल। मनुष्यो के व्यवहार का अन्तर उनकी सफलता-असफलता के आधार पर जाना जाता है। जिस प्रकार से भौतिक पदार्थो की गतिशीलता की व्याख्या करने के लिए भौतिक शक्तियो की धारणा की जाती है उसी प्रकार मनुष्यो की सफलता-विफलता की व्याख्या के लिए उनमें किसी योग्यता के होने या न होने की धारणा कर लेना सर्वथा स्वाभाविक है—और वह योग्यता है बुद्धि।

बुद्धि-परीक्षण—बुद्धि के स्वरूप को जानने के लिए मनोविज्ञानियो ने बुद्धि के परिमाणात्मक परीक्षण के अनेक उपाय निकाले हैं। बुद्धि परीक्षण का इतिहास अल्फ्रेड बिने के कार्यों से प्रारम्भ होता है। बिने स्कूलो की शिक्षा की देखभाल करने वाला एक फ्रांसीसी अफसर था। उसे प्राय दिन अध्यापको से विद्यार्थियो की मानसिक क्षमता के भेदो के विषय में अनेक शिकायतें सुनने को

मिलती थी। विद्यार्थियो की मानसिक क्षमताओ मे बडा भेद होने से उन्हे सामूहिक शिक्षा देना एक समस्या थी जो कि हमारे देश मे आज भी ज्यो की त्यो बनी हुई है। बिने ने स्कूलो मे पढने वाले लडको की बुद्धि-परीक्षा करने के लिए साइमन के सहयोग से १९०५ में एक प्रश्नावली तैयार की। प्रश्नावली का आधार यह था कि उम्र बढने पर ज्ञान भी बढता है और व्यक्ति किसी प्रकार की शिक्षा न पाने पर भी अपने अनुभव से बहुत कुछ सीख लेता है। ३ और ४ साल के बच्चे के ज्ञान मे अवश्य अन्तर होगा। बिने ने अपनी प्रश्नावली ३ से लेकर १५ साल के बच्चो की बुद्धि परीक्षा के लिए बनाई थी और इसका ध्यान रक्खा था कि उत्तरो पर स्कूल से प्राप्त ज्ञान का प्रभाव न पडे। बिने केवल ११, १३ और १४ साल के बच्चो के लिए उपयुक्त प्रश्न तैयार नही कर सका था। उसकी प्रश्नावली बहुत व्यापक थी और उसमे अनुभव के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित बाते रक्खी गई थी।

बिने ने मानसिक आयु की एक महत्वपूर्ण धारणा भी दी। अगर ७ साल का बच्चा प्रश्नावली में ७ साल के बच्चो के लिए दिए गए सभी प्रश्नो के सही उत्तर दे देता है तो उसकी वास्तविक आयु और मानसिक आयु बराबर समझी जाती है। अगर ७ साल का बच्चा ९ साल के बच्चो वाले प्रश्नो का ठीक उत्तर दे दे तो उसकी मानसिक आयु ९ वर्ष की होगी और अगर ९ साल का बच्चा केवल ७ साल के बच्चो वाले प्रश्नो का उत्तर दे सके तो उसकी मानसिक आयु ७ वर्ष की होगी। मानसिक आयु अगर वास्तविक आयु से ज्यादा हो तो बच्चा प्रखर बुद्धिवाला और अगर कम हो तो मन्द बुद्धिवाला कहा जायगा। बिने का विचार था कि ९ वर्ष से कम आयु के बच्चे की मानसिक आयु अगर उसकी वास्तविक आयु से २ वर्ष कम हो और ९ वर्ष से अधिक आयु के बच्चे की अगर ३ वर्ष कम हो तो उसे बुद्धिहीन मानना चाहिए।

शुरू शुरू मे बिने के बुद्धि-परीक्षण को बडी सफलता मिली और परीक्षणो का व्यापक प्रचार हो गया। किंतु बिने के बुद्धि-परीक्षण मे बहुत सी कमियाँ थी। एक तो वह मुख्यत पेरिस नगर के बच्चो के लिए बनाया गया था इसलिए अन्य देशो के बच्चो के लिए उपयुक्त नही था। दूसरे, प्रश्नावली के सब प्रश्न समान रूप से सन्तोषजनक भी नही थे। तीसरे, बिने ने ९ वर्ष तक की आयु के सभी बच्चो के लिए वास्तविक आयु से मानसिक आयु की २ वर्ष की कमी को समान रूप से बुद्धिहीनता का सूचक बना दिया था जो उचित नही था। ५ साल के बच्चे की मानसिक आयु अगर ३ वर्ष की हो तो उसे उतना ही बुद्धिहीन मानना चाहिए जितना ९ साल के बच्चे को जिसकी मानसिक आयु ७ वर्ष की हो। दोनो ही २ साल पिछड़े है लेकिन एक ५ साल मे ही उतना पिछड

गया जितना दूसरा ६ साल में पिछडा। इसलिए दूसरे को पहले की तुलना में अधिक बुद्धिवाला मानना चाहिए। बिने की प्रश्नावली के इन दोषो को दूर करने के लिए बुद्धि-परीक्षण की प्रश्नावली में अनेक सशोधनो की आवश्यकता हुई।

टर्मन का संशोधन—विभिन्न देशो के मनोविज्ञानियो ने बिने के बुद्धि-परीक्षण का अपने देश के बच्चो की आवश्यकताओ के अनुकूल सशोधन किया है। टर्मन ने बिने की प्रश्नावली मे आवश्यक सशोधन कर उन्हे अमेरिका के बच्चो के लिए तैयार किया। टर्मन ने प्रत्येक प्रश्न की आयु-महत्ता (age value) निर्धारित कर दी, जैसे, ३ से १० साल तक के प्रत्येक प्रश्न की आयु-महत्ता २ महीने, १२ वे साल के प्रश्नो की २ महीने, १४ वें साल के प्रश्नो की ४ महीने टर्मन ने सही उत्तरो की आयु-महत्ता के जोड को बच्चे की मानसिक आयु माना। इसके अतिरिक्त उसने स्टर्न द्वारा पूर्व प्रतिपादित बुद्धि-लब्धि (Intelligence quotient) की धारणा का प्रचार भी किया। किसी बच्चे की मानसिक आयु को उसकी वास्तविक आयु से भाग देने पर जो लब्धि प्राप्त होती है वही उसकी बुद्धि-लब्धि (I. Q.) होती है। समझने-समझाने की सुविधा के लिए औसत बच्चे की मानसिक आयु १०० मानकर बुद्धि-लब्धि को प्रतिशत मे बताया जाता है। प्राप्त लब्धि को १०० से गुणा करके बुद्धि-लब्धि (I Q) का प्रतिशत निकाल लिया जाता है। उदाहरण के लिए अगर किसी ५ साल के बच्चे की मानसिक आयु ४ साल हो तो उसकी बुद्धि-लब्धि $\frac{४}{५} \times १०० = ८०$ होगी। इस प्रकार औसत बच्चे की तुलना मे वह केवल ८० प्रतिशत बुद्धिवाला होगा।

बुद्धि-लब्धि (Intelligence quotient) की धारणा बहुत व्यापक हो चुकी है और दैनिक बोलचाल मे आ गई है। बुद्धि का अध्ययन करने मे बुद्धि-लब्धि की धारणा मे बहुत सी कमियाँ मिली है और बुद्धि-लब्धि की धारणा पर अनेक आपत्तियाँ की गई है। बुद्धि-लब्धि (I. Q.) से सम्पूर्ण मानसिक योग्यताओ की जाँच नही हो पाती। थर्स्टन का कहना है कि 'यह समझना कि बुद्धि-लब्धि से कोई आधारभूत कार्यात्मक इकाई की नाप हो जाती है बहुत गलत है जबकि बुद्धि-लब्धि केवल कार्यात्मक इकाइयो का सगठन मात्र होती है।" दूसरे "बुद्धि-लब्धि की सबसे बडी कमी यह है कि उससे हमें यह पता नही चल पाता कि बच्चा किस प्रकार के मानसिक कामो को करने मे बहुत कुशल होता है और किन कामो मे कमजोर होता है।'

बुद्धि विषयक सिद्धान्त—बुद्धि-लब्धि की एकांगी धारणा से असंतुष्ट होने से अनेक मनोविज्ञानियो ने बुद्धि विषयक अनेक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है। नीचे स्टर्न, स्पियरमैन, टामसन, थार्नडाइक और थर्स्टन आदि मनोविज्ञानियो

के कुछ प्रमुख सिद्धान्तो के अध्ययन से बुद्धि के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकेगा।

(१) **एकखंडी (Unifactor) सिद्धांत**—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्टर्न ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार बुद्धि एक सामान्य या एकात्मक योग्यता होती है। चित्र ७० को देखिए। इसमे एकात्मक योग्यता यानी बुद्धि
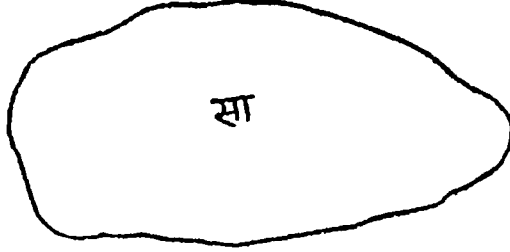
चित्र ७०

को सा (सामान्य) अक्षर द्वारा बताया गया है। सा को आवृत्त करने वाले वृत्त की टेढी-मेढी रेखा का अभिप्राय यह है कि आकृतिहीन होने से बुद्धि की परिभाषा दे सकना बहुत कठिन है। प्रत्येक व्यक्ति मे सा (सामान्य) की मात्रा अलग-अलग होती है और उसका उपयोग किसी स्थिति में कोई भी समस्या हल करने के लिए किया जा सकता है, चाहे वह समस्या गणित की हो, सामाजिक हो या व्यक्तिगत।

किंतु स्टर्न ने यह माना था कि एक ही व्यक्ति कुछ प्रकार की समस्याओ का हल ज्यादा कुशलता से कर सकता है। व्यक्ति की इस कुशलता का निर्धारण उसके परिवेश से होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि परिवेश की समुचित सुविधा मिलने पर एक व्यक्ति जिस कुशलता से कोई काम कर सकता है दूसरा व्यक्ति भी उसे उसी कुशलता से कर सकेगा। किंतु ऐसा मानने का कोई आधार नही है। एक ही परिवेश मे रहते हुए भी लोगो की बुद्धि और कार्य-कुशलता में बडा भेद हुआ करता है। अतएव एकखडी (Unifactor) सिद्धान्त अन्य प्रकार से मान्य होते हुए भी विभिन्न कामो को कर सकने की कुशलता परिवेश निर्धारण मे मानने से दोषपूर्ण है।

(२) **दोखंडी (Two-factor) सिद्धान्त**—चार्ल्स स्पियरमैन ने १९०४ मे दोखडी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बुद्धि का अध्ययन साख्यकीय (statistical) प्रणालियो से करने पर स्पियरमैन ने यह पाया कि बुद्धि में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती है जो एक दूसरे के समान तो नही होती किंतु उनका सम्बन्ध विभिन्न अनुपातो में बुद्धि के उस खंड से अवश्य होता है जिसे सा (सामान्य) खड कहा जाता है। इस प्रकार स्पियरमैन ने बुद्धि मे दो खड माने है, एक सा (सामान्य) और दूसरा वि (विशिष्ट)। स्पियरमैन की सा (सामान्य)

खड की धारणा स्टर्न की धारणा के समान ही है । चित्र ७१ को देखिए । इस चित्र में बुद्धि के सा (सामान्य) खड और वि (विशिष्ट) खडो और उनका सा खड से सम्बन्धित होने का जो विभिन्न अनुपात होता है उसे घनी रेखाओ द्वारा दिखाया गया है ।
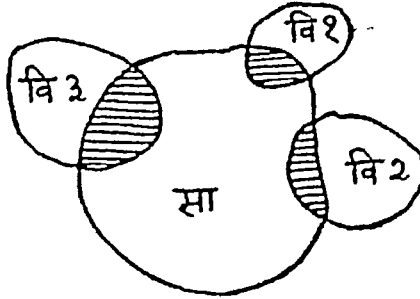
चित्र ७१

स्पियरमैन के अनुसार विभिन्न लोगो मे बुद्धि के सा (सामान्य) खंड की मात्रा अलग अलग होती है और एक ही व्यक्ति मे वि (विशिष्ट) खडो की मात्राएँ भी अलग अलग होती है । विभिन्न व्यक्तियो मे सा और वि खड की मात्रा एक सी नही होती । स्पियरमैन ने सा और वि खडो के क्षेत्रो को कोई नाम नही दिया था । अपनी खोजो से बाद में स्पियरमैन ने एक और क्षेत्र का पता लगाया
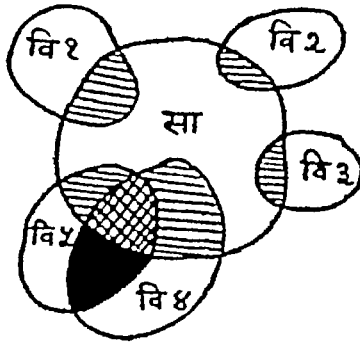
चित्र ७२

जिसे वर्ग-खड (group-factor) कहा । चित्र ७२ को देखिए । इसमें वि४ और वि५ खडो में सा (सामान्य) खड के बाहर का काला क्षेत्र वर्ग-खड है । स्पियरमैन ने इस प्रकार के पांच वर्ग-खड माने और उनके ये नाम रक्खे—मौखिक, (verbal) योग्यता, अक (numerical) योग्यता, यान्त्रिक योग्यता, अवधान और कल्पना ।

(३) प्रत्याश (Sample) सिद्धान्त—टामसन ने १९१९ में स्टर्न और स्पियरमैन के सिद्धातो का प्रतियोगी प्रत्याश सिद्धान्त बनाया । १९३५ और १९४८ में उनने अपने सिद्धान्त का और स्पष्टीकरण किया । प्रत्याश का अर्थ है किसी प्रत्यय के एक अश द्वारा सम्पूर्ण प्रत्यय को समझना । जैसे और

स्पियरमैन की बुद्धि-परीक्षण प्रणालियो मे परीक्षण सामग्री को किसी उद्देश्य-विशेष से चुना जाता था। टामसन ने इसके विपरीत इस बात पर जोर दिया कि परीक्षण सामग्री का चुनाव सयोगाश्रित होना चाहिए। सयोगाश्रित परीक्षण सामग्री द्वारा प्रयोग करके टामसन ने यह देखा कि किसी मानसिक परीक्षण से अनेक स्वतत्र योग्यताओ के प्रत्ययाश (sample) का पता चल सकता है। टामसन ने स्वतत्र योग्यताओ के प्रत्ययाश मे सा (सामान्य) खड के होने की सम्भावना को स्वीकार तो किया किंतु वर्ग-खंडो की एक विशेषता की तरह।

प्रत्ययाश सिद्धान्त को समझने के लिए चित्र ७३ को देखिए। इसमे स्टर्न और स्पियरमैन के सिद्धान्तो मे पाया जाने वाला कोई सा (सामान्य) खड नही है। प्रत्येक छोटा वृत्त एक स्वतत्र और विशिष्ट योग्यता का सूचक है जिसका अन्य योग्यताओ से सम्बन्ध नही होता, किंतु हर विशिष्ट योग्यता एक बडे
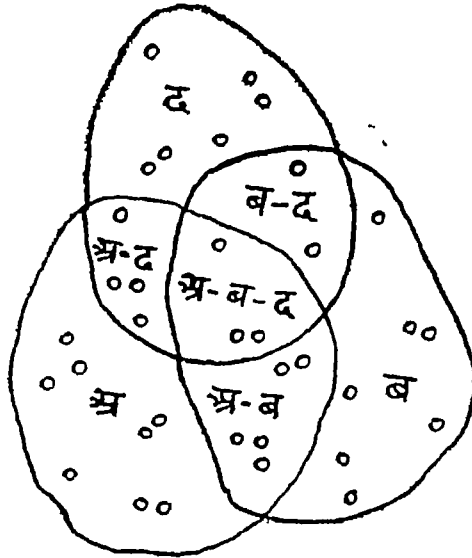
चित्र ७३

खंड के अन्दर है। अ, ब और द द्वारा इगित बडे वृत्त तीन मानसिक परीक्षणो के सूचक हैं। उदाहरण के लिए परीक्षण अ मे बीस छोटे वृत्तो द्वारा इगित बीस योग्यताओ का पता चलता है। परीक्षण अ की बीस योग्यताओ मे से पाँच परीक्षण ब मे, चार परीक्षण द मे और तीन परीक्षण ब और द दोनो में सामान्य रूप से पाई जाती है। टामसन के दृष्टिकोण से अगर सा (सामान्य) खड की सम्भावना मानी जाय जो वह परीक्षण अ, ब, द मे सामान्य रूप से पाई जाने वाली तीन योग्यताएँ होगा। इसी तरह का सम्बन्ध परीक्षण ब और द मे भी देखा जा सकता है।

(४) बहुखडी (Multi-factor) सिद्धान्त—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिका के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी एडगर ली थार्नडाइक ने किया। उसके अनुसार बुद्धि असख्य विशिष्ट व्यापारो से निर्मित होती है। थार्नडाइक

ने उन व्यापारो को कोई नाम तो नही दिया, हाँ, उनको न्यूरोनीय व्यापारो के समान अवश्य बताया। किसी मानसिक क्रिया मे असख्य न्यूरोनीय सम्बन्ध बनते है। दो मानसिक क्रियाओ से बनने वाले न्यूरोनीय सम्बन्धो की सख्या बराबर नही होती, कम या ज्यादा और विभिन्न प्रकार की जटिलता लिए हुए होती है।

थार्नडाइक के विचार से बुद्धि मे सा (सामान्य) खड की सत्ता नही होती, केवल असख्य विशिष्ट मानसिक क्रियाएँ होती है जिनका ज्ञान न्यूरोनो के सम्बन्धो की सख्या और हल की जाने वाली समस्याओ का वर्गीकरण उनकी कठिनता के स्तर के अनुसार करने से हो सकता है।

सा (सामान्य) खड को न मानने से बहुखडी सिद्धान्त और टामसन के सिद्धान्त मे बहुत समानता है। थार्नडाइक ने स्वय स्वीकार किया है कि बहुखडी सिद्धान्त के कुछ पक्ष अत्यधिक सैद्धान्तिक है। व्यावहारिक दृष्टि मे बुद्धि-परीक्षण के लिए थार्नडाइक ने कुछ परीक्षण भी बनाए। बाद मे उसने बुद्धि के तीन प्रकारो की सम्भावना का सुझाव रक्खा —(१) सामाजिक बुद्धि यानी लोगो से मिलना-जुलना, (२) मूर्त (concrete) बुद्धि यानी वस्तुओ का उपयोग करना, और (३) अमूर्त (abstract) बुद्धि यानी मौखिक और गणित सम्बन्धी प्रतीको का उपयोग करना।

(५) प्रमुख-मानसिक-योग्यताओं (Primary mental abilities) का सिद्धान्त—स्पियरमैन की भाँति प्रमुख-मानसिक-योग्यताओ के सिद्धान्त के प्रतिपादक थर्स्टन ने बुद्धि में सा (सामान्य) खड की सत्ता स्वीकार तो की है किंतु उसे अनेक प्रमुख-योग्यताओ के रूप मे माना है। स्पियरमैन ने पहले सा (सामान्य) खड को माना और बाद में उससे सम्बन्धित अनेक वि (विशिष्ट) खड माने। थर्स्टन ने पहले प्रमुख-मानसिक योग्यताओ को माना है और बाद मे सा (सामान्य) खड को मानकर प्रमुख-योग्यताओ को सा (सामान्य) खड से सम्बन्धित बताया है। इस प्रकार अन्य सब तरह मे समान होते हुए थर्स्टन और स्पियरमैन के सिद्धान्तो में केवल दृष्टिकोणो की दिशा का भेद है। स्पियरमैन सिद्धान्त की दिशा सा खड से वि खडो की ओर और थर्स्टन के सिद्धान्त की के वि खडो से सा खड की ओर है।

थर्स्टन ने हाई स्कूल और कालेज के लडको का मौखिक और निष्पादन (performance) परीक्षण भारी पैमाने पर करके प्रत्येक परीक्षण के परिणामो के अन्तर्सम्बन्ध को सगठित करके उनकी एक तालिका बनाई। उसने अधिकाश परीक्षणो का अन्य परीक्षणो से कुछ न कुछ सम्बन्ध तो अवश्य पाया किन्तु कुछ परीक्षणो का सम्बन्ध अन्य परीक्षणो से ज्यादा घनिष्ठ पाया। उसने

उसने यह नतीजा निकाला कि परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले परीक्षण लगभग एक ही योग्यता की परीक्षा करते हैं ।

इस प्रकार थर्स्टन ने अत्यन्त जटिल साख्यकीय (statistical) विधियो से सा (सामान्य) खड से सम्बन्धित सात प्रमुख-मानसिक-योग्यताओ की सम्भावना का पता लगाया अक योग्यता, शब्द योग्यता, मौखिक अर्थ योग्यता स्मृति, तर्क, प्रसरिक (spatial) योग्यता और संज्ञात्मक गति (perceptual speed) । प्रत्येक प्रमुख योग्यता का विभिन्न अनुपात से अन्य प्रमुख योग्यताओ और फिर सामान्य योग्यता से सम्बन्ध होता है । हर व्यक्ति मे प्रमुख मानसिक योग्यता की मात्रा का अनुपात अलग अलग होता है ।

(१) अक-योग्यता (numerical ability)—इस योग्यता का उपयोग जोडने, घटाने, गुणा करने और भाग देने मे किया जाता है । इस योग्यता मे तर्क-योग्यता की आवश्यकता भी पडती है । नीचे अक-योग्यता का एक परीक्षण दिया जा रहा है । आप उस सख्या के नीचे निशान लगाइए जो अपने से पहले की सख्या से तीन ज्यादा हो । इसके लिए दो सेकेन्ड से ज्यादा समय न लगने पाए ।

१५—१६—२१—२६—२९—२२—२५—५—८—७—११—४

(२) शब्दयोग्यता (word-fluency)—जिन लोगो में यह योग्यता अच्छी होती है वे शब्दो को लिखने और बोलने का काम बडी आसानी से कर लेते है और उनको शब्दो का सही प्रयोग करने मे कोई अडचन नही पडती ।

(३) मौखिक-अर्थ (verbal meaning) योग्यता—इस योग्यता को अच्छी तरह रखने वाले भाषा के लालित्य और उसमे प्रयुक्त शब्दो की समानता, उनके भेद, उनकी व्यञ्जनात्मक और अभिधात्मक शक्ति की बडी सूक्ष्म परख रखते है । मौखिक-अर्थ-योग्यता साहित्य-सृजन या साहित्य में रस लेने के लिए बहुत जरूरी होती है । नीचे दिए एक परीक्षण मे कुछ मुहावरे दिए जा रहे हैं । उनमें से जिन दो मुहावरो का अर्थ लगभग एक सा हो उन्हे तीस सेकेन्ड के अन्दर बताइए । सही उत्तर पृष्ठ ३२८ पर देखिए ।

(अ) तीन मे न तेरह में, बीन बजावे डेरा में।
(ब) नौ मन साबुन धोय, पर कागा हंस न होय ।
(स) अधजल गगरी छलकत जात ।
(द) आँख के अधे, नाम नैन-सुख ।
(ज) घर मे नही है दाने, अम्माँ चली भुनाने।
(झ) थोथा चना, बाजै घना।

(४) **स्मृति (memory)**—अन्य सब मानसिक योग्यताएँ स्मृति पर निर्भर होती है। जब तक अक या शब्द इत्यादि हमे याद न रहे तब तक हम उन्हे प्रयुक्त नही कर सकते; इसलिए स्मृति एक ऐसी मानसिक योग्यता है जिससे अन्य योग्यताओ का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। स्मृति-परीक्षण के लिए आप एक मेज पर सुई, कलम, चाभी, दियासलाई, निब, पिन और इसी प्रकार की बीस चीजें कपडे से ढाँककर रख दीजिए। किसी व्यक्ति को वे सब चीजे कपडा हटाकर केवल १५ सेकेन्ड तक दिखाइए और तब विषय से उन चीजो का नाम बताने को कहिए। अगर वह आठ सेकेन्ड में १५ चीजो का स्मरण कर सके तो उसकी स्मृति अच्छी होगी।

(५) **तर्क योग्यता**—उच्च शिक्षा में तर्क-योग्यता की बहुत जरूरत पडती है, विशेषकर विज्ञान और गणित मे। तर्क-योग्यता सम्पन्न व्यक्ति जटिल से जटिल समस्याओ का समाधान बड़ी आसानी से कर लेते है। तर्क-योग्यता का अन्य मानसिक योग्यताओ और सा (सामान्य) खड से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।

(६) **प्रसरिक योग्यता (spatial ability)**—कुशल कारीगर किसी वस्तु की नाप का सही सही अन्दाज एक नजर मे ही कर लेते है क्योकि उनमें
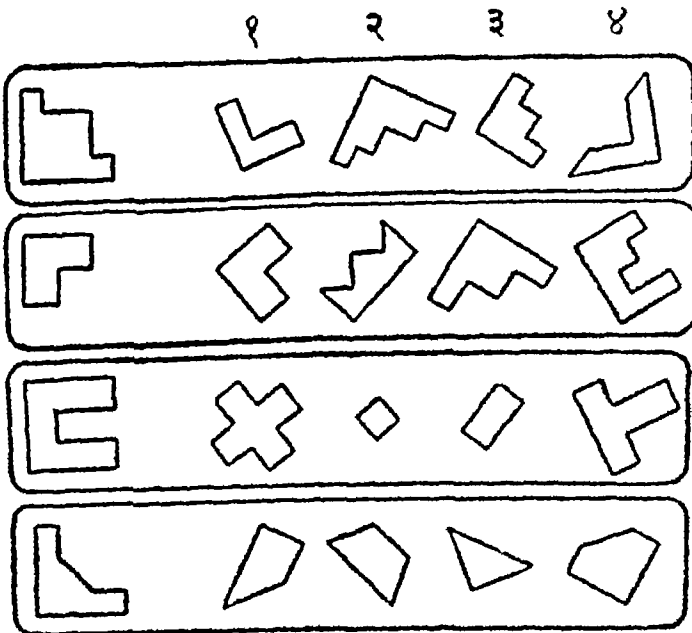
चित्र ७४

प्रसरिक योग्यता उच्च कोटि की होती है। इस योग्यता की आवश्यकता स्थापत्य, चित्रकला, बढई और लुहार के काम और यत्र बनाने में ज्यादा पड़ती है। चित्र ७४ में प्रसरिक योग्यता की जांच करने के लिए एक परीक्षण दिया गया है। इस चित्र में प्रत्येक पक्ति में पहले दिए हुए टुकडे में उसी पक्ति में बाद में

दिए हुए चार टुकड़ो मे से किसी एक को इस तरह लगाइए कि एक वर्ग (square) बन जाय। अगर आप चारो पक्तियो का हल १५ सेकेन्ड मे कर लेगे तो आपकी प्रसरिक योग्यता अच्छी होगी। सही उत्तर पृष्ठ ३२८ पर देखिए।

(७) सज्ञात्मक-गति (Perceptual speed)—जिन लोगो की सज्ञात्मक गति अच्छी होती है उन लोगो से पढने-लिखने मे अक्षरो को पहचानने और शब्दो के सही हिज्जे और उच्चारण आदि करने में भूल नही होती। सज्ञात्मक-गति-योग्यता की ज्यादा आवश्यकता लेखको, मुद्रको, इजीनियरो और तारघर मे काम करने वालो को पडती है । चित्र ७५ मे सज्ञात्मक गति के लिए एक परीक्षण दिया गया है । प्रत्येक पक्ति के चारो चित्रो मे से दो चित्र एक से है। अगर आप सब पक्तियो के एक से चित्रो को २० सेकेन्ड के अन्दर बता देगे तो आपकी सज्ञात्मक गति बहुत अच्छी होगी है। सही उत्तर पृष्ठ ३२८ पर दिया हुआ है।
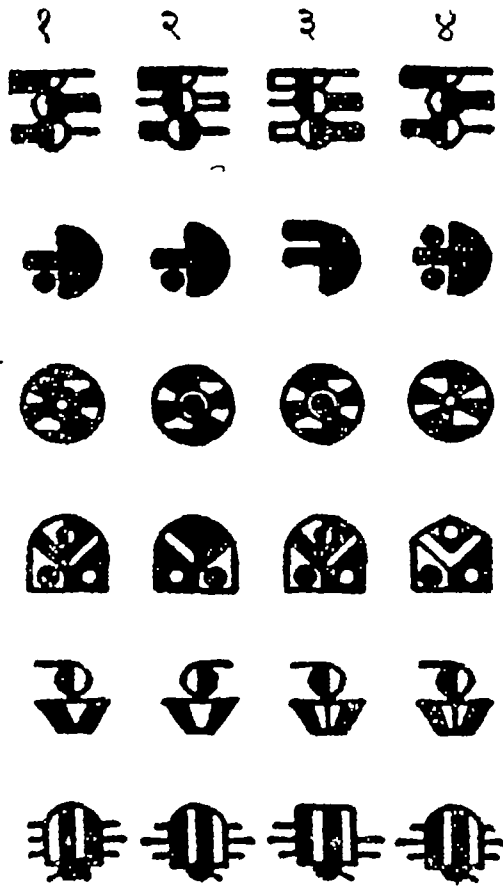
चित्र ७५

बुद्धि-लब्धि और आयु—विने और टर्मन आदि का विचार था कि बुद्धि-लब्धि तेरह या चौदह वर्ष की आयु तक तो शीघ्रता से वढती है किन्तु चौदह से बीस-बाईस वर्ष की आयु तक उसका वढना कम हो जाता है और

उसके वाद रुक जाता है । वहुत समय तक सर्वमान्य इस धारणा को अमेरीका के प्रसिद्ध मनोविज्ञानी वेश्लर ने अपने वेश्लर-वेलेव् (Weschler-Bellevue) नामक वुद्धि-परीक्षण के परिणामो के आधार पर खण्डित कर दिया । वेश्लर ने यह सवित करने की चेष्टा की कि वुद्धि-लव्धि निरन्तर बढती रहती है । आयु के वढने पर वुद्धि-लव्धि की वृद्धि की गति में कुछ कभी अवश्य आ जाती है । विने-साइमन ने वुद्धि-लव्धि को निकालने के लिये वास्तविक आयु को केवल १६ वर्ष का माना था । इसके विपरीत वेश्लर का यह कहना है कि किसी प्रौढ व्यवित की वुद्धि-लव्धि निकालने के लिए उसकी सम्पूर्ण आयु को ध्यान में रखना चाहिए । यह विषय वडा विवादग्रस्त है और इसका निश्चित रूप से अव तक कोई निर्णय नही हो पाया है ।

मनोनुकूलता (Aptitude)–व्यक्तित्व का एक परिवर्तक (variant) मनोनुकूलता भी है । यह एक दैनिक अनुभव की वात है कि प्रत्येक व्यक्ति अन्य विपयो की अपेक्षा किसी एक विपय मे ज्यादा अच्छा होता है । कोई यत्र वनाने में तो कोई चित्रकारी मे शीघ्र निपुण हो जाता है । इसका कारण विषय के प्रति उसकी मनोनुकूलता होता है । जो व्यक्ति जिस काम मे जल्दी निपुण हो जाता है उसकी मनोनुकूलता उस काम के प्रति ज्यादा होती है । मनोनुकूलता और जन्मजात क्षमता मे अन्तर होता है । मान लीजिए कि किसी की वुद्धि-लव्धि (Intelligence quotient) १६० है तो इसका अर्थ यह कदापि नही होगा कि उसकी सगीत के प्रति मनोनुकूलता भी ज्यादा हो । हाँ, मनोनुकूलता और जन्मजात क्षमता मे सम्वन्ध अवश्य होता है । मनोनुकूलता जन्मजात क्षमता मे विल्कुल स्वतत्र नही होती । किसी काम के प्रति मनोनुकूलता का सकेत वुद्धि -परीक्षणो से मिल सकता है ।

मनोनुकूलता और रुचि (interest) मे भी अन्तर होता है । सम्भव है कि कोई व्यवित सगीत में रुचि तो रखता हो किन्तु उसमे सगीत के लिए मनोनुकूलता (Aptitude) न हो । मनोविज्ञानियो ने मनोनुकूलता को जानने के लिए अनेक परीक्षण वनाए हैं । विभिन्न उद्योग-धन्धो के लिए उचित व्यक्तियो का चुनाव कर सकने के लिए आजकल मनोनुकूलता-परीक्षणो का व्यापक प्रचार हो गया है । मनोनुकूलता एक विशिष्ट व्यक्तिगत योग्यता होती है और उसके परीक्षण से किसी काम के लिए सही व्यक्ति का चुनाव उस काम की दृष्टि से सामाजिक महत्व का होता है ।

व्यक्तित्व के विभिन्न परिवर्तको वुद्धि आदि के परीक्षणो के परिणामो का बडे ही जटिल साख्यकीय (statistical) ढग मे [illegible] किया जाता है [illegible]

इस पुस्तक के क्षेत्र का विषय नही है । व्यक्तित्व के परिवर्तको का विशद् अध्ययन मनोविज्ञान की उस शाखा का विषय है जिसे परिवर्तकीय (variational) मनोविज्ञान कहा जाता है ।

परीक्षणों के सही उत्तर

(३) मौखिक-अर्थ-योग्यता : स और भ

(६) प्रसरिक-योग्यता . १
२
३
४

(७) सज्ञात्मक-गति · १—४
१—२
२—३
१—३
३—४
२—४

१४

अप्रकृत व्यक्तित्व

व्यक्तित्व का निर्माण व्यक्ति और उसके परिवेश के अन्तराश्रित सक्रिय अनन्वय सम्बन्ध से होता है जिसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति व्यक्ति के व्यवहार द्वारा होती है। अतएव मनुष्य के जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक पक्ष की सगठित इकाई अर्थात् उसके व्यक्तित्व का अनुमान उसके व्यवहार को देखकर किया जाता है। सतुलित व्यवहार प्रकृत (normal) व्यक्तित्व का और असतुलित व्यवहार अप्रकृत (abnormal) व्यक्तित्व का सूचक होता है। किंतु व्यवहार को सतुलित या असतुलित कहने की कसौटी क्या है ?

संतुलित-असंतुलित व्यवहार की कसौटी—व्यवहार के सतुलन या असतुलन की चार कसौटियाँ हो सकती है। पहली कसौटी व्यक्ति की रुचि तथा अवधान की दिशा होती है। औसत मनुष्य अपना अधिकाश व्यवहार अपने पास जो कुछ होता है उसे सुरक्षित रखने के प्रयत्न की दिशा मे करता है। हम सभी अपने घर की इज्जत, व्यापार की साख, आत्म-सम्मान, दूसरो से अपनी मित्रता, निजी स्वतत्रता आदि को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्न-शील रहते है। किंतु हममें से बहुतो का व्यवहार यही तक सीमित नही होता। अधिकाश मनुष्य अपने भावी लक्ष्यो को प्राप्त करने में भी अपनी काफी शक्ति लगाते है और जरूरत पडने पर कुछ खोकर और बाजी लगाकर अपने भावी लक्ष्यो की प्राप्ति मे नही हिचकते। अपनी प्रेमिका के उदासीन हो जाने पर हम दूसरी स्त्री की ओर आकृष्ट हो कर प्रेमिका की ईर्ष्या जाग्रत कर उसे फिर पाने की बाजी लगाते है। इसके अतिरिक्त हर आदमी कोई कोई चीज को पाने के लिए सब कुछ कर सकता है। परीक्षा में फेल हो जाने पर, उदाहरण के लिए, कुछ छात्र अपना अधिक ध्यान अपनी असफलता पर लगा सकते है और कुछ भविष्य में अपनी असफलता को सफलता मे बदलने पर।

यह एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक भेद है। बीती बातो पर पश्चात्ताप या की गई गलतियो पर ज्यादा ध्यान देकर शक्ति और समय का अपव्यय करना असतुलित व्यवहार होता है। किंतु पुरानी गलतियो से होने वाली असफल-ताओ से अनुभव प्राप्त कर अपने भविष्य को सुधारने के लिए शक्ति का

व्यय करना संतुलित व्यवहार होगा। इसलिए संतुलित व्यवहार को जानने की पहली कसौटी यह है कि व्यक्ति की अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य विषयक रुचि और अवधान की दिशा क्या है ? वह अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य पर शक्ति-व्यय किस अनुपात से करता है ? हमे अपना सतुलन अपने वर्तमान और भविष्य से करना पडता है इसलिए जो व्यक्ति अपने भविष्य को भूलकर अतीत में ज्यादा लगा रहता है उसका व्यवहार असंतुलित बन जाता है।

वर्तमान और भविष्य मे रुचि लेना प्रत्येक मनुष्य की कुछ निजी स्थितियो पर निर्भर होता है। वर्तमान की कुछ समस्याये इतनी आवश्यक होती है जिनके सामने भविष्य को भुला देना पड़ता है। मकान में आग लगने या प्रियजन के बीमार होने पर हमे अपने भविष्य की सुधि नही रहती। किंतु साधारण रूप से वर्तमान के प्रति किए गये व्यवहार का भविष्य से अटूट सम्बन्ध होता है। खेद की बात है कि हममे बहुत से लोग अपना वर्तमान व्यवहार भविष्य को विना देखे ही करते रहते है। मैंने देखा है कि कालेजो के अधिकाश विद्यार्थी अपने भविष्य के प्रति यथेष्ट जागरूक नही होते। भविष्य को भुलाकर वर्तमान के अनुसार ही किए गए व्यवहार को सतुलित नही कहा जा सकता। चीटियो का बरसात के लिए अन्न जमा करना या बया का अडे देने के लिए पहले घोसला बनाना ज्यादा सतुलित व्यवहार होते है। सतुलित व्यवहार के लिए अवधान तथा रुचि की दिशा अतीत, वर्तमान और भविष्य के प्रति उतनी ही होनी चाहिए जितनी आवश्यक हो।

सतुलित व्यवहार की दूसरी कसौटी व्यक्ति की रागात्मक अनुभूति की मात्रा होती है। दैनिक व्यवहार मे रागात्मक सन्तोष या असन्तोष की मात्रा सतुलित व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक होती है। हम व्यक्ति के व्यवहार को ही देख सकते है, उसके मानसिक संतोष या असतोष को नही। जो व्यक्ति ऊपर से देखने में संतुलित व्यवहार करता है, हो सकता है कि वह अपने मानसिक असतोप को छिपा लेता हो। हमें वहुत से ऐसे भी दैनिक काम करने पड़ते है जिनसे हमको घोर असन्तोप होता है, चाहे वह असन्तोष प्रकट हो पाए या न हो पाए। सतुलित व्यवहार को ठीक तरह से समझने के लिए व्यवहार-जन्य रागात्मक अनुभूति पर भी ध्यान देना आवश्यक होता है।

मनुष्य के परिवेश के अनेक पक्ष होते है : सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, व्यापारिक, इत्यादि। कुछ मनुष्य परिवेश के अन्य सव पक्षों के प्रति संतुलित

व्यवहार करते हुए भी किसी एक पक्ष के प्रति सतुलित व्यवहार कर सकने में असमर्थ रहते है। घर में, खेलने मे और अपने साथियो के साथ सतुलित व्यवहार करने वाला बच्चा हो सकता है कि स्कूल मे असतुलित व्यवहार करता हो जिसका कारण वहाँ के वातावरण का अरुचिकर होना या किसी अध्यापक के प्रति घृणाभाव रखना हो सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य की मनोवृत्ति जीवन भर के लिए असतुलित बन जाती है जो वैसी ही स्थितियो में सतुलित व्यवहार करने में बाधा डालती है। अरुचिजन्य पारिवारिक, सामाजिक या किसी अन्य परिवेश मे व्यक्ति स्थिति के प्रति अपना अनुकूल मनोभाव नही बना पाता। अनुकूल मनोभाव के न होने से व्यवहार असतुलित बन जाता है और ऐसे असतुलित व्यवहार का कारण व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक क्षमताओ या योग्यताओ की कमी नही होता। प्रतिकूल मनोभाव कई कारणो से बन सकता है इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती कोई काम करने को विवश होने से, असफल होने से या उचित प्रोत्साहन न मिलने से। बहुत से लोग ऐसे होते है जो अपने परिवार के प्रति तो बहुत उदारता, सहानुभूति और विश्वास रखते है किंतु परिवार के बाहर उनका दृष्टिकोण अनुदार, अविश्वास-पूर्ण और स्वार्थमय रहता है। परिवार को अन्य सामाजिक वर्गों मे अलग और विरोधी समझना असतुलित दृष्टिकोण का परिणाम होता है। इसलिए सतुलित व्यवहार की तीसरी कसौटी यह है कि मनुष्य में अपनी पारिवारिक और सामाजिक सभी स्थितियो के प्रति सापेक्षिक स्वस्थ समभाव होना चाहिए।

किन्तु यदि किसी मनुष्य की अवधान तथा रुचि की दिशा ठीक हो, यदि उसे अपने काम से सन्तोष हो और यदि वह पारिवारिक और सामाजिक स्थितियो के प्रति सापेक्षिक स्वस्थ समभाव भी रखता हो तो क्या उसके व्यवहार को सुसतुलित माना जायगा? जरूरी नही है। मनुष्य केवल मनुष्य ही नही होता, वह मानव जाति का संरक्षक भी होता है। मनुष्य क्षणभगुर अवश्य है किन्तु वह जिस मानव जाति का सरक्षक है वह दीर्घकालीन है, इसलिए सतुलित व्यवहार की चौथी कसौटी मनोभौतिक कसौटी है। इस कसौटी के अनुसार प्रत्येक मनुष्य में अपनी वंशवृद्धि का स्वाभाविक रुझान होना चाहिए। जो लोग मैथुन-मात्र को ही प्रधानता देकर सन्तानोत्पत्ति के स्वाभाविक रुझान को निरर्थक समझते हैं या उसको अपनी विचारधारा में कोई स्थान नही देते वे निस्सन्देह असतुलित दृष्टिकोण के शिकार होते हैं। सन्तान-रहित होना और सन्तानोत्पत्ति की इच्छा न रखना दो अलग अलग बातें हैं। असतुलित दृष्टिकोण उसी व्यक्ति का होता है जो सन्तानोत्पत्ति की स्वाभाविक इच्छा नही रखता।

सन्तानोत्पत्ति की इच्छा के साथ-साथ मनुष्य को अपनी सन्तान मे वे गुण भी उत्पन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए जो स्वस्थ मानसिक विकास और सतुलित व्यवहार के लिए अत्यन्त आवश्यक होते है । अपनी सन्तान को दुख, अभाव, दुर्बलता, बुद्धिहीनता से बचाने में उपेक्षित रहना मनोभौतिक कसौटी के अनुसार असतुलित दृष्टिकोण है ।

प्रकृत और अप्रकृत व्यक्तित्व—व्यक्तित्व का अनुमान व्यवहार को देखकर किया जाता है । व्यवहार यदि सतुलित होगा तो व्यक्तित्व प्रकृत होगा और व्यवहार यदि असतुलित होगा तो व्यक्तित्व भी अप्रकृत होगा । व्यक्तित्व के प्रकृत और अप्रकृत होने पर विचार करने के अनेक दृष्टिकोण है ।

सतुलनात्मक दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृत व्यक्ति वह है जो अपनी नैतिक-सामाजिक वास्तविकता से अपना 'सतुलन' स्थापित कर चुका हो । इस दृष्टि से अपने और अपने परिवेश से सामञ्जस्य और संतुलन स्थापित कर लेना ही प्रकृत व्यक्तित्व का मुख्य लक्षण होता है। प्रकृत व्यक्ति अपने आप को अपने समाज और सस्कृति के अनुरूप बना लेता है । इस प्रकार अपने आप को सामाजिक परम्पराओं के अनुरूप न बना पाने वाला व्यक्ति अप्रकृत कहलायेगा । संतुलनात्मक दृष्टिकोण से परम्परागत व्यवहार और प्रकृत व्यक्तित्व मे कोई अन्तर नही रह जाता। तो क्या प्रचलित परम्पराओ को स्वीकार कर लेना ही प्रकृत व्यक्तित्व की कसौटी है ?

हम जानते है कि विभिन्न जातियो की संस्कृति और परम्पराओ मे बडा अन्तर होता है और जो व्यक्ति एक जाति और समाज के लिए प्रकृत हो सकता है वही अन्य जातियो और समाजो के लिए अप्रकृत भी हो सकता है। ग्लोवर ने इसीलिए अपने सन्देह को यह कहकर प्रकट किया है कि "प्रकृत व्यक्तित्व स्वय पागलपन का एक रूप हो सकता है और चूँकि वह वास्तविकता से अच्छा सतुलन कराने का साधन होता है इसलिए हम उसके पागलपन के पक्ष को नही देख पाते।" हो सकता है कि किसी जाति विशेष की सास्कृतिक परम्पराएँ समस्त मानव जाति के लिए आवश्यक और कल्याणकारी संतुलित व्यवहार के आदर्शों की विरोधी हो। आप अपने हिन्दू समाज की प्रचलित जाति-प्रथा और अन्ध-विश्वासो के प्रति सतुलित हो सकते है, किन्तु क्या आपका यह संतुलन आपके विकास की दृष्टि से ठीक होगा ? सतुलनात्मक दृष्टिकोण हर सस्कृति और समाज को अन्य सस्कृतियो और समाजो के समतुल्य मानता है और यही इस दृष्टिकोण की सब से बड़ी कमजोरी है । अघोरपंथियो की सस्कृति निस्सन्देह वैदिक सस्कृति के समतुल्य नही है ।

विभिन्न सस्कृतियो मे भेद अवश्य होता है लेकिन उस भेद के होते हुए भी सफाई, रहन-सहन, खान-पान विषयक सार्वभौम सिद्धान्तो की उपेक्षा नही की जा सकती।

परिमाणात्मक दृष्टिकोण—इस दृष्टिकोण के अनुसार अप्रकृत शब्द का अर्थ प्रकृत न होना होता है । प्रकृत शब्द का अर्थ एक औसत समझा जाता है और उस औसत से बहुत कम या बहुत ज्यादा को अप्रकृत कहा जाता है । यह दृष्टिकोण लगभग सतुलनात्मक दृष्टिकोण के समान ही है । सतुलनात्मक दृष्टिकोण की भाँति इस दृष्टिकोण में भी प्रकृत का अर्थ है जातीय सस्कृति और परम्पराओ को स्वीकार कर लेना । यह दृष्टिकोण अप्रकृत को प्रकृत का अतिरजित रूप और प्रकृत-अप्रकृत मे केवल मात्रा-भेद मानता है ।

गुणात्मक दृष्टिकोण—जनसाधारण प्रकृत और अप्रकृत का गुणात्मक अर्थ करते है । उनके अनुसार मनुष्य पागल होगा या नही होगा, प्रकृत होगा या नही होगा। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृत-अप्रकृत में मात्रा-भेद न होकर प्रकार-भेद होता है । अप्रकृत अवस्था प्रकृत अवस्था का सापेक्षिक असामञ्जस्य या विभिन्न शारीरिक अवयवो के कार्य की अव्यवस्था न होकर एक नई स्थिति होती है—एक ऐसी स्थिति जिसमें अनेक नई स्थितियाँ रहती है जो प्रकृत अवस्था मे नही होती ।

प्रकृत-अप्रकृत व्यक्तित्व के उपर्युक्त दृष्टिकोणो को परस्पर विरोधी न समझकर एक दूसरे के पूरक समझना चाहिए । अप्रकृत मनोविज्ञान की बहुत सी समस्याओ पर अभी तक पर्याप्त प्रकाश नही पड सका है और उनकी उचित व्याख्या भी नही हो सकी है । ऐसी दशा में अप्रकृत मनोविज्ञान का अध्ययन किसी निश्चित दृष्टिकोण को लेकर करना एकागी होगा । अप्रकृत मनोविज्ञान को समझने के लिए आवश्यकतानुसार सभी दृष्टिकोणो से सहायता लेना अपेक्षित है ।

आकुलता (Anxiety)—व्यक्तित्व को प्रकृत-अप्रकृत बनाने में आकुलता का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है । आकुलता एक दुखद रागात्मक अनुभव होती है जो शरीर के अन्दर स्थित अगो के उत्तेजित होने से पैदा होती है और उसका सचालन स्वचालित स्नायु-प्रबन्ध से होता है । डर, तनाव (tension) या अन्य प्रकार के दुखद अनुभवो और आकुलता में अन्तर होता है और वह अन्तर चेतनता के विशिष्ट गुण का होता है । आकुलता में चेतनता के जिस विशिष्ट गुण का अनुभव होता है उसका निर्धारण कैसे होता है यह मालूम नही हो सका है । प्रसगवश, अचेतन आकुलता का कोई अस्तित्व नही होता । व्यक्ति अपनी आकुलता के कारण को तो हो सकता है कि न जान पाए किन्तु आकुलता का अनुभव हर हालत में करता है ।

आकुलता डर के रागात्मक अनुभव का पर्याय होती है। डर साधारण अर्थ मे वाह्य उत्तेजना से उत्पन्न होता है, किन्तु आकुलता आन्तरिक उत्तेजना से। आकुलता का मुख्य कार्य ईगो (ego) को खतरे का संकेत देना होता है जिससे खतरा सामने आने पर ईगो उसका सामना करने के लिए समुचित उपाय कर सके।

फ्रायट ने आकुलता के तीन प्रकार माने हैं : (१) वास्तविकता-आकुलता (Reality Anxiety), (२) न्यूरोटिक आकुलता और (३) नैतिक आकुलता। आकुलता के इन तीनो प्रकारों में कोई पारस्परिक गुणात्मक भेद नही होता; भेद केवल उद्गम-स्थान का होता है। आकुलता के इन तीनों प्रकारो का यह अर्थ भी नही होता कि व्यक्ति उनके वास्तविक उद्गम-स्थान को जानता ही हो। व्यक्ति हो सकता है यह समझता हो कि उसकी आकुलता का उद्गम-स्थान वाह्य है जबकि उद्गम-स्थान वस्तुतः आन्तरिक हो। ऊँचे-स्थान से डरने वाला यह समझ सकता है कि उसका डर वाह्य है जबकि हो सकता है वह अपने सुपरईगो से डरता हो जो उसके किसी पाप का दंड देने के लिए उसे ऊँचे स्थान से गिरवाने का अवसर चाहता हो और इस कारण उसे ऊँचे स्थान से डर लगता हो।

वास्तविकता-आकुलता (Reality Anxiety)—इस प्रकार की आकुलता का उद्गम-स्थान वाह्य जगत की किसी उत्तेजना या खतरे में होता है। डरना और उसके परिणाम स्वरूप आकुल होने का कारण इस अर्थ में जन्म-जात हो सकता है कि व्यक्ति कुछ उत्तेजनाओ या परिवेश की स्थितियों की उपस्थिति से डरने की प्रवृत्ति लेकर ही पैदा हुआ हो। आनुवशिकता व्यक्ति को डर के प्रति अत्यधिक ग्रहणशील वना देती है और अनुभव उस जन्मजात ग्रहणशीलता को वास्तविकता में परिणत कर सकता है। डर और उससे उत्पन्न होने वाली आकुलता व्यक्ति अपने जीवन काल में अर्जित भी कर सकता है। डर बचपन मे ज्यादा आसानी से अर्जित हो जाता है, क्योकि बचपन मे व्यक्ति शारीरिक और मानसिक अपरिपक्वता के कारण परिवेश के खतरो का सामना कर सकने योग्य नही होता।

न्यूरोटिक-आकुलता—इस आकुलता में व्यक्ति अपनी ही मूलप्रवृत्तियो से डरने लगता है। न्यूरोटिक-आकुलता में इड (Id) व्यक्ति के ईगो (ego) पर दवाव डालने लगती है और ईगो को इसलिए अपने नियत्रण में ले आना चाहती है जिससे ईगो उसकी (इड की) इच्छापूर्ति के मार्ग में कोई रुकावट न डाल सके। इस प्रकार न्यूरोटिक-आकुलता तव पैदा होती है जव व्यक्ति अपनी इड से डरने लगता है। न्यूरोटिक-आकुलता का उद्गम-स्थान इड में होता है।

नैतिक-आकुलता—इस प्रकार की आकुलता का उद्गम-स्थान सुपरईगो (superego) में होता है। नैतिक-आकुलता ईगो में पाप या अपराध-भावना के रूप में रहती है। यह जीवन की एक विडम्बना ही है कि दुराचारी व्यक्ति की अपेक्षा सदाचारी व्यक्ति लज्जा का ज्यादा अनुभव करता है। आत्म-नियंत्रित व्यक्ति इड के प्रलोभनो पर ज्यादा विचार करता है क्योकि उसके पास इड की प्रेरणाओ के निकास के लिए और कोई साधन नही होते। आदर्शवादी व्यक्ति को अपनी मूलप्रवृत्तियो की प्रेरणाओ का त्याग करने की कीमत अपराध-भावनाओ से चुकानी पडती है।

न्यूरोटिक और नैतिक आकुलता ईगो के लिए एक बोझ होती है। व्यक्ति बाह्य स्थिति-जन्य आकुलता से बचने के उपाय निकाल सकता है किंतु न्यूरोटिक और नैतिक आकुलता का उद्गम स्थान अपने व्यक्तित्व में ही होने से व्यक्ति के लिए उनसे बचना बडा मुश्किल होता है। न्यूरोटिक और नैतिक आकुलता से बचने के लिए ईगो को कुछ रक्षात्मक उपाय (defence mechanisms) अपनाने पडते है। रक्षात्मक उपायो को अपनाने से ईगो की काफी शक्ति व्यर्थ चली जाती है और ईगो अपनी उस शक्ति का प्रयोग अधिक उपयोगी कार्यों के लिए कर सकने से वंचित रह जाता है।

रक्षात्मक उपाय ईगो के लिए हानिकारक होते है क्योकि उनको अपनाने से ईगो का स्वस्थ रूप से अपना कार्य करने के लिए पर्याप्त विकास नही हो पाता। फिर भी रक्षात्मक उपायो (defence mechanisms) की आवश्यकता इसलिए पडती है कि बचपन में ईगो बहुत कमजोर होता है और उस समय वह विभिन्न स्थितियो की माँगो से अपना संगठन और सामञ्जस्य नही कर पाता। इस कमी को पूरा करने के लिए उसे रक्षात्मक उपायो का सहारा लेना पड़ता है। अगर ईगो आकुलता से समुचित और स्वस्थ ढंग से नही बच पाता तब वह कुछ रक्षात्मक उपायो से काम लेता है और वे उपाय है खतरे की उपस्थिति को स्वीकार न करना (शमन), खतरे का बाह्यीकरण (प्रक्षेपण), खतरे को छिपाना (ऋणात्मक प्रतिक्रिया), बचपन की ओर लौटना (रीग्रेशन) आदि।

ईगो के इन रक्षात्मक उपायो का व्यक्तित्व के निर्माण और प्रकृत विकास पर निर्णयात्मक प्रभाव पडता है। नवें अध्याय में रक्षात्मक उपायो पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है।

अप्रकृत व्यक्तित्व के रूप—अप्रकृत व्यक्तित्व को दो बड़े वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। इन वर्गों में भी बहुत से उपवर्ग है। एक समय था जब सारे मानसिक रोगो को शरीरजन्य (physiogenic) माना जाता था।

उस समय मानसिक रोगो को न्यूरोसिस (Neuroses) कहा जाता था। किंतु जब से मानसिक रोगो को मनोजन्म (psychogenic) माना जाने लगा तब से उन्हे साइकोन्यूरोसिस (psychoneuroses) कहा जाने लगा। साइकोन्यूरोसिस मानसिक रोगो के हल्के सापेक्षिक रूपो को कहा जाता है। फोबिया, पर्यावरण (obsessions) हिस्टीरिया आदि कुछ मुख्य साइकोन्यूरोसिस है।

मानसिक रोगो के दूसरे वर्ग को साइकोसिस (Psychoses) कहा जाता है। साइकोसिस मानसिक रोगो का चिताजनक रूप होते हैं। साइकोसिसो के भी दो वर्ग होते है कार्यात्मक (functional) या मनोजन्य (psychogenic) और आगिक (organic) या शरीरजन्य (physiogenic)। कार्यात्मिक साइकोसिसो के अन्तर्गत पैरानोइया (Paranoia,) रागात्मक मानसिक विकार और स्काइज़ोफ्रीनिया (Schizophrenia) आते है। आगिक साइकोसिस रक्तप्रवाह के दोष, मानसिक क्षति, आनुवशिक दोष आदि के कारण होते है। साइकोन्यूरोसिस की अपेक्षा साइकोसिस की अवस्था मे व्यक्ति का वाह्य जगत से ज्यादा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। साइकोसिस-ग्रस्त व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि का अभाव हो जाता है जिससे वह अपने व्यवहार को अप्रकृत नही समझता।

यूक ने साइकोन्यूरोसिसो का प्रादुर्भाव व्यक्तिगत अचेतन (Personal Unconscious) और उसमे शमन हुए अनुभवो से और साइकोसिसो का प्रादुर्भाव सामूहिक अचेतन (Collective Unconscious) से माना है। यूक का कहना है कि "अचेतन न्यूरोटिक द्वन्द चेतन की पहुँच के अन्दर होते है इसलिए उनको समझा जा सकता है। किन्तु साइकोसिसो की अचेतन सामग्री को समझा नही जा सकता" क्योकि वह सामूहिक अचेतन की अबौद्धिकता से प्रादुर्भूत होती है। "साइकोसिस में अचेतन मन चेतन मन से ज्यादा शक्तिशाली वनकर अवरोधो को तोडकर प्रादुर्भूत होता है और व्यक्ति पर अनायास ही हावी हो जाता है। इसलिए साइकोसिस में हम अपने सचारीभावो और अवौद्धिक विचारो से पूरी तरह अभिभूत हो जाते हैं। न्यूरोसिस का प्रादुर्भाव व्यक्तिगत अचेतन से होता है इसलिए उस पर हमारा कुछ न कुछ नियत्रण वना रहता है। शायद इसी कारण साइकोसिस की अपेक्षा न्यूरोसिस का उपचार जल्दी हो जाता है।"

अव पहले साइकोन्यूरोसिस और उसके वाद साइकोसिस के प्रमुख रूपो पर विचार किया जायगा।

छठा खण्ड

साइकोन्यूरोसिस

१५

साइकेस्थीनिया

साइकेस्थीनिया शब्द का प्रयोग अप्रकृत मनोविज्ञान में कुछ समय पहले जिस प्रचुरता से किया जाता था उस तरह अब नही किया जाता। किंतु साइकेस्थीनिया शब्द आज भी प्रयुक्त होता है। साइकेस्थीनिया का शाब्दिक अर्थ मानसिक शक्ति का ह्रास हो जाना होता है। साइकेस्थीनिया के अन्तर्गत फोबिया (phobia), पर्यावरण (absessions), बाध्यक्रियाएँ (compulsions) और टिक (tics) आते है। आजकल कुछ मनोचिकित्सक फोबिया का वर्गीकरण पर्यावरण और बाध्य-क्रियाओ से अलग करते है। जैने ने जिन अवस्थाओ को साइकेस्थीनिक कहा था कुछ विज्ञ उन्हे आकुलता-अवस्थाओ (anxiety-states) के अन्तर्गत रखते है। जैने ने साइकोन्यूरोसिस के केवल दो वर्ग माने थे—साइकेस्थीनिया और हिस्टीरिया, और हिस्टीरिया के अन्तर्गत न आने वाले साइकोन्यूरोसिसो को साइकेस्थीनिया के अन्तर्गत रख दिया था। अप्रकृत मनोविज्ञान पर जैने के विचारो का भारी प्रभाव पडा है, इसलिए वर्गीकरण की समस्याओ को छोडकर साइकेस्थीनिया के विभिन्न रूपो को समझ लेना चाहिए।

फोबिया (phobia)—बहुत से लोग अपने परिवेश के अनेक पक्षो के प्रति अप्रकृत रूप से सावधान और भयभीत रहते है। उन्हे नदी नाले पार करने, पहाडो पर चढने, रात में अकेले रहने आदि मे बेहद डर लगता है। डर लगना एक स्वस्थ क्रिया है लेकिन डर जब स्वस्थ डर की सीमा के बाहर जाकर व्यक्ति पर अस्वस्थकर प्रभाव डालने लगता है तो उसे फोबिया कहा जाता है। फोबिया के अनेक रूप होते है जिन्हे स्पष्ट करने के लिए विभिन्न उत्तेजनाओ को विशेषण की तरह प्रयुक्त कर लिया जाता है, जैसे जलफोबिया, उन्नतस्थान-फोबिया, बन्दस्थानफोबिया, रक्तफोबिया आदि। फोबिया व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्ध के किसी भी संज्ञात्मक (perceptual) पक्ष मे उत्पन्न हो सकता है।

मनोजन्य (psychogenic) दृष्टि से फोबियाओ को तीन वर्गों में रखा जा सकता है (१) साधारण मूर्त फोबिया, (२) प्रतीकात्मक मूर्त फोबिया और (३) प्रतीकात्मक अमूर्त फोबिया। साधारण मूर्त

फोबिया मे व्यक्ति किसी मूर्त (concrete) उत्तेजना से डरने लगता है और उसके लिए उस उत्तेजना का अर्थ बिल्कुल शाब्दिक होता है। बैग्बी द्वारा प्रस्तुत एक केस देखिए :

केस ६—एक कुलीन २० साल की लड़की को बहते पानी का फोबिया हो गया। बहते पानी की आवाज सुनकर उसके अन्दर बहुत तीव्र डर पैदा हो जाता था। लड़की को अपने डर का कारण स्वयं नही मालूम था। रेलगाडी से यात्रा करते समय वह गाड़ी को नदी नालो पर से गुजरते देखने के डर से खिड़कियाँ गिरा लेती थी।

बाद में यह पता चला कि उसके फोबिया की उत्पत्ति १३ साल पहले होने वाली एक घटना से हुई थी जब कि लड़की की उम्र केवल सात साल की थी। लड़की अपनी माँ और चाची के साथ घूमने गई थी। माँ उसे चाची के साथ छोड़कर घर जल्दी लौट आई थी। चाची के साथ घूमते-घामते लड़की उसका कहना न मानकर पर्वतीय प्रदेश में अकेले इधर उधर दौड़ने लगी। बाद मे उसकी चाची ने उसे दो चट्टानो के बीच में फँसे पाया जहाँ पानी लड़की के सिर पर से होकर बह रहा था। लडकी बुरी तरह भयभीत हो गई थी और चाहती थी कि इस घटना का जिक्र उसकी माँ से न किया जाय जिसे चाची ने मान लिया था। दूसरे दिन चाची के जाने के बाद लडकी के अन्दर बहते पानी के प्रति फोबिया हो गया और १३ साल तक बना रहा। १३ साल बाद चाची फिर आईं और जब उन्हे लडकी का हाल बताया गया तो उन्होने १३ साल पहले की घटना का उल्लेख किया। जब लड़की को उस घटना की याद दिलाई गयी तो उसके बाद से उसका फोबिया दूर हो गया।

व्याख्या—साधारण फोबिया डर के किसी अनुभव से उत्पन्न होता है। कालान्तर में मूल उत्तेजना के समान उत्तेजना को देखकर डर तो लगता रहता है किंतु प्रारम्भिक अनुभव की कोई याद नही रह जाती। उपर्युक्त केस में बहता पानी देखकर लड़की को डर तो लगता था किन्तु,उसे यह याद नही रह गया था कि उस डर का आदि कब और कैसे हुआ था। लडकी जानती थी कि उसका इस तरह डरना बिल्कुल अनर्गल है लेकिन वह चाहकर भी अपने डर पर कोई नियंत्रण नही रख पाती थी। बैग्बी के अनुसार फोबिया में डर के साथ साथ अपराध या आत्मभर्त्सना की भावना भी होती है।

फोबिया को समझने के लिए डरने वाली स्थिति के साथ साथ व्यक्ति के तत्कालीन उद्देश्य को जानना भी जरूरी होता है। फोबियाग्रस्त व्यक्ति के

आत्मनिर्माणक अतिरंजित और असशोधित होते है जिससे वह किसी प्रकार के नियत्रण मे रहना पसन्द नही करता। जब उसकी अतिरंजित स्वतन्त्रता पर डर का अंकुश लग जाता है तो उसमें आत्मप्रताडना की भावना पैदा होती है और वह अपने को अपराधी समझने लगता है। एक बार डरावनी स्थिति से निकल जाने पर उसकी अतिरंजित स्वतन्त्रता फिर जोर पकडती है और अपराध की भावना असहनीय बन जाती है। असहनीय अपराध-भावना का तो शमन हो जाता है किन्तु डर फिर भी अतिरंजित स्वतंत्रता के लिए एक अकुश की तरह बना रहता है। केस ६ में लडकी मूल घटना-जन्य अपराधभावना को तो भूल चुकी थी कितु डर का अकुश आवश्यकता न होने पर भी उसके सामने बना रहता था। इस प्रकार साधारण मूर्त फोवियाओ को आत्मप्रताडना का एक विशेष रूप कहा जा सकता है।

प्रतीकात्मक मूर्त फोविया—इस प्रकार की फोविया मे व्यक्ति किसी मूर्त (concrete) उत्तेजना जैसे चाकू, धूल या कीडो आदि से डरने लगता है जिनका उसके लिए कोई महत्वपूर्ण प्रतीकात्मक अर्थ होता है। व्यक्ति की अभिरुचि की दिशा और उद्देश्यो की व्यवस्था के प्रसग में फोविया का प्रतीकात्मक अर्थ व्यक्ति के लिए खतरनाक सावित होता है। व्यक्ति की भावात्मक अतिरंजित अभिरुचि को इच्छा कहा जा सकता है और फोविया में वह इच्छा छिप जाती है। कुछ फोवियाओ मे वह इच्छा आत्मकेन्द्रित होती है, कुछ में जातिकेन्द्रित और कुछ लोगो के व्यक्तित्व के विकास में जातिकेन्द्रित और आत्मकेन्द्रित उद्देश्यो के ठीक से सगठित न हो सकने से भी होती है। फिशर द्वारा प्रस्तुत एक केस देखिए जिसमें रोगी की इच्छा पिता की मृत्यु होने पर प्रकट हुई थी

केस ७—एक युवती को हमेशा यह डर लगा करता था कि उसकी माँ उसे एक खास चाकू भोककर मार डालेगी जो रसोईघर में रखा रहता था। उसका यह डर इतना तीव्र था कि वह रात को माँ के सो जाने के बाद ही सो पाती थी। वह जानती थी कि उसका इस तरह डरना निर्मूल है किंतु फिर भी वह चाकू को छूने से घबराती थी। वह यह भी जानती थी कि वह चाकू से केवल डरती ही नहीं थी किन्तु चाकू के प्रति आकर्षित भी थी। एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि उसे उस चाकू को नष्ट कर देने का कभी कोई ख्याल नहीं आता था। युवती शिक्षित और समझदार थी। उसके दो बड़े भाई थे। वह अपने पिता को बहुत चाहती थी। पिता को उसे यद्यपि काफी [illegible] था किन्तु वह पिता

को स्वप्नो मे अक्सर देखती थी। माँ के प्रति वह भय, ईर्ष्या और सहानुभूति की मिश्रित भावनाएँ रखती थी।

व्याख्या—प्रतीकात्मक मूर्त फोबियाएँ सेक्स, राग, निर्देशन और सहानुभूति के अतिरंजित प्रेरको के प्रति रक्षात्मक उपाय होती हैं। उनके द्वारा अतिरंजित अभिरुचि या आकर्षण का विस्थापन (displacement) किसी प्रतीकात्मक उत्तेजना पर हो जाता है। प्रतीकात्मक उत्तेजना मे निहित आकर्षण व्यक्ति के आत्मनिर्धारण के लिए एक खतरा बना रहता है जिससे डर उत्पन्न होता है। डर के कारण व्यक्ति का ध्यान आकर्षित करने वाली उत्तेजना पर से हट जाता है। यह केस ७ के विश्लेषण से स्पष्ट हो जायगा।

युवती बचपन मे अपने माँ-बाप के पास सोती थी और सबेरे अपने पिता के साथ खेलती थी। पिता के प्रति अतिशय प्रेम ने उसके जीवन को पूरी तरह अभिभूत कर रक्खा था। विश्लेषण के समय युवती को इतना ही याद पडा कि जब वह लगभग दस वर्ष की थी तो उसका एक भाई उससे शारीरिक घनिष्ठता बढाने के लिए रात में उसके पास आया करता था जिससे उसे बेहद मानसिक पीडा होती थी किन्तु फिर भी उसने यह बात किसी को बताई नही थी। भाई के सम्पर्क से युवती ने मैथुन-विषयक बहुत सी बाते जान ली थी और मन ही मन अपने माँ-बाप के सम्बन्ध का पूर्ण अनुमान कर लिया था। पिता के प्रति आकर्षण के साथ साथ अब युवती की मैथुन भावना भी जुड गई थी। सयानी हो जाने पर उसे पिता के प्रति बढती हुई अपनी इन भावनाओ से अपनी रक्षा करना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार वह अपने विचारो में खोयी खोयी सी रहने लगी क्योकि उसके आत्मनिर्धारण और नैतिक आदर्शों पर चोट पड रही थी।

भाई के साथ होने वाले अनुभवो से युवती को जो मानसिक और शारीरिक पीडा होती थी उससे उसकी मैथुन क्रिया ने चाकू भोके जाने की धारणा का रूप ले लिया था। दूसरे, इस विचार से कि उसका पिता उसकी माँ के लिए है उसके लिये नही, युवती के मन में अपनी माँ के प्रति अपराध-काम्प्लेक्स भी बन चुका था। अपराध-काम्प्लेक्स और चाकू भोके जाने के विचारो की उत्पत्ति रुचि और राग के एक ही आधार पर होने से युवती के मन में माँ द्वारा चाकू भोके जाने का अनर्गल विचार घर कर गया था और प्रतीकात्मक रूप में उसके पितृप्रेम के मार्ग में आ गया था। इसलिए वह पिता के प्रति जितनी ही आकर्षित होती थी उसके मन में चाकू भोके जाने का डर उतना ही तीव्र रूप ले लेता था। इस प्रकार पिता के प्रति आकर्षण जाग्रत होने पर डर का जाग्रत होना युवती के लिए एक विषम स्थिति से बचने का रक्षात्मक उपाय था।

युवती जिस चाकू से डरती थी उसकी शक्ल शिश्न (penis) से मिलती जुलती थी । चाकू के प्रतीकात्मक अर्थ (शिश्न) से भावात्मक राग रखने से उसके मन मे चाकू को नष्ट करने का ख्याल नही आता था । वह पिता विषयक जो स्वप्न देखती थी वे मैथुनात्मक होते थे । फोविया के मिट जाने पर युवती की अपनी माँ के प्रति पुरानी आशका, भाइयो के साथ अकेले रहने का डर, पिता के विपय मे ज्यादा सोचना आदि भी समाप्त हो गए ।

प्रतीकात्मक अमूर्त फोबिया—फोविया के इस रूप मे व्यक्ति परिवेश की किसी उत्तेजना या उसके किसी प्रतीकात्मक अर्थ से न डरकर अपनी ही किसी आन्तरिक प्रेरणा से डरने लगता है और वह आन्तरिक प्रेरणा उसके परिवेश से सम्बन्धित न होकर उसी से सम्बन्धित होती है । मानसिक सतुलन और स्थायित्व जातीय और आत्मीय उद्देश्यो के सुसगठन पर निर्भर होता है । वह सगठन तभी हो सकता है जब दोनो प्रकार के उद्देश्य एक सम्मिलित इकाई बनकर मनुष्य के बहुमुखी व्यवहार का सचालन करें । अमूर्त (abstract) फोवियाग्रस्त व्यक्ति बचपन के किसी कटु अनुभव के कारण अपने बहुमुखी व्यवहार मे अपनी सारी शक्ति नही लगा पाता । उसकी कुछ मानसिक शक्ति हमेशा रुकी रहती है और वह उसके मानसिक सगठन मे घुल-मिल नही पाती और इस प्रकार आत्मनियत्रित बन जाती है । आत्मनियन्त्रित होकर वह व्यक्ति के मानसिक सगठन के लिए एक खतरा होती है और अवसर विशेप पर अमूर्त फोविया का कारण बन सकती है । लेखक द्वारा प्रस्तुत एक केस देखिए,

केस ८—प्रताप एक गरीब घर का लडका था । वह अपने पाँच भाई बहनो में चौथा था । उसकी माँ महत्वाकाक्षी तथा पिता लापरवाह था । आर्थिक सकट के कारण उसकी पारिवारिक स्थिति शोचनीय थी । किंतु स्वय महत्वाकाक्षी होने से प्रताप ने अपने अध्यवसाय से पढ-लिख कर एक अच्छी नौकरी पा ली थी । वह जीवन मे आगे भी बहुत कुछ करने की इच्छा रखता था । प्रताप ने प्रेम-विवाह किया था और पत्नी से उसे बडी बडी आशाएँ थी । किंतु पत्नी चचल, मनमौजी, दुराचारी स्वभाव की और तपेदिक की मरीज निकली जिसने प्रताप के आत्मनिर्धारण को वश करना लगा ।

प्रताप पत्नी को देखने के लिए आनेवाली लेडी डाक्टर के प्रति आकर्षित होने लगा । लेडी डाक्टर में उसे स्त्रियोचित सभी गुण दिखाई दिए, जिन्हे वह अपनी पत्नी मे देखना चाहता था लेकिन देख न सका था । धीरे धीरे वह अपनी पत्नी और एकमात्र बच्चे से विमुख होने लगा और

घर उसके लिए एक धर्मशाला सा बन गया। वह लेडी डाक्टर से विवाह करने की योजनाएँ बनाने लगा। उसने अपनी पुरानी मान्यताओ और आदर्शो को तिलाजलि दे दी और अब उसकी सारी विचारधारा, अनुभूति और चेष्टाएँ पुरानी महत्वाकाक्षा पर फिर केन्द्रित होने लगी। धीरे-धीरे उसे अकेले रहने में डर लगने लगा, वह अकेले निकलने मे भी डरने लगा। वह जब अकेला निकलने की चेष्टा करता था तब काँपने लगता था और उसके मन में मूर्च्छित होने और मृत्यु के विचार आने लगते थे।

प्रताप की इस फोबिया का कारण स्पष्ट है। महत्वाकाक्षा की दिशा मे सुरक्षित उसकी शक्ति उसके मानसिक सगठन के लिए एक खतरा बन चुकी थी। तीव्र महत्वाकाक्षा ने उसे सतुलनात्मक स्तर पर चेष्टा करने से वंचित कर दिया था जिससे उसकी सुरक्षित शक्ति को बल मिलता था और वह उसके अदर अस्वस्थ डर पैदा करती थी। आत्मनिर्भरता की कमी से प्रताप को अकेले निकलने मे भी डर लगा करता था। उसका अकेले निकलने से डरना आत्म-निर्भरता की कमी का प्रतीक था। एक ओर तो वह आत्मनिर्भरता के अभाव से सतुलनात्मक स्तर पर चेष्टा करने के अयोग्य बन गया था और दूसरी ओर उसकी पुरानी महत्वाकांक्षा उसे बेचैन किए रहती थी। इसका सम्मिलित परि-णाम प्रताप के लिए एक अमूर्त फोबिया बन गया और वह अपनी ही महत्वा-काक्षा की आन्तरिक प्रेरणा से डरने लग गया।

पर्यावरण (obsession)—किसी अबौद्धिक और व्यक्ति के नियत्रण के बाहर निश्चित मानसिक क्रिया को पर्यावरण कहा जाता है। पर्यावरण की अवस्था में व्यक्ति के मन के अन्दर कोई परेशान करने वाला विचार लगातार मौजूद रहता है। व्यक्ति उस विचार की अनर्गलता को समझता तो है किंतु कुछ कर नही पाता। उस विचार से परेशान होने से व्यक्ति की रागात्मक प्रति-क्रिया जाग्रत हो जाती है जबकि परेशानी का कोई वास्तविक आधार नही होता। रास द्वारा प्रस्तुत एक केस देखिए :

> केस ६—एक रोगी में अक १३ का पर्यावरण हो गया था। 'तेरह' शब्द सुनकर उसे एक धक्का सा लगता था और वह बहुत परेशान हो जाता था। हर महीने की तेरहवी तारीख को वह बिस्तर पर ही पड़ा रहता था। वह लोगो की बातचीत में अंक १३ ही ढूँढ़ा करता था। जीना चढ़ने पर वह तेरहवी सीढी पर पैर न रखकर चौदहवी पर छलाँग मार जाता था। वह अक १३ से बचने की इतनी कोशिश करता था कि और कुछ करने लायक ही नही रह गया था। उसे 'तेरह' से बड़ा डर लगता था और वह अक उसके लिए एक स्थायी चिंता का कारण बन चुका था।

रागात्मक दृष्टि से इस केस को फोविया के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है क्योकि इसमे डर की प्रधानता है। अन्तर केवल इतना ही है कि फोविया मे व्यक्ति के सामने फोविया उत्पन्न करने वाली उत्तेजना या स्थिति मौजूद रहती है जबकि पर्यावरण मे व्यक्ति उत्तेजना को अनायास ढूँढता है। उपर्युक्त केस मे व्यक्ति अक तेरह के सामने आने पर ही परेशान नही होता था वरन् स्वय अनायास रूप से लगातार अक तेरह के बारे मे सोचता रहता था और उसको ढूँढने की कोशिश करता था।

व्याख्या—उपर्युक्त केस मे व्यक्ति ने अपने पर्यावरण की निम्नलिखित व्याख्या की जब वह सोलह साल का था तो एक लडकी के सम्पर्क में आया था जो अक तेरह के प्रति अधविश्वास रखती थी। लडकी से ज्यादा घनिष्ठ होने से उसके कुछ विश्वासो की छाप इस व्यक्ति पर भी पड गई थी। विश्लेपण करने पर यह पता चला कि लडकी की तरफ से बढावा मिलने पर वह व्यक्ति उससे मैथुनात्मक सम्वन्ध रखने लगा था। किंतु इन मामलो मे वह था वडा नैतिक और उसे अपनी कमजोरी पर पश्चात्ताप था। कालान्तर मे उसने इस घटना का शमन पूरी तरह से कर दिया था और साठ साल की उम्र हो जाने पर भी उसे अभिमान था कि वह सदा पत्नीव्रत ही रहा है। स्पष्ट है कि उस व्यक्ति ने पत्नीव्रत की धारणा से अतिशय आत्मनिर्धारण कर रक्खा था। अक तेरह उसके लिए आंशिक रूप से एक मैथुनात्मक प्रेरक और लडकी के साथ के अनुभव का स्थानापन्न प्रतीक था। नैतिक पवित्रता का जीवन बिताने मे उस व्यक्ति के अन्दर उठने वाले मैथुनात्मक विचारो ने अक तेरह का रूप ले रक्खा था।

पर्यावरण व्यक्ति के जातीय और आत्मीय प्रेरको मे कोई समुचित सगठन न हो पाने से होता है। केस ६ मे व्यक्ति के जातीय (मैथुनात्मक) प्रेरक और पत्नीव्रत के आत्मीय आदर्श के प्रेरक में सगठन नही हो पाया था जिससे व्यक्ति पर्यावृत रहता था। पर्यावरण (obsession) में जातीय और आत्मनिर्धारित मूल्यो के अतिरिक्त व्यक्तित्व और व्यक्ति के स्वभाव का भी स्थान रहता है। जातीय और आत्मीय प्रेरको में संगठन न होने से उन दोनो में समझौता कराने की आवश्यकता पडती है और वह समझौता किसी स्थानापन्न प्रतीकात्मक क्रिया द्वारा ही हो सकता है। उपर्युक्त केस ६ में व्यक्ति के जातीय और आत्मीय प्रेरको का समझौता अक तेरह के स्थानापन्न प्रतीक द्वारा हुआ था। समझौते के परिणाम स्वरूप व्यक्ति का मानसिक संतुलन एक सीमा तक स्थिर रहता है और वह दो विरोधी प्रेरकों में से किसी एक से ही पूरी तरह अभिभूत होने से बच जाता है।

बाध्यक्रियाएँ (Compulsions)—किसी [illegible] और व्यक्ति के नियं-त्रण में न रहने वाली निरन्तर और लगातार होने वाली [illegible] शारीरिक क्रिया

को वाध्यक्रिया कहा जाता है । पर्यावरण (obsession) और बाध्यक्रिया मे केवल इतना ही अन्तर होता है कि पर्यावरण मानसिक क्रिया होती है और बाध्यक्रिया एक प्रत्यक्ष शारीरिक क्रिया । पर्यावरण कभी कभी बाध्यक्रिया द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकता है । बाध्यक्रिया सम्बन्धी लेखक द्वारा प्रस्तुत एक केस लीजिए .

केस १०—प्रेम नामक उन्नीस साल की लड़की दिन मे कमरे मे कई बार झाडू लगाने को बाध्य हो जाया करती थी । इस बाध्यक्रिया से उसके एक अनुभव का सम्बन्ध था । एक बार उसने अपने कमरे मे खडे होकर मैथुन करवाया था जिससे कमरे का साफ सुथरा फर्श गन्दा हो गया था । मैथुन के इस अनुभव से प्रेम को बड़ी आत्मग्लानि हुई थी जिससे उसकी मैथुन प्रेरणा और सुपरईगो (superego) मे द्वन्दात्मक सम्बन्ध स्थापित हो गया था । उस द्वन्द का कोई समाधान न कर सकने से प्रेम उसे भुला देना चाहती थी जिससे स्पष्ट है कि उसके मन मे अपराध-भावना भी पैदा हो चुकी थी । मैथुन-अनुभव-जन्य मानसिक गन्दगी को मिटाने (भुलाने) के शर्मनाक ख्याल ने कमरे की गन्दगी मिटाने का स्थानापन्न बनकर प्रेम के मन मे कमरे को हमेशा साफ रखने की बाध्यक्रिया (compulsion) पैदा कर दी थी । कमरा साफ करने की बाध्यक्रिया अपने ही मन को साफ करने का प्रतीक थी । बाद मे जब प्रेम ने अपने मैथुनात्मक अनुभव और बाध्यक्रिया के सम्बन्ध को समझ लिया तो उसकी वाध्यक्रिया का अन्त हो गया ।

बाध्यक्रियाओ की व्याख्या मे लगभग वही सब कहा जा सकता है जो पर्यावरण की व्याख्या मे पहले कहा जा चुका है । बाध्यक्रिया का अवरोध करने पर मानसिक कष्ट और बड़ी बेचैनी मालूम होती है ।

साइकेस्थीनिक टिक (tics)—बाध्यक्रियाओ के समान किन्तु बिना किसी उद्देश्य के किसी अग मे जो फड़कन होती है उसे टिक कहा जाता है । टिक किसी मासपेशी या मासपेशियो के समूह मे लगातार या रह रह कर हो सकती है । व्यक्ति उसे अनर्गल जानते हुए भी रोक नही पाता और इससे उसे बड़ा मानसिक कष्ट होता है । टिक यो तो किसी शारीरिक मासपेशी से सम्बन्धित हो सकती है किन्तु वे आँख, मुँह और गर्दन की मासपेशियो मे अक्सर होती है । टिको (tics) को अर्जित प्रक्षिप्त क्रियाएँ कहा जा सकता है ।

केस ११—एक युवक के जब वह किसी लड़की की उपस्थिति में होता था बाईं ओर के गाल मे टिक होने लगती थी । टिक लगभग तीन साल से उसके लिए एक मानसिक कष्ट बनी हुई थी । विश्लेषण द्वारा टिक

की उत्पत्ति के विषय मे यह पता चला कि युवक जब पन्द्रह साल का था तो एक दिन वह अपनी एक परिचित लडकी से बातचीत कर रहा था । लडकी ने शरारतन युवक की जेब से फाउन्टेनपेन निकाल लिया। युवक ने पेन छीनना चाहा किन्तु लडकी ने उसे अपनी चोली के अन्दर डाल लिया और युवक को एक मूक चुनौती दे डाली। युवक अकस्मात् उत्तेजित होकर बडे असमञ्जस में पड़ गया और तब पहली बार उसने अपने गाल मे टिक होने का अनुभव किया ।

युवक का बाल्यकाल अपनी माँ और छोटी बहन के दबाव मे बीता था जिससे उसमें औरतो से दबने की मनोवृत्ति बन गई थी। युवा होने पर उसने अपना आत्मनिर्धारण पुरुषोचित गुणो से कर औरतो से न दबने का दृढ सकल्प कर लिया था । लडकी की चोली में से पेन निकालने की मूक चुनौती मिलने पर युवक के आत्मनिर्धारण से बने नए सकल्प ने ज़ोर मारा और वह लडकी से हारना नही चाहता था । किन्तु औरतो से दबने की उसकी पुरानी मनोवृत्ति भी नही मिटी थी। नतीजा यह हुआ कि उसने एकाएक उत्तेजित होकर अपने को असहाय पाया और टिक का अनुभव किया। टिक ने उसका ध्यान एक विषम स्थिति से हटा दिया। टिक उसके और लडकी के बीच दूरी डालने का एक साधन था। औरतो के प्रति अपनी मनोवृत्ति सशोधित कर लेने पर ही युवक को टिक से छुटकारा मिल सकता था ।

साइकेस्थीनिया सैद्धान्तिक विवेचन—साइकेस्थीनिया के इन विभिन्न रूपो में बहुत समानता होती है। मनुष्य अपने व्यवहार की असंगतता जानते हुए और अपने पर नियन्त्रण रख सकने की इच्छा करते हुए भी नियन्त्रण नही रख पाता। साइकेस्थीनिया के विभिन्न रूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य मे अक्षमता की भावना पैदा करते है। भयकर बीमारी आदि में हर रोगी के मन में कुछ चिन्ताजनक असंगत विचार उठते है और अक्षमता की भावना पैदा करते है । लेकिन रोगी ज्यो ज्यो अच्छा होता जाता है त्यो त्यो उसके वे विचार अपने आप अदृश्य होते जाते है । किन्तु बिना किसी बीमारी के ही चिन्ताजनक असंगत विचारो का अकस्मात ही मन में उठने लगना एक सोचनीय समस्या है। इस समस्या का समाधान करने के लिए साइकेस्थीनिया विषयक अनेक मत प्रस्तुत किए गए है।

हालिंगवर्थ का मत—हालिंगवर्थ ने साइकेस्थीनिया का कारण किसी प्रासंगिक रागात्मक अनुभव—विशेषकर डर—को माना है। इससे फोबियाओं की व्याख्या अवश्य अच्छी तरह हो जाती है। हालिंगवर्थ का मत सदा समझने और पहचानने के प्रगत मनोविज्ञान पर आधारित है। यह भी किसी स्थिति

मे अगर पहले की स्थिति से समानता रखने वाली कोई भी बात होती है तो वह पहले की स्थिति से उत्पन्न होने वाले डर को फिर से जाग्रत कर देती है। निस्सदेह बहुत से फोबियाओ का आधार कुछ इसी तरह के अनुभव मे होता है। किन्तु कुछ लोगो को अत्यन्त आघातिक अनुभव होने पर भी फोबिया नही होता। आघातिक अनुभव कुछ लोगो मे ही फोबिया क्यो उत्पन्न करता है ? जरूर उसके पीछे आघातिक अनुभव की अपेक्षा कोई अन्य कारण भी होता होगा।

विघटित-प्रतिक्रिया (dissociate-reaction) मत—इस मत के अनुसार बचपन में अनुभव किए गए किसी रागात्मक अभाव से प्रतिक्रिया का जो रूप बन जाता है वह व्यक्तित्व की इकाई मे समन्वित या सगठित नही हो पाता। प्रतिक्रिया का वह रूप व्यक्तित्व के समन्वित रूप से सर्वथा अप्रभावित रहकर स्वतन्त्र क्रिया करने लगता है। मौलिक अनुभव कोशिश करने पर याद आ भी सकता है और नही भी। इस मत से फोबियाओ के अतिरिक्त साइकेस्थीनिक टिको की व्याख्या भी भलीभाँति हो जाती है। व्यक्ति के पूर्व इतिहास पर काफी ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी अवाछित क्रियाएँ बचपन मे बन गई असतुलित आदतो का परिणाम होती है। शिक्षा की उपेक्षा से बच्चो में कुछ अचेतन अवाछनीय आदते पड़ जाती है। शायद टिको के पीछे कुछ ऐसा ही इतिहास होता हो।

जैने का मत—फ्रासीसी मनोचिकित्सक जैने ने साइकेस्थीनिया पीडित और प्रकृत व्यक्ति मे अनेक प्रकार का अन्तर माना है। साइकेस्थीनिया-पीड़ित व्यक्तियो की सायास (voluntary) क्रियाओ का क्षेत्र बहुत सीमित होता है। उनमें निश्चयशक्ति का अभाव होता है। उन लोगो के लिए जगत की वास्तविकता उतनी स्पष्ट और निश्चित नही होती जितनी कि प्रकृत व्यक्ति के लिए होती है। व्यक्ति जगत की वास्तविकता की बहुमुखी स्पष्टता और निश्चितता को अपनी परिपक्वता के अनुपात से अर्जित करके समझता है। थकान आदि की अवस्था में व्यक्ति जगत की वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान नही कर पाता और अपूर्ण ज्ञान और अधूरे सतुलन के स्तर पर ही रह जाता है जिससे उसमें अक्षमता की भावना पैदा हो जाती है। ऐसे व्यक्ति के सामने यदि कोई ऐसी स्थिति आ जाय जिसका सामना करने के लिए उच्चतम शारीरिक एव मानसिक तनाव (tension) की आवश्यकता हो तो उसकी प्रतिक्रिया का रूप उस स्थिति के लिए अपर्याप्त हो सकता है। प्रतिक्रिया के अपर्याप्त रूप की अभिव्यक्ति टिको आदि से प्रकट होने वाले प्रभावकीय असगठन द्वारा हो सकती है। जैने ने इसको मनोवैज्ञानिक तनाव का परिवर्तन कहा है। साइकेस्थीनिया-पीड़ित व्यक्तियो में मनोवैज्ञानिक तनाव का परिवर्तन

हो जाता है और प्रकृत व्यक्तियो के तनाव के समान नही रहता। मनोवैज्ञानिक तनाव की कमी के कारण व्यक्ति फोबिया, पर्यावरण, वाध्यक्रियाओ आदि का शिकार बन जाता है।

मनोवैज्ञानिक तनाव की कमी का कारण किसी जन्मजात या बचपन की दुर्वलता के कारण भी हो सकता है। तनाव की कमी होने से व्यक्ति विभिन्न स्थितियो से अपना यथेष्ट सतुलन करने में अक्षम रहता है और उसकी मानसिक क्रियाएँ दुर्वल वनी रहती हैं। जैने के इस सिद्धान्त से साइकेस्थीनिया के विभिन्न रूपो की व्याख्या तो हो जाती है किंतु यह स्पष्ट नही हो पाता कि मनोवैज्ञानिक तनाव की कमी साइकेस्थीनिया के किसी एक विशेष रूप मे ही क्यो प्रकट होती है, दूसरे मे क्यो नही ?

फ्रायट का मत—फ्रायट ने यद्यपि साइकेस्थीनिया की धारणा को कुछ कारणो से स्वीकार नही किया है किंतु उसके अनुयायियो ने उसकी मान्यताओं को जैने द्वारा प्रस्तुत साइकेस्थीनिया के लक्षणो पर लागू करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार साइकेस्थीनिया का कारण किसी इच्छा के शमन मे होता है। मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से इच्छा दो पक्षो से निर्मित होती है प्रात्ययिक (ideational) और रागात्मक (affection)। इच्छा का रागात्मक पक्ष लिबिडो (libido) का अविभाज्य अग होता है। कभी कभी किसी इच्छा का शमन पूरी तरह से हो जाता है। तब उस इच्छा से सम्बन्धित रागात्मक शक्ति पक्षाघात या सवेदनशून्यता जैसे किसी आंगिक रोग के रूप में अभिव्यक्त होती है। अगर इच्छा का शमन पूरी तरह से न होकर अधूरा रहता है तो उस अधूरे शमन मे इच्छा के प्रात्ययिक पक्ष का ही शमन होता है और रागात्मक पक्ष की शक्ति का शमन नही होता। उस रागात्मक पक्ष की शक्ति अगर डर में परिवर्तित हो जाती है तो व्यक्ति को फोबिया हो जाता है। रागात्मक पक्ष की शक्ति किसी और प्रत्यय पर विस्थापित होकर पर्यावरण (obsession) और वाध्यक्रियाओ (compulsions) का कारण बन सकती है। १५ अक्तूबर १८९५ को लिखे गए अपने एक पत्र में फ्रायट ने पर्यावरण को बचपन में अनुभव किए मैथुन सुख का परिणाम बताया है जो बाद में अपराध-भावना में परिवर्तित हो जाता है। फोबिया, पर्यावरण, वाध्यक्रियाओ आदि का वास्तविक कारण अचेतन में होता है और उसे मनोविश्लेषण द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रेरक इच्छा के प्रात्ययिक पक्ष का शमन हो जाने से फोबिया, पर्यावरण आदि का आदि समझ में नहीं आता और रागात्मक शक्ति के विस्थापन के कारण व्यक्ति को उनसे अभिभूत होना भी पड़ता है।

फोबिया, पर्यावरण और बाध्यक्रियाएँ एक दृष्टि से रक्षात्मक होती हैं। वे व्यक्ति का ध्यान वास्तविक कारण की ओर नहीं जाने देती और इस प्रकार उसे जघन्य कार्य करने से बचाती है। यो भी कहा जा सकता है कि साइके-स्थीनिक व्यवहार हमारी इच्छाओ और शमन हो चुकी शक्तियो मे एक समझौता-सा होता है। साइकेस्थीनिया का आधार अपराध-भावना, मैथुन, अरक्षा, हीनता की भावना या जातीय और आत्मीय उद्देश्यो के द्वन्द मे दिखाकर उसकी गत्यात्मक व्याख्या भी की जा सकती है। उपर्युक्त सब केसो में साइकेस्थीनिया की गत्यात्मक व्याख्या ही की गई है।

१६

हिस्टीरिया, एपीलेप्सी, बहु-व्यक्तित्व

हिस्टीरिया शब्द ग्रीक भाषा के 'हिस्टेरा' (hystera) शब्द से बना है। हिस्टेरा शब्द का अर्थ स्त्री का गर्भाशय होता है इसलिए अपने मूल अर्थ मे हिस्टीरिया स्त्री के गर्भाशय के किसी दोष के कारण उत्पन्न होने वाला विकार समझा जाता था और हिस्टीरिया रोग स्त्रियो तक ही सीमित माना जाता था। किंतु आजकल हिस्टीरिया शब्द का पुराना अर्थ बदल गया है और उसे स्त्रियो तक ही सीमित नही माना जाता। फ्रायड और जैने ने हिस्टीरिया के लक्षणो की व्याख्या करके उनका कारण मनोजन्य (psychogenic) बताया है और उनके अलग अलग वर्गीकरण किए हैं। हिस्टीरिया को उसके विभिन्न रूपो के अध्ययन से ही अच्छी तरह समझ सकना आसान होगा।

हिस्टीरिया के लक्षण—हिस्टीरिया का प्रमुख लक्षण मानसिक विघटन (mental dissociation) होता है जिसकी अभिव्यक्ति मानसिक क्रियाओ में भी हो सकती है और शरीर के किसी अग मे भी। हम देख चुके हैं कि व्यक्तित्व व्यक्ति की विभिन्न क्षमताओ की सगठित इकाई होता है। मानसिक विघटन मे व्यक्तित्व की सगठित इकाई नष्ट हो जाती है जिसमे विभिन्न मानसिक क्रियाएँ परस्पर असम्बद्ध हो जाती हैं। विघटन का परिणाम ऐम्नेसिया (amnesia) होता है। ऐम्नेसिया शब्द का अर्थ है भूल जाना, किंतु यह प्रकृत (normal) भूलना नही होता। ऐम्नेसिया का एक विशिष्ट अर्थ होता है। व्यक्ति के अतीत और वर्तमान के सम्बन्ध की एकता उसकी स्मृति के कारण रहती है और उस एकता से ही व्यक्ति का तादात्म्य स्थापित रहता है। ऐम्नेसिया मे व्यक्ति अपने अतीत और वर्तमान का सम्बन्ध भूल जाता है जिससे उसका तादात्म्य नष्ट हो जाता है, यही विघटन है। ऐम्नेसिया द्वारा व्यक्ति के अन्दर तीव्र अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न करने वाले दो प्रतियोगी उद्देश्य अलग अलग हो जाते हैं और इस प्रकार अन्तर्द्वन्द्व से पैदा होने वाला तनाव (tension) घट जाता है।

हिस्टीरिया का [illegible] लक्षण [illegible] (suggestibility) की अधिकता होती है। [illegible]

की इच्छानुसार काम करने लग जाता है और अपनी व्यक्तिगत रुचि की उपेक्षा करता है । वह दूसरों की बातो को अपने ज्ञान और अनुभव के प्रतिकूल होने पर भी सच मान लेता है । निर्देशनग्राह्यता लोगों मे अलग अलग मात्रा मे होती है । निर्देशनग्राह्यता पर और कही सम्मोहन (hypnotism) के प्रसग मे विस्तृत प्रकाश डाला जायगा ।

हिस्टीरिया का एक और लक्षण है व्यक्ति का आत्म-केन्द्रित होना (ego-centricity) । हिस्टीरियाग्रस्त व्यक्ति अपने लक्षणो को दूसरो का ध्यान अपनी ओर खीचने का साधन बनाता है किंतु स्वय अपने रोग के लक्षणो के प्रति विचित्र प्रकार से उदासीन रहता है । हिस्टीरिया के लक्षण व्यक्ति को उस तरह परेशान नही करते जिस तरह साइकेस्थीनिया (Psychasthenia) के लक्षण करते है। हिस्टीरिया पीडित व्यक्ति का एक अजीब तरह का बहिर्मुखी रुझान हो जाता है । हिस्टीरिया चूँकि मानसिक विघटन के कारण होती है इसलिए हिस्टीरियाग्रस्त व्यक्ति के सचारीभावो मे भी अस्थिरता रहती है । संचारी-भावो में स्थिरता तभी रह सकती है जब विभिन्न मानसिक क्रियाएँ एक सगठित इकाई बनी रहे ।

सचारीभावो से अत्यधिक उद्दीप्त हो जाने पर शरीर की सायास पेशियो (voluntary muscles) में अनायास ही आकुंचन होने लगता है जिससे सारे शरीर मे रह रह कर निरर्थक और अनर्गल आकुंचन होने लग जाता है । ऐसी अवस्था में व्यक्ति रह रह कर हँसने या चिल्लाने लगता है और जानते हुए भी अपने व्यवहार पर नियन्त्रण नही कर पाता । उसका हँसना या चिल्लाना अनियन्त्रित रूप से तब तक होता है जब तक वह थक नही जाता या कोई बाहरी बाधा से विवश होकर चुप नही हो जाता । सचारी-भावो से सम्बन्धित इस तरह के हिस्टीरिक व्यवहार के उतने ही रूप हो सकते है जितने सचारीभावो की अभिव्यक्ति के । सचारीभावो के व्यापक शारीरिक प्रभाव के कारण हिस्टीरिया के लक्षणो को देख सकना प्राय कठिन होता है, किंतु व्यापक शारीरिक प्रभाव को ध्यान से देखने पर उसका पता लगा लेना कठिन भी नही होता ।

एपीलेप्सी

शरीर की सायास पेशियो मे अनायास आकुचन एक और रोग से भी होता है जिसे एपीलेप्सी (epilepsy) कहते है । एपीलेप्सी न्यूरोनीय व्यवस्था की एक बीमारी है जिसकी अभिव्यक्ति रह रह कर आकस्मिक ढंग मे सवेदन-

शून्यता और चेतनता के भग होने द्वारा होती है जिसके प्रभाव से एपीलेप्सी-ग्रस्त व्यक्ति हिस्टीरिया पीडित व्यक्ति की भॉति अनर्गल तथा अप्रकृत व्यवहार करने लग जाता है । लेकिन एपीलेप्सी और हिस्टीरिया के अप्रकृत व्यवहार को समान नही समझना चाहिए। हिस्टीरिया का दौरा खत्म होने पर व्यक्ति को उस तरह की थकान नही मालूम होती जिस तरह की एपीलेप्सी-ग्रस्त व्यक्ति को एपीलेप्सी का दौरा खत्म होने पर मालूम होती है । दूसरे, हिस्टीरिया का दौरा खत्म होने के बाद व्यक्ति उसी अच्छी तरह प्रकृत व्यवहार कर सकता है जिस तरह किसी प्रबल सचारीभाव का प्रभाव खत्म होने के बाद ।

एपीलेप्सी के कारणो पर आजतक बडा मतभेद रहा है। शारको ने एपीलेप्सी का वर्णन दो तरह से किया है वडा दौर (grand mal) और छोटा दौर (petit mal) । बडे दौर के पहले रोगी अक्सर बेचैन, चिडचिडा, उद्दण्ड और गर्मिजाज हो जाता है । दौर के बाद रोगी को शारीरिक बेचैनी, गन्ध या श्रवण या कोई और तरह का मतिभ्रम (hallucination) होता है । इसके बाद रोगी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पडता है ।

छोटे दौर मे रोगी जमीन पर गिरता तो नही लेकिन कुछ देर तक लडखडा सकता है । वह कुछ देर के लिए अचेतन भी हो जाता है और जब उसकी चेतनता फिर लौट आती है तो वह अपने काम मे यो लग जाता है मानो उसकी मानसिक क्रियाओ मे कोई बाधा ही न हुई हो ।

एपीलेप्सी के दो पक्ष होते है टानिक (tonic) और क्लानिक (clonic) । टानिक पक्ष में मूर्च्छा आने के बाद शारीरिक पेशियो (muscles) मे एक-आध मिनट तक आकुचन होता रहता है। टानिक पक्ष के बाद क्लानिक पक्ष आता है जिसमें शारीरिक पेशियो मे क्रमिक रूप से आकुचन तथा प्रसारण होता रहता है । जबड़े की पेशियो मे आकुचन तथा प्रसारण होने से थूक मथ जाता है और मुँह में झाग आने लगते हैं । धीरे धीरे आकुचन कम होता जाता है और इस हालत मे रोगी सोना पसन्द करता है । जागने पर उसे सिरदर्द या थकान मालूम होती हैं । एपीलेप्सी का दौर सोते या जागते किसी भी समय हो सकता है। कुछ केसो मे अचेतन हालत में ही लगातार पाँच या छे दौर आ जाते हैं ।

एपीलेप्सी ग्रस्त व्यक्ति मे धीरे धीरे मानसिक क्षीणता होती रहती है। खोजो मे यह भी पता चला है कि एपीलेप्सी के दौरो की तीव्रता तथा आवृत्ति का मानसिक क्षीणता से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। एपीलेप्सी जीवन

के प्रारम्भिक काल मे ज्यादा प्रकट होती है । स्प्रैटलिंग के अनुसार एपीलेप्सी दस वर्ष से पहले ३८·५ प्रतिशत लोगो मे, दस-बीस की आयु के बीच ४३ प्रतिशत मे और बीस-उन्तीस की आयु के बीच ६ प्रतिशत मे होती है। गाउवर के अनुसार एपीलेप्सी के लक्षण ७६ प्रतिशत लोगो मे बीस वर्ष की आयु के पहले ही प्रकट हो जाते है ।

एपीलेप्सी के कारण—नोई (Noyes) के अनुसार एपीलेप्सी का कारण रोगी के व्यक्तित्व के बनने मे होता है । एपीलेप्सी-ग्रस्त व्यक्ति का मिजाज चिड़चिडा, सवेदनशील और आत्म-केन्द्रित होता है। सचारीभावो की अस्थिरता, क्रूरता, सुस्ती, अतिशय यौन-लिप्सा, परिवेश से सतुलन न कर पाना आदि एपीलेप्सी के अन्य निमित्त कारण है । एपीलेप्सी के साथ कुछ अन्य प्रकार के रोग तथा शर्ते भी रहती है और हर हालत मे उनमे भेद कर सकना असम्भव होता है ।

सैद्धान्तिक विवेचन—एपीलेप्सी के प्रमुख कारणो के विषय मे विभिन्न मत है । कुछ विद्वान एपीलेप्सी को मनोजन्य (psychogenic) मानते है और उनके अनुसार एपीलेप्सी के दौरे मे व्यक्ति वाह्य जगत की उस कटुता से अपनी रक्षा करता है जिससे वह अपना उचित सतुलन नही कर पाता । इस मान्यता का आधार यह है कि सचारीभावो की अडचन अक्सर एपीलेप्सी के दौरे को पैदा कर देने मे सहायक बनती है । कुछ विद्वान एपीलेप्सी को शरीरजन्य मानते है, कुछ आनुवशिक कारणो को प्रधानता देते है और कुछ रोगी के प्रारम्भिक जीवन के किसी आघात को मूल कारण बताते है ।

रोजैनोफ द्वारा की गई खोजो से एपीलेप्सी मे यद्यपि आनुवशिक प्रभाव की विचारणीय प्रधानता मिली है किंतु रोजैनोफ ने आनुवशिकता (heredity) को एपीलेप्सी का कोई प्रमुख निर्धारक न मानकर जन्म के समय के किसी आघात को ही प्रमुख निर्धारक माना है । इतने बडे मतभेद के होते हुए अन्त में यही कहा जा सकता है कि एपीलेप्सी-ग्रस्त व्यक्ति मनोभौतिक दृष्टि से अस्थायी होता है और शारीरिक एव मानसिक सतुलन कर सकने की क्षमता कम रखता है ।

२—हिस्टीरिया के रूप

१—एनेस्थीसिया—यह एक ग्रीक शब्द है जिसका अर्थ है स्पर्श के प्रति सवेदनशून्यता । एनेस्थीसिया-ग्रस्त व्यक्ति को स्पर्श का सवेदन नही होता । एनेस्थीसिया का प्रचलित अर्थ पीड़ा के प्रति सवेदनशून्यता भी हो गया है । अतएव आजकल एनेस्थीसिया शब्द को दोनो अर्थो में प्रयुक्त किया जाने लगा

है क्योकि उन दोनो में भेद करना निरर्थक है। हिस्टीरिक एनेस्थीसिया के उतने ही प्रकार होते है जितने ग्राहक होते है या शायद उससे भी ज्यादा। दृष्टि-एनेस्थीसिया के रोगियो की परीक्षा से यह पता चला है कि ऑख और उसकी क्रिया के विल्कुल स्वस्थ होने पर भी व्यक्ति देख नही पाता। ऐसे भी उदाहरण मिले है जहाँ व्यक्ति कुछ विशेष रगो के प्रति ही अन्धा होता है जिनका वर्णान्धता के सामान्य तथ्यो से कोई सम्बन्ध नही होता। दृष्टि-एनेस्थीसिया एक ऑख में हो सकती है या दोनो आँखो के भागो में। दृष्टि-एनेस्थीसिया में दृष्टि-क्षेत्र भी सकुचित हो सकता है और व्यक्ति केवल उन्ही वस्तुओ को देख सकता है जो उसकी दोनो आँखो के ठीक सामने न हो। तो वह उन्हे नही देख पाता। जैने द्वारा वर्णित नीचे दिए दो केसो मे ऐसे उदाहरण देखे जा सकते है।

केस १२—अडतीस साल का व्यक्ति एक मशीन साफ कर रहा था। ग्रीज और पेट्रोल से सना एक झाडन सहसा मशीन मे फँसकर उसके मुँह पर आ लगा। उसका सारा चेहरा सन गया और उसने इस घटना पर विशेष चिंतित न होकर मुख साफ कर लिया। मुख धोते समय उसे पलको और खाल पर से चिकनाहट छुटाने में काफी परेशानी हुई। उसकी आँख में कोई चीज नही गई थी और न ही आँखो में किसी प्रकार का दर्द था। घटे भर बाद उसे अपनी आँखो के सामने कुछ धुँधलापन-सा दिखाई देने लगा और धीरे धीरे इतना गहरा होता गया कि वह दो घटे बाद देख सकने से बिल्कुल लाचार हो गया। दूसरे और तीसरे दिन वह अपनी दाहिनी आँख से ही कभी कभी कुछ देख पाता था। उसकी यह हालत एक महीने तक रही और फिर वह चार साल तक बिल्कुल अन्धा बना रहा।

केस १३—मेरिया कॉलेज में पढने वाली एक युवा लडकी थी। एक दिन वह समुद्र के किनारे तैर रही थी। वह तैर कर तट से थोडी दूर गई और वहाँ से फिर तट की ओर तैर कर लौटने लगी। उथला पानी आने पर वह खडी होकर तट के किनारे बैठी अपनी चाची की ओर चलने लगी। सहसा उसकी आँखे कसकर बन्द हो गई और वह उन्हे खोल न सकी। बाद में उसे अस्पताल ले जाया गया। छै दिन तक वह आँखे नही खोल सकी और विस्तर पर बेचैनी से करवटें बदलती रही। सहसा उसकी आँखें अपने आप से ही खुल गईं किंतु वह बिल्कुल अन्धी हो चुकी थी। ·· वह बेचैन रहा करती थी और चिंतित थी कि कॉलेज खुलने पर वह शायद ही जा सके। ग्यारहवें दिन

अस्पताल मे वह अपनी खाट से नीचे गिर पडी और उसकी दृष्टि सहसा उसी आकस्मिक ढग से लौट आई जिस ढंग से उसकी आँखें बन्द हो गई थी ।

एनेस्थीसिया त्वचा मे भी हो सकती है । त्वचीय हिस्टीरिक एनेस्थीसिया का कारण बोधवाहक न्यूरोनो के वितरण या दोष मे न होकर मनोजन्य (psychogenic) होता है । हिस्टीरिक एनेस्थीसिया त्वचा के किसी भी भाग मे हो सकती है । वह बहुत थोडे क्षेत्र तक भी सीमित हो सकती है। एनेस्थीसिया शरीर के आन्तरिक अगो मे भी हो जाती है । ऐसी दशा मे उदाहरण के लिए रोगी को भूख का सवेदन नही हो पाता और इसलिए उसे खाने की इच्छा नही होती या उसे थकान नही लगती और वह लम्बे समय तक काम कर सकता है जो स्वास्थ्य के लिए घातक होता है।

२—टिक और कोरिया (Tics and choreas)—आँख, मुँह, उँगलियो या शरीर के किसी अन्य अग का रह रह कर अनियमित, अनायास और आकस्मिक ढग से फडकना टिक और उससे उत्पन्न होने वाले क्रियात्मक व्यतिक्रम को कोरिया कहा जाता है । टिक होने के समय व्यक्ति को उसका ज्ञान नही रहता और ज्ञान होने पर टिक होना बन्द हो जाता है । इससे स्पष्ट है कि हिस्टीरिक टिक चेतन क्रिया का परिणाम नही होते । हिस्टीरिक और साइकेस्थीनिक (psychasthenic) टिको मे यही भेद है । साइकेस्थीनिक टिक होने के समय उसकी चेतनता भी रहती है । हिस्टीरिक टिक अक्सर हिस्टीरिक एनेस्थीसिया के स्थान पर ही होता है । हिस्टीरिक टिक विघटन का परिणाम होता है, साइकेस्थीनिक टिक शमन (repression) का ।

> **केस १४**—एक सिपाही के जबडे और गले की पेशियो मे खाते समय टिक होने लगता था जिससे उसके चेहरे पर क्रोध का भाव झलक आता था। वह इस टिक की उत्पत्ति के बारे मे कुछ भी नही जानता था । सम्मोहन की अवस्था मे उसे एक भूला हुआ दृश्य याद आया एक वार वह शत्रुओ के क्षेत्र मे अपने को छिपाए हुए लेटा था । उस समय उसने अपने एक साथी के साथ शत्रुओ को दुर्व्यवहार करते देखा । वह गुस्से से भर गया और उसी समय उसे एक गोली लगी और वह अचेतन हो गया । जाग्रतावस्था में उसे जिस समय इस घटना की याद आती थी तो टिक होना वन्द हो जाता था क्योकि घटना याद आने पर मानसिक विघटन नष्ट हो जाता था ।

कुछ विद्वानो का यह मत है कि मनोजन्य होते हुए भी टिक पुनरावृत्ति द्वारा एक विल्कुल मशीनवत् आदत वन जाता है और मशीनवत् आदत स्वतन्त्र

क्रियावाहक प्रवृत्ति होती है। यदि इस मत को माना जाय तो टिको को भी लाइलाज मानना पडेगा। किंतु चूकि वडे पुराने टिको का भी उपचार हो सका है इसलिए यह देखते हुए उपर्युक्त मत को सही नही कहा जा सकता। यह भी देखा गया है कि टिक की तीव्रता तथा आवृत्ति रोगी की मानसिक दशा पर निर्भर होती है। जब रोगी शान्त रहता है तो टिक नही के बराबर होता है किन्तु उद्दीप्त अवस्था मे टिक की तीव्रता और आवृत्ति वढ जाती है।

३—हिस्टीरिक दर्द—त्वचा के ऊपर पीडा-स्थल होते है जिनके उत्तेजित होने पर दर्द का अनुभव होता है किंतु रोगी कभी कभी ऐसे दर्द होने की शिकायत करता है जिसका कारण परीक्षा करने पर पीडा-स्थलो मे नही पाया जाता। ऐसे दर्द को हिस्टीरिक दर्द कहा जाता है। हिस्टीरिक दर्द शरीर के अन्दर किसी अग से उठता लग सकता है और उसकी तीव्रता में अन्तर होता रहता है। पहली परीक्षा मे दर्द का उद्गम गलती से जिन स्थलो पर समझ लिया जाता है दूसरी वार की परीक्षा मे चिकित्सक के निर्देशन (suggestion) के परिणाम स्वरूप दर्द वही से उठता लग सकता है। किंतु वह दर्द निर्देशन द्वारा दूर भी हो जाता है जिससे उसके हिस्टीरिक होने की सम्भावना और भी वढ जाती है।

हिस्टीरिक दर्द के विषय में प्रामाणिक रूप से अभी कुछ ज्यादा मालूम नही हो पाया है। यह निश्चय करना कठिन है कि हिस्टीरिक दर्द दर्द का स्पष्ट उत्तर-सवेदन होता है या बोधवाहक थ्रेस्होल्ड (threshold) के घट जाने का परिणाम होता है। किंतु हिस्टीरिक दर्द से पीडित व्यक्ति का ध्यान यदि किसी और तरफ आकृष्ट कर दिया जाय तो हिस्टीरिक दर्द मिट जाता है। इसलिए हिस्टीरिक दर्द को साइको-न्यूरोनीय (psychoneurotic) दर्द कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।

अक्सर यह देखा या सुना जाता है कि किसी व्यक्ति को साँप या विच्छू चढ गया था जिसे किसी ओझा ने झाड-फूँककर उतार दिया। लेखक ने स्वय साँप, बिच्छू या भूत उतारे जाने के केस देखे है और उसका यह विचार है कि वे हिस्टीरिक दर्द या यातना के ज्वलत उदाहरण होते है। लेखक ने नीचे दिया केस स्वय देखा था

> **केस १५**—सत्ताइस साल के राधे नामक एक व्यक्ति को विच्छू ने पैर के नीचे काट लिया था और वह दर्द के मारे वेहद चिल्ला रहा था। उस गाँव से कुछ मील दूर दूसरे गाँव मे एक ओझा रहता था। लोगो ने फौरन आदमी भेजकर उस ओझा को वुलवाया। ओझा ने आते ही पास ही घास मे से न जाने कौन हरी पत्ती तोड ली और कुछ

पढ पढ कर उसे अँगूठे से हाथ ही में मसलने लगा। यह क्रिया वह राधे को भी दिखाता जाता था। बाद में उसने राधे से पूछा कि उसके दर्द कहाँ हो रहा है। राधे ने नीचे मे जाँघ तक इशारा कर दिया। ओझा ने उसके घुटने पर उँगली रखकर कहा कि उसका दर्द क्षण भर मे घुटने तक उतर आयगा। इसके बाद उसने फिर जोर जोर से कुछ पढना और पत्ती को अँगूठे से मसलना शुरू कर दिया। दस-बारह सेकेन्ड बाद राधे ने कहा कि उसका दर्द घुटने तक उतर आया है। इसी प्रकार ओझा ने दर्द को पैर के नीचे तक उतार दिया।

लेखक के विचार से यह केस हिस्टीरिक दर्द का एक अच्छा उदाहरण है। हमारे देश के लगभग अस्सी प्रतिशत लोगो में अशिक्षा या कुशिक्षा, सामाजिक कुप्रथाओ और गरीबी आदि के कारण निर्देशनग्राह्यता (suggestibility) बहुत ज्यादा होती है और वे बहुत सी बातो को परीक्षा किए बिना ही सच मान लेते है। राधे मे भी निर्देशनग्राह्यता बहुत थी। वास्तव मे बिच्छू ने उसे काटा नही था। बिच्छू उससे छू भर गया होगा या उसने अपना डंक मार दिया होगा। डक मारने के बाद बिच्छू जहर उडेलता है और यदि वह जहर न उडेल सके तो उसके डक मारने का व्यक्ति पर कोई प्रभाव नही होगा। यहाँ तक कि दर्द भी नही होगा। राधे के शरीर के अन्दर बिच्छू का जहर नही जा पाया था लेकिन उसका डक मारना ही अत्यन्त निर्देशनग्राही व्यक्ति में दर्द उत्पन्न कर देने के लिए काफी है। राधे को बिच्छू काटने का दर्द आत्मनिर्देशन (auto-suggestion) से हुआ था इसलिए वह ओझा के निर्देशन से दूर भी हो गया। लेखक ने ऐसे केसो को भी देखा है जहाँ ओझा बिच्छू उतार सकने मे बिल्कुल असमर्थ रहे है क्योकि उन केसो मे बिच्छू का जहर पीडितो के खून मे जा चुका था जो लाख झाड फूँक करने से भी नही उतर सकता था।

४ हिस्टीरिक लकवा—हिस्टीरिक लकवे में व्यक्ति के कुछ क्रियावाहक तथा वोधवाहक अगो की क्रियाओ मे विघटन (dissociation) हो जाता है। हिस्टीरिक लकवे का असर हाथ-पैर, बोलने की पेशियो या अन्य पेशियो पर पड सकता है। हिस्टीरिक और शारीरिक लकवे मे वडा अन्तर होता है। शारीरिक लकवे में शरीर के जिस अग में लकवा लग जाता है वह अग प्रक्षिप्त क्रियाएँ न कर पाने के कारण निष्क्रिय वन जाता है और उससे काम नही लिया जा सकता। हिस्टीरिक लकवे से ग्रसित अंग की प्रक्षिप्त क्रियाएँ कर सकने की शक्ति नष्ट नही होती जिससे हिस्टीरिक-लकवा-ग्रस्त व्यक्ति सोते समय या किसी भयकर स्थिति में उस अग से काम ले सकता है।

शारीरिक लकवे से ग्रस्त व्यक्ति अपने निष्क्रिय अंग से काम लेने की भरसक चेष्टा करता है लेकिन हिस्टीरिक लकवाग्रस्त व्यक्ति लकवा लगे अग की उपेक्षा करता है और उससे काम लेने का प्रयत्न तक नही करता। आश्चर्य तो यह है कि वह लकवाग्रस्त अग के लिए चिंतित भी नही होता।

हिस्टीरिक लकवे के एक रूप को ऐस्टेसिया-एबैसिया (astasia-abasia) कहा जाता है जिसमे रोगी बैठे या लेटे हुए तो अपने पैरो पर पूरा नियन्त्रण रखता है किंतु चल या खडा नही हो पाता। लकवाग्रस्त अग कभी कभी गलने भी लग जाता है जिसका कारण उस अग के अनुपयोग (disuse) मे माना जाता है। किंतु गलन इतनी जल्दी होने लगती है कि उसकी व्याख्या अनुपयोग के प्रभाव से करना असगत जान पडती है। दूसरे, गलन का हिस्टीरिया के अन्य लक्षणो की तरह मनोवैज्ञानिक इलाज भी किया जा सकता है।

हिस्टीरिक लकवे के साथ साथ अक्सर कोई न कोई सचारीभावात्मक आघात पाया जाता है। हिस्टीरिक लकवे में जो विघटन होता है रोगी अगर उसके अच्छा हो जाने की सम्भावना में विश्वास न करे तो उसे अच्छा करने में बडी कठिनाई होती है। एक बार विश्वास बन जाने पर उसमे स्थायित्व आ जाता है और व्यक्ति उसके परिवर्तित या नष्ट हो सकने का प्रतिरोध करता है। हिस्टीरिक लकवे को स्थायित्व देने में विश्वास का जो महत्व होता है वह म्कडूगल द्वारा वर्णित नीचे दिए केस से स्पष्ट हो जायगा

केस १६—एक जिप्सी मजदूर भूसे की मशीन पर काम कर रहा था। उसका बायाँ हाथ मशीन के किसी ऐसे भाग में फँस गया जो घास को ऊपर ले जाता था। मजदूर क्रूर ढग से ऊपर उठ गया और बायें हाथ से कुछ देर तक हवा में लटका रहा। उसे इस सकट से बचाए जाने के बाद यह देखा गया कि उसका पूरा बायाँ हाथ सवेदनशून्य और लकवाग्रस्त हो चुका था। वह साल भर तक इसी हालत में रहा। चिकित्सको ने तरह तरह से उसका उपचार करने की कोशिश की लेकिन कोई सफलता न मिली। इससे रोगी मे यह विश्वास घर कर गया कि उसका बायाँ हाथ हमेशा के लिए बिल्कुल बेकार हो चुका है और उसका कोई इलाज नही हो सकता। उसका दिल बैठ चुका था। सम्मोहन (hypnotism) द्वारा दिए गए निर्देशनो (suggestions) का भी उस पर कोई प्रभाव नही पडा। कई हफ्तों तक समझाने-बुझाने, बाध्य करने और जाग्रत तथा सुषुप्तावस्था मे निर्देशन देने से उसका

लकवा बडी मुश्किल से ठीक हो पाया। इलाज की पहली और प्रमुख बात रोगी के मन से हिस्टीरिक लकवे के लाइलाज होने के विश्वास को उखाड फेकना होती है।

५—फ्यूग (Fugue) हिस्टीरिया के एक अन्य रूप को हिस्टीरिक फ्यूग कहते है। फ्यूग लैटिन भाषा का शब्द है और उसका अर्थ है भागना या पलायन करना। हिस्टीरिक पलायन मे व्यक्ति किसी अज्ञात प्रेरणा के वशीभूत होकर घर से पलायन कर जाता है और कई दिनो या हफ्तो तक अपने को भूलकर इधर इधर घूमता रहता है। जब उसे अपनी सुधि आती है तो वह घर तो लौट आ सकता है लेकिन हिस्टीरिक पलायन या फ्यूग के समय की सारी घटनाएँ भूल जाता है।

व्यक्ति अपनी जिन इच्छाओ का शमन (repression) करता है उनकी पूर्त्ति उसके दिवास्वप्नो द्वारा होती है। फिर मर्मवेधी घरेलू या व्यावसायिक सकट जैसे किसी सचारीभावात्मक आघात से दिवा-स्वप्नो द्वारा बनी मधुर कल्पनाओ में विघटन हो जाता है जिससे शमन की गई इच्छा व्यक्ति की विघटित व्यवस्था द्वारा फ्यूग के रूप मे कार्यान्वित होने लगती है और उसकी ऐसी मनोदशा हो जाती है कि वह घर से दूर किसी अन्य स्थान पर पलायन कर जाना चाहता है। पलायन-प्रवत्ति का व्यक्ति पर एकदम प्रभाव नही पडता और वह परिवार को निराश करके न भागने की विरोधी प्रवृत्ति द्वारा नियन्त्रित रहता है। किंतु फिर ऐसी अवस्था आती है जब पलायन-प्रवृत्ति पारिवारिक उत्तरदायित्व की प्रवृत्ति को पराजित कर देती है और व्यक्ति बलात् उस प्रवृत्ति की पकड़ मे आकर पलायन कर जाता है। जैने द्वारा वर्णित फ्यूग का एक केस यो है

केस १७—रू एक गरीब लडका था और अपनी माँ के साथ एक शहर मे रहता था जहाँ वह एक पन्सारी की दूकान मे नौकर था। कई सालो से उसकी शराबखाने मे जाने की आदत पड गई थी। शराबखाने मे वह नाविको की सगति मे बैठकर उनकी सामुद्रिक यात्राओ की साहस भरी कहानियो को बडी रुचि से सुनता था और उन मनोहर कहानियो के प्रदेशो मे पहुँच सकने के स्वप्न देखा करता था। उसकी शराब पीने की आदत भी पड चुकी थी और शराब विघटन (dissociation) मे सहायक बनती है। शराब पीने के बाद वह अक्सर घर लौटना भूल जाता था और पेरिस की सडको पर भीख माँगता हुआ घूमता रहता था। उसके दिमाग मे एक ही विचार चक्कर काटता था कि वह किसी तरह उन मनोहर प्रदेशो मे पहुँच जाय। एक बार तो उसने

घर से भागकर और तरह तरह की मुसीबतें उठाकर एक जहाज के यात्री की नौकरी कर ली। उसे घर से भागे कई महीने हो चुके थे। एक दिन उसके मालिक ने उसे थोडी शराब दी। वह कोई उत्सव का दिन था और उस तिथि को सुनते ही रू चिल्ला उठा "आज मेरी माँ की वर्षगाँठ है" और इसी समय उसे अपनी सुधि हो आई किंतु वह घर से भागने के दिन से कुछ भी याद नही कर पाया कि उसने इस बीच क्या क्या किया था।

फ्यूग की हालत कुछ घंटो से लेकर महीनो तथा सालो तक रह सकती है। फ्यूग में व्यक्ति को अपने अतीत की सुधि नही रहती। यद्यपि फ्यूग मे व्यक्ति का व्यवहार चेतनाशून्य होता है किंतु वह भागने का उपक्रम और कुछ हद तक अपनी देख-भाल कर सकने की चेतनता रखता है और फ्यूग का दौरा खत्म होने के वाद उसे पिछले जीवन की वाते तो याद रहती है किंतु फ्यूग के समय की कोई बात याद नही रहती। व्यक्ति अकस्मात् किसी सकेत द्वारा फ्यूग की अवस्था से वाहर भी आ जाता है जैसे उपर्युक्त केस मे तिथि सुनते ही रू की फ्यूग की हालत मिट गई थी।

६—सोमनैम्बुलिज्म (somnambulism)—हिस्टीरिक फ्यूग की तरह हिस्टीरिया के दौरे मे व्यक्ति सोते सोते चलने भी लगता है। हिस्टीरिया के इस रूप को हिस्टीरिक सोमनैम्बुलिज्म कहा जाता है। सोमनैम्बुलिज्म लैटिन भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है सोते में चलना। सचारीभाव-प्रधान स्मृतियो या प्रत्ययो के वशीभूत होने पर व्यक्ति सोते समय उनका विल्कुल ठीक अभिनय करने लगता है। सोमनैम्वुलिज्म का कारण हिस्टीरिक-फ्यूग की तरह व्यक्ति की दुश्चिता और उससे उत्पन्न होने वाले असहनीय सचारीभाव मे होता है जिसकी प्रवलता से पुराने प्रत्यय क्रमिक रूप से चेतनता में आने लगते है और व्यक्ति के ऊपर हावी होकर उसे अपना कठपुतला वना डालते है। व्यक्ति के किसी दुखद जटिल अनुभव के इर्द-गिर्द स्मृतियो का ढीले ढग से एक व्यवस्थित समुह घूमता रहता है जिसका ज्ञान व्यवित को नही रहता। किंतु किसी प्रेरित कर देनेवाले सकेत से सक्रिय हो जाने पर स्मृतियो का वह समूह व्यक्ति में सोमनैम्वुलिज्म की हालत पैदा कर देता है। जैने द्वारा वर्णित एक केस देखिए

केस १८—यह एक वीस साल की लडकी आइरीन की कहानी है जो अपनी मां की मौत होने पर निराश होकर बीमार बन गई थी। उसकी मां की मौत अत्यन्त दुखद और नाटकीय ढग से हुई थी। मां तपेदिक की अन्तिम सीमा तक पहुँच चुकी थी और अपनी लडकी के साथ एक

मामूली से मकान मे रहती थी। उसकी मौत धीरे धीरे हुई और मरने से पहले उसे खून की कै तथा गले मे भयानक घुटन होती थी। लडकी ने माँ की तीमारदारी मे असम्भव के साथ जी-जान से सघर्ष किया था। वह साठ रातो तक माँ की मृत्यु-शैय्या के पास बैठकर जीविका चलाने के लिए सिलाई किया करती थी। मौत के बाद उसने माँ के शव को जीवित करने के अनेक प्रयत्न किये, जब उसने शव को खड़ा किया तो वह जमीन पर गिर पडा और उसे बिस्तर पर फिर ले जा सकने के लिए लड़की को असख्य प्रयत्न करने पड़े। इस भयावह दृश्य की कल्पना आप स्वय कर लीजिए। अन्त्येष्टि क्रिया के बाद लड़की मे विचित्र प्रकार के लक्षण प्रकट होने लगे। मेरे (जैने) द्वारा देखा गया यह सोमनैम्बुलिज्म का एक सबसे अच्छा उदाहरण था।

लडकी मे सोमनैम्बुलिज्म की अवस्था घटो तक रहती थी और वह प्रत्येक दुखद दृश्य का अभिनय एक कुशल अभिनेत्री की तरह किया करती थी। मौत के समय जो कुछ हुआ था लडकी उस सबका बिना कोई बात भूले सही सही अभिनय करती थी। कभी तो वह उन सब घटनाओ का प्रश्नोत्तर रूप मे वर्णन करती थी, कभी केवल प्रश्न ही करती थी और उत्तर सुनने के लिए कान लगाए रहती थी, कभी वह भयातुर होकर आँखें फाड फाड कर उन दुखद दृश्यो को देखती भर थी और उस समय उसका अभिनय उसके देखने के अनुरूप ही होता था। अन्य अवसरो पर उसे अपने किसी विचित्र नाटक मे भाग लेने के लिए शब्दो और चेष्टाओ के सारे मतिभ्रम (hallucinations) होते थे। उसके रचित नाटक मे जब माँ मर चुकती थी तो लडकी मौत के विचार से प्रेरित होकर आत्म-हत्या के लिए तैयार होती थी। इस बात को वह यो कहती थी मानो अपनी मृत माँ से राय ले रही हो। वह रेल के इजन से कटकर आत्म-हत्या की कल्पना करती थी। यह बात भी उसके जीवन की एक वास्तविक घटना ही थी। वह कल्पना करती थी कि वह रेल की पटरी पर है और कमरे के फर्श पर बेचैनी और डर से भरकर मौत की प्रतीक्षा में लेट जाती थी। इस समय उसके चेहरे का भाव देखते ही बनता था। गाडी उसकी टकटकी बँधी आँखो के सामने आती थी और वह चीख कर निर्जीव सी पीछे गिर पडती थी मानो कटकर मर गई हो। फिर वह तत्काल उठकर पहले के ही किसी दृश्य का अभिनय फिर करने लग जाती थी। सोमनैम्बुलिज्म की एक विशेषता यह भी होती है कि उसकी पुनरावृत्ति अनिश्चित रूप से कई बार हो सकती है। हर बार की

पुनरावृत्ति के अभिनय मे गति, भाव और शब्दो का पूरा सादृश्य रहता है। अन्त मे दौरा खत्म होता है, स्वप्न अस्पष्ट वन जाता है और धीरे धीरे या अकस्मात् रोगी की प्रकृत चेतनता लौट आती है और वह अपने दैनिक जीवन के काम यो करने लगता है मानो उसे कुछ हुआ ही न हो।

सोमनैम्बुलिज्म मानसिक विघटन (mental dissociation) के कारण होता है। व्यक्ति के स्थायीभाव (sentiments) जब उसके दैनिक अनुभव से उचित ढग से सगठित नही हो पाते तो किसी अन्य स्थिति के प्रति कोई तीव्र स्थायीभाव विघटित होकर व्यवहार द्वारा प्रकट होने लगता है। मानसिक विघटन समय समय पर व्यक्ति की प्रकृत (normal) मानसिक-शारीरिक क्रियाओ पर पूरी तरह से हावी हो जाता है और व्यक्ति उस विघटन के प्रभाव से अप्रकृत व्यवहार करने लग जाता है। हिस्टीरिया के अन्य रूप किसी विघटित इच्छा या उद्देश्य की अभिव्यक्ति होते है किंतु सोमनैम्बुलिज्म एक गौण मानसिक सगठन (secondary mental integration) होता है जो अपनी अभिव्यक्ति प्रमुख (primary) मानसिक सगठन को दबाकर करता है। अतएव सोमनैम्बुलिज्म की हालत मे व्यक्ति के प्रकृत चेतन-जीवन की अविच्छिन्नता टूट जाती है।

सोमनैम्बुलिज्म का दौरा खत्म होने के बाद व्यक्ति प्रकृतस्थ हो जाता है किंतु वह सोमनैम्बुलिज्म की हालत की सारी बाते भूल जाता है। प्रकृतस्थ होने पर आइरीन को सोमनैम्बुलिज्म की हालत की कोई बात याद नही रहती थी और दौरे के समय उसे अपने परिवेश का भी कोई ध्यान नही रहता था। दौरे के समय उसकी सारी शारीरिक शक्ति का प्रवाह केवल माँ की मौत के समय के दृश्यो का अभिनय करने की दिशा में ही होता था। सोमनैम्बुलिज्म द्वारा व्यक्त होने वाले आइरीन के स्थायीभाव उसके दैनिक जीवन के सामान्य अनुभव से सशोधित या उचित ढग से सम्बन्धित नही हो सके थे और गौण मानसिक सगठन बनकर सोमनैम्बुलिज्म के रूप में व्यक्त होते थे।

बहु-व्यक्तित्व

हिस्टीरिक फ्यूग और सोमनैम्बुलिज्म की भाँति हिस्टीरिया का एक रूप बहु-व्यक्तित्व (Multiple personality) भी होता है। कभी कभी पारिवेशिक प्रभाव से व्यक्ति का मानसिक विघटन (mental dissociation) इस प्रकार हो जाता है कि उसका व्यक्तित्व यानी उद्देश्यात्मक मानसिक सगठन दो या दो से अधिक गौण मानसिक सगठनो (secondary mental

integrations) मे टूट जाता है। इस प्रकार बने हुए बहु-व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार के माध्यम से अपनी अभिव्यक्ति करने लगते है। डाक्टर मॉर्टन प्रिस ने बीचम केस (Beauchamp case) के अध्ययन से बहु-व्यक्तित्व और उसकी जटिल समस्याओ पर समुचित प्रकाश डाला है। डाक्टर प्रिंस द्वारा विश्लेषित लगभग ६०० पृष्ठो के बीचम केस का सक्षेप मे वर्णन करना न्याय-सगत नही हो सकता, इसलिए आप डाक्टर बोरिस सिडिस और एस० गुडहार्ट द्वारा अध्ययन किए गए एक दूसरे केस का सक्षिप्त रूप लीजिए

केस १६—टॉमस हाना नामक एक सुशिक्षित और स्वस्थ व्यक्ति बहुत ऊँचाई से गिर पडा था। उसे मूर्च्छित अवस्था मे घर ले जाकर विस्तर पर लिटा दिया गया। कुछ घटो के बाद वह उठने लगा। उसकी देख-भाल करने वाले तीन डाक्टरो ने उसे चलने-फिरने से रोका। उसके जबर्दस्त प्रतिरोध को काफी बडे सघर्ष के बाद शान्त किया जा सका। शान्त होने पर वह जड़वत होकर पडा रहा। उसकी हालत एक ऐसे नव-जात शिशु के समान हो गई जिसने दुनियाँ मे अपनी आँखें पहले पहल खोली हो। वह किसी चीज को न तो पहचान पाता था और न समझ ही पाता था। उसमे चेष्टात्मक सायास क्रिया कर सकने की शक्ति नही के बराबर रह गई थी। डाक्टरो से संघर्ष करने के समय उसमे सायास क्रिया कर सकने की शक्ति अवश्य थी, किंतु ऐसा प्रकट होता है कि उस सघर्ष से उसका सचारीभावात्मक उद्दीपन दूर हो गया था। उसका ध्यान केवल गतिशीलता (movement) की ओर जाता था। यद्यपि वह गति का अर्थ और कारण नही जानता था किंतु उसका ध्यान गतिशील वस्तु की ओर अनायास ही आकर्पित हो जाता था। वह अपने अगो की गति और अन्य वस्तुओ की गति मे कोई भेद नही कर पाता था और जो रुचि अन्य वस्तुओ की गति मे रखता था वही अपने अगो की गति के प्रति भी रखता था अपने हाथ और पैरो के संयोगवश हिल जाने से उसने अपने अगो की गति का नियन्त्रण कर सकने की सम्भावना सीखी। वह कोई भाषा नही समझता था। उसको हर चीज आँखो के पास मालूम पडती थी और नजदीक और दूर की वस्तुओ का अन्तर एक-सा मालूम पड़ता था। उसको समय की गति का भी कोई ज्ञान नही रहा था—क्षण, मिनट और घंटो मे उसे कोई फर्क नही मालूम होता था। उसकी अपने परिवेश से अनुशीलन करने की क्षमता नही के बराबर रह गई थी जिससे उसका व्यवहार साल-छे महीने के एक बच्चे की तरह बन गया था। उसको भूख तो लगती थी किंतु वह भूख के

सवेंदन की व्याख्या नही कर पाता था और भूख को शात करने का उपाय भी नही जानता था ।

किंतु गिरने के शुरू के दिनो मे हाना मे जिस व्यक्तित्व का प्रस्फुटन हुआ वह उसके पहले के प्रकृत (normal) व्यक्तित्व से बिल्कुल अलग था । हाना के पहले के प्रकृत व्यक्तित्व को यहाँ ह१ और गिरने के बाद के व्यक्तित्व को ह२ कहा जायगा । यद्यपि ह२ को ह१ द्वारा अर्जित और सीखा हुआ ज्ञान नही था किंतु ह२ हर चीज बहुत जल्द सीख लेता था क्योकि उसकी बुद्धि ज्यो की त्यो ही थी । ह२ की ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता पहले से तेज हो गई थी और वह अपने अर्जित ज्ञान का उपयोग आश्चर्यजनक ढग से करता था जिससे स्पष्ट था कि उसकी चिंतन या निर्णय करने की क्षमता पहले की ही तरह सक्रिय थी । नए अर्जित ज्ञान को ह२ वडी कुशलतापूर्वक याद रखता था । एक बार की सुनी हुई बात भी उसके मनस् पर अमिट छोड ज ती थी और वह उसे फिर कभी नही भूलता था । दुर्घटना के पहले वह बैंजो (एक प्रकार का वाजा) बजाना नही जानता था किंतु अब उसनें बैंजो बजाना कुछ ही घटो में सीख लिया । इस बात से इस प्रश्न का उत्तर मिल जाता है कि उसका सीखना ह१ द्वारा सीखने से बनी पूर्वव्यवस्था के पुनर्जागरण का परिणाम न होकर नया अर्जन होता था । इसकी पुष्टि इस बात से और होती है कि ह२ का हस्तलेखन ह१ के हस्तलेखन से विल्कुल भिन्न था । ह२ के जीवन के मानसिक विकास में आत्म-चेतनता का उदय बहुत वाद में हुआ । वह चेतन तो निश्चित रूप से रहता था और उसमें चेतनता की क्रिया भी वहुत तीव्र थी । वाह्य जगत से मिलने वाले सवेंदन अब उसके लिए बिल्कुल नए थे और वह उनको वडी उत्सुकता से ग्रहण करता था । फिर भी उसकी आत्म-चेतनता ठीक तरह या पूर्णरूप से जाग्रत नही हो पाई थी । ह२ की शिक्षा की गति इतनी तेज रही कि वह दुर्घटना के छे हफ्ते वाद ही अच्छी तरह से बोलने-चालनें के लायक बन गया ।

अब एक ऐसी रोचक बात हुई जिससे व्यक्तित्व ह१ के भी होनें का पता चला । ह२ ने अपनें कुछ स्वप्नो का वर्णन किया । उन स्वप्नो के पात्र और वस्तुएँ उसके मित्रो के अनुसार वे थी जिनसे वह ह१ के रूप में पहले से परिचित था । किंतु ह२ के लिए वें पात्र और वस्तुएँ बिल्कुल नवीन थी और वह उनको अपनें ह२ के जीवन के विचित्र स्वप्न

ही समझता था। सम्मोहन की अवस्था (hypnosis) मे इन बातो पर और भी स्पष्ट प्रकाश पडा। सम्मोहित अवस्था मे ह२ को हेब्रू भाषा के कुछ अधूरे पद सुनाए गए जिनसे वह ह१ के रूप मे परिचित रहा था। ह२ नें उन अधूरे पदो को पूरा कर दिया और तत्काल ही यह भूल गया कि उसके पूरे किए गए पद बिल्कुल सही थे। ह२ नें इस पर यह कहा, "इससे मुझको डर लगा, मुझे लगा कि मेरे द्वारा कोई अन्य व्यक्ति बोल रहा है" तब उसे न्यूयार्क शहर इस आशा से ले जाया गया कि वह ह१ के रूप मे जिन दृश्यो और व्यक्तियो से परिचित था उन्हे देखकर उसका ह१ व्यक्तित्व शायद पूरी तरह से जाग सके। वहाँ एक रात बिताने के बाद अगले दिन सबेरे वह ह१ के रूप मे जागा। अब उसे दुर्घटना के इन दो महीनो मे क्या हुआ था न तो इसका ही कुछ ज्ञान था और न ह२ के रूप मे परिचित व्यक्तियो, दृश्यो या वस्तुओ का ही। दिन भर तो वह ह१ बना रहा किंतु उसके दूसरे दिन सबेरे वह ह२ होकर जागा। इस प्रकार वह कभी ह१ तथा कभी ह२ के रूप मे जीवन विताता रहा। एक से दूसरे व्यक्तित्व की ओर सक्रमण या तो नीद में होता था या नीद के समान आ जानें वाली अवस्था मे जो आँखे भरसक खुली रखकर जागते रहनें की कोशिश करने पर भी आ जाती थी। इस दुहरे अस्तित्व के एक हफ्ते बाद उसकी एक विचित्र अवस्था हो गई जिसे ह१ और ह२ का सघर्ष कहा जा सकता है और जिसके कारण वह स्थायी रूप से अपनी प्रकृत (normal) अवस्था मे आ सका। ह१ एक दिन लेटें लेटें अर्धसज्ञाशून्य अवस्था में चला गया। इस अवस्था मे उससे पूछे गए प्रश्नो के अस्पष्ट उत्तरो से यह पता चला कि उसे ह१ और ह२ दोनो का ज्ञान था। धीरे धीरे उसके उत्तर अधिक स्पष्ट वनते गए और तव उसनें अपने अनुभव का बड़ा रोचक वर्णन किया। इस समय से उसे ह१ और ह२ दोनो की याद थी और वह पूर्णरूप से स्वस्थ और प्रकृत समझा जानें लगा था। उसने कहा कि वह बड़े विकट मानसिक सघर्ष से गुजरा है। उसमें ह१ और ह२ दोनो व्यक्तित्वो का उदय साथ साथ हुआ था और वे दोनो प्रतिद्वन्दी बन गए थें· वह उन दोनो व्यक्तित्वो में से किसी एक को नही चुन सका क्योकि वे दोनो एक ही तरह के थें ···उसके ऊपर दो विभिन्न व्यक्तियो ने अपना अधिकार कर लिया था। यह एक ही मनस् मे दो व्यक्तियो के बीच जीवित रहनें के लिए सघर्प था; हर व्यक्ति दूसरे को दवा और नष्ट कर ऊपर आना चाहता था'· 'प्रमुख अवस्था ज्यादा अस्पष्ट

और अधिक आसानी से पराजित की जा सकने वाली थी। "मैंने दोनों से वारी वारी से छुटकारा पाने की कोशिश की, ···मैंने दोनो जीवनो को अपनाने की कोशिश की, क्योकि मुझे यह डर और चिता थी कि उन दोनो का सघर्ष वरावर होता रहेगा · ·मुझे विश्वास है कि वे दोनो जीवन मेरे ही है, कितु वे इस अर्थ मे एक दूसरे से अलग है कि मै एक को दूसरे से मिला नही पाता। मै यह नही जानता कि उनको एकीभूत कैसे किया जाय ···गौण अवस्था में नीद के समान तोड है और तोड प्रमुख अवस्था मे भी है गौण अवस्था कुछ ज्यादा स्पष्ट और वलशाली है किंतु मै उसको अ ा ा नही सका हूँ। उसमें बहुत सी वारीक बातें है जो मुझे ठीक ठीक याद है।"

इस केस से स्पष्ट हो जाता है कि हाना के अन्दर दो मानसिक सगठन या व्यक्तित्व ह१ और ह२ बन गए थे जो वारी वारी से सक्रिय होते रहते थे। यह तो बिल्कुल निर्विवाद है कि दो व्यक्तित्व किसी व्यक्ति के पूरे ग्राहकीय (receptor) और प्रभावकीय (effector) यन्त्र पर एक ही समय पूरी तरह से हावी नही हो सकते। वे क्रमान्तर से एक दूसरे के वाद ग्राहकीय और प्रभावकीय यन्त्र पर नियन्त्रण अवश्य कर सकते है। इसे क्रमान्तर (alternating) वहु-व्यक्तित्व कहा जाता है। हाना का केस क्रमान्तर वहु-व्यक्तित्व का उदाहरण है।

दूसरी ओर यह भी सम्भव है कि एक व्यक्तित्व व्यक्ति के अधिकाश (प्रभावकीय और वौद्धिक) यन्त्र पर हावी हो जाय और दूसरा शेष यन्त्र पर जो मतिभ्रम (hallucination) और अन्य उपचेतन (sub-conscious) अनायास (automatic) क्रियाएँ जैसे वोलना या लिखना आदि को प्रकट कर सकता है। यह भी हो सकता है कि दोनो व्यक्तित्व घटनाओ के प्रति एक ही समय और एक ही साथ इस तरह सक्रिय और चेतन वने रहे जैसे दो आदमी किसी घटना के प्रति वने रहते है। इस प्रकार के वहु-व्यक्तित्व को सहसक्रिय (coactive or co-conscious) वहु-व्यक्तित्व कहा जाता है। सह-सक्रिय वहु-व्यक्तित्व का उदाहरण लीजिए

केस २०—मेरिया को अपने पिता की दुखद मृत्यु होने से जो सचारी-भावात्मक धक्का लगा उसके स्पष्ट क्रियात्मक चिन्ह उसकी आयु के वीसवे वर्ष में प्रकट होने लगे। तव से कुछ ऐसी वाते हुई जिनसे यह सन्देह नही रह गया कि उसके अन्दर एक सुव्यवस्थित उपचेतन कॉम्प्लेक्स (subconscious complex) वन चुका था जो उसे अक्सर वशीभूत कर लेता था। कभी कभी उसका आचरण विल्कुल

विचित्र बन जाया करता था। वह बिना किसी इरादे के सोते से उठ बैठती थी और बेढगेपन से नाचने लगती थी। छब्बीसवें वर्ष मे मेरिया का उपचेतन काम्प्लेक्स पूरी तरह से गौण (secondary) व्यक्तित्व बन गया। कुछ समय तक उसके दोनो व्यक्तित्व म१ और म२ क्रमांतर से (alternately) उसके ऊपर अपना अधिकार जमाए रहे। म१ और मेरिया के प्रकृत व्यक्तित्व मे बहुत कम भेद था। म२ नाचने-गाने वाली प्रेयसि के रूप मे स्पेन की एक जिप्सी लडकी थी। म२ के रूप मे रहने पर मेरिया टूटे-फूटे ढग से स्पेनी भाषा बोलती और लिखती थी।

दोनो व्यक्तित्व म१ और म२ एक दूसरे की क्रियाओ के प्रति चेतन रहते थे और उन्हे याद रखते थे · उपचेतन अवस्था मे म१ केवल दृष्टा के रूप मे रहती थी और म२ के आचरण का निर्धारण नही कर पाती थी · म२ उपचेतन अवस्था मे म१ को इच्छानुसार प्रभावित कर सकती थी। म१ और म२ मे अक्सर बातचीत भी हुआ करती थी दोनो व्यक्तित्वो का सह-अस्तित्व था, एक की प्रधानता होने पर दूसरा उपचेतन रूप मे रहता था। दोनो व्यक्तित्व किसी भी शारीरिक अग का उपयोग एक ही समय और साथ साथ कर सकते थे। उदाहरण के लिए जब कभी दोनो व्यक्तित्व कोई लेख एक साथ पढते थे तो उन दोनो के पढने की गति आगे-पीछे हो जाया करती थी और लेख को कोई एक व्यक्तित्व दूसरे से पहले ही पढ़ लेता था। म२ की वर्तमान और अतीत की घटनाओ की स्मृति म१ से अच्छी थी इस बात के भी स्पष्ट प्रमाण मिले कि कभी कभी म१ के सोते रहने पर म२ जागती रहती थी और वह म१ की चेतनता के ऊपर स्वप्न के रूप मे कोई गढी हुई कहानी या बात आरोपित कर सकती थी।

म१ और म२ के चरित्र मे भी बहुत भेद था। म२ मे सेक्सीय (sexual) प्रवृत्ति म१ से बहुत ज्यादा थी जिसकी अभिव्यक्ति उन्मुक्त गान तथा नृत्य या रोमैन्टिक कल्पनाओ द्वारा हुआ करती थी। म२ मे आत्मानुमोदन (self-assertion) की प्रवृत्ति भी ज्यादा थी जिसका प्रदर्शन उसके अतिशय आत्म-विश्वास, अभिमान और स्वच्छन्दता से होता था। म२ के उभरने पर म१ की सारी हिचकिचाहट दूर हो जाया करती थी म१ के लिए म२ की यह स्वच्छन्दता आश्चर्य और सराहना का एक विषय था। डाक्टर कोरी के वर्णन मे, जिन्होने इस केस का अध्ययन किया था, यह मालूम होता है कि म२ के उभरने पर म१ को

सेक्स-प्रवृत्ति से छुटकारा पाने की बहुत खुशी होती थी। किन्तु म२ अपनी इच्छानुसार सेक्स प्रवृत्ति को म१ पर लाद भी सकती थी यह म१ का एक सबसे विचित्र अनुभव था जिससे बचने के लिए वह म२ को हर तरह से प्रसन्न रखने की चेष्टा करती थी।

मेरिया के पूर्व जीवन का इतिहास मालूम होने पर उसके द्वैत-व्यक्तित्व पर काफी प्रकाश पडा। उसका लालन-पालन बडी सख्ती से हुआ था जिससे उसकी सेक्स विषयक भावनाओ का शमन (repression) होता रहता था। शिक्षालय मे मेरिया ने शायद जिप्सी लड़कियो की प्रेम-कहानियाँ पढी या सुनी थी और वह एक नवयुवक के प्रति आकर्षित भी हुई थी। किंतु उसको अपनी भावनाओ से सघर्ष कर उनका शमन करना पडता था। मेरिया ने अपनी अतिशय सेक्स प्रवृत्ति को बिल्कुल दबा दिया था जिसकी क्षतिपूर्त्ति (compensation) रोमैन्टिक कल्पनाओ द्वारा होती रहती थी। पिता की मृत्यु से लगने वाले आघात ने मेरिया के पुराने सघर्ष की नीव पर दो व्यक्तित्वो म१ और म२ का निर्माण कर दिया। स्पष्ट है कि मेरिया के मानसिक विघटन के पीछे सेक्स प्रवृत्ति की प्रधानता थी।

हिस्टीरिया और शरीर जन्य रोगों का सम्बन्ध—हिस्टीरिया और शरीरजन्य रोगो में बहुत बडी समानता होने से हिस्टीरिया की जाँच मे बड़ी सावधानी की आवश्यकता पडती है। प्राय बहुत से हिस्टीरिक लक्षणो को शारीरिक रोग और किसी शारीरिक रोग के लक्षणो को हिस्टीरिया का कोई रूप समझ लिया जाता है। हिस्टीरिक दर्द, लकवे, एनेस्थीसिया आदि को पेट में गिल्टी पड़ना, फेफड़ो में तपेदिक होना या आँतो का विकार आदि समझ लिया जाता है जो गलत और खतरनाक होता है। बहुत से रोग हिस्टीरिया-प्रेरित होते हैं इसलिए वे अप्रत्याशित और रहस्यात्मक ढग से अच्छे भी हो जाते हैं।

हिस्टीरिया और शारीरिक रोगो में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और कोई एक किसी दूसरे को जन्म दे सकता है। किसी किसी शारीरिक रोग के साथ हिस्टीरिया के दौरे भी आने लगते हैं और वे शारीरिक रोग के अनुगामी भी बन सकते है। ऐसे रोगियो के केस मौजूद हैं जिनके रोगो का शारीरिक दोष मिट जाने पर भी रोग नही मिटा। इससे स्पष्ट है कि शारीरिक रोग अक्सर हिस्टीरिक रोग में परिवर्तित हो सकता है। हिस्टीरिक रोग एपीलेप्सी और मनोजन्य अन्य रोगो से भी सम्बद्ध होकर अत्यन्त जटिल बन सकता है, इसलिए हिस्टीरिया की जाँच में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए।

हिस्टीरिया के कारण—हिस्टीरिया की जाँच मे उसके कारण बहुत सहायक होते हैं। हिस्टीरिया के पीछे व्यक्ति के जीवन की कोई दुखद अनुभूति या निराशा अवश्य हुआ करती है ।असफल दाम्पत्य जीवन, पारिवारिक असन्तोष, आर्थिक चिंताएँ, विफल आकाक्षाएँ, अनैच्छिक और खिझाने वाले सामाजिक उत्तरदायित्व, सचारीभावो की प्रतिक्रिया का उचित निर्माण न हो पाना आदि हिस्टीरिया रोग की सामान्य पृष्ठभूमि होते है। शैशवावस्था मे हिस्टीरिया रोग कम पाया जाता हैं क्योकि तब जीवन की दुखद अनुभूतियो या विभिन्न प्रकार की निराशाओ और चिताओ का उतना ज्यादा और तीव्र अनुभव नही होता जितना वयस्क होने पर होता है। हिस्टीरिया रोग प्रौढावस्था तक ही अधिक पाया जाता है क्योकि इस काल मे व्यक्ति सचारीभाव प्रधान होता है जिससे जरा से आघात से उसका सतुलन बिगड़ सकता है और वह हिस्टीरिया के प्रति ग्रहणशील वन सकता है। वृद्धावस्था मे व्यक्ति की आदते इतनी दृढ बन जाती हैं कि उस पर जीवन के आघातिक अनुभवो का वहुत कम असर हो पाता है जिससे हिस्टीरिया के प्रति उसकी ग्रहणशीलता कम हो जाती है।

हिस्टीरिया से चूँकि व्यक्ति का व्यवहार अप्रकृत बन जाता है इसलिए कुछ विद्वान हिस्टीरिया का कारण असतुलित सयम मे भी मानते हैं। आत्म-नियत्रण के अभाव में व्यक्ति के व्यवहार का हिस्टीरिक बन जाना साधारण सी वात है। सिर चढे और अभाव में पलने वाले बच्चो का सयम सतुलित नही रह पाता जिससे उनमे हिस्टीरिक बनने की क्षमता ज्यादा बढ जाती है।

वहुत से लोगो में हिस्टीरिया के प्रति ग्रहणशील होने की जन्मजात क्षमता होती है। ऐसा माना जाता है कि बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लोग हिस्टीरिया के प्रति अधिक ग्रहणशील होते हैं। यद्यपि उपर्युक्त मान्यता मे सत्य का अश अवश्य है किन्तु वुल्फजोन के अध्ययन से यह पता चला है कि जन्मजात क्षमता के अभाव मे भी हिस्टीरिया के दौरे आना स्वाभाविक है। इसलिए हिस्टीरिया को जन्मजात ग्रहणशीलता पर ही निर्भर समझना ठीक नही है।

हालिगवर्थ ने प्रथम विश्व-युद्ध के समय साइकोन्यूरोनीय रोगियो के वडे समूह की वुद्धि परीक्षा करके यह पाया कि हिस्टीरिया और साइकोन्यूरोसिस के अन्य प्रकारो और वुद्धि मे घनिष्ठ सम्वन्ध होता है। हर परीक्षित समूह की मानसिक आयु यों थी हिस्टीरिया ११·९, साइकेस्थीनिया १४·९। यह घ्यान देने योग्य है कि सेना मे भरती न किए जाने वाले लोगो की औसत मानसिक आयु १४ वर्ष थी। इस व्योरे से स्पष्ट है कि कम वुद्धि रखने वाले

लोग हिस्टीरिया के विभिन्न रूपो और ज्यादा बुद्धि रखने वाले साइकेस्थीनिया के विभिन्न रूपो के प्रति अधिक ग्रहणशील होते है ।

कुछ शारीरिक दोषो को भी हिस्टीरिया का कारण माना जाता है । किंतु शारीरिक दोष अपने आप में हिस्टीरिया का परिणाम या उसके निमित्त कारण ही होते है, उपादान कारण नही । लम्बी बीमारी से किसी इच्छा की पूर्ति मे पडने वाली बाधा, पारिवारिक उपेक्षा का डर या निर्भर लोगो के आर्थिक कष्ट की चिन्ता हिस्टीरिया का उपादान कारण अवश्य बन सकती है ।

हिस्टीरियाग्रस्त लोग हर प्रकार के निर्देशन के प्रति अत्यधिक ग्रहणशील होते है जिससे उनके बहुत से हिस्टीरिक लक्षण निर्देशन के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हो सकते है । हर समाज में अनेक व्यक्ति न्यूरोनीय दुर्बलता, चिन्ता, कुशिक्षा, बीमारी, निराशा आदि असतुलनो के शिकार होते है । जब तक समाज एक पिटे पिटाए ढर्रे पर चलता रहता है तब तक उन लोगो का असतुलन ज्यादा स्पष्ट नही हो पाता किंतु सकट के समय या सचारीभावो पर से नियत्रण हटा देने वाली किसी घटना से उनका असतुलन व्यवहार द्वारा बडी स्पष्टता से दृष्टिगोचर होने लगता है । आग लगने, बाढ या भूकम्प आने या युद्ध छिडने पर उन लोगो के व्यवहार में हिस्टीरिया के ऐसे ऐसे लक्षण प्रकट होने लगते है जिनका किसी और तरह से अनुमान ही नही किया जा सकता । सकट के समय व्यक्तियो पर पडने वाले मनोवैज्ञानिक प्रभावो को प्रत्येक व्यक्ति के निर्माण की पृष्ठभूमि जानने के बाद ही ठीक से समझा जा सकता है ।

हिस्टीरिया सैद्धान्तिक विवेचन

हिस्टीरिया के विभिन्न सैद्धान्तिक विवेचनो पर जैनें और फ्रायट की विचारधारा का व्यापक प्रभाव पडा है । किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से जैनें और फ्रायट की विचारधाराओ पर शारको और बैबिन्स्की के विचारो की छाप पडी है । इसलिए जैनें और फ्रायट के हिस्टीरिया सम्बन्धी सिद्धान्तो को समझने के पहले शारको और बैबिन्स्की के मतो का उल्लेख करना अपेक्षित है ।

शारको का मत—शारको ने हिस्टीरिया की चार प्रमुख अवस्थाएँ मानी है । पहली अवस्था में सचारीभावात्मक विच्छृखलता प्रकट होती है, दूसरी में प्रभावकीय (motor) व्यतिक्रम तथा उद्दीपन, तीसरी मे अनर्गल व्यवहार और चौथी में अनर्गल व्यवहार के साथ साथ सचारीभावो की अभिव्यक्ति । शारको ने सवेदनशीलता के व्यतिक्रम को हिस्टीरिया का स्थायी लक्षण माना था । बाद में हिस्टीरिया के विशेष अध्ययन से यह पता चला कि शारको द्वारा मानी गई हिस्टीरिया की उपर्युक्त चार अवस्थाएँ हिस्टीरिया

के विभिन्न रूपो का समन्वय मात्र ही है। शारको नें जिन बहुत सी विशेपताओ को हिस्टीरिया के लक्षण समझा था वे परीक्षा करने पर रोगी पर उसके परीक्षक के निर्देशन का परिणाम साबित हुई।

बैबिस्की का मत—शारको के विपरीत बैबिन्स्की ने हिस्टीरिया की परिभाषा उसकी चार अवस्थाओ द्वारा न कर निर्देशनग्राह्यता (suggestibility) के आधार पर की है और निर्देशनग्राह्यता को हिस्टीरिया का प्रमुख लक्षण माना है। बैबिन्स्की ने निर्देशनग्राह्यता शब्द का प्रयोग प्रचलित अर्थ मे न करके वैज्ञानिक अर्थ मे किया है। निर्देशनग्राह्यता का अर्थ किसी अतार्किक विचार को विना आलोचना किए ही स्वीकार कर लेना होता है। वैबिन्स्की का यह विश्वास भी था कि हिस्टीरिक लक्षण को निर्देशन द्वारा दूर किया जा सकता है। उसने यह भी माना था कि हिस्टीरिया के बहुत से लक्षण रोगी में परीक्षक के निर्देशन के परिणाम स्वरूप प्रकट हो जाते हैं।

किन्तु बैबिन्स्की की सबसे बडी कमी हिस्टीरिया मे सचारीभावो को कोई स्थान न देना थी। यह ठीक है कि हिस्टीरिया के बहुत से लक्षण परीक्षक के निर्देशन के परिणाम होते हैं किंतु गम्भीर मनन से यह भी पता चला है कि हिस्टीरिया के बहुत से रूप निर्देशन का परिणाम कदापि नही होते। ऐसे उदाहरणों में वैबिन्स्की का मत व्याख्या की दृष्टि से अनुपयुक्त हो जाता है। दूसरे, वैबिन्स्की ने प्रकृत और अप्रकृत निर्देशनग्राह्यता मे भी कोई स्पष्ट अन्तर वताने की कोशिश नही की है।

जैने का मत—जैने ने हिस्टीरिया का कारण रोगी की अपने अनुभवो को संगठित न कर सकने की जन्मजात दुर्बलता को माना है। प्रकृत व्यक्तित्व में मानसिक सगठन जल्दी छिन्न नही होता। कुछ लोगो मे अज्ञात कारणो से व्यक्तित्व का प्रकृत सगठन नही हो पाता और वे लोग ही साइकेस्थीनिया और हिस्टीरिया के प्रति ज्यादा ग्रहणशील होते हैं। हो सकता है कि प्रकृत व्यक्तित्व के सगठन के छिन्न होने का कारण शायद थकान, स्नायु-दुर्बलता रागात्मक व्यतिक्रम या इन सबके मिलने का परिणाम होता हो। दुर्बल मानसिक संगठन के लोग जीवन के निम्न स्तरो पर तो भलीभाँति निभ जाते हैं किंतु उच्च स्तरो पर निभ सकने में असफल रहते हैं।

जैने के अनुसार हिस्टीरिया ग्रस्त व्यक्ति की चेतनता का क्षेत्र अत्यन्त सकुचित होता है जिससे हिस्टीरिया की अवस्था विघटन के वहुत समीप होती है। चेतनता का क्षेत्र अत्यधिक सकुचित होने से ही हिस्टीरिया ग्रस्त व्यक्ति में निर्देशनग्राह्यता की अधिकता होती है क्योकि चेतनता के सकुचित

क्षेत्र के कारण ही व्यक्ति दूसरो के निर्देशन को बिना आलोचना किए ही मान लेता है।

जैने ने हिस्टीरिया की व्याख्या विघटन के आधार पर की है। किसी तीव्र रागात्मक आघात के कारण मानसिक सगठन आशिक रूप से विघटित हो जाता है और कार्य करने के योग्य नही रह जाता। केस १६ में जिप्सी मजदूर के पूरे वाएँ हाथ में हिस्टीरिक लकवा हो जाना आघातिक रागात्मक अनुभव के कारण उस अग के कार्यात्मक विघटन का उदाहरण है। इसी प्रकार जैने ने हिस्टीरिया के अन्य रूपो की व्याख्या भी विघटन के आधार पर करने की कोशिश की है।

किन्तु जैने की व्याख्या मे एक कमी है। यह देखा गया है कि विघटित कार्य या अग का दुर्बल मानसिक सगठन से कुछ सम्बन्ध अवश्य रहता है। कभी कभी कोई चीज विघटित कार्य या अग को उत्तेजित करके उसे मानसिक संगठन से कुछ देर के लिए सम्बन्धित कर देती है जिससे रोगी को मौलिक तीव्र रागात्मक अनुभव फिर होता है। दूसरे, विघटन से यह भी स्पष्ट नही हो पाता कि वह हिस्टीरिया के किसी एक विशेष रूप मे ही क्यो प्रकट होता है, अन्य रूपो में क्यो नही ? विघटन से किसी केस मे लकवा ही क्यो होता है, टिक क्यो नही ? जैने के मत की इन्ही कुछ कमियो के आधार पर फ्रायट ने अपना मत प्रतिपादित किया।

फ्रायट का मत—जैने ने जिन हिस्टीरिक लक्षणो पर विघटन का आरोप किया है फ्रायट ने उन पर शमन की हुई अचेतन प्रेरणाओ का किया है। फ्रायट ने विघटन की धारणा को वर्णनात्मक माना है, व्याख्यात्मक नही। हिस्टीरिक लक्षण अचेतन किंतु सक्रिय असामाजिक प्रेरणाओ और चेतन सामाजिक प्रेरणाओ के द्वन्द का परिणाम होते है। वह द्वन्द वचपन के सेक्सीय प्रेरको या उनसे सम्बन्धित गौण मनोवैज्ञानिक प्रेरको पर केन्द्रित होता है। हिस्टीरिक लक्षण या तो उन शमन की हुई प्रेरणाओ के विस्थापन (displacement) से या शमन हो चुकी शक्तियो के प्रभाव से या विस्थापन और शमन होने की दोनो शक्तियो में समझौता होने से अभिव्यक्त होते है। अचेतन काम्प्लेक्स रागात्मक प्रत्यय (ideas) होते है और उनकी शमन हो चुकी रागात्मक शक्ति बाहर आना चाहती है।

रागात्मक शक्ति दो तरह से वाहर आ सकती है चेतन स्तर से या किसी प्रभावकीय द्वार से। रागात्मक शक्ति चेतन स्तर पर विस्थापन द्वारा आती है। विस्थापन किसी भी सहचारी प्रत्यय पर हो सकता है। उदाहरण के लिए

सोमनैम्बुलिज्म को ले लीजिए। सोमनैम्बुलिज्म मे रागात्मक शक्ति विस्थापित होकर चेतन स्तर को पूरी तरह अभिभूत कर देती है। चेतन स्तर का इस प्रकार पूरी तरह अभिभूत हो जाना फ्रायट के अनुसार आघातिक अनुभव के कारण विघटन का परिणाम न होकर शमन हुए काम्प्लेक्स की रागात्मक शक्ति के विस्थापन का परिणाम होता है।

विस्थापन के अतिरिक्त शमन हुए काम्प्लेक्स की रागात्मक शक्ति किसी प्रभावकीय द्वार द्वारा भी अभिव्यक्त हो सकती है। इसे परिवर्तन (conversion) हिस्टीरिया कहा जाता है क्योकि यहाँ मनोवैज्ञानिक राग शारीरिक लक्षण मे परिवर्तित हो जाता है। परिवर्तन हिस्टीरिया का शारीरिक लक्षण शमन हुए काम्प्लेक्स की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होता है और शमन हुई इच्छा की परोक्ष तृप्ति करता है। रोगी हिस्टीरिया के लक्षणो से चिंतित न होकर उनके प्रति इसीलिए उदासीन रहता है कि वे वास्तव मे उसकी इच्छा की पूर्ति के रक्षात्मक उपाय होते है। गत्यात्मक दृष्टि से रोगी हिस्टीरिक लक्षणो का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए करके रोग के वहाने से असमर्थ बनकर दूसरो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर उनकी सहानुभूति पाना चाहता है। इस प्रकार फ्रायट ने हिस्टीरिक लक्षणो और मानसिक द्वन्द के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। हिस्टीरिक लक्षणो और अचेतन या शमन हो चुके द्वन्द में प्रतीकात्मक सम्बन्ध होता है।

सातवाँ खण्ड

साइकोसिस

१७

कार्यात्मक साइकोसिस (१)

मैनिक-उदासी, नष्टार्तवकालीन मेलन्कोलिया, पैरानोइया

साइकोसिस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है (१) सज्ञा रूप मे अप्रकृत मानसिक अवस्था या प्रतिक्रिया को सूचित करने के लिए और (२) लाक्षणिक रूप मे तत्सम्बन्धी अवस्था या प्रतिक्रिया के लक्षण वताने के लिए। साइकोसिस दो प्रकार के होते हैं कार्यात्मक (functional) और आगिक (organic)। कार्यात्मक साइकोसिसो का आधार रागात्मक, ज्ञानात्मक या व्यवहार के किसी सायास पक्ष में होता है। आगिक साइकोसिसो का आधार शरीर या मस्तिष्क के किसी अग के दूषित हो जाने में होता है।

साइकोन्यूरोसिस के विपरीत साइकोसिस (psychoses) मानसिक विकारो का ज्वलन्त रूप होते हैं। साइकोन्यूरोसिस ग्रस्त व्यक्ति के विपरीत साइकोसिस-ग्रस्त व्यक्ति का वास्तविकता से ऐसा सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है कि वह अपने आप को अप्रकृत नही समझता। मनोवैज्ञानिक भाषा में यह कहा जायगा कि साइकोसिस-ग्रस्त व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि (insight) का अभाव होता है जिससे वह वास्तविकता का सही रूप समझ सकने और उससे अपना सतुलन बनाए रखने के अयोग्य हो जाता है। अन्तर्दृष्टि के अभाव के कारण उसका व्यवहार अपने और दूसरो दोनो के लिए खतरनाक वन सकता है इसलिए ऐसे व्यक्ति से सावधान रहने और उसकी कोई समुचित व्यवस्था करने की जरूरत पडती है।

कार्यात्मक साइकोसिसो में कुछ तो ऐसे होते है जो रोगी के रागात्मक पक्ष और कुछ ज्ञानात्मक पक्ष से सम्बन्धित होते हैं। पहले रागात्मक पक्ष और फिर ज्ञानात्मक पक्ष से सम्बन्धित साइकोसिसो के रूपो पर विचार किया जायगा। रागात्मक पक्ष से सम्बन्धित साइकोसिस की पहचान यह होती है कि व्यक्ति पर पडने वाले प्रभावो और उनसे उत्पन्न होने वाली उसकी मनोदशा में कोई प्रत्यक्ष और स्पष्ट सम्बन्ध नही जान पडता। रागात्मक साइकोसिस के रूप है मेनिक-उदासी (manic-depression) और नष्टार्तव-कालीन मेलन्कोलिया (involutional melancholia)।

मेनिक-उदासी

साख्यकीय अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि मेनिक-उदासी साइकोसिस स्त्रियो मे और गाँवो की अपेक्षा शहरो मे ज्यादा पाया जाता है। यह साइकोसिस ज्यादा व्यापक होता है। स्त्रियो मे यह साइकोसिस (psychosis) ४० से ५० वर्ष की आयु के अन्दर और पुरुषो मे ५० की आयु के बाद मिलता है। पहले यह विश्वास किया जाता था कि मेनिया (mania) और उदासी (depression) दो अलग अलग मानसिक विकार है किन्तु क्रेपेलिन ने यह देखा कि एक ही रोगी मे मेनिया और उदासी दोनो पाई जाती है। बाद मे धीरे धीरे यह स्पष्ट होता गया कि दोनो विकार एक ही मूल बात की अभिव्यक्ति के दो विरोधी पक्ष होते है, इसलिए आजकल मेनिया और उदासी को दो अलग अलग साइकोसिस न समझ कर एक ही साइकोसिस के दो पक्ष माना जाता है।

प्रेसी ने मेनिक-उदासी को 'रागात्मकता की अति का साइकोसिस' कहा है। मेनिक-उदासी के दोनो पक्षो का प्रभाव व्यक्ति के चिंतन, राग और प्रतिक्रिया तीनो पर पडता है। अलग अलग व्यक्तियो मे मेनिक-उदासी के दोनो पक्ष किसी नियमित मात्रा मे न मिलकर विभिन्न मात्राओ मे मिलते है। किसी व्यक्ति मे केवल एक पक्ष की प्रधानता हो सकती है और किसी मे दोनो पक्ष नियमित या मिश्रित ढग से क्रमान्तरित हो सकते है।

मेनिया और उदासी की तीव्रता की मात्राओ के तीन भेद अच्छी तरह देख जा सकते है। मेनिया के साधारण रूप को हाइपोमेनिया (hypomania), तीव्र रूप को एक्यूट (acute) मेनिया और तीव्रतम रूप को हाइपरएक्यूट (hyperacute) मेनिया कहा जाता है। उदासी के हल्के रूप को साधारण अधोगमन (simple retardation), तीव्र रूप को एक्यूट (acute) मेलन्कोलिया (उदासी) और तीव्रतम रूप को जडतामय (stuporous) मेलन्कोलिया कहा जाता है।

मेनिक पक्ष और उसके रूप—अतिरजित आत्म-सन्तोष और उत्फुल्लता की अनुभूति लिए हुए मनो-प्रभावकीय (psycho-motor) उद्दीपन की अवस्था को मेनिया कहा जाता है। कोई अच्छी खबर सुनकर या प्रत्याशित सफलता मिलने पर हर आदमी उत्फुल्ल हो जाता है। किन्तु उत्फुल्लता अगर तीव्र होकर एक झक का रूप ले ले और व्यक्ति के दृष्टिकोण और उत्तरदायित्व पर अपनी छाप डालने लगे तो वह अप्रकृत रागात्मकता बन जाती है। मेनिया यानी अप्रकृत रागात्मकता की अवस्था में व्यक्ति उत्फुल्लता के कारण वास्त-

विकता को भूल जाता है और उससे अपना उचित सतुलन नही कर पाता, चाहे वह इसे स्वीकार करे या न करे ।

हाइपोमेनिया (hypomania) उत्फुल्लता का हल्का रूप होता है । हाइपोमेनिया का प्रभाव व्यक्ति की मानसिक विचारधारा पर पडता है जिससे उसके मन में विचारो की बाढ आ जाती है जो कभी तर्कसगत, कभी अनर्गल और कभी अनुप्रासमयी होती है । हाइपोनिया का रोगी बेचैन रहता है, सो नही पाता और किसी न किसी काम में व्यर्थ लगा रहता है । वह हर काम में आरम्भशूर होता है और एक भी पूरा नही कर पाता कि दूसरे में, फिर तीसरे मे और फिर चौथे मे लग जाता है । सोने या खाने की उपेक्षा से वह कभी कभी मूर्च्छित भी हो सकता है । ऊपर से तो वह प्रसन्नचित्त-सा लगता है और हर व्यक्ति के प्रति सदेच्छा रखता है किन्तु यदि उसे छेडा जाय या उस पर नियत्रण करने की चेष्टा की जाय तो वह अन्दर से बडा चिडचिडा और झल्ला जाने वाला साबित होता है । वह अपने आप से बहुत खुश रहता है और हर काम को बहुत जोशपूर्ण ढग से करता है । उसकी प्रतिक्रियाओ में शीघ्रता होती है । उसकी दृष्टि में हर काम अच्छा होता है और वह किसी भी काम के बुरे पक्ष को नही देख पाता । वह तेज और उच्च स्वर से बाते करता है और उसके काम करने के ढग मे असाधारण आत्म-विश्वास रहता है । उसकी लिखावट बडी होती है और वह अपने सामने दूसरो का कोई ख्याल नही करता ।

एक्यूट (acute) मेनिया हाइपोमेनिया का ही अतिरजित रूप होता है । एक्यूट-मेनिया ग्रस्त व्यक्ति की प्रतिक्रियाओ में उद्दीपन की मात्रा अधिक होती ह । उसका ध्यान बहुत चचल होता है । वह बहुत शीघ्रतापूर्वक बातें करता है जो कभी कभी अनर्गलता के समीप तक पहुँच जाती है । उसकी मुखमुद्रा में उसकी प्रतिक्रियाओ के अनुकूल परिवर्तन होते रहते हैं । उसकी आँखें निकल-सी आती हैं, हावभाव हिंसक और व्यवहार आक्रामक बन जाता है । उत्फुल्लता (elation) की प्रधानता रहने पर भी किसी अन्य व्यक्ति द्वारा छेडे जाने पर वह गुस्से में आकर जो चाहे कर बैठता है । छेडे न जाने पर उसका व्यवहार अतिशय आत्म-प्रशसा और दूसरो के प्रति पूर्ण उपेक्षा की अभिव्यक्ति होता है । उसकी उक्तियाँ किसी बडे प्रसग में असगत होते हुए भी चातुरीपूर्ण लग सकती है । एक्यूट मेनिया में अक्सर हठभ्रम (delusions) भी होते है ।

हाइपरएक्यूट (hyperacute) मेनिया मेनिया का अत्यधिक उग्र रूप होता है और उसके रोगी की बातचीत इतनी असम्बद्ध, असयत और

टूटी फूटी होती है कि उसका कोई मतलब निकाल सकना असम्भव सा हो जाता है। हाइपरएक्यूट-मेनिया-ग्रस्त रोगी का व्यवहार अत्यधिक उद्दीपनपूर्ण और आक्रमक हो जाता है। वह कभी अपने बाल नोचता है, कभी हँसता है, कभी गाता है और इधर उधर घूमता रहता है। वह अन्य लोगो पर आक्रमण भी कर बैठता है। उसको न तो नीद आती है और न वह आराम करना चाहता है। उसको बिल्कुल नि शक्त होने से बचाने के लिए उस पर नियत्रण रखना आवश्यक हो जाता है।

उदासी-पक्ष और उसके रूप--अप्रकृत रागात्मकता का दूसरा पक्ष उदासी का होता है। हम सब को समय समय पर विभिन्न मनोदशाओ का अनुभव होता रहता है। कभी हम प्रसन्नचित्त रहते है, कभी शोकाकुल और कभी खिन्न। प्रकृत और स्वस्थ व्यक्ति को भी गहरी उदासी हो सकती है। उदासी का कारण कोई न कोई गहरी निराशा या शोकपूर्ण घटना होती है। और उदासी की तीव्रता व्यवित के अनुभव की तीव्रता के अनुपात से कुछ देर ही रहती है। किंतु उदासी जब अनुभव की तीव्रता के अनुपात से ज्यादा तीव्र और ज्यादा देर तक रहे और साथ ही व्यक्ति के व्यवहार और दृष्टिकोण को भी प्रभावित करने लगे तो वह अप्रकृत रागात्मकता का रूप बन जाती है।

उदासी की अवस्था जब व्यक्ति के जीवन के किसी संघर्ष से सम्बन्धित होती है तो उसे प्रतिक्रियात्मक उदासी (reactive depression) कहा जाता है। जिस उदासी का कोई वाह्य आधार नही होता उसे अन्त·जन्य (endogenous) उदासी कहा जाता है। उदासी के ये दोनो रूप एक दूसरे पर निर्भर होते है। उदासीग्रस्त व्यक्ति की वाह्य जगत में कोई रागात्मक रुचि नही रहती, उसकी मानसिक और शारीरिक क्रियाओ में सुस्ती आ जाती है, विचार शक्ति का ह्रास होने लगता है और उसका व्यवहार संकुचित बन जाता है। यह साधारण अधोगमन (simple retardation) की अवस्था होती है।

उदासी के तीव्र रूप को एक्यूट (acute) मेलन्कोलिया कहा जाता है। एक्यूट मेलन्कोलिया की अवस्था में रोगी का अनुभव इतना कटु और निराशापूर्ण वन जाता है कि वह अपने जीवन को निरर्थक जानकर आत्महत्या करने की ओर प्रेरित होने लगता है और कुछ रोगी तो आत्महत्या कर भी लेते हैं। रोगी में आत्मतिरस्कार की भावना घर कर लेती है जिसका उसके स्वास्थ्य पर वहुत वुरा प्रभाव पडता है। रोगी की भूख कम लगती है, उसका वजन घटने लगता है, अक्सर कब्ज रहता है, कच्ची नीद आती है, नीद आने

से पहले मन में कुविचार उठते रहते हैं और सबेरे जागने पर थकान मालूम होती है।

जडतामय मेलन्कोलिया (stuporous melancholia) की अवस्था में रोगी की हालत ऐसी हो जाती है कि वह घटो जडवत् बैठा या लेटा रहत है। उसे अपने परिवेश का बोध तो रहता है किन्तु वह परिवेश से सक्रिय सम्पर्क नही रख पाता। जडतामय उदासी की अवस्था में रोगी को कभी कभी उठाने-बैठाने, नहलाने, पहनाने, धुलाने, खिलाने तक की जरूरत भी पड जाती है जिसको वे स्वय नही कर सकते। जडतामय उदासी-ग्रस्त रोगियो के मन में कोई भयकर अपराध या पाप करने की निरर्थक भावना सदा रहती है। कोई रोगी अपने को विश्व-युद्ध का कारण समझता है तो कोई किसी और पापकर्म का।

मिश्रित रूप—यद्यपि मेनिक-उदासी के दोनो पक्षो का मिश्रित रूप कम देखने को मिलता है किन्तु लगभग पच्चीस प्रतिशत रोगियो में मेनिया और उदासी के दोनो पक्ष मिलते है जिससे क्रेपेलिन की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि मेनिक-उदासी साइकोसिस के दोनो पक्ष एक ही विकार के कुछ सामान्य लक्षणो की अभिव्यक्ति होते है। रोगियो मे मेनिया और उदासी दोनो पक्षो का क्रमान्तर चक्रक ढग से होता है और क्रमान्तर के बीच में विभिन्न काल तक रहने वाली प्रकृत अवस्था भी मिलती है। अगर मेनिया को म अक्षर, प्रकृत अवस्था को प अक्षर और उदासी को उ अक्षर से बताया जाय तो मेनिक-उदासी के तीन मिश्रित रूपो का पता चलता है (१) उ-प-म-प-उ-प-म.. (२) म-उ-प-म-उ-प ... और (३) म-उ-म-उ-म-उ एक पक्ष से दूसरे पक्ष में क्रमान्तर आकस्मिक न होकर धीरे-धीरे होता है और कोई एक पक्ष कई दिनो से लेकर महीनो तक रह सकता है।

सामान्य विशेषताएँ—मेनिक-उदासी के सभी विभिन्न रूपो के रोगियो में सज्ञाशक्ति की कमी दिखाई देती है। मेनिक-उदासी का रोगी अपने परिवेश की विभिन्न उत्तेजनाओ और स्थितियो के सब पक्षो को अस्पष्ट या आशिक रूप से ही देख पाता है। इसका कारण उसके अवधान की चचलता में होता है जिससे वह किसी भी उत्तेजना पर एकाग्र नही रह पाता। मेनिक-उदासी की तीव्रतम अवस्था में व्यक्ति की प्रतिक्रियाएँ अनिश्चित और असयत बन जाती है और वह ठीक से अपनी, समय या दिन आदि की स्थिति नही बता पाता। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मेनिक-उदासी की तीव्रतम अवस्था में रोगी की चेतनता कुठित हो जाती है।

निर्णय-शक्ति का कुठित हो जाना मेनिक-उदासी की एक और सामान्य विशेषता होती है। यह देखा जा चुका है कि मेनिक-उदासी मे संज्ञाशक्ति क्षीण हो जाती है और कुछ रोगी हठभ्रम (delusion) के शिकार भी हो जाते है और उनका अधिकाश व्यवहार उनके हठभ्रम पर आधारित होता है। सज्ञाशक्ति की क्षीणता और हठभ्रम रोगी के अनुमान और मूल्याकन करने को प्रभावित करते है जिससे उसकी निर्णयशक्ति दूषित बन जाती है। उदासीग्रस्त व्यक्ति के हठभ्रम आत्म-अभियोग (self-accusation) और मेनियाग्रस्त व्यक्ति के अतिरजित आत्मगौरव या अपने को बहुत बडा समझने से सम्बन्धित होते है। वह विश्वास कर सकता है कि उसके पास एक ऐसी योजना है जिससे ससार मे क्राति हो सकती है। वह अपने दृष्टिकोण को प्रकट करने के लिए प्रभावशाली लोगो, नेताओ या शासको को लम्बे-लम्बे पत्र भी लिख सकता है। यह जरूरी नही है कि मेनिक रोगी की अतिरजित बातें या हठभ्रम हमेशा मूर्खतापूर्ण ही हो।

मेनिक-उदासी के एक पक्ष से दूसरे में संक्रमण होने के समय व्यक्ति की कुछ जन्मजात प्रवृत्तियो के प्रकाशन मे भी परिवर्तन होता है। मेनिक पक्ष मे क्रोध आसानी से जाग्रत हो जाता है, मैथुनेच्छा तत्काल पैदा हो जाती है और अहम्परक उद्देश्य सभी कामो मे मौजूद रहता है। उदासी-पक्ष में मैथुनेच्छा या क्रोध आसानी से जाग्रत नही हो पाते। डर कुछ हद तक अवश्य मौजूद रहता है और सारा व्यवहार आत्मनिवेदन (self-submission) की प्रवृत्ति से ओतप्रोत होता है।

यो तो मेनिक-उदासी साइकोसिस मे मतिभ्रम (hallucination) और हठभ्रम पाए जाते है किंतु वे मेनिक-उदासी के अनिवार्य लक्षण नही होते। अगर मतिभ्रम और हठभ्रम ज्यादा प्रभावशाली हो तो यह समझना चाहिए कि रोगी मेनिक-उदासी से तो पीडित है ही किन्तु उसमें स्काइजो-फ्रीनिक प्रतिक्रिया का रुझान भी है।

अब मेनिक-उदासी के मिश्रित रूप को प्रस्तुत करने वाला एक केस देखिए

केस २१—पैंतीस साल का मध्यमवर्गीय घर का एक युवक, विद्वान बनने का अभिलाषी। उसका पिता अत्यन्त रूढिवादी। होश सँभालने पर युवक ने घर के रूढिवादी वातावरण के प्रति विद्रोह करना शुरू किया। तेईसवे वर्ष में उसने अपने पिता की मर्जी के खिलाफ अपने पसन्द की एक पढ़ी-लिखी और अतिशय आधुनिक विचारो वाली

लडकी से विवाह किया। लडकी पति और अन्य पुरुषो को अपने मनोरंजन का केवल एक साधन समझती थी और स्त्री सम्बन्धी भारतीय आदर्शों, नैतिक मूल्यो और पति के प्रति कर्तव्यो का मजाक उडाती थी। युवक बेचारा अपनी पत्नी की सब बातें चुपचाप पी जाता था। विवाह के कुछ वर्ष बाद ही युवक मैनिक-उदासी के हल्के रूप से पीडित रहने लगा जो धीरे-धीरे उग्र बनता गया। युवक की मेनिक-उदासी के दोनो पक्ष कुछ समय तक ही रहते थे और दोनो पक्षो के बीच लम्बे समय तक प्रकृत अवस्था रहती थी।

मैनिक-पक्ष में युवक सन्देहवादी वन जाता था। वह प्रत्येक प्रकार के नैतिक आदर्श का तिरस्कार किया करता था। उसका आत्मानुमोदन (self-assertion) मान्य विद्वानो से नैतिक वाद-विवाद और तीव्र तार्किक विरोध करने की लालसा का रूप ले लेता था। साथ ही उसमें अपनी पत्नी की स्वेच्छाचरिता के प्रति एक भयानक ईर्ष्या भी रहती थी जो उदासी-पक्ष में नही होती थी।

उदासी-पक्ष में युवक भयभीत रहता था। वह नरक और दैत्यो आदि में विश्वास रखने लगता था और अपने आप को हमेशा भयकर दैत्यो से घिरा देखता था। वह अपनी पत्नी की नैतिक-आदर्शों की पूर्ण अवहेलना से बहुत दुखी रहता था। उदासी-पक्ष मे पत्नी के तानें-उलाहने भी युवक के मन में आत्मानुमोदन की कोई प्रतिक्रिया जाग्रत नही कर पाते थे। वह भाग्य के सामने पूरी तरह से निस्सहाय हो जाता था और अपने दुर्भाग्य से बचने की कोई आशा नही रखता था।

व्याख्या सम्बन्धी मत—मेनिक-उदासी साइकोसिस की व्याख्या करना एक कठिन समस्या है और इस विपय में अनेक मत हैं। अनेक विद्वानो ने मेनिक-उदासी को शरीरजन्य मानकर उसकी व्याख्या शारीरिक आधार पर करने की चेष्टा की हैं। उनका कहना है की मेनिक-उदासी के लक्षण कठिन प्रसव या बहुत पीडा पहुँचाने वाली शल्य-चिकित्सा के परिणामस्वरूप भी प्रकट हो जाते हैं। शरीरजन्य मत के अनुसार मेनिक-उदासी का कारण आन्तरिक शारीरिक अगो का दूषित हो जाना होता है। किन्तु किसी कार्यात्मक (functional) साइकोसिस की समुचित व्याख्या केवल शारीरिक आधार पर नही हो सकती। यह तो ठीक है कि अन्ततोगत्वा प्रत्येक कार्यात्मक विकार का कोई न कोई शारीरिक आधार होता है, किन्तु उसमे कार्यात्मक विकार के प्रतिक्रियात्मक पक्ष की विशेपताओ को नही समझा जा सकता। उदाहरण के लिए पैरेसिस (Paresis) एक आंगिक (organic)

विकार होता है जिसमें आगिक क्षति के कारण कोर्टेक्सीय क्रियाओ में परिवर्तन हो जाता है। पैरेसिस के रोगी को हठभ्रम होनें लगते है। वह अपने को बहुत धनवान, शक्तिशाली, अनेक पत्नियों और सैकड़ों पुत्रो का मालिक समझने लग जाता है। हठभ्रमो (delusions) के कारण पैरेसिस के रोगी की प्रतिक्र्याओ में जो विलक्षणता आ जाती है उसे आगिक क्षति के प्रसंग से कदापि नही समझा जा सकता, उसे तो रोगी की इच्छाओ, आशाओ और आकाक्षाओ के गत्यात्मक (dynamic) प्रसग से ही समझा जा सकता है।

कुछ विद्वान मेनिक-उदासी को आनुवशिक विकार मानते है। किन्तु यह एकागी दृष्टिकोण है। कार्यात्मक मानसिक विकारो के पीछें आनुवशिकता और परिवेश दोनो की प्रधानता रहती है। किन्तु किसी आनुवशिक क्षमता को लेकर पैदा होने मात्र से ही उसका प्रकाशन नही हो जाता। आनुवशिक क्षमता के प्रकाशन के लिए उपयुक्त परिवेश की अपेक्षा होती है इसलिए कार्यात्मक मानसिक विकारो के प्रकाशन मे परिवेश का आनुवंशिकता से ज्यादा महत्व होता है।

क्रेश्मर नें मेनिक-उदासी की व्याख्या साइक्लोथाइमिक (cyclothymic) व्यक्तित्व के आधार पर करने की कोशिश की है। साइक्लोथाइमिक व्यक्ति की मनोदशा में निरन्तर क्रमान्तर होता रहता है, वह कभी उदास रहता है तो कभी उत्फुल्ल। क्रेश्मर के अनुसार मेनिक-उदासी के लक्षणो के विकसित होने के लिए साइक्लोथाइमिक व्यक्तित्व बहुत अनुकूल होता है। साइक्लोथाइमिक व्यक्ति की वहिर्मुखी आदतें, ज्यादा बातूनी होना और रागात्मक प्रतिक्रियाओ को स्वच्छन्दता से कर सकने की क्षमता दुर्बल कोर्टेक्सीय नियत्रण का प्रमाण होती है। कोर्टेक्सीय नियंत्रण की दुर्वलता के कारण साइक्लोथाइमिक (cyclothymic) व्यक्ति में मेनिक-उदासी के लक्षण प्रकट होने में देर नही लगती। क्रेशमर नें मेनिक-उदासी के पचासी केसो मे वहत्तर को साइक्लोथाइमिक पाया था। किन्तु इससे यह साबित नही होता कि साइक्लोथाइमिक व्यक्तित्व के अलावा अन्य व्यक्तियो मे मेनिक-उदासी रोग विकसित नही हो सकता। साइक्लोथाइमिक व्यक्तित्व और मेनिक-उदासी में अभी तक कोई सार्थक सम्वन्ध स्थापित नही किया जा सका है।

म्कडूगल ने मेनिक-उदासी की व्याख्या आत्म-सम्मान (self-regard) के स्थायीभाव (sentiment) के आधार पर की है। आत्म-सम्मान का स्थायीभाव दो जन्मजात प्रवृत्तियो के व्यवस्थित होनें से वनता है, वे प्रवृत्तियाँ है आत्मानुमोदन (self-assertion) और आत्मनिवेदन (self-submission) आत्मानुमोदन का प्रकाशन अपने आप को श्रेष्ठ और हर काम कर सकने की योग्यता में विश्वास रखने और आत्मनिवेदन का प्रकाशन दूसरो का

आज्ञाकारी बनने, सहनशील होने, अपनी योग्यताओ को ठीक से जानने में होता है। प्रकृत व्यक्ति अपने विषय मे जो धारणा रखता है, अपना जो भी मूल्याकन करता है वह उसकी आत्मानुमोदन और आत्मनिवेदन की दो प्रतियोगी प्रवृत्तियो के सहयोग और पारस्परिक प्रभाव का फल होता है यद्यपि समय समय पर उनमें से किसी एक के ज्यादा प्रभावशाली होने के कारण व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन होता रहता है। प्रकृत रूप से दोनो प्रवृत्तियाँ आत्मसम्मान के स्थायीभाव के दो सहकारी पक्षो की तरह काम करती है और प्रत्येक प्रवृत्ति दूसरी प्रवृत्ति के प्रतियोगी प्रभाव को नियत्रित और सशोधित करती रहती है। इसका बड़ा सामाजिक महत्व है क्योकि व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसके आत्मसम्मान के स्थायीभाव के अन्दर व्यवस्थित आत्मानुमोदन और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियो की अभिव्यक्ति होता है।

अगर किसी व्यक्ति का प्रारम्भिक परिवेश ऐसा रहा हो जिससे उस व्यक्ति में सदा आत्मानुमोदन की प्रवृत्ति ही जाग्रत होती रही हो तो उस व्यक्ति में हर मौके पर अपने को आगे कर देने का रुझान बन जायगा। दूसरी ओर अगर उसकी आत्मनिवेदन-प्रवृत्ति ही जाग्रत होती रही हो तो उसमे हर मौके पर अपने को पीछे हटा लेने का रुझान बन जायगा। ऐसा भी हो सकता है कि वह अपने परिवेश की कुछ स्थितियो में तो अपने को आगे कर दे और कुछ में पीछे हटा ले। ऐसे व्यक्ति के अन्दर दोनो प्रवृत्तियो में कोई सहयोग और एक दूसरी के प्रभाव का नियत्रण और सशोधन नही रहता और उनके इस असहयोग और असन्तुलन की अभिव्यक्ति मेनिक-उदासी में दृष्टिगोचर होती है। मेनिक-उदासी का मेनिक पक्ष आत्मानुमोदन और उदासी पक्ष आत्मनिवेदन प्रवृत्ति के पारस्परिक असशोधन और असहयोग का प्रकाशन होता है।

नतीजा यह होता है कि ऐसे व्यक्ति का दृष्टिकोण अपने परिवेश के प्रति एकात्मक न रहकर द्वैतात्मक बन जाता है। वह परिवेश की सब स्थितियो को दो सामान्य वर्गों में खडित देखता है · एक तो वे स्थितियाँ जिनमें वह अपने को श्रेष्ठ समझता है और दूसरी वे जिनमें वह अपने को हीन समझता है। पहले प्रकार की स्थितियो में उसका व्यवहार आत्मानुमोदन प्रधान और दूसरे प्रकार की स्थितियो में आत्मनिवेदन प्रधान होता है। साथ ही साथ व्यक्ति अपने अन्दर दोनो प्रवृत्तियो के असहयोग को छिपाने की कोशिश करता है। इसका परिणाम यह होता है कि अनेक स्थितियो में उसका व्यवहार आत्मनिवेदन प्रधान तो होता है किन्तु वह वस्तुत उन स्थितियो के प्रति मूक विद्रोह भावना रखता है। ऐसा व्यक्ति जीवन की विभिन्न स्थितियो से कोई समझौता नही कर पाता जिससे किसी रागात्मक या अन्य प्रकार की सकटमय

स्थिति आने पर उसकी मानसिक व्यवस्था में पहले से ही बन चुका द्वैत उसके व्यवहार द्वारा व्यक्त होने लगता है। इस प्रकार मेनिक-उदासी के रोगी में हमे जीवन के प्रारम्भिक परिवेश के कुप्रभाव के कारण उचित रूप से सापेक्षीकरण न हो सकने से आत्मसम्मान के स्थायीभाव को निर्मित करने वाली प्रवृत्तियो का असहयोग देखने को मिलता है।

केस २१ मे घर के रूढिवादी परिवेश से अपना समझौता न कर पाने से युवक के आत्मसम्मान का स्थायीभाव (sentiment) आत्मानुमोदन और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियो के असहयोग और पारस्परिक असशोधन के कारण ठीक से नही बन पाया था। वह रूढिवादिता के सामने आत्मनिवेदन भी नही कर पाता था और पत्नी की स्वच्छन्दता से उसके आत्मानुमोदन को चोट भी पहुँचती थी। फलत वह अपने परिवेश को दो रूपो मे खण्डित देखता था। मेनिक-पक्ष मे वह आधुनिकता का समर्थक बन रूढ़िवादिता का तिरस्कार और उदासी-पक्ष मे रूढिवादी परम्परा के सामने आत्मनिवेदन करता था। अगर युवक मे आत्मानुमोदन और आत्मनिवेदन की प्रवृत्तियो में उचित सहयोग और सशोधन होता रहता तो वे दोनो प्रवृत्तियाँ उसे उस सीमा तक न ले जा सकती जिसकी अभिव्यक्ति बाद में मेनिक-उदासी द्वारा होने लगी थी।

नष्टार्तवकालीन मेलन्कोलिया

रागात्मक साइकोसिस के अन्य रूप को नष्टार्तवकालीन मेलन्कोलिया (Involutional melancholia) कहा जाता है। इस साइकोसिस को नष्टार्तवकालीन इसलिए कहा जाता है क्योकि यह नष्टार्तवकाल मे आन्तरिक शारीरिक अगो और ग्लैडीय क्रियाओ में परिवर्तन होने पर प्रकट होता है। यह साइकोसिस स्त्रियो में नष्टार्तव (menopause) के समय से प्रकट होता है और सामान्यत स्त्रियो मे ही अधिक मिलता है। किन्तु कुछ पुरुषो मे भी ५०-५५ की आयु तक आन्तरिक शारीरिक अगो और ग्लैडीय क्रियाओ मे परिवर्तन हो जाने से नष्टार्तवकालीन-मेलन्कोलिया से मिलते-जुलते लक्षण मिलते है, इसलिए पुरुषो मे पाए जाने वाले उन लक्षणो को भी नष्टार्तवकालीन मेलन्कोलिया की सज्ञा दे दी जाती है।

सामान्य लक्षण—कुछ अधिकारी मेलन्कोलिया को मेनिक-उदासी का ही एक प्रकार मानते है। मेलन्कोलिया के रोगी मे मेनिक-उदासी की भाँति कभी-कभी उद्दीपन और उदासी दोनो पाई जाती है। ऐसी मेलन्कोलिया को उद्दीप्त-उदासी (agitated depression) नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। उद्दीप्त-उदासी की अभिव्यक्ति हठभरी मानसिक या शारीरिक पीडा, बेचैनी, हाथो को ऐंठने या विलाप करने के रूपो से होती है। ऐसी अवस्था

में हठभ्रम (delusion) की तीव्रता लिए हुए काल्पनिक बीमारियो के विचार आते है। रोगी को लगता है कि उसका शरीर अन्दर से गल या सड रहा है, खोपडी के अन्दर कुछ नही रह गया है, आदि।

यदि रोगी नष्टार्तव काल के पहले मेनिक-उदासी-ग्रस्त रह चुका हो तो उसे मेलन्कोलिया का रोगी नही माना जाता। मेलन्कोलिया के रोगी की प्रतिक्रियाएँ आत्म-प्रताडना के रूप की होती है। वह निस्सहाय होने से सहायता तो चाहता है किन्तु यह भी जिद करता है कि वह लाइलाज है और रोग से बच सकने को असम्भव समझता है। वह समझता है कि उसने कोई भयकर पाप किया है जिससे जिस व्यक्ति पर उसकी छाया पडेगी उसका अनिष्ट होकर ही रहेगा। उसे लग सकता है कि यम उसे लेने आ रहा है या लोग उसे श्मशान ले जाने की तैयारी कर रहे है। ऐसे विचार रोगी को मतिभ्रम (hallucination) में डाल देते है जिससे उसे यम का फदा दिखाई देने लगता है और श्मशान ले जाने वालो की कानाफूसी सुनाई पडने लगती है। इस तरह के लक्षण सब रोगियो में तो नही मिलते किन्तु सामान्यत कुछ इसी ढग की विशेषताएँ मेलन्कोलिया के प्रत्येक रोगी में मिलती है।

व्याख्या—मेलन्कोलिया का कारण नष्टार्तव काल में होने वाले आन्तरिक शारीरिक अगो और ग्लैंडो की क्रियाओ में परिवर्तन होने से तो होता ही है किन्तु मेलन्कोलिया के मनोजन्य कारण भी हो सकते है। मेलन्कोलिया के पीछे अक्सर कोई विगत दुखद अनुभव या असफलता पाई जाती है। नष्टार्तव का समय आने पर प्रजनन शक्ति समाप्तप्राय हो जाती है और व्यक्ति वृद्धावस्था और अपना अन्त हो जाने के विचारो से खिन्नमन बन जाता है। इस खिन्नता के साथ विगत दुखद अनुभवो की याद आने से वह निस्सहाय, अक्षम, चिड-चिडा और भयभीत सा होता जाता है। रोगी के मन में कुछ अतृप्त कामनाएँ पहले से ही मौजूद रहती है और नष्टार्तव काल में अपनी शक्ति का ह्रास और अतृप्त कामनाओ को तृप्त कर पाने की कोई गुजाइश न देखकर उसे बडा धक्का लगता है और उसकी प्रतिक्रियाएँ आत्म-प्रताडना के रूप की हो जाती है।

नष्टार्तव-काल बीत जाने और आन्तरिक शारीरिक अगो में परिवर्तन हो चुकने के बाद अगर व्यक्ति अपने को वृद्धावस्था आदि की आगामी स्थितियो के प्रति सतुलित कर ले और परिस्थितियो अनुसार अपनी नई रुचि वना ले तो मेलन्कोलिया मिट जाता है। इलाज के बिना यह रोग महीनो तक वना रह सकता है और कुछ रोगी कभी ठीक नही हो पाते। उदासी के अन्य रोगो की भाँति मेलन्कोलिया में भी इस वात का वड़ा डर रहता है कि रोगी कही

आत्महत्या न कर ले और इसलिए रोगी की देखभाल मे बड़ा सावधान रहने की जरूरत पडती है।

पैरानोइया

सामान्य रूप से कार्यात्मक साइकोसिसो का कारण रागात्मक कठिनाइयो को ही समझा जाता है। किन्तु कार्यात्मक साइकोसिसो में ज्ञानात्मक कठिनाइयो का भी महत्वपूर्ण स्थान रहता है। ज्ञानात्मक कठिनाइयो के कारण व्यक्ति के प्रकृत चिंतन की दिशा बदल जाती है। पैरानोइया (Paranoia) ज्ञानात्मक कठिनाइयो से उत्पन्न होने वाला साइकोसिस होता है। पैरानोइया शब्द यूनानी भाषा के जिन दो शब्दो (para = उप + noein = विचार करना) से मिलकर बना है उनका अर्थ होता है प्रकृत विचारधारा के साथ व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित और सचालित करने वाली एक अन्य उप-विचारधारा का बन जाना। पैरानोइया साइकोसिस में जो उप-विचारधारा बनती है वह हठभ्रमो (delusions) पर आधारित होती है- इसलिए पैरानोइया को ठीक से समझने के लिए हठभ्रम क्या होते है और कैसे बनते है पहले इस पर विचार कर लेना आवश्यक है।

विश्वास और हठभ्रम—यह एक सामान्य सी धारणा है कि हमारे विश्वास प्रत्यक्ष के आधार पर बनते है और हमे वस्तुओ का प्रत्यक्ष वैसा ही होता है जैसी कि वे वस्तुतः होती है। किन्तु यह धारणा गलत है। मनुष्य के ज्ञानात्मक पक्ष पर उसके उद्देश्यो और रागात्मक अनुभवो का निश्चयात्मक प्रभाव पडता है। किसी प्रबल इच्छा, उद्देश्य या रागात्मक अनुभव के वशीभूत होने पर मनुष्य स्थिति का प्रत्यक्ष ठीक से नही कर पाता। प्यासे आदमी को रेगिस्तान की मृगमरीचिका में पानी दिखाई देता है। प्रेमी को अपनी प्रेमिका की हर बात मे कोई न कोई खूबी दिखाई पडती है। अगर हमारे अन्दर कोई प्रबल सचारीभावात्मक उद्देश्य जाग्रत हो जाय तो वह अन्य मानसिक क्रियाओ का सापेक्षीकरण इस ढग से कर देता है जिससे वे उस उद्देश्य के अनुकूल विचारधारा से समन्वित हो जाती है। ऐसा होने से व्यक्ति किसी स्थिति के कुछ पक्षो को तो देखता है और कुछ की उपेक्षा करता है। इस पक्षपातपूर्ण प्रत्यक्ष से उसके निश्चय और विश्वास भी पक्षपातपूर्ण बन जाते है। स्पष्ट है कि ज्ञानात्मक पक्ष पर रागात्मकता का प्रभाव पडने से हमारे अधिकाश विश्वास हमारी प्रबल इच्छाओ और सचारीभावो से निर्धारित हो जाते है। हम जो कुछ विश्वास करते है उसे स्वीकार भी करते है। विश्वास करना स्वीकार करने का ही दूसरा नाम होता है।

प्रवल इच्छा और रागात्मकता के प्रभाव से बन गए मिथ्या विश्वासो को हठभ्रम (delusions) कहा जाता है। हठभ्रमो की विशेपता यह होती है कि उन्हे किसी भी प्रकार के तर्क या प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सशोधित नही किया जा सकता। हठभ्रम रखने वाला व्यक्ति अपने विश्वासो और विचारधारा को अखण्डनीय समझता है। किन्तु हठभ्रम मात्र से ही किसी व्यक्ति का व्यवहार अप्रकृत नही बन जाता। हम सब हठभ्रमात्मक चिंतन के शिकार होते है। अपने को आर्यों की सन्तान मानकर एक विचित्र प्रकार की श्रेष्ठता का अनुभव करना या अपनी सस्कृति को अन्य सस्कृतियो से अच्छा समझना हठभ्रमात्मक चिंतन के उदाहरण हैं। हठभ्रमात्मक चिंतन अप्रकृत तब होता हैं जव पर्याप्त विरोधी प्रमाणो से भी उसका सशोधन न हो सके।

हठभ्रमो को अप्रकृत कहने की एक कसौटी और भी है जिसके अनुसार व्यक्ति के सामाजिक-बौद्धिक स्तर के प्रसग से ही उसके हठभ्रमो को अप्रकृत कहा जा सकता है। एक शिक्षित परिवार का व्यक्ति अगर जमीन को चपटी माने तो उसका यह हठभ्रम अप्रकृत होगा किंतु भील जाति के व्यक्ति के लिए जमीन को चपटी मानना अप्रकृत हठभ्रम नही होगा। हठभ्रम जव सामाजिक अन्तर्क्रियाओ से बनते है तो उन्हे अप्रकृत नही कहा जा सकता। अप्रकृत हठभ्रम वे होते है जिनके बनने का आधार व्यक्ति की सामाजिक-बौद्धिक पृष्ठभूमि न होकर उसकी कोई वलवती रागात्मक इच्छा या अनुभव होता है।

हठभ्रमों का वर्गीकरण—हठभ्रम अनेक प्रकार के हो सकते हैं इसलिए उनका वर्गीकरण अनेक दृष्टिकोणो से किया जा सकता है। व्यक्ति के हठभ्रम अपने शरीर, मनस् या वाह्य जगत के प्रति हो सकते हैं। हठभ्रम अगर अपने ही शरीर के विषय में हो तो उसे शरीर-प्रसगी (somatopsychic) हठभ्रम कहा जाता है। शरीर-प्रसगी हठभ्रम में व्यक्ति यह समझता है कि उसके शरीर का कोई अग (हृदय, फेफडे या पेट) आदि है ही नही। हठभ्रम जव अपने ही मनस् के प्रति होता है तो उसे मनस्-प्रसगी (autopsychic) हठभ्रम कहा जाता है। मनस्-प्रसगी हठभ्रम में व्यक्ति यह समझता है कि वह ससार का सबसे बडा कवि, साहित्यकार, विज्ञानी या आविष्कारक है। वाह्य-जगत के प्रति होने वाले हठभ्रमो को जगत-प्रसगी (allopsychic) हठ-भ्रम कहा जाता है। जगत-प्रसगी हठभ्रम में व्यक्ति को कुछ विचित्र से विश्वास हो जाते है जैसे 'लगातार घूमने' का विश्वास या यह विश्वास कि 'मेरे वच्चे मर चुके हैं क्योकि युद्ध के लिए उन्हे सेना में भरती कर लिया गया है', चाहे वे सही सलामत ही क्यो न हों।

हठभ्रमों का वर्गीकरण राग और तत्सम्बन्धी प्रेरणा के दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। इस दष्टिकोण से हठभ्रम तीन कोटि के हो सकते हैं :

महानता-हठभ्रम, अभियोग-हठभ्रम और सदर्भ-हठभ्रम । महानता-हठभ्रम (delusion of grandeur) में व्यक्ति अपने आप को कोई तत्कालीन महान् व्यक्ति जैसे देश का कर्णधार या ईश्वर का अवतार या पैगम्बर आदि समझने लग जाता है । अभियोग-हठभ्रम (delusion of persecution) में व्यक्ति को यह पक्का विश्वास हो जाता है कि कोई सस्था, सरकार या कुछ लोग उसका विनाश करने के लिए उसके विरुद्ध षड़यन्त्र रच रहे हैं । अपने ऐसे विश्वास के अनुसार वह दैनिक जीवन की साधारण घटनाओ की गलत व्याख्या करने लग जाता है । गलत व्याख्या करने की मनोवृत्ति बन जाने से उसे सदर्भ-हठभ्रम (delusions of reference) होने लगते हैं । वह दूसरो की बातचीत, कानाफूसी, हावभाव प्रदर्शन का विषय हर समय अपने को ही समझने लगता है । वह अन्य लोगो की निरर्थक और महत्वहीन बातो और मुद्राओ के पीछे गूढ रहस्य और बडे बडे षडयन्त्र ढूँढने मे लगा रहता है । उसकी भ्रात व्याख्याओ के पीछे उसकी सन्देहात्मक मनोवृत्ति का जो हाथ रहता है उसे वह बिल्कुल नही जान पाता । कठिनाइयाँ ढूँढने के प्रति अपना विन्यास बना लेने से उसे कठिनाइयाँ हर जगह आसानी से मिल जाती हैं । कोई कोई रोगी तो अपने अभियोगियो (१) के प्रति खुला विद्रोह भी कर बैठते है या उन्हे जान से मार डालने पर उतारू हो जाते हैं या उनसे बदला लेने के लिए बडी सतर्कता से कोई चाल भी चल जाते है और कभी कभी सफल भी हो जाते हैं ।

हठभ्रमो का वर्गीकरण उनकी सगति (coherency) के दृष्टिकोण से किया जा सकता है जो पैरानोइया को समझने के लिए अत्यन्त महत्व का है । सगति के दृष्टिकोण से हठभ्रम या तो व्यवस्थित (systematic) होते हैं या अव्यवस्थित । व्यवस्थित हठभ्रम मे पहले एक केन्द्रीय विश्वास बन जाता है और बाद में रोगी के अन्य सब विचार और गौण विश्वास उसके केन्द्रीय विश्वास से समन्वित हो जाते हैं । अगर रोगी मे अभियोग-हठभ्रम एक केन्द्रीय विश्वास बन जाय तो उसके परिवेश मे होने वाली प्रत्येक घटना अभियोग-हठभ्रम के केन्द्रीय विश्वास से समन्वित होने लगेगी । वह अपने विरुद्ध रचे गए षडयन्त्र में अपने घर के लोगो और साथियो का हाथ समझने लगेगा । अस्पताल के किसी कर्मचारी या डाक्टर पर षडयन्त्रकारी दल का सहयोगी होने का सन्देह करेगा । खाना पसन्द न आने पर उसे यह समझते देर नही लगेगी कि उसे जहर देने की कोशिश की गई है । इसी प्रकार दैनिक जीवन की प्रत्येक महत्वहीन और निरर्थक छोटी से छोटी घटना भी रोगी के अभियोग हठभ्रम पर आधारित केन्द्रीय विश्वास से समन्वित होने लगेगी । व्यवस्थित

हठभ्रम का पता लगाना आसान काम नही होता। उसके लिए रोगी के पूर्व इतिहास का अध्ययन बडी गहराई और सावधानी से करने की जरूरत पड़ती है, नही तो ऊपरी दृष्टि से रोगी का व्यवहार बिल्कुल प्रकृत मालूम होता है। अव्यवस्थित हठभ्रमो मे रोगी का कोई केन्द्रीय विश्वास नही होता और विभिन्न विश्वासो और विचारो मे कोई सगति भी नही होती।

पैरानोइया के लक्षण—पैरानोइया साइकोसिस मे रोगी का व्यवहार कुछ हठभ्रमो से सचालित होने लगता है, विशेपकर महानता-हठभ्रम और अभियोग-हठभ्रम से। दोनो हठभ्रम एक दूसरे को पुनर्शक्त करते रहते हैं और अभियोग-हठभ्रम, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, सदर्भ-हठभ्रम (delusion of reference) को पैदा कर देता है। पैरानोइया के हठ-भ्रम व्यवस्थित होते हैं और अगर रोगी के हठभ्रमो मे कोई बाधा न पडे तो ऊपर से देखने मे उसका व्यवहार बिल्कुल प्रकृत लगता है। रोगी को न तो मतिभ्रम (hallucinations) होते हैं और न उसके रागात्मक पक्ष में कोई व्यवधान ही पडता है। वह अपने दैनिक कामो को प्रकृत व्यक्ति के समान करता रहता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि पैरानोइया के रोगी मे प्रकृत व्यक्ति की भाँति अपने हठभ्रमो को समझ सकने की अन्त-र्दृष्टि नही होती। जिस रोगी के हठभ्रम व्यवस्थित न हो कर अव्यवस्थित होते है वह सही अर्थ में पैरानोइया का रोगी नही होता। उसके मानसिक विकार को स्काइजोफ्रीनिक (schizophrenic) वर्ग या पैरानोइड (paranoid) व्यक्तित्व के अन्तर्गत माना जाता है।

यूजीन ब्लायलर द्वारा प्रस्तुत एक केस देखिए कि पैरानोइया के रोगी को अगर यह विश्वास हो जाय कि उसके साथ अन्याय हुआ है तो वह उस अन्याय का बदला लेने के लिए क्या कर सकता है।

> **केस २२**—१९१३ की ३ और ४ सितम्बर की रातो में उनता-लिस वर्षीय वाग्नर नामक एक स्कूल के प्रधानाध्यापक ने अपने चार बच्चो और पत्नी की हत्या कर डाली जबकि वे सो रहे थे। दूसरी रात को उसने पास के गाँव के कई मकानो में आग लगा दी जहाँ वह पहले अध्यापक रह चुका था। उसने गाँव के लोगो पर गोली भी चलाई जिससे नौ आदमी मर गए और ग्यारह बुरी तरह घायल हुए। वाग्नर बचपन से ही महत्वाकाक्षी और मिथ्याभिमानी था जिससे वह बात-बात मे अपना अपमान होते देखता था। उसने ससार का सुधार करने के लिए कार्यात्मक योजनाएँ बनाई थी। उसकी मैथुनेच्छा बडी प्रबल

थी और वह 'दाम्पत्य सम्बन्ध' के प्रति विमुख रहता था। उसमें पितृ-भाव नही के बराबर था यद्यपि वह अपने बच्चो से साधारण व्यक्तियो की भाँति प्रेम करता था।

उसने कई वर्ष तक अपनी सजातीय-मैथुन-प्रवृत्ति (homo-sexual trend) से सघर्ष किया था जिसके परिणाम स्वरूप उसकी आत्मश्रेष्ठता (self-esteem) को बडा गहरा धक्का लगा था। बाद (१९०१) में शराब के नशे के प्रभाव मे आकर उसने सजातीय-मैथुन कर डाला था। तब उसे अपने भयकर पापकर्म का घनिष्ठ अनुभव हुआ और साथ ही उसे तिरस्कृत होने और अपने पकड जाने का डर लगने लगा। इससे वह अभियोग-हठभ्रम और सदर्भ-हठभ्रम का शिकार बन गया और यह समझने लगा कि गॉव के लोग उसके पापकर्म को जानते हैं और उसकी चर्चा करते हैं।

अपने पाप अभियोग को उसने अपने परिवार पर प्रक्षेपित कर दिया और वह वाग्नर वंश के सब लोगो को पापी मानकर उन्हे नष्ट कर देना चाहता था। बाद मे वह मनुष्य जाति से ही घृणा करने लगा, विशेष-कर अपने जिले के सब लोगो से जिन्होने उसके साथ दुर्व्यवहार किया था। अपने जीवन को निकृष्ट समझकर वह एक ओर तो आत्म-तिरस्कार करता था और दूसरी ओर अपने को महान् कवियो की भाँति एक प्रतिभाशाली व्यक्ति मानकर अपना आदर भी करता था ···१९०२ में दूसरी जगह बदल दिए जाने पर वह छह-सात साल शात तो रहा किंतु अपने हठभ्रमो को और भी व्यवस्थित बनाता रहा। उसके मन मे अपने परिवार को नष्ट कर देने, जिसका कारण वश-शुद्धि की भावना और करुणा दोनो ही थे, और गाँव में आग लगा कर उसके ढोगी निवासियो को मिटा देने की योजना तभी से बनने लगी थी .वह अपने जैसे व्यक्ति के लिए कुछ विशेषाधिकार मानता था। अपनी योजना को कार्यान्वित करना उसके लिए अधिकार न होकर एक कर्त्तव्य था। उसकी योजना मानवता के हित के लिए थी। अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए वह चार साल तक रुका रहा। जब वह बदल कर तीसरी जगह गया और वहाँ के लोगो को भी अपने विषय में चर्चा करते पाया तो उसने अपनी योजना को बडे ही व्यवस्थित ढंग से कार्यान्वित करना शुरु किया

उपर्युक्त केस में महानता-हठभ्रम और अभियोग-हठभ्रम दोनो मौजूद है। वाग्नर के मन मे दोनो प्रकार के हठभ्रम साथ साथ होते है। "पैरानोइया में

सम्भवत ऐसा कोई अभियोग-हठभ्रम नही होता जिसके साथ महानता-हठ-भ्रम न हो और प्रत्येक महानता-हठभ्रम के साथ अभियोग-हठभ्रम भी होता है और इस प्रकार उन दोनो का भेद सापेक्षिक हो जाता है....पैरानोइया मे आत्म-श्रेष्ठता की जो भावना होती है वह सम्भवत रोग के उत्पन्न होने की एक अनिवार्य शर्त होती है। किंतु मैं इतना और कहना चाहूँगा कि पैरानोइया रोग तब तक उत्पन्न नही हो सकता जब तक आत्म-श्रेष्ठता की भावना का सम्भवत शमन हो चुकी अक्षमता की भावना से सघर्ष न हो। जिस व्यक्ति मे यह आन्तरिक सघर्ष नही होता उसे अभियोग-हठभ्रम नही हो सकता और वह वास्तविकता से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करने की शक्ति भी सम्भवत उत्पन्न नही कर सकता।"

पैरानोइड (paranoid) व्यक्तित्व—व्यवस्थित हठभ्रम का शिकार होते हुए भी व्यक्ति वास्तविकता से सक्रिय सम्बन्ध रख सकता है और अपना काम सुचारु ढग से चला सकता है। पैरानोइया का रोगी अपने हठभ्रमो से निर्धारित मनोवृत्ति से कभी मुक्त नही हो पाता। अगर कोई रोगी हठभ्रम-निर्धारित मनोवृत्ति से मुक्त हो जाता है तो उसे पैरानोइया का रोगी न कह-कर उसके व्यक्तित्व को पैरानोइड कहा जाता है। पैरानोइड (paranoid) व्यक्तित्व के हठभ्रम पैरानोइया की भाँति स्थायी नही होते और जब व्यक्ति अपने विश्वासो की असत्यता को जान लेता है तो वह अपने हठभ्रमात्मक दृष्टिकोण से मुक्त हो जाता है। पैरानोइड अवस्था सामान्यत ३५ से ५५ साल तक की आयु के बीच ज्यादा पाई जाती है। पैरानोइड व्यक्ति बहुत सवेदनशील, अतिशय गम्भीर और विचित्र प्रकार के विश्वासो और सामाजिक सुधारो का सक्रिय समर्थक होता है। ऐसा व्यक्ति दूसरो को अपना प्रतिद्वन्दी समझकर उनके प्रति कुभावनाएँ रखता है, चिडचिडेपन से वाद-विवाद म उलझता है और उसका व्यवहार सामान्यत आक्रामक सा होता है। पैरानोइड व्यक्ति दूसरो पर दोषारोपण करता है और उनसे शत्रु-भाव रखता है। पैरानोइड व्यक्ति की इन विशेषताओ का वर्गीकरण साइकोसिसो के अन्तर्गत नही किया जाता यद्यपि साइकोसिस के रोगियो का व्यक्तित्व पैरानोइड विशेषताओ को लिए हुए होता है। नीचे पैरानोइड व्यक्तित्व का एक उदा-हरण दिया जा रहा है।

केस २३—पैंतीस साल का एक अविवाहित व्यक्ति एक स्कूल मे अध्यापक था। उसके साथियो को उसके व्यवहार से कोई विशेष असन्तोष नही था। वह शात रहता था और अपना काम नियमित ढग से करता था। विद्यार्थी उसे नीरस और रहस्यमय समझते थे। वह

अकेला रहता था और किसी से घनिष्ठता बढाना नही चाहता था। उसके साथी उसकी इस मनोवृत्ति को उसके सकोचशील स्वभाव का परिणाम समझते थे और इसीलिए उसे छेडते भी नही थे। स्कूल मे वह एक कुशल अध्यापक समझा जाता था। कुछ समय बाद उसके व्यवहार के बारे मे कुछ विलक्षण बाते फैलना शुरू हो गई। वह विद्यार्थियो से अपनी अध्यापन-कुशलता के बारे मे उन लोगो को पत्र लिखने को कहता था 'जिन्हे उनसे मतलब हो।' अन्त मे उसके विचित्र व्यवहार से स्कूल में अशांति फैलने लगी। जब उसे स्कूल से हटाए जाने की सूचना मिली तो वह जो सदा शात रहने वाला व्यक्ति था स्कूल के प्रबन्धक पर बुरी तरह उबल पडा। प्रत्युत्तर मे उसने कहा कि उसे हटाने का षडयन्त्र इसलिए रचा जा रहा है कि लोग उसकी विद्वता को देखकर जलते है। अपने साथियो मे निभ न पाने की कठिनाई, दूसरो के प्रति व्यवहार करने में सतर्क रहना और विद्यार्थियो से अपनी प्रशसा के पत्र लिखवाना उसके पैरानोइड रुझान के परिचायक थे।

पैरानोइया और पैरानोइड व्यक्तित्व की व्याख्या—पैरानोइया को पैरानोइड व्यक्तित्व का ही तीव्र रूप मानना चाहिए या नही यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है क्योकि अभी तक पैरानोइया के कारणो की कोई मान्य व्याख्या नही हो सकी है। पैरानोइड व्यवहार के सम्भाव्य कारणो पर फ्रायड ने कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। फ्रायड के अनुसार पैरानोइड व्यक्ति मे अचेतन सजातीय-मैथुन (homosexual) प्रवृत्ति होती है जो आत्म-तिरस्कार की भावना को पैदा करती है। पैरानोइड व्यवहार के पीछे जो हठभ्रम होते है वे सजातीय-मैथुन-प्रवृत्ति जन्य आत्म-तिरस्कार की भावना से बचने का रक्षात्मक उपाय (defence mechanisms) होते है। पैरानोइड व्यक्ति ऋणात्मक-प्रतिक्रियाओ द्वारा अपनी ही सजातीय-मैथुन-प्रवृत्ति का तिरस्कार नही करता किंतु दूसरो की वैसी ही प्रवृत्ति का घोर विरोधी बन जाता है। वह अपनी अचेतन सजातीय-मैथुनेच्छा के प्रति जो तिरस्कार-भावना रखता है उनका प्रक्षेपण (projection) दूसरो पर भी करता है। पैरानोइड व्यक्ति का अधिकाश व्यवहार प्रक्षेपण मात्र होता है। फ्रायड ने पैरानोइया की यह व्याख्या अपने रोगियो के केस-इतिहास के आधार पर की है। किन्तु यह विवादग्रस्त है कि यह व्याख्या सभी रोगियो पर लागू हो सकती है या नही। सजातीय-मैथुनेच्छा के अतिरिक्त रक्षात्मक उपायो को उद्बुद्ध करने वाले अन्य प्रेरक भी पैरानोइया के कारण बन सकते है। अधिक धनवान या शक्तिशाली बनने की इच्छा या कोई अन्य प्रबल कामना अगर किसी व्यक्ति द्वारा ग्रहण कर

लिए गए मूल्यो की विरोधी वन जाय तो वह व्यक्ति अपने मूल्यो की रक्षा करने के लिए रक्षात्मक उपायो का सहारा ले सकता है।

पैरानोइया मे व्यक्ति के स्थायीभाव (sentiments), प्रवृत्तियाँ और आत्मनिर्धारण प्रारम्भ से ही स्थायी और कठोर हो जाते है जिससे बाद में उनमें समाज सापेक्ष सशोधन नही हो पाते। उनकी कठोरता के पीछे प्राय आनुवशिक आधार भी होता है। ऐसा व्यक्ति बचपन मे ही अपने जातीय-सस्कारो का गुलाम वन जाता है क्योकि वह अपने उन सस्कारो की शक्ति का पुनर्व्यवस्थापन नही कर पाता। जातीय-सस्कारो का गुलाम बन जाने से अन्य सामाजिक उद्देश्यो का शमन (repression) हो जाता है। सामाजिक उद्देश्यो का शमन हो जाने से व्यक्ति अन्य लोगो से शिष्ट और समाज-सापेक्ष व्यवहार नही कर पाता। किंतु जातीय-सस्कारो की कठोरता और शमन हो चुके सामाजिक उद्देश्यो मे द्वन्द होता है और तब सामाजिक उद्देश्यो को दबाने के लिए ईगो व्यक्ति से दूसरो के प्रति अमैत्रीपूर्ण व्यवहार करवाता है। किन्तु यह अमैत्रीपूर्ण व्यवहार व्यक्ति के ईगो के लिए सहनीय नही होता इसलिए व्यक्ति अपने को उस अमैत्रीपूर्ण व्यवहार के दायित्व से बचाने के लिए उसका प्रक्षेपण दूसरे लोगो पर करता है। प्रक्षेपण करने से वह यह समझने लगता है कि दूसरे लोग उसके प्रति अमैत्री रखते है जबकि वास्तव में वह अमैत्री उसके अन्दर होने वाले जातीय और सामाजिक उद्देश्यो के द्वन्द का परिणाम होती है। व्यक्ति के जो विश्वास अत्यन्त कटु और दुखद होते है वह कुछ अन्य स्थानापन्न विश्वासो का हठभ्रमात्मक रूप ले लेते है। इस प्रकार पैरानोइया के रोगी की प्रतिक्रियाएँ आत्म-प्रताडना का हठभ्रमात्मक प्रक्षेपण होती है।

१८

कार्यात्मक साइकोसिस (२)

स्काइज़ोफ्रीनिया

कार्यात्मक साइकोसिस के एक बहुत पाए जाने वाले रूप को ब्लायलर ने स्काइजोफ्रीनिया (Schizophrenia) नाम दिया है। स्काइजोफ्रीनिया शब्द यूनानी भाषा के जिन दो शब्दो (schizein = विच्छेद + phren = मनस्) से मिलकर बना है उनका अर्थ होता है मानसिक विच्छेद। ब्लायलर के पहले क्रेपेलिन ने स्काइजोफ्रीनिया से सम्बोधित साइकोसिस को डिमेन्शिया प्रीकाक्स (dementia praecox) नाम दिया था। प्रीकाक्स (praecox) शब्द का अर्थ होता है प्रारम्भिक अवस्था मे प्रकट होने वाला और डिमेन्शिया (dementia) का अर्थ होता है अनिवार्य अन्तिम परिणाम। क्रेपेलिन ने डिमेन्शिया प्रीकाक्स को शरीरजन्य (physiogenic) साइकोसिस माना था। उसके अनुसार डिमेन्शिया प्रीकाक्स के लक्षण किसी आंगिक (organic) दोष के कारण जीवन के प्रारम्भ से ही प्रकट होने लगते है और बाद मे पूरी तरह से विकसित होकर स्थायी बन जाते है। इस प्रकार डिमेन्शिया प्रीकाक्स एक ऐसा साइकोसिस होता है जिसके चिन्ह बचपन में प्रकट होने लगते है और जिसके मार्ग को पहले से ही समझा जा सकता है।

किन्तु ब्लायलर ने डिमेन्शिया प्रीकाक्स के ऐसे केसो को भी देखा जिनके लक्षण बचपन मे प्रकट नही होते थे और लक्षणो के होने पर भी बाद मे उनका कोई अनिवार्य अन्तिम परिणाम नही होता था। इसलिए ब्लायलर ने क्रेपेलिन के डिमेन्शिया प्रीकाक्स नाम को अनावश्यक समझकर स्काइजोफ्रीनिया नाम को ज्यादा उपयुक्त समझा और स्काइजोफ्रीनिया साइकोसिस को मनोजन्य (psychogenic) माना। स्काइजोफ्रीनिया किसी विशिष्ट साइकोसिस का नाम न होकर उन सब लक्षणो के समूह का बोधक होता है जिसे स्काइजोफ्रीनिक विशेषण द्वारा बताया जाता है। स्काइजोफ्रीनिया को कोई स्थायी साइकोसिस न समझकर आन्तरिक कठिनाइयो के प्रति की जाने वाली प्रतिक्रियाओ की विभिन्नता समझना चाहिए। इसी से ब्लायलर ने स्काइजोफ्रीनिया शब्द को बहुवचन मे प्रयुक्त किया है।

स्काइजोफ्रीनिया को समझना जरा मुश्किल होता है। मेनिक-उदासी, पैरानोइया आदि साइकोसिसो को समझना इसलिए आसान होता है क्योकि वे हमारे अनुभव के ज्यादा निकट होते है। हम सभी को उत्फुल्लता, उदासी और हठभ्रमो का व्यक्तिगत अनुभव कभी न कभी अवश्य होता है और हम अपने उन क्षणिक अनुभवो के अतिरंजित हो जाने की कल्पना करके मेनिक-उदासी, पैरानोइया आदि साइकोसिसो को आसानी से समझ सकते है। किंतु स्काइजोफ्रीनिया साइकोसिस को पूर्व अनुभव के आधार पर नही समझा जा सकता। स्काइजोफ्रीनिया (Schizophrenia) के रोगी के व्यवहार मे कुछ ऐसी असगति, कुछ ऐसी विलक्षणता होती है जिसका अनुभव हम सबको पहले कभी भी नही होता। स्काइजोफ्रीनिया के रोगी के व्यवहार को देखने पर हमे कुछ वैसा ही अनुभव होगा जैसा पानी को ऊँचाई की ओर बहते देखकर हो सकता है।

स्काइजोफ्रीनिया और बहु-व्यक्तित्व—मानसिक विच्छेद स्काइजोफ्रीनिया की भाँति बहु-व्यक्तित्व (Multiple-personality) मे भी होता है। किंतु दोनो मे बडा अन्तर है। स्काइजोफ्रीनिया मे होने वाले मानसिक विच्छेद के कारण रोगी का सम्पर्क वाह्य जगत से टूट जाता है। वह हठभ्रमो और मतिभ्रमो से निर्मित अपने मानसिक जगत मे रहने लगता है और अपने हठभ्रमो और मतिभ्रमो को वास्तविक समझता है। बहुव्यक्तित्व मे विच्छेद के कारण मुख्य व्यक्तित्व के साथ-साथ अन्य गौण व्यक्तित्व बन जाते है किन्तु वाह्य जगत से उनका सम्पर्क नही टूटता। जिस समय जिस व्यक्तित्व की प्रधानता होती है वाह्य जगत का अनुभव व्यक्ति को उसी व्यक्तित्व के अनुसार होता है और उस अनुभव के पीछे मतिभ्रम या हठभ्रम नही होते। बहु-व्यक्तित्व की मुख्य विशेषता यह होती है कि एक व्यक्तित्व की प्रधानता होने पर व्यक्ति दूसरे व्यक्तित्वो के अनुभव को बिल्कुल भूल जाता है। पूर्व अनुभव को बिल्कुल भूल जाना हिस्टीरिक विघटन (hysteric dissociation) का अनिवार्य परिणाम होता है इसलिए बहुव्यक्तित्व (और इसी कारण सोमनैम्बुलिज्म भी) हिस्टीरिया के अन्तर्गत आने वाला साइकोन्यूरोसिस का एक रूप होता है। स्काइजोफ्रीनिया में होने वाले मानसिक विच्छेद के कारण रोगी अपने पूर्व अनुभव को नही भूलता क्योंकि उसके मानसिक विच्छेद का कारण हिस्टीरिक विघटन न होकर रोगी के हठभ्रम और मतिभ्रम होते है जो उसके मानसिक और वाह्य जगत म व्यवधान डाल देते है। इसी से स्काइजोफ्रीनिया कार्यात्मक साइकोसिस का रूप होता है।

स्काइजोफ्रीनिया के सामान्य लक्षण—स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो के व्यवहार मे नितान्त रागात्मक अभाव पाया जाता है। प्रकृत व्यवहार मे व्यक्ति की प्रतीकात्मक क्रियाओ और रागात्मकता मे जो स्वाभाविकता होती है उसका स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो मे नितान्त अभाव होता है। बहुत से मनोचिकित्सक इस रागात्मक अभाव को ही स्काइजोफ्रीनिया का प्रमुख लक्षण मानते है। यद्यपि स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो के व्यवहार का ढग बिल्कुल अलग-अलग हो सकता है किन्तु उन सबके व्यवहार मे रागात्मकता का नितान्त अभाव अवश्य मिलता है। कोई रोगी महीनों तक कमरे के कोने मे बैठा रह सकता है और अगर आप उससे बात करने की चेष्टा करे तो वह आपकी ओर एक नजर डालकर फिर उसी ओर देखने लगेगा जिधर पहले देख रहा था। किसी-किसी रोगी को अन्य लोगो की उपस्थिति तक का कोई आभास नही होता। कुछ रोगी कमरे मे चक्कर काटते रहते है या बैठे बैठे बेमतलब मुस्कराते या अपने आप से बातचीत करते रहते है। कुछ रोगी चिकित्सको से बातचीत तो करते है लेकिन उनकी बातचीत मे कोई रागात्मकता नही होती। कुछ रोगी ऐसे होते है जो अपने दैनिक काम पूर्ववत करते रहते है और उन्हे देखकर उनके अप्रकृत होने का अनुमान नही किया जा सकता। ऐसे रोगियो का व्यवहार अप्रकृत तब लगता है जब उनके अतीत और वर्तमान की तुलना की जाती है। ऐसे रोगियो को अपने बाल-बच्चो या घर के लोगो की कोई परवाह या चिंता नही होती। उनकी रागात्मक रुचि अपने परिवार के किसी सदस्य के प्रति बिल्कुल नही रह जाती।

स्काइजोफ्रीनिया (Schizophrenia) विकार का दूसरा सामान्य लक्षण ज्ञानात्मक-रागात्मक-प्रतिक्रियात्मक पक्ष मे प्रकृत सगठन और सम्बन्ध का विच्छेद होता है। इस विच्छेद को इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया (intra-psychic ataxia) कहा जाता है। इसी विच्छेद पर जोर देने के लिए ब्लायलर ने डिमेन्शिया प्रीकाक्स की अपेक्षा स्काइजोफ्रीनिया शब्द को अधिक उपयुक्त माना है। इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया के कारण स्काइजोफ्रीनिया का रोगी अपनी प्रतीकात्मक क्रियाओ को वास्तविक घटनाएँ समझने लगता है। प्रकृत व्यक्ति की प्रतीकात्मक क्रियाएँ बाह्य जगत की वास्तविकता से नियन्त्रित होती है किन्तु स्काइजोफ्रीनिया के रोगी की नियन्त्रित नही होती जिससे वह वास्तविकता से पलायन करके अपने मानसिक जगत मे खो जाता है। अगर रोगी कोई प्रकट व्यवहार न करे तो इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया का पता नही चल पाता किन्तु प्रकट व्यवहार मे पता चल जाता है। बातचीत करते समय रोगी की बातचीत और बातो मे एक विचित्र प्रकार की भाव-शून्यता होती है

जिससे यह जानते देर नही लगती कि वह कह तो कुछ रहा है और मोच कुछ और ही रहा है।

स्काइजोफ्रीनिया का एक अन्य लक्षण विकृत चिनन होता है। मनोविज्ञानी बेक ने अपनी खोजो से यह मालूम किया है कि स्काइजोफ्रीनिया के रोगी का चितन उसकी सृजनात्मक कल्पना का परिणाम न होकर विकारात्मक सज्ञा करने का परिणाम होता है। विकारात्मक सज्ञा करने का आधार रोगी के हठभ्रम और मतिभ्रम होते है। कोई रोगी यह समझता है कि वह गुप्तचर विभाग का अध्यक्ष है और उसे मानसिक चिकित्सालय मे यह पता लगाने को भेजा गया है कि चिकित्सालय के कर्मचारी पैसा बनाने के लिए कही दवाओ का गबन तो नही कर रहे है। दूसरा रोगी यह बताता है कि वह उच्च न्यायालय का एक न्यायाधीश है और चिकित्सालय मे कुछ झगड़ो का न्याय करने को आया है। मनोविज्ञानी कैमेरन के अनुसार रोगी के तर्क करने का ढग प्रकृत व्यक्ति के ढग से बिल्कुल अलग होता है और रोगी को तर्क करते समय कार्य-कारण सम्बन्ध की कोई परवाह नही होती। कुछ रोगी नए शब्द भी गढ लेते है और कुछ मानसिक विन्यास की अस्थिरता के कारण ऐसी भाषा बोलते है जो शब्दो की खिचडी मात्र होती है, जैसे "उसने मेरी औरत लेकिन ईश्वर भी क्या मै कोई परवाह नही चाहता कि उसे यह नही हो सकता कि मै पुलिस हुआ ही करता है कौन जाने दुनियाँ क्या-क्या मुझे कौन समझा नही दे सकता।"

कैमेरन के अनुसार रोगियो की इस भाषा विचित्रता के पीछे कोई न कोई अर्थ अवश्य होता है किंतु रोगी अपना पर्याप्त समाजीकरण न कर सकने से अपने अर्थ को स्पष्ट नही कर पाता। प्रकृत व्यक्ति के व्यवहार का पर्याप्त समाजीकरण हो चुकने से वह जिस समय छोटे बच्चे से बात करता है उस समय अपने को बच्चे के स्तर पर लाकर अपनी भाषा बच्चे की समझ के अनुरूप बना लेता है। स्काइजोफ्रीनिया का रोगी समाज की विभिन्न स्थितियो के अनुरूप अपने व्यवहार का समाजीकरण नही कर पाता जिससे उसका अपने सामाजिक परिवेश से कोई सक्रिय सम्बन्ध स्थापित नही हो पाता और उसकी बातचीत एक निरर्थक प्रलाप लगती है।

स्काइज़ोफ्रीनिया के रूप—यह पहले ही कहा जा चुका है कि स्काइजोफ्रीनिया शब्द किसी विशेष मानसिक विकार का नाम न होकर कुछ लक्षणो के समूह का सूचक होता है। यद्यपि स्काइज़ोफ्रीनिया (Schizophrenia) के हर रोगी में सामान्यत रागात्मक अभाव, भाषा और चिंतन के अनेक

विकार मिलते है किन्तु हर रोगी मे व्यक्तिगत भेदो के कारण कुछ और भी विशेष लक्षण पाए जाते है। उन विशेष लक्षणो की प्रधानता के आधार पर क्रेपेलिन ने स्काइजोफ्रीनिया का वर्गीकरण छह रूपो मे किया था प्रच्छन्न (latent) रूप, साधारण रूप, पैरानोइड (paranoid) रूप, कैटाटानिक (catatonic) रूप, हीबीफ्रीनिक (hebephrenic) रूप और मिश्रित (mixed) रूप। स्काइजोफ्रीनिया का मिश्रित रूप अधिक देखने को मिलता है। मिश्रित रूप मे मोटे तौर पर अन्य सभी रूपो के लक्षण मौजूद रहते है इसलिए नीचे मिश्रित रूप को छोडकर शेष रूपो पर विचार किया जायगा।

प्रच्छन्न रूप—क्रेश्मर ने व्यक्तित्व के एक प्रकार को स्काइजोइड (Schizoid) कहा है। प्रकृत व्यवहार करने के लिए रागात्मकता के विभेदीकरण (differentiation) की आवश्यकता होती है। रागात्मकता का विभेदीकरण कर लेने से ही व्यक्ति विभिन्न स्थितियो के अनुकूल रागात्मक व्यवहार कर पाता है। स्काइजोइड व्यक्ति मे रागात्मकता का विभेदीकरण ठीक से नही हो पाता जिससे उसके लिए कुछ स्थितियो मे रागात्मक व्यवहार करना अत्यन्त दुखद हो जाता है। उस दुखद अनुभव से बचने के लिए वह या तो किसी मनमानी अनर्गल विचारधारा मे पलायन कर जाता है या तत्कालीन स्थिति की आवश्यकता के विरुद्ध कोई हिंसक व्यवहार कर बैठता है। स्काइजोइड व्यक्तित्व को समझना मुश्किल होता है। क्रेश्मर के शब्दो मे स्काइजोइड व्यक्ति "हमारे लिए एक प्रश्न चिह्न की तरह होता है. उसके सामने ऐसा लगता है मानो हम उत्तरी ध्रुव की निष्प्राण ठडी हवा मे खडे हुए हो।" स्काइजोइड व्यक्ति के स्वभाव मे सामाजिकता और हास्य-प्रियता नही होती। स्काइजोइड व्यक्तित्व मे स्काइजोफ्रीनिया से मिलते-जुलते बहुत से लक्षण पाए जाते है। इस आधार पर कुछ मनोचिकित्सक स्काइजोइड व्यक्तित्व को स्काइजोफ्रीनिया का प्रच्छन्न (latent) रूप मानते है। किन्तु यह विवादग्रस्त है कि स्काइजोइड व्यक्ति के प्रच्छन्न लक्षणो की अभिव्यक्ति स्काइजोफ्रीनिया मे ही होती है या नही। दूसरे, स्काइजोफ्रीनिया का हर रोगी स्काइजोइड व्यक्तित्व का भी नहीं होता। तीसरे, यह भी हो सकता है कि स्काइजोइड व्यक्ति के प्रच्छन्न लक्षण कभी न प्रकट हो और वह जीवन भर प्रकृत बना रहे। ऐसी दशा मे उसे स्काइजोफ्रीनिया के प्रच्छन्न रूप का रोगी कैसे कहा जा सकता है।

साधारण रूप—स्काइजोफ्रीनिया के साधारण (simple) रूप का प्रारम्भ क्रमिक भी होता है और आकस्मिक भी। क्रमिक प्रारम्भ मे रोगी की रुचि और सकल्प मे कमी हो जाती है, वह अकेला और कुछ अनमना-सा

रहने लगता है। उसके रागात्मक अनुभव में शिथिलता आ जाती है और वह अपने बचपन के प्रति ज्यादा आकृष्ट हो जाता है। वह अपने काम और खेल मे रुचि नही लेता, यहाँ तक कि पहनने-ओढने मे भी उदासीन हो जाता है। साधारण रूप के आकस्मिक प्रारम्भ मे रोगी अचानक बीमार पड जाता है, उद्दीप्त हो जाता है और प्रलाप भी करने लगता है। उसमे मानसिक ह्रास के चिह्न भी पाए जाते हैं। उसे हठभ्रम और मतिभ्रम भी हो सकते है यद्यपि उनका पता मुश्किल से ही चल पाता है। साधारण रूप की विशेषताएँ नीचे दिए केस से स्पष्ट हो जाँयगी।

केस २४—मध्यम परिवार का अट्ठाइस साल का एक व्यक्ति एक दिन अपने कस्बे से किसी कार्यवश शहर चला। रास्ते में अचानक उसकी तबियत घबड़ाने लगी और वह रुक गया। थोडी देर बाद जब वह शहर की ओर फिर चलने लगा तो उसकी तबियत फिर घबडाने लगी। किन्तु जैसे तैसे करके वह शहर पहुँच गया। वहाँ पर उसकी तबियत फिर घबडाने लगी और वह अपना काम पूरा किए बिना ही अपने कस्बे को लौट आया। अगले तीन दिन तक उसकी तबियत बहुत खराब रही। वह बेहद उद्दीप्त रहा और यह समझने लगा कि उसका अन्त समीप आ गया है। उसे अस्पताल में भरती करा दिया गया। कुछ दिन बाद वह शात हो गया। उसकी याद अच्छी थी, वह बातचीत भी ठीक से कर लेता था किन्तु उसमें रागात्मक अभाव था। वह घर लौटने या अस्पताल में रहने दोनो के प्रति उदासीन था। एक दिन वह डाक्टर को कुछ देने के लिए अपनी जेबें खाली करने लगा। उसकी जेबो से जो सामान निकला उसकी आशा किसी सात-आठ साल के बच्चे की जेबो में ही की जा सकती थी—कुछ रगीन गोलियाँ, चूडियो के रग-बिरगे टुकडे, बालो में लगाए जाने वाले क्लिप और एक टूटा-फूटा शीशा। यद्यपि रोगी अपने विगत जीवन की बातें काफी सयत ढग से करता था किन्तु किसी नयी स्थिति में पडने पर उसके व्यवहार में इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया (intrapsychic ataxia) का निश्चित प्रमाण मिलता था।

पैरानोइड रूप—रागात्मक अभाव और उदासीनता के साथ हठभ्रमो की प्रधानता होने से स्काइजोफ्रीनिया के रूप को पैरानोइड (paranoid) रूप कहा जाता है। पैरानोइड रूप में व्यक्ति के हठभ्रम महानता, अभियोग या सदर्भ (reference) सम्बन्धी होते हैं। पैरानोइया और स्काइजोफ्रीनिया के हठभ्रमो में भेद करना जरा मुश्किल होता है। स्काइजोफ्रीनिया के हठभ्रम सामान्यत उतने व्यवस्थित और स्थायी नही होते जितने कि पैरानोइया के

होते है । दोनो साइकोसिसो के हठभ्रमो मे यही एक प्रमुख भेद होता है। पैरानोइड स्काइजोफ्रीनिया का रोगी यह समझता है कि अभियोग लगाने वाले लोग उस पर सम्मोहन (hypnotism) या आधिभौतिक शक्तियो द्वारा प्रभाव डाल रहे है । जिस रोगी मे अभियोग-हठभ्रम ज्यादा तीव्र होता है वह अपने कल्पित अभियोगियो पर आक्रमण भी कर सकता है इसलिए उसकी देखभाल की विशेष आवश्यकता पडती है । पैरानोइड स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो के हठभ्रमात्मक चितन की अनर्गलता निम्नलिखित केस से स्पष्ट हो जायगी ।

केस २५—लीला नामक इक्कीस वर्षीया अविवाहित युवती । उसके पाँच भाई-बहन बिल्कुल स्वस्थ है । युवती दुर्बल-बुद्धि है और आठवी कक्षा मे उत्तीर्ण नही हो सकी है । आदते और आचरण अच्छा है । चार महीने एक प्रकाशन सस्था मे काम कर चुकी है । बाद मे छोटे बच्चो को पढाने और सगीत सिखाने का काम भी कर चुकी है । बहुत मितव्ययी है और पैसा बचाती है । दो साल पहले से उसे स्वप्नो द्वारा कुछ मतिभ्रमात्मक सदेश मिलना शुरू हुए जिनके आधार पर उसे यह विश्वास हो गया कि उसका विवाह प्रकाशन-सस्था के एक कर्मचारी से होने वाला है । प्रकाशन-सस्था छोडने के बाद युवती उस कर्मचारी से कभी नही मिली थी । उसे स्वप्न मे मिले सदेशो द्वारा यह पता चला कि वह कर्मचारी उससे प्रेम करता है और तब उसे भी विश्वास हो गया कि वह भी उस कर्मचारी से प्रेम करती है । स्वप्नो के सदेशो को असत्य बताए जाने पर वह समझती है कि लोग उसके प्रेम की परीक्षा ले रहे है । उसे यह भी हठभ्रम है कि उसके प्रेमी ने उसकी रक्षा के लिए गुप्तचर लगा रक्खे है जो हर समय उसकी गतिविधि को देखते रहते है । कहती है कि उसे स्वप्नो द्वारा सदेश अब भी मिलते रहते है और अपने प्रेमी के साथ उसका विवाह दो महीने के अन्दर होने वाला है । युवती का स्वास्थ्य अच्छा है, उसे नीद भी अच्छी तरह आती है । वह सामान्यत. प्रसन्न रहती है किन्तु कभी कभी उदास हो जाती है और आत्म-हत्या कर लेने की धमकी भी देती है । वह समझती है कि लोग उसके विवाह का विरोध कर रहे है ।

कैटाटानिक रूप—कैटाटानिक (catatonic) शब्द जिन दो शब्दो (kata=विरोध या नष्ट होना + tonic=सामञ्जस्य या न्यास) मे मिलकर बना है उनका अर्थ होता है शारीरिक अगन्यास की स्वाभाविकता का नष्ट हो जाना । हमारे शरीर में विरोधी तत्वो का न्यास होता है और उस

न्यास के नष्ट हो जाने से विकार पैदा हो जाते हैं। एक ऐसा ही विकार मासपेशीय-न्यास के नष्ट होने से होता है। कैटाटानिक स्काइजोफ्रीनिया मे रागात्मक उदासीनता, इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया आदि लक्षणो के साथ मासपेशीय-न्यास नष्ट हो जाने की प्रधानता होती है। मासपेशीय न्यास की स्वाभाविकता नष्ट हो जाने को कैटेलेप्सी (catalepsy) कहा जाता है। कैटेलेप्सी मे रोगी के किसी अग को जिस स्थिति मे रख दिया जाता है वह उसी स्थिति में रक्खा रहता है। कैटेलेप्सी रोगियो मे बहुत कम पाई जाती है। अधिकाश रोगियो मे कैटेलेप्सी की निष्क्रियता का प्रतिरोध मिलता है। अगर उनकी बाँह फैलाई जाय तो वे प्रतिरोध करके अपनी बाँह और समेट लेते हैं। यह प्रतिरोध रोगी के असहयोग का सूचक होता है। कुछ रोगी साधारण प्रश्नो का उत्तर भी नही देते और बिल्कुल मौन धारण कर लेते हैं। उनके व्यवहार से ऐसा लगता है कि वे वाह्य उत्तेजनाओ के प्रति उदासीन हैं। इस उदासीनता को कैटाटानिक जडता (catatonic stupor) कहा जाता है। जडता के साथ रोगियो मे एक और विशेषता यह पाई जाती है कि उनसे जो करने को कहा जाय वे ठीक उसका उल्टा करते हैं। अगर आँख खोलने को कहा जाय तो वे आँख बन्द कर लेते हैं और अगर कुछ पूछा जाय तो वे अपना मुँह सी लेते हैं। कैटाटानिक जडता के उग्र रूप में रोगी बिल्कुल जडवत् हो जाता है और कोई क्रिया नही करता। ऐसी हालत में उसे जबर्दस्ती नहलाना-धुलाना और खिलाना पडता है। जडता के हल्के रूप में रोगी एक ही स्थान पर घटो तक एक ही शारीरिक मुद्रा में खडा या बैठा रह सकता है।

कैटाटानिक जडता के विपरीत कुछ रोगियो में कैटाटानिक उद्दीपन (catatonic excitement) भी पाया जाता है। कैटाटानिक उद्दीपन में रोगी की क्रियाएँ बडी असगत, उद्देश्यहीन और अनिश्चित हो जाती हैं। वह कुछ क्रियाओ की निरन्तर पुनरावृत्ति भी कर सकता है, जैसे, शरीर के किसी अग को इधर उधर हिलाते रहना या एक ही बात कहने की रट लगाए रहना। रोगियो के चलने फिरने के ढग में एक अनर्गल स्थायित्व (stereotypy) भी देखने में आता है। कोई रोगी हमेशा दीवार से लगकर चलता है, कोई चलते समय पहले बायाँ पैर ही उठाता है तो कोई एक पैर पर खडा रहकर दूसरे को ढीला छोड़ देता है। कैटाटानिक उद्दीपन और मेनिक-उदासी के उद्दीपन में कभी कभी भेद कर सकना काफी मुश्किल होता है। कैटाटानिक स्काइजोफ्रीनिया का एक केस देखिए .

केस २६—अठारह साल की एक लड़की। देखने में स्वस्थ। लगभग तीन साल से अप्रकृत। अप्रकृत लक्षण धीरे धीरे प्रकट हुए। शुरू शुरू में वह उदास रहती थी, खाना नही खाती थी, अजीब तरह की आवाजें सुनती थी और अपनी दिनचर्या की उपेक्षा करती थी। अस्पताल मे उसका व्यवहार प्रतिरोधपूर्ण है, खाना नही खाती है और कभी कभी थाली लेकर फेंक देती है। उसकी क्रियाएँ और मनोभाव निरुद्देश्य से लगते है और उसका व्यवहार कुछ मतिभ्रमो के प्रति किया गया लगता है। अगर उसे रोका न जाय तो कभी कभी नगी होने लगती है। कभी वह बडे ध्यानपूर्वक कुछ सुना करती है और इस समय उसका अगन्यास नष्ट हो जाता है। वह एक ही स्थिति मे घन्टों तक बैठी रहती है। अक्सर आँख मारती है, मुँह बिचकाती है और अकारण हँसती है। कभी कभी वह अनर्गल प्रलाप करती है—"मैं नही जानती.. ..क्या मैं अभी अभी बैठी थी ? तुम मुझसे नही छीन सकते।" प्रलाप करने के बाद वह जोर जोर से सीटी बजाकर हँसती है। ऐसे समय उसके व्यवहार मे उद्दीपन होता है और अगर उससे कुछ पूछा जाता है तो वह कहती है कि उसे कुछ सुनाई नही पड़ता, फिर ताली बजा बजाकर कुछ गुनगुनाने लगती है।

हीबीफ्रीनिक रूप—हीबीफ्रीनिक (hebephrenic) शब्द जिन दो शब्दो (hebes=कुण्ठित होना + phren=मनस्) से मिलकर बना है उनका अर्थ है मनस् का कुण्ठित हो जाना। हीबीफ्रीनिक स्काइजोफ्रीनिया के रोगी में मानसिक कुण्ठा के साथ इट्रासाइकिक ऐटेक्सिया (intrapsychic ataxia) का अत्यन्त उग्र रूप मिलता है। हीबीफ्रीनिक रूप का प्रारम्भ आकस्मिक-सा होता है। रोगी को नीद नही आती, सिरदर्द रहता है, मति-भ्रम और हठभ्रम होते है। मतिभ्रमो की प्रचुरता होती है। पैरानोइड स्काजोफ्रीनिया के विपरीत हीबीफ्रीनिक रोगी के हठभ्रम अव्यवस्थित और अस्थायी होते है। वह अशिष्ट और मूर्खतापूर्ण ढंग से हँसता है। वह हर व्यक्ति को देखकर या कुछ पूछे जाने पर दाँत निकाल कर ही ही करने लगता है। वह चिथड़ो को पहनकर या कागज के टुकडो को आभूषण समझकर उन्हें शरीर पर चिपकाकर तरह तरह से अपना शृंगार करता है। मुँह पर पाउडर की जगह धूल या खडिया पोत लेता है। उसे न तो अपना होश रहता है और न दूसरों की उपस्थिति का। वह किसी के भी सामने निर्लज्जता से नंगा होने लगता है। उसकी बातचीत बिल्कुल असगत, अनर्गल और वाक्यों की खिचड़ी सी होती है। ह्वाइट द्वारा प्रस्तुत हीबीफ्रीनिक रोगी की बातचीत का एक उदाहरण देखिए :

केस २७—तुम्हारी उम्र क्या है ?

सदियो साल पुरानी ।

तुम यहाँ कब से हो ?

मैं इस भूखड पर अर्से से आता-जाता रहता हूँ । मैं ठीक समय तो नही बता सकता क्योकि रात को हवा हम सब को सोख लेती है और वे लोगो को वापस लाते है । वे हर चीज को मार डालते है (ही ही ही ही)। वे तुम्हारे गले में बैठकर बोल सकते है ।

यह कौन है ?

नही तो, क्यो ! हवा है ।

इस जगह का क्या नाम है ?

इस जगह का नाम एक नक्षत्र है ।

तुम्हे कौन डाक्टर देखता है ?

तुम्हारी तरह से ही एक शरीर। वे तुम्हे काला और सफेद बना सकते है । मै नमस्ते करता हूँ किन्तु वह हमेशा वही से आता है । पहले यह एक उपनिवेश था । वे बताते थे कि यह स्वर्ग था । यह इमारते उस वक्त ठोस नही थी और मुझे अच्छी तरह मालूम है कि यह वही जगह है । उनके पास ऐसी और भी है । लोग मर जाते है और कीड़े-पतिंगे बाते करते है और मत्स्यसिहा तुमको मालूम होगा कि तुम्हे यहाँ से दूसरी दुनियाँ मे भेज देता है ।

यह कौन सा साल है ?

सदियो का साल यानी पारसाल है ।

अमेरिका का पता किसने लगाया था ?

हाँ, हाँ, मेरे भाई कोलम्बस ने ।

किस सन् में ?

१४९२ में, तब से उन्होने बहुत सी खोजें कर डाली है ।

अमेरिका का गृह-युद्ध कब हुआ था ?

१८६४-१८६०-१८६४ में हुआ था ।

उस समय अमेरिका का राष्ट्रपति कौन था ?

ही, ही, ही, ही ॰ वे बार बार तुम्ही को तो बना देते है ।

तुम सेना में कब भरती हुए थे ?

मै सेना में भरती हुआ था सदियो सदियो पहले । मै नही १९०३ में मेरे ही शरीर की तरह की एक स्मृति ।

क्या तुम कभी क्यूबा मे थे ?

हाँ, जनाव ! मै वहाँ तीन बार था। वह सदियो साल पुरानी वात है, मै नही था मेरी स्मृति थी क्योकि मै मर चुका था। हॉ, मै मर चुका था, मुझे ठीक याद है। किन्तु वे हमको मूलत. वहॉ फिर बनाते है। इस नक्षत्र की तरह और भी है। मुझे वाशिग्टन की सरकार ने एक तारे पर भेजा था और वह क्या ही अच्छा देश था ! अब तुम्हारा शरीर एक जवान आदमी की तरह है जो कहता है कि वह मत्स्यसिहा का है।

यह मत्स्यसिहा कौन है ?

तुम, (ही, ही, ही, ही) तुम खुद हो। तुम मत्स्यसिहा हो सकते हो....वे तुम्हे पढ सकते है। वे मरे हुओ मे से हब्शियो को वापस ले आते है।

व्याख्या सम्बन्धी दृष्टिकोण--स्काइजोफ्रीनिया के कारणो की व्याख्या आजतक एक अनिश्चित और विवादग्रस्त विषय है। स्काइजोफ्रीनिया की व्याख्या करने का प्रयत्न अनेक दृष्टिकोणो से किया गया है और किया जा रहा है किन्तु अभी तक उनसे कोई निश्चित परिणाम नही निकल सका है। उन सव दृष्टिकोणो पर विचार करना स्वय एक अलग पुस्तक का विषय होगा इसलिए नीचे प्रमुख दृष्टिकोणो पर सक्षेप मे विचार करके सन्तोप किया जायगा।

आनुवशिक दृष्टिकोण--बहुत से मनोचिकित्सक स्काइजोफ्रीनिया रोग की उत्पत्ति के पीछे आनुवशिक कारणो को मानते है। इस विषय पर कालमैन ने वर्लिन चिकित्सालय मे १८९२ से १९०२ तक स्काइजोफ्रीनिक वर्ग के १०८७ रोगियो और उनके सव सगे-सम्वन्धियो की परीक्षा की और उस परीक्षा मे निम्नलिखित परिणाम निकले

> १० प्रतिशत रोगियो के माँ-बाप भी स्काइजोफ्रीनिक थे। ६८'१ प्रतिशत रोगियो के माँ और वाप दोनो स्काइजोफ्रीनिक थे। १६'४ प्रतिशत रोगियो के माँ-बाप दोनो मे से कोई एक ही स्काइजोफ्रीनिक था। स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो में पारस्परिक आकर्पण की प्रवृत्ति भी मिली क्योंकि २'१ प्रतिशत पति-पत्नी भी स्काइजोफ्रीनिक थे। रोगियो के समलिंगी यमलो (twins) में रोग की सम्भावना ८५'८ प्रतिशत और भिन्नलिंगी यमलो मे १४'७ प्रतिशत मिली।

उपर्युक्त आधार पर कालमैन ने यह परिणाम निकाला कि स्काइजोफ्रीनिया रोग को ग्रहण कर लेने की क्षमता आनुवशिक होती है और उसके निर्धारक

प्रभुताहीन (recessive) होते है और वे सेक्स से सम्वन्धित नही होते। आनुवशिक निर्धारक चूंकि प्रभुताहीन होते हैं इसलिए स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो की सन्तान का प्रकृत विकास हो सकने की सम्भावना रहती है। इससे स्पष्ट है कि आनुवशिक विकार होने पर भी स्काइजोफ्रीनिया के लक्षणो का विकसित हो जाना परिवेश के प्रभाव पर निर्भर होता है और स्काइजोफ्रीनिया की समुचित व्याख्या केवल आनुवशिक दृष्टिकोण से नही की जा सकती। दूसरे, स्काइजोफ्रीनिया के आनुवशिक निर्धारको से यह भी पता नही चल पाता कि विकार आगे चलकर किस रूप मे प्रकट होगा।

रासायनिक दृष्टिकोण—हास्किन्स ने अपनी खोजो के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि स्काइजोफ्रीनिया साइकोसिस 'रासायनिक विकार की अभिव्यक्ति' होता है। शरीर करोडो कोषो से निर्मित होता है और मानवी व्यक्तित्व उन सब कोषो की सगठित क्रियाओ का परिणाम होता है। हास्किन्स के अनुसार "स्काइजोफ्रीनिया रोग कोषो की सगठित क्रियाओ मे कोई दोष हो जाने का सूचक होता है।" हास्किन्स का यह भी कहना है कि स्काइजोफ्रीनिया के रोगी मे ऐड्रीनैलिन हार्मोन की कमी पाई जाती है। रोगी की श्वासक्रिया दूषित होती है, हृदय की स्पन्दन-गति और रक्त का दवाव कम होता है। इस प्रकार हास्किन्स ने स्काइजोफ्रीनिया का कारण शारीरिक दुर्वलता को माना है जिससे रोगी अपने परिवेश का सामना ठीक तरह से नही कर पाता। स्काइजोफ्रीनिया रोग मे परिवेश के प्रभाव की उपेक्षा करने से यह दृष्टिकोण भी एकागी है। स्काइजोफ्रीनिया रोग के रासायनिक कारण अवश्य होते है किन्तु उनसे स्काइजोफ्रीनिया के विभिन्न रूपो को समझने और उनकी व्याख्या करने मे कोई सहायता नही मिलती।

विकासात्मक दृष्टिकोण—बीसवी शती के प्रारम्भ तक स्काइजोफ्रीनिया की व्याख्या मुख्यत आनुवशिक-रासायनिक दृष्टिकोणो के आधार पर ही की जाती थी। किन्तु १६०३ मे एडाल्फ मेयर द्वारा मनोजैविक (psychobiological) दृष्टिकोण प्रस्तुत किए जाने के वाद से स्काइजोफ्रीनिया की आनुवशिक-रासायनिक व्याख्या पर सदेह किया जाने लगा। मेयर ने स्काइजोफ्रीनिया की मनोजैविक व्याख्या का मार्ग प्रशस्त करके स्काइजोफ्रीनिया को कार्यात्मक (functional) विकार मानने पर जोर दिया।

स्काइजोफ्रीनिया का अध्ययन मेयर के मनोजैविक (psychobiological) दृष्टिकोण से करने पर कैसानिन ने यह परिणाम निकाला कि स्काइजोफ्रीनिया के रोगी के व्यवहार को तव तक ठीक से नही समझा जा सकता जव तक उसके मनोवैज्ञानिक विकास को न जान लिया जाय।

कैसानिन ने स्काइजोफ्रीनिया को परिपक्वता और विकास की असफलता का परिणाम कहा है जिससे रोगी के व्यवहार का "रीग्रेशन (regression) शैशवकालीन विचारो और प्रतिक्रियाओ की ओर हो जाता है ।" इस प्रकार स्काइजोफ्रीनिया रोग की "विकासात्मक जडे" रोगी के बचपन के मनोजैविक विकास में होती है ।

मनोजैविक (psychobiological) दृष्टि से बच्चे को अपने विकास-क्रम में आत्मनिर्भर और स्वतन्त्र होना सीखना पडता है । प्रारम्भ में बच्चा जगत के बारे में बहुत कम जानता है और आत्मरक्षा के लिए अपने माँ-बाप पर निर्भर होता है । बच्चे का मनोजैविक विकास उसके आन्तरिक और बाह्य सस्कारो से निर्धारित होता है । अगर उसके विकास मे कोई बाधा न पडे तो वह अपना और जगत की वास्तविकता का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर लेता है और युवावस्था मे आने पर उसकी आत्मरक्षा की भावना भौतिक-नैतिक-सामाजिक वास्तविकता के यथेष्ट ज्ञानार्जन पर आधारित होती है । बडा होकर वास्तविकता से परिचित हो जाने पर वह माँ-बाप की छत्रछाया से निकलकर अपना पथ-प्रदर्शक स्वय बन जाता है । जब तक वह अपने माँ-बाप पर निर्भर रहता है तब तक कैसानिन के शब्दो मे "जगत की वास्तविकता बच्चे के लिए समस्या नही होती ।" उसका व्यवहार आत्मकेन्द्रित होता है और वह दूसरो की कोई परवाह नही करता । दूसरे, वह अपने को सर्वशक्तिमान् मानता है और यह समझता है कि ससार की प्रत्येक घटना उसकी इच्छा से हो सकती है । वह यह भी धारणा रखता है कि उसके माँ-बाप और अन्य लोग उसके विचारो को जान सकते है और चुरा भी सकते है । तीसरे, शैशवावस्था में बच्चा अपने सेक्स का अर्थ और उसके नैतिक-सामाजिक महत्व को ठीक से नही जानता । बच्चे अपने आपको पुरुष या स्त्री नही समझते इसलिए वे पुरुषोचित या स्त्रियोचित व्यवहार भी नही कर पाते । किशोरावस्था में आने पर बच्चे के आत्मकेन्द्रित व्यवहार मे समाज-सापेक्ष सशोधन होता है; वह अपने सर्वशक्तिमान् होने की धारणा को छोडने लगता है और अपने सेक्स के अर्थ और उसके नैतिक-सामाजिक महत्व को जानने लगता है । किशोरावस्था के बाद भी व्यक्ति अगर बचपन के अपरिपक्व व्यवहार को फिर करने लगे तो यह रीग्रेशन (regression) का उदाहरण होगा ।

माँ-बाप पर निर्भर होने से बच्चे के लिए जगत की वास्तविकता कोई बड़ी समस्या नहीं होती किन्तु स्काइजोफ्रीनिया के रोगी के लिए होती है । यह अनुभव करने पर कि जगत की वास्तविकता उसकी पकड के बाहर होती जा रही है रोगी की आत्मरक्षा की भावना को कड़ी ठेस लगती है और वह

वास्तविकता को "पकड़ने, पुनर्स्थापित और पुनर्व्यवस्थित करने की कोशिश में अपनी जान लडा देता है।" इसके लिए वह वच्चो की भाँति अपने माँ-बाप या अन्य लोगो की सहायता पर निर्भर न होने से वच्चे की तुलना में "विल्कुल अकेला पड जाता है।" स्काइजोफ्रीनिया के रीग्रेशन और वच्चो के अपरिपक्व व्यवहार में यही एक मुख्य अन्तर होता है।

कैसानिन के अनुसार स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो और वच्चो के व्यवहार में वहुत वडी समानता होती है। वच्चा अपने को सर्वशक्तिमान् समझता है। स्काइजोफ्रीनिया के रोगी का व्यवहार भी सर्वशक्तिमान् समझने का प्रदर्शन होता है। कैसानिन का एक रोगी एक स्थायी-मुद्रा से कुर्सी पर निश्चल बैठा रहता था और उसके हाथ की तर्जनी हमेशा मुडी रहती थी। तर्जनी मुडी रखने का कारण यह था कि रोगी अपने को सर्वशक्तिमान समझता था और उसे विश्वास था कि अगर कही उसने तर्जनी सीधी कर दी तो सारे ससार का नाश हो जायगा।

बच्चो की दूसरी धारणा यह होती है कि दूसरे लोग उनके विचारो को जानते है। वच्चो की यह धारणा रोगियो में सदर्भ-हठभ्रमो (delusions of reference) के रूप में मिलती है। कुछ रोगी किसी कहानी को पढकर या घटना को देखकर यह धारणा बना लेते है कि वह कहानी या घटना उन्ही के जीवन से सम्वन्धित है। किसी-किसी रोगी के सदर्भ-हठभ्रम की अनर्गलता यहाँ तक पहुँच जाती है कि वह अस्पताल में अन्य रोगियो को रोगी न मानकर यह मानने लगता है कि वे नाटक के अभिनेता है और उसी के जीवन की घटनाओ का नाटक कर रहे है।

वच्चो की भाँति स्काइजोफ्रीनिया के रोगियो में सेक्स विषयक अज्ञान भी पाया जाता है। कुछ रोगी यह समझते है कि पहले वे मर्द थे किन्तु अव औरत वन गए है और कुछ यह कहते है कि वे सेक्सरहित हो गए है। सेक्स-सम्बन्धी अज्ञान शैशव में तो हो सकता है किन्तु रोगियो में उस अज्ञान का होना यह वताता है कि उनका रीग्रेशन (regression) शैशव के स्तर पर हो गया है।

स्काइजोफ्रीनिया का व्याख्या-सम्वन्धी मेयर और कैसानिन का विकासात्मक दृष्टिकोण मूल्यवान होते हुए भी इसलिए अधूरा है कि इससे स्काइज़ोफ्रीनिया की 'विकासात्मक जडो' का तो पता चल जाता है किन्तु यह पता नही लग पाता कि उन विकासात्मक जड़ो से कैटाटानिक (catatonic), हीवीफ्रीनिक (hebephrenic) आदि रूप कैसे उत्पन्न हो जाते है। इस समस्या का समाधान करने के लिए वोयसन (Boisen) ने गत्यात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत

किया है । देखा जाय कि गत्यात्मक दृष्टिकोण से उपर्युक्त समस्या का समाधान कहाँ तक हो सकता है ।

गत्यात्मक दृष्टिकोण—बोयसन ने स्काइजोफ्रीनिया के विभिन्न रूपों की व्याख्या करने के लिये आत्म-सम्मान (self-respect) की भावना को केन्द्र-विन्दु माना है । व्यक्ति मे आत्म-सम्मान की भावना का निर्माण अपने कुल की मान-मर्यादा, सामाजिक, चारित्रिक और नैतिक आदर्शों के अनुसार होता है । व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह जरूरी है कि उसके आत्म-सम्मान को कोई क्षति न पहुँचे । आत्म-सम्मान को क्षति पहुँचाने वाले किसी वास्तविक या काल्पनिक खतरे से बचने के लिए व्यक्ति विभिन्न प्रकार से प्रतिक्रियाएँ करता है ।

बोयसन के अनुसार रोगी आत्म-सम्मान को खतरे से बचाने के लिए जो विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करता है स्काइजोफ्रीनिया के विभिन्न रूप उन्ही की अभिव्यक्ति होते हैं । स्काइजोफ्रीनिया के साधारण रूप मे पाए जाने वाले व्यवहार से यह प्रकट होता है कि रोगी खोए आत्म-सम्मान को फिर से पा सकने में अपने को असमर्थ समझता है । अपने को असमर्थ समझने से उसका व्यवहार निरुद्देश्य बन जाता है । उसमें अपने आपको बनाने की इच्छा नही रह जाती । वह अपने लक्ष्य से पलायन करके परिवेश से विमुख हो जाता है जिससे उसके व्यवहार में रागात्मक अभाव मिलता है ।

पैरानोइड स्काइजोफ्रीनिया का रोगी आत्म-सम्मान को बचाने के लिए पलायन न करके संघर्ष करता है । विजयी होने के लिए वह स्थिति और उससे अपने सम्बन्ध की गलत व्याख्या करता है । आत्म-सम्मान खोने से उसके अन्दर आत्म-तिरस्कार की जो भावना पैदा होती है उससे बचने के लिए उसे वह दूसरो पर प्रक्षेपित कर देता है । अपने को बड़ा आदमी मानकर वह यह समझने लगता है कि अन्य लोग उसे गिराने के लिए षड़यन्त्र रच रहे हैं । परिणामस्वरूप उसे महानता, अभियोग और संदर्भ के हठभ्रम होने लगते हैं और इस प्रकार वास्तविकता की हठभ्रमात्मक गलत व्याख्या करके वह आत्म-सम्मान की रक्षा करने का प्रयत्न करता है ।

कैटाटानिक रोगी आत्म-सम्मान को बचाने के लिए जान-तोड़ कोशिश करता है । आत्म-सम्मान खतरे में पड़ जाने से रोगी का मानसिक जगत छिन्न-भिन्न हो जाता है और वह उसे फिर से जोड़कर उसमें सामञ्जस्य लाने के लिए जो व्यवहार करता है उसकी अभिव्यक्ति कैटाटानिक रूप में होती है । मानसिक जगत का छिन्नभिन्न हो जाना रोगी के लिए एक समस्या होती है और किसी आन्तरिक समस्या पर एकाग्र होने के लिए वाह्य जगत से सम्बन्ध

विच्छेद करना पडता है । कैटाटानिक रोगी अपने छिन्न-भिन्न आन्तरिक जगत को पुनर्व्यवस्थित करने के लिए वाह्य जगत से ऐसा सम्बन्ध तोड लेता है कि अन्य लोगो की उपस्थिति तक को नही जान पाता । कैटाटानिक व्यवहार में जडता या उद्दीपन का होना रोगी द्वारा स्थिति की सार्थकता समझने के ढग पर निर्भर होता है । अगर वह आत्म-सम्मान को बचा सकने की कोई सम्भावना नही देखता तो उसके व्यवहार की परिणति आत्मनिवेदन में हो जाती है और वह बिल्कुल निराश हो जाता है । अगर सघर्ष करके आत्म-सम्मान को बचा सकने की सम्भावना होती है तो परिणाम स्वरूप रोगी का व्यवहार उद्दीपन-भरा होता है । अगर वह आत्म-सम्मान को बचाने में पूर्णत असफल हो जाय तो कभी नीरोग नही हो सकता । बोयसन की इस व्याख्या का इस आधार पर काफी समर्थन हो जाता है कि स्काइजोफ्रीनिया के अन्य रूपो के रोगियो की अपेक्षा कैटाटानिक रोगी के नीरोग हो जाने की सम्भावना बहुत होती है ।

हीबीफ्रीनिक स्काइजोफ्रीनिया की व्याख्या के सम्बन्ध में बोयसन का यह मत है कि हीबीफ्रीनिक रोगी आत्म-सम्मान को खतरे से बचाने का कोई उपाय नही देख पाता । नैतिक-सामाजिक लक्ष्य प्राप्ति के लिए जो व्यवहार किया जाता है उसमें आत्मसयम, की आवश्यकता पडती है । आत्म-सम्मान को बनाए रखने के लिए नैतिक-सामाजिक लक्ष्य अपेक्षित आत्मसयम का ज्ञान होना अनिवार्य होता है । हीबीफ्रीनिक रोगी मे आत्मसयम का ज्ञान नही होता जिससे उसका मनस् कुठित हो जाता है और वह असगत, अनर्गल और अनुत्तरदायी व्यवहार करने लगता है ।

अन्तिम निष्कर्ष—स्काइजोफ्रीनिया के कारणो को जानने के लिए जितना विशद् अनुसन्धान किया जा चुका है उससे अब तक कोई निर्विवाद परिणाम नही निकल सका है । यह निश्चित रूप से सिद्ध नही हो पाया है कि स्काइजोफ्रीनिया के कारण कार्यात्मक (functional) होते हैं या आनुवशिक-शारीरिक । और अगर दोनो होते हैं तो उनमे सापेक्षिक प्रधानता किनकी रहती है । अत ऊपर जिन विभिन्न दृष्टिकोणो का वर्णन किया गया है उनमें से किसी एक को अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेना ठीक नही होगा । पर्याप्त प्रमाण न मिल जाने तक सदेहवादी बने रहना विज्ञान के हित में होता है ।

१९

आंगिक साइकोसिस

पहले बताया जा चुका है कि साइकोसिस की मुख्य विशेषता अन्तर्दृष्टि (insight) का अभाव होती है जिससे व्यक्ति को अपने रोगी होने का ज्ञान नही हो पाता। साइकोसिस के रोगियो के व्यवहार में अन्तर्दृष्टि का जो अभाव पाया जाता है उसके कार्यात्मक कारणो पर पिछले दो अध्यायो मे विचार किया जा चुका है। किन्तु अन्तर्दृष्टि का अभाव आंगिक (crganie) कारणो से भी हो सकता है। आगिक कारणो से अप्रकृत बन नए व्यवहार को आगिक साइकोसिस (organic psychosis) कहा जाता है। आगिक दोषो से यो तो व्यक्तित्व और व्यवहार में कुछ न कुछ अप्रकृत परिवर्तन अवश्य हो जाते है किन्तु उन परिवर्तनो से अगर रोगी की अन्तर्दृष्टि में कमी न आए तो आगिक-दोष-जन्य होते हुए भी उन परिवर्तनो को आंगिक साइकोसिस नही कहा जा सकता। आगिक साइकोसिस का तात्पर्य है किसी आगिक दोष के कारण अप्रकृत बन जाने वाले व्यवहार में अन्तर्दृष्टि का अभाव होना।

आगिक साइकोसिसो में यद्यपि किसी न किसी आगिक विकार की पूर्ववर्त्तिता और प्रधानता रहती है किन्तु तो भी उन पर रोगी के परिवेश और व्यक्तिगत भेद का थोडा बहुत प्रभाव अवश्य पडता है। यही कारण है कि एक से आगिक दोष के होने पर भी दो रोगियो के व्यवहार में काफी असमानता मिलती है। आगिक साइकोसिस सक्रामक (infectious), निर्माणात्मक (metabolic), आघातिक (traumatic), रक्त-विकार जन्य या मद्य और विष जन्य हो सकते है।

संक्रामक साइकोसिस

सामान्य पैरेसिस—संक्रामक (infectious) साइकोसिस का एक स्पष्ट उदाहरण केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध में उपदंश (syphilis) होने के कारण कोर्टेक्सीय क्षति का होना होता है। उपदंश के कारण कोर्टेक्सीय क्षति जन्य साइकोसिस को सामान्य पैरेसिस (General Paresis) कहा जाता है। सामान्य पैरेसिस का काफी अध्ययन किया जा चुका है और उसके विभेदीकरण और वर्गीकरण अनेक रूपों में किए गए है जिनसे यह पता चलता है कि पैरेसिस के किसी

विशिष्ट रूप के लक्षणो के प्रकट होने पर रोगी के अतीत जीवन का बड़ा प्रभाव पडता है। सामान्य पैरेसिस के विभेदीकृत सब रूपो के विशेष लक्षणो का वर्णन ज्यादा महत्वपूर्ण नही है, केवल कुछ प्रमुख विशेषताओ को जान लेना काफी है।

पैरेसिस के रोगी मे व्यक्तित्व का धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है। रोग के प्रारम्भ में रोगी देर तक ध्यान नही लगा पाता और बाद में तो बिल्कुल नही लगा पाता। उसके लिए सीखना कठिन हो जाता ह और उसकी स्मरण-शक्ति घटने लगती है। वह जल्दी थकने लगता ह। उसमे पहनने-ओढने और अपने शरीर की देखभाल के प्रति विराग पाया जाता है। ज्यो-ज्यो उसकी कोर्टेक्स का ज्यादा भाग विकृत होता जाता है त्यो-त्यो उसमे अपनी प्रबल इच्छाओ का अवरोध करने की शक्ति कम होती चली जाती है। उसकी लिखावट टेढी-मेढी और आवाज मोटी होने लगती है। उसकी आँख प्रकाश के प्रति ठीक से प्रतिक्रिया नही कर पाती।

रोगी के ये उपर्युक्त लक्षण धीरे-धीरे अतिरजित होते जाते है। उसे महानता-हठभ्रम (delusions of grandeur) भी होने लगते हैं। उनकी स्मरण-शक्ति यहाँ तक विकृत हो जाती है कि वह अपना नाम तक नही बता पाता। उसके मासपेशीय न्यास की स्वाभाविकता नष्ट होने लगती है जिससे वह उठ-बैठ नही पाता और केवल एक लट्ठे की तरह पडा रहता है। मासपेशीय-आकुचन के कारण वह अपने हाथ-पैरो को बडी बेतुकी तरह से समेटे रहता है। पैरेसिस की प्रारम्भिक अवस्था का एक केस देखिए

केस २८—सैंतालिस साल का एक क्षीणकाय श्रमिक। परीक्षण द्वारा उसे उपदश (syphilis) होने का सबूत मिला है। चलते-फिरते समय उसके घुटनो की मासपेशियो में अतिरजित आकुंचन और प्रसार होता है। आँखें प्रकाश की विभिन्न मात्रा के प्रति ठीक से प्रतिक्रिया नही कर पाती। आवाज मोटी, भारी और कर्कश है। ओठो मे फडकन होती है। पेशाब रोक सकने मे कठिनाई होती है। रोगी अत्यन्त उद्दीप्त रहता है और अपनी उम्र सत्तानवें साल बताता है। उसका दावा है कि उसकी पत्नी ने पाँच जुडवाँ बच्चो को जन्म दिया था। अपने सम्बन्धियो की सख्या ६५६ बताता है जिनमें ८४ तो उसके भाई है और ३१९ बहनें। कहता है कि उसके ३८७ चचा है, ५०६ चाचियाँ हैं, २५० बाबा हैं और ४४० दादियाँ है। अस्पताल के प्रत्येक कर्मचारी को पचास हजार रुपए देने का वादा करता है और मगलग्रह पर अपना एक बहुत बडा कारखाना और भारी जायदाद होने की बातें करता ह। तारीख गलत बताता है। कहता है कि

उसे अस्पताल मे आए दो महीने हो चुके हैं जबकि हुए केवल ग्यारह दिन हैं। इससे पता चलता है कि उसे स्थान का ज्ञान तो है लेकिन समय का नही।

यद्यपि पैरेसिस मे होने वाला मानसिक ह्रास बिना उपचार के भी कभी-कभी रुक जाता है और रोगी प्रकृत जीवन बिताने योग्य बन जाता है किन्तु उपचार के अभाव मे रोग फिर प्रकट हो सकता है और तब उसका उपचार मौत ही कर सकती है। चिकित्सको ने पैरेसिस की वृद्धि और विकास को रोकने के उपाय मालूम कर लिए है। कृत्रिम उपायो से रोगी का शारीरिक तापक्रम बढाकर या उसे मलेरियाग्रस्त बनाकर पैरेसिस की वृद्धि और विकास को रोकने में सफलता मिली है। इन उपायो से रोगी का जितना मानसिक ह्रास हो चुकता है उसे तो पूरा नही किया जा सकता किन्तु उसकी वृद्धि को रोक कर रोगी को प्रकृत जीवन बिता सकने योग्य बना दिया जाता।

एन्सीफैलिटिस—सक्रामक साइकोसिस का दूसरा उदाहरण एन्सीफैलिटिस (Encephalitis) रोग है। इस रोग मे स्नायु-प्रबन्ध के उपदशी (syphilitic) होने से व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। एन्सीफैलिटिस रोग इनफ्लूएन्जा (influenza) से सम्बन्धित मालूम पडता है। रोग का उग्र रूप प्रकट होने के पहले सिर दर्द और बेचैनी मालूम होती है, जाडा-सा लगता है और कभी कभी दृप्टिरोध, डिप्लोपिया (diplopia) और दृष्टि-असंगठन भी हो जाता है। एन्सीफैलिटिस के लक्षण दो रूपो मे प्रकट हो सकते हैं एक तो अतिशय शारीरिक शिथिलता, जडता या मूर्च्छा के रूप में और दूसरे उद्दीपन के रूप में।

पहले रूप में पाए जाने वाले लक्षणो के आधार पर एन्सीफैलिटिस (Encephalitis) का प्रचलित नाम निद्रा-रोग (sleeping sickness) भी पड गया है। किंतु इस रोग की निद्रा-सम अवस्था और प्रकृत निद्रा में बडा अन्तर होता है। एन्सीफैलिटिस को निद्रा-रोग कहना इसलिए भ्रामक है कि निद्रा इस रोग का कोई अनिवार्य लक्षण नही होती। रोग के पहले रूप में मानसिक क्रियाओ का ह्रास हो जाता है और अक्सर पक्षाघात (paralysis) भी हो जाता है। दूसरे रूप में रोगी बहुत बेचैन और चिडचिडा बन जाता है। उसे नीद मुश्किल मे लगती है और उसकी मांसपेशियो में अनियमित उद्दीपन भी हो सकता है।

एन्सीफैलिटिस (Encephalitis) रोग बच्चो के मानसिक विकास के लिए बडा घातक होता है। इस रोग से बोधवाहक-स्नायु निष्क्रिय हो सकते हैं किन्तु रोग का ज्यादा कुप्रभाव केन्द्रीय प्रभावकीय क्रियाओं पर पड़ता है। कभी-

कभी रोगी की मुखाकृति और शारीरिक मुद्रा बिल्कुल निर्जीव-सी और भाव-शून्य हो जाती है। इस रोग का उत्तर-प्रभाव (after-effect) भी बहुत बुरा होता है और उसके कारण रोगी के व्यक्तित्व में काफी परिवर्तन हो जाता है। आत्म-नियत्रण के लिए अवरोध (inhibition) आवश्यक होता है। एन्सीफैलिटिस के रोगी में 'अवरोधो का पक्षाघात' (paralysis of inhibitions) हो जाता है। अवरोधो के पक्षाघात और मानसिक ह्रास होने से रोगी की परिपक्वता नष्ट हो जाती है जिससे उसका व्यवहार अनियन्त्रित और बच्चो के स्तर का बन जाता है। रोग के उत्तर-प्रभाव के कारण रोगी में अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो के प्रति पहले की सी जागरूकता और तत्परता नही रह जाती।

निर्माणात्मक साइकोसिस

मानसिक स्वास्थ्य शारीरिक निर्माण (metabolism) पर निर्भर होता है। शारीरिक निर्माण और विकास पर शरीरस्थ कोषो और ग्लैडो की रासायनिक क्रियाओ का प्रभाव पडता है जिनके कारण छोटा-सा बच्चा विकसित होकर एक भीमकाय आदमी बन जाता है। कोषो और ग्लैडो की विकासात्मक क्रियाओ के दूषित हो जाने से जो मानसिक विकार उत्पन्न हो जाते है उन्हे निर्माणात्मक (metabolic) साइकोसिस कहा जाता है।

स्नायु-प्रबन्ध के प्रसग में थायरायड, पिच्युइचरी, ऐड्रीनल आदि विभिन्न ग्लैडो की क्रियाओ का शारीरिक और मानसिक विकास एव परिपक्वता मे जो महत्व होता है और जो प्रभाव पडता है उस पर विचार किया जा चुका है। विभिन्न ग्लैडो के कार्य-दोष से विभिन्न प्रकार के अप्रकृत लक्षण प्रकट होते है। प्रत्येक ग्लैड के कार्य-दोष से उत्पन्न होने वाले सब विकारो को जानना अनावश्यक-सा है अत उदाहरण के लिए थायरायड ग्लैड के कार्य-दोष से उत्पन्न होने वाले केवल एक विकार को जान लेना ही पर्याप्त होगा।

थायरायड ग्लैड के कार्य-दोष से शरीर मे अनेक प्रकार की विरूपताएँ आ जाती है। उनमें से एक विरूपता को क्रेटिनिज्म (cretinism) कहा जाता है। क्रेटिनिज्म के लक्षण जन्म या जन्म के जरा बाद से ही पाए जाने लगते है। क्रेटिन (cretin) बच्चा जड़-बुद्धि होता है। वह बौना रह जाता है, उसका सिर बडा होता है, पैर छोटे और कुछ टेढे-से होते है, हाथ-पैर लकडी के समान सूखे और विरूप, बाल रूखे और खाल पीली-पीली सी होती है।

आघातिक साइकोसिस

जो साइकोसिस सिर मे चोट लगने से उत्पन्न हो जाते है उन्हे आघातिक (traumatic) साइकोसिस कहा जाता है। सिर में चोट लगने से मनोवैज्ञानिक क्रियाओ मे अनेक प्रकार के विकार हो सकते है। स्नायु-प्रबन्ध के प्रसंग मे यह देखा जा चुका है कि मनस् के दीर्घ भाग मे अलग-अलग स्थानो पर विभिन्न सवेदनो के केन्द्र होते है। मानसिक आघात के परिणामस्वरूप जिस सवेदन केन्द्र को क्षति पहुँचती है उस केन्द्र से सम्बन्धित क्रियाएँ विकृत हो जाती है। सवेदनो को सयुक्त, सश्लिष्ट और सशोधित करके उन्हे नाम, रूप, गुण आदि से सविशेष तथा सार्थक बनाने का काम कोर्टेक्स (cortex) द्वारा होता है। कोर्टेक्स पर आघात पहुँचने से उसमें स्थिति-विशेष के अनुरूप जो सशोधन हुए थे वे नष्ट हो सकते है और इस प्रकार तत्सम्बन्धी क्रियाएँ असतुलित वन सकती है। दीर्घभाग के अध्ययन के प्रसग में वाक्भ्रंश (aphasia), दृष्टि विकारो के प्रसग मे एम्ब्लिओपिया (amblyopia), डिप्लोपिया (diplopia) आदि और याद रखने के प्रसंग मे जिन विकारो पर विचार किया जा चुका है उनका कारण कोर्टेक्सीय क्षति होता है।

कोर्टेक्स के नीचे के भाग (१) सायास (voluntary) क्रियाओ और (२) अनायास प्रक्षिप्त क्रियाओ का नियत्रण करते है। मानसिक आघात के कारण अगर अनायास प्रक्षिप्त क्रियाएँ नही हो पाती तो रोगी मूर्च्छित हो जाता है और सायास प्रक्षिप्त क्रियाओ के न हो सकने से रोगी मे जडता आ जाती है। जड़ता की अवस्था मे रोगी की अनायास प्रक्षिप्त क्रियाएँ तो होती रहती है किंतु वह सायास प्रक्षिप्त क्रियाओ से सम्वन्धित व्यवहार नही कर पाता। आघातिक साइकोसिसो से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि आगिक साइकोसिस की अभिव्यक्ति कार्यात्मक रूप में होती है।

रक्त-विकार जन्य साइकोसिस

मानसिक कार्य-कुशलता बहुत सी शारीरिक प्रक्रियाओं पर निर्भर होती है। मानसिक कार्य-कुशलता के लिए मस्तिष्क के कोपो में पर्याप्त मात्रा मे आक्सीजन का पहुँचना बहुत आवश्यक होता है। आक्सीजन की पर्याप्त मात्रा न मिलने से मस्तिष्क के कोपो की सक्रियता नष्ट होने लगती है। आक्सीजन के अभाव को वैज्ञानिक शब्दावली में एनोक्सिया (anoxia) कहा जाता है। जन्म के समय एनोक्सिया होने के कारण मानसिक विकास रुक जाने के प्रमाण मिलते है।

मानसिक कार्यकुशलता की दूसरी आवश्यकता मनस् के दीर्घभाग में रक्त शर्करा (blood sugar) का पहुँचना होता है। रक्त शर्करा को दीर्घभाग

में पहुँचाने का काम धमनियो (arteries) द्वारा होता है। अगर धमनियों में कोई विकार हो जाय तो दीर्घभाग मे रक्त की पर्याप्त मात्रा नही पहुँच सकेगी और उससे लगभग वही अप्रकृत लक्षण प्रकट होगे जो मधुमेह (diabetes) रोग मे होते है, जैसे चेतनाशून्य होना या शारीरिक अगो का अकड़ जाना, आदि।

धमनियो के विकार को धमनी-काठिन्य (arteriosclerosis) कहा जाता है। धमनी-काठिन्य से दीर्घभाग में आक्सीजन और रक्त की पर्याप्त मात्रा नही पहुँच पाती जिससे मानसिक कार्य-कुशलता घटने लगती है। धमनी-काठिन्य से मस्तिष्क मे अन्य विकार भी हो जाते हैं जैसे भूरे-पदार्थ (gray matter) का जगह जगह फूल-सा जाना, इत्यादि। मस्तिष्क के इन विकारो से चिंतन, कल्पना, याद रखना, अवधान और सचारीभाव आदि मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ दूषित हो जाती हैं और रोगी को चिकित्सालय मे रखना आवश्यक हो जाता है।

धमनी-काठिन्य (arteriosclerosis) अधिकतर वृद्धावस्था मे होता है और उसके कारण व्यक्ति की मति फिर जाती है। वह अपना काम बुद्धिमानी से नही कर पाता और दूसरो के बहकाने में बहुत जल्दी आ जाता है। प्रचलित भाषा मे कहा जाता है कि वह सठिया गया है। सठिया जाने से वह आत्मनियत्रण खो बैठता है और समाज-विरोधी व्यवहार कर सकता है। सठियाने के कारण लोग बच्चो तक के साथ व्यभिचार करने से नही हिचकते। सठियाने के परिणाम स्वरूप रोगी को अभियोग-हठभ्रम (delusions of persecution) भी हो सकते हैं और वह अपने कल्पित अभियोगियो पर आक्रमण भी कर सकता है।

सठियाने के अन्य रूप—सठियाने का कारण धमनी-काठिन्य ही न होकर वृद्धावस्था की वजह से अंगो में ह्रासोन्मुखी परिवर्तनो का होना भी होता है। सठियाना (senility) अप्रकृत मनोविज्ञान की दृष्टि से ज्यादा महत्व का विषय नही है किंतु कुछ ऐसे उदाहरणो का महत्व अवश्य होता है जिनमें रोगी प्रौढावस्था में ही सठिया जाता है। इस प्रकार के केवल दो रूपो को जान लेना पर्याप्त होगा जिनका नामकरण उनकी खोज करने नाले व्यक्तियो के नाम पर किया गया है आल्जाइमर-रोग (Alzheimer's disease) और पिक-रोग (Pick's disease)।

आल्जाइमर-रोग चालिस-बयालिस साल की अवस्था में पाया जाता है। परीक्षणो के आधार पर यह पता चला है कि इस रोग में मस्तिष्क के स्नायु-कोष नष्ट हो जाते है। रोगी के व्यवहार में लक्ष्योन्मुखता नही रहती, वाक्भ्रश (aphasia) भी हो जाता है और कार्य-कुशलता पर नियत्रण नही रह जाता जिससे वह ताले में चाभी डालने, जूते के फीते बाँधने आदि जैसे साधारण काम

करने के ढंग भी भूल जाता है। रोगी का स्मृति-विस्तार (memory-span) बहुत संकुचित हो जाता है। आल्जाइमर-रोग प्राणघातक होता है और रोगी लगभग तीन साल तक ही बचा रह सकता है।

पिक-रोग पचास-पचपन साल पर होता है और रोगी दस साल तक ही चल पाता है। पिक-रोग मे मस्तिष्क के स्नायु-कोषो के नष्ट होने के साथ-साथ अन्य अप्रकृत लक्षण भी पाए जाते है। पिक-रोग मे स्मृति-विकार भी पाए जाते है किंतु उनमे और आल्जाइमर रोग में पाए जाने वाले स्मृति-विकारो मे अन्तर होता है। पिक-रोगी को स्मृति के साधारण परीक्षणो मे कठिनाई नही होती, कमी केवल इस बात की होती है कि रोगी एक स्थिति मे जो सीखता है उसका उपयोग जरा परिवर्तित स्थिति मे नही कर पाता। एक रोगी अपने कमरे के एक विशेष द्वार से पेशाव खाने तक जाने का निश्चित मार्ग जानता था किंतु किसी अन्य द्वार से जाने पर भूल जाता था। दूसरे, वह कागज पर कमरे से पेशाव खाने तक के मार्ग का नक्शा भी नही बना पाता था। पिक-रोग में रोगी अपनी स्मृति-प्रतिमाओ का उपयोग एक स्थिति से दूसरी स्थिति मे नही कर पाता और यही पिक रोग की विशेषता होती है।

मद्य और विष जन्य साइकोसिस

शराब, कोकीन, अफीम और इसी प्रकार के अन्य विषैले पदार्थों का केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध पर जो अस्वस्थकर रासायनिक प्रभाव पडता है उससे बहुत से अप्रकृत लक्षण प्रकट होने लगते है। प्रयोगो के आधार पर यह पता चला है कि शराब की थोडी मात्रा का प्रभाव उच्च मानसिक क्रियाओ की अपेक्षा साधारण क्रियाओ पर ज्यादा पडता है। शराब पीने से नाडी की गति तेज हो जाती है जिससे शराब को उत्तेजक समझा जाता है। शराब का प्रभाव केन्द्रीय स्नायु-प्रबन्ध के अवरोधक (inhibitory) और नियत्रणकारी कार्यो को शिथिल कर देता है और इसीलिए शराब उत्तेजक लगती है। अवरोधक कार्यो के कारण ही आत्मनियत्रण रखना सम्भव होता है। अवरोधक कार्यो के शिथिल हो जाने से शराबी अपने ऊपर नियंत्रण नही रख पाता और अपनी उद्दाम इच्छाओ को रोक सकने में असमर्थ हो जाता है। उसके अवधान का विस्तार घट जाता है और मांसपेशीय नियंत्रण कमजोर पड जाता है जिससे वह लडखडाने लगता है। कोर्टेक्सीय नियत्रण के अभाव से उसका व्यवहार बच्चों के स्तर का हो जाता है। उसे दृश्य-मतिभ्रम भी होने लगते है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि ने मद्य और विष जन्य साइकोसिसो में डियरिलीम ट्रेमेन्स (Delirium Tremens) और कोर्साकोफ (Korsakoff)

साइकोसिस का बड़ा महत्व है। डिलीरियम ट्रेमेन्स के रोगी को खूँखार कुत्तो, भयानक सापो और अन्य कीड़ो का मतिभ्रमात्मक दर्शन होने लगता है। जिससे उसे बड़ा डर लगता है। उसकी अन्य सब क्रियाएँ उसके मतिभ्रमात्मक डर के कारण अप्रकृत हो जाती है। रोगी को समय और स्थान की सुधि नही रह जाती और वह अपने अप्रकृत काल्पनिक जगत का निवासी बन जाता है।

कोर्साकोफ साइकोसिस में रोगी की स्मृति विकृत हो जाती है। रोगी जो कुछ करता है उसे थोडी देर बाद बिल्कुल भूल जाता है। खाना खाने के कुछ देर बाद वह यह नही बता सकता कि उसने खाना खा लिया है। रोगी कभी कभी रोग के पहले की घटनाओ का पुनरावर्त्तन भी नही कर पाता।

आठवाँ खण्ड

परिशिष्ट

२०

सम्मोहन और निर्देशन

हिस्टीरिया के प्रसग मे निर्देशन (suggestion) के महत्व का उल्लेख किया गया था। निर्देशन वडा रोचक और विस्तृत विषय है। यहाँ निर्देशन के एक विशेष रूप सम्मोहनावस्था (hypnosis) पर विचार कर लेना काफी होगा क्योकि मनोविज्ञान में सम्मोहन (hypnotism) का इतिहास भी कम रोचक नही रहा है। निर्देशन और सम्मोहन किसी न किसी रूप में सदा प्रचलित रहे है और मानवो जीवन में उनका कुछ न कुछ महत्व भी रहा है। झाड-फूँक करके भूत उतारना आदि निर्देशन और सम्मोहन के ही आज तक प्रचलित अवैज्ञानिक रूप हैं। सम्मोहन से सम्बन्धित अनेक समस्याओ के समाधान के मतभेदो को छोडकर तत्सम्बन्धी केवल कुछ मुख्य बातो का सक्षिप्त परिचय कर लेना यथेष्ट होगा।

संक्षिप्त इतिहास—सम्मोहन का आधुनिक रूप मेस्मर की खोजो का परिवर्तित और सशोधित रूप है। मेस्मर वियना का एक चिकित्सक था और अपने रोगियो का उपचार उनके शरीर पर चुम्बक (magnet) रखकर किया करता था। मेस्मर ने यह देखा कि उसकी उपस्थिति में रोगी जिस वस्तु को छूता था या जिसके सम्पर्क मे आता था उसका रोगी पर निश्चित प्रभाव पडता था और वह अन्य वस्तुओ या व्यक्तियो के होने पर भी उनके प्रति विमुख रहता था। इससे मेस्मर ने यह गलत धारणा बनाई कि उसके शरीर से कोई शक्ति प्रवाहित होती है जो रोगी को भी प्रभावित करती है। मेस्मर ने उस शक्ति का स्वरूप तरल और भौतिक माना। मेस्मर का यह विश्वास भी था कि उस शक्ति से किसी निर्जीव पदार्थ जैसे चुम्बक को भी प्रभावित किया जा सकता है और तत्पश्चात् चुम्बक भी वही काम कर सकता है जो चिकित्सक करता है। मेस्मर की यह खोजें उसी के नाम पर मेस्मेरिज्म (Mesmerism) नाम से विख्यात हो गईं। परिस्थितियोवश १७७८ में मेस्सर को पेरिस जाना पड़ा। वहाँ उसे काफी ख्याति मिली और उसके वहुत से अनुयायी बन गए।

और तब मेस्मेरिज्म को लेकर बड़ा भारी विवाद और मतभेद पैदा हो गया। एक वर्ग मेस्मरिज्म को अवैज्ञानिक बताकर उसकी निन्दा और दूसरा वर्ग मेस्मेरिज्म की व्याख्या पर पारस्परिक मतभेद रखते हुए भी उसकी सराहना करने लगा। बाद मे १८४१ में जेम्स ब्रेड के अध्ययन और प्रयोगो के परिणामस्वरूप मेस्मेरिज्म को कुछ वैज्ञानिक मान्यता मिली और मेस्मेरिज्म को सम्मोहन (hypnotism) नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। किन्तु ब्रेड के प्रयत्नो के बावजूद भी सम्मोहन कई दशको तक उपेक्षनीय विषय बना रहा।

सम्मोहन को आज जो वैज्ञानिक स्थान मिल चुका है उसका श्रीगणेश १८८० में फिर उठने वाले विवाद से हुआ था। वह विवाद सम्मोहनावस्था (hypnosis) के स्वरूप के विषय मे उठा था। पेरिस-विचारधारा के प्रवक्ता शारको का यह कहना था कि हिस्टीरिया और सम्मोहनावस्था मे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और नान्सी-विचारधारा के प्रवक्ता बर्नहाइम का यह मत था कि हिस्टीरिया और सम्मोहनावस्था में कोई अनिवार्य घनिष्ठ सम्बन्ध नही होता। इस प्रश्न के निश्चय के लिए तब से सम्मोहन का विशद् अध्ययन किया गया है और अन्ततोगत्वा बर्नहाइम के मत को अधिक उपयुक्त माना जा चुका है।

सम्मोहित करना—सम्मोहनावस्था कृत्रिम साधनो द्वारा उत्पन्न की गई नींद के समान एक अवस्था होती है जिसमे सम्मोहित पात्र सम्मोहक के निर्देशनो (suggestions) के अनुकूल काम करने लग जाता है। सम्मोहन एक स्वाभाविक वैज्ञानिक क्रिया होती है और उसके पीछे कोई रहस्य या आधिभौतिक आधार नही होता। सम्मोहित करने का कोई एक निश्चित तरीका नही होता। सम्मोहक अलग अलग तरीके अपना सकते है। सम्मोहित करने के पहले पात्र से अंगो को ढीला करके आराम से बैठ या लेट जाने को कहा जाता है। सम्मोहन के समय पात्र के मन में कोई आकुलता, भय, घबड़ाहट या शका नही होनी चाहिए। उसे शांत और निर्द्वन्द होना चाहिए और सम्मोहक को अपना पूरा सहयोग देना चाहिए। अगर पात्र सदेह या विरोध करता हो तो उसे सम्मोहित नही करना चाहिए क्योकि सम्मोहन की सफलता के लिए पात्र का पूरा सहयोग मिलना नितान्त आवश्यक होता है।

पात्र को उपर्युक्त उपक्रमो द्वारा तैयार करके सम्मोहक पात्र की दृष्टि-ननर् के जरा ऊपर दो तीन फीट दूर कोई प्रकाश-बिन्दु, श्याम-पट पर सफेद बिन्दु, पतली-सी बोतल या इसी तरह की कोई अन्य वस्तु रखकर पात्र से

उस वस्तु की ओर ध्यानपूर्वक टकटकी लगाकर देखने को कहता है। तीन-चार मिनट बाद सम्मोहक अपना काम शुरू करते हुए पात्र से यह कहता है: "तुम्हारी पलके भारी और उनीदी हो रही है, तुम्हारे अग शिथिल पड़ रहे हैं, तुम्हारी नाडी की गति धीमी हो रही है, तुम्हे धीरे-धीरे नीद आ रही है।" पात्र की पलके गिरते देखकर सम्मोहक अपना निर्देशन और भी ऊँचे स्वर से देने लगता है · "तुम्हारी पलकें बन्द हो चुकी है, तुम्हारे हाथ-पैर भारी पड चुके है, तुम्हारा सारा शरीर शिथिल हो गया है, तुम्हे गहरी नीद आ रही है।" सम्मोहक उपर्युक्त निर्देशन पात्र की पलके बन्द हो जाने पर भी कई मिनट तक देता रहता है।

सम्मोहनावस्था की पहचान--सामान्यत सम्मोहनावस्था (hypnosis) की तुलना निद्रावस्था से की जाती है किन्तु दोनो मे बडा अन्तर होता है जो निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा मान लीजिए किसी बीमार बच्चे की माँ रातभर उसके सिरहाने बैठी रहती है। देर तक जागते रहने और थक जाने से वह रह रहकर ऊँघने लगेगी। ऊँघते समय वह चारो ओर होने वाले शोरगुल के प्रति तो उपेक्षित रहेगी किन्तु बच्चे की जरा-सी कराह भी फौरन सुन लेगी और सजग हो जायगी। इसका कारण उसके अवधान का विन्यास (set) होता है जो बच्चे के प्रति बन जाता है। बच्चे की माँ का इस प्रकार सोना 'प्रकृत' ढग से सोने का उदाहरण नही है। इसी प्रकार सम्मोहनावस्था भी 'प्रकृत' ढग से सोने का उदाहरण नही होती। जिस प्रकार माँ सोते-सोते भी केवल अपने बच्चे के प्रति सजग रहती है उसी प्रकार सम्मोहित पात्र केवल सम्मोहक के निर्देशनो के प्रति सजग रहता है। अन्तर केवल इतना ही होता है कि बच्चे की माँ को थक जाने के कारण आराम करने के लिए सोने की जरूरत होती है किन्तु सम्मोहन में पात्र को सोने की कोई जरूरत नही होती क्योकि वह न तो थका होता है और न आराम करने की अपेक्षा रखता है।

सम्मोहन और नीद में ऊपरी समानता होने से यह पता लगाना कठिन होता है कि पात्र ठीक से सम्मोहित हो चुका है या नही। इसे जानने के लिए सम्मोहक सम्मोहित पात्र पर निर्देशनग्राह्यता (suggestibility) के कुछ परीक्षण करता है। उदाहरण के लिए सम्मोहक पात्र से कहता है कि उसकी पलकें गोद लगाकर बन्द कर दी गई है और वह भरसक प्रयत्न करके भी उन्हें नही खोल सकता। अगर पात्र अच्छी तरह सम्मोहित हो चुका होता है तो वह भरसक कोशिश करने पर भी अपनी पलकें नही खोल पाता। किन्तु हो सकता है कि वह सम्मोहक को धोखा देने के लिए केवल बन रहा हो।

इसका निश्चय करन के लिए सम्मोहक उसे 'और हर तरह से सोते रहने' को कहकर केवल आँखें खोलने का निर्देशन देता है। अगर पात्र पूरी तरह सम्मोहित हो चुका होगा तो वह सम्मोहक के निर्देशन को स्वीकार करके आँखें तो खोल देगा किन्तु उसकी आँखो मे भावशून्यता होगी और चेहरा वैसा ही होगा जैसा सोते हुए व्यक्ति का होता है।

सम्मोहनावस्था की कुछ विशेषताएँ——अच्छी तरह सम्मोहित करने के वाद पात्र की प्रतिक्रियाओ मे कुछ ग्राहकीय और प्रभावकीय विशेषताएँ उत्पन्न की जा सकती हैं। एक विशेषता यह होती है कि पात्र सम्मोहक के निर्देशन को छोडकर किसी अन्य व्यक्ति निर्देशन को नही मानता। सम्मोहक अगर यह निर्देशन दे कि पात्र को कान में खुजली लग रही है तो पात्र अपना कान खुजलाने लगेगा, किन्तु दर्शको मे से किसी व्यक्ति द्वारा ऐसा निर्देशन मिलने पर पात्र कोई प्रतिक्रिया नही करेगा मानो वह उस व्यक्ति की वात सुन ही न रहा हो या उसकी उपेक्षा कर रहा हो। इससे स्पष्ट है कि सम्मोहक और पात्र के बीच कोई विशेप सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जिसके कारण पात्र सम्मोहक के निर्देशन को छोडकर अन्य किसी व्यक्ति के निर्देशन के अनुसार प्रतिक्रिया नही करता। सम्मोहक और पात्र के वीच स्थापित होने वाले इस विशेष सम्बन्ध को चित्ताकर्पण (rapport) कहा जाता है क्योकि पात्र का चित्त और सव ओर से हटकर केवल सम्मोहक की ओर आकर्षित रहता है और सम्मोहक को छोडकर अन्य कोई व्यक्ति पात्र के चित्त को अपनी ओर आकर्पित भी नही कर सकता।

म्कडूगल ने चित्ताकर्पण (rapport) को सम्मोहन का मुख्य लक्षण माना है। म्कडूगल के अनुसार सम्मोहन द्वारा पात्र की आत्मनिवेदन (self-submission) की मूलप्रवृत्ति तीव्रता से जाग्रत हो जाती है और उसके वशीभूत होकर पात्र सम्मोहक के प्रत्येक निर्देशन को मानने लगता है। प्रयोगात्मक खोजो के आधार पर चित्ताकर्पण का पुराना अर्थ वदल चुका है और अव चित्ताकर्पण (rapport) को सम्मोहन का मुख्य लक्षण नही माना जाता। चित्ताकर्पण सम्मोहित पात्र के वोधवाहक क्षेत्र के अत्यन्त सकुचित हो जाने का परिणाम होता है जिसके कारण पात्र सम्मोहक के अतिरिक्त अन्य उत्तेजनाओ के प्रति जागरूक रह सकने में अक्षम वन जाता है। चित्ताकर्पण पर पात्र के पूर्वस्थापित विश्वासो और मनोवृत्ति का निश्चित प्रभाव पड सकता है जिससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि चित्ताकर्पण सम्मोहन का उतना आवश्यक लक्षण नहीं है जितना कि उसे माना जाता रहा है।

निर्देशन द्वारा पात्र में भ्रम और मतिभ्रम उत्पन्न कर सकना सम्मोहन की कुछ और विशेषताएँ होती हैं। सम्मोहक निर्देशन देता है कि पात्र को वडी भूख लगी है। इसके बाद पात्र को कागज का टुकडा देकर कहता है कि यह रोटी है और पात्र कागज को रोटी समझकर वडे चाव से खाने लगता ह। निर्देशन के प्रभाव से पात्र को कागज के टुकडे मे रोटी का भ्रम हो जाता है। अव मतिभ्रम का एक उदाहरण लीजिए। सम्मोहक खाली दीवार की ओर इशारा करके पात्र से दीवार-घडी में समय देखने को कहता है। पात्र दीवार को देखकर समय वता देता है जवकि दीवार पर कोई घडी नही होती क्योकि निर्देशन के कारण पात्र को दीवार पर घडी होने का मतिभ्रम हो जाता है।

निर्देशन द्वारा सम्मोहित पात्र में कैटेलेप्सी (catalepsy) और एनेस्थीसिया (सवेदनशून्यता) भी उत्पन्न की जा सकती है। कैटेलेप्सी की हालत में मासपेशियो की स्वाभाविक आकुचन-प्रसारण क्षमता नष्ट हो जाती ह और उनमें मोम की तरह की कठोरता आ जाती है। सम्मोहक पात्र की बाँह उठाकर फैला देता है। बाँह विना किसी सहारे के वडी देर तक उसी प्रकार फैली रहती है जिस प्रकार उसे फैला दिया जाता है। एनेस्थीसिया (सवेदनशून्यता) पात्र के किसी भी ग्राहक में पैदा की जा सकती है। दृश्य-ऐनेस्थीसिया का एक उदाहरण देखिए। सम्मोहक किसी व्यक्ति को कुर्सी पर बिठा देता है फिर कुर्सी 'खाली' है कहकर पात्र को उस पर वैठने का आदेश देता है। पात्र कुर्सी पर वैठे व्यक्ति की गोद में निस्सकोच वैठ जाता है मानो उसे देख ही न रहा हो। कुर्सी पर आराम से न वैठ सकने से पात्र को कुछ दिक्कत अवश्य हो सकती है किन्तु फिर भी यह नही जान पाता कि वह किसी के ऊपर वैठा है। इसी प्रकार पात्र में श्रवण, गन्ध, स्वाद, पीडा आदि के प्रति एनेस्थीसिया उत्पन्न की जा सकती है।

सम्मोहनावस्था (hypnosis) में कृत्रिम रूप से स्मृति-विकार भी पैदा किए जा सकते हैं। सम्मोहनावस्था टूटने पर पात्र को साधारणत सम्मोहनावस्था में होने वाली घटनाओ की याद नही रहती। सम्मोहनावस्था में व्यक्ति ऐसी ऐसी बातो का पुनरावर्तन कर लेता है जो जाग्रतावस्था में लाख प्रयत्न करने पर भी नही कर पाता। कुछ विद्वान इसका कारण अवधान के अत्यन्त संकुचित हो जाने को मानते हैं। सम्मोहमावस्था में स्मृति का विघटन भी किया जा सकता है। एक सम्मोहक ने अपने पात्र को यह निर्देशन दिया कि भाषा में स्वर नही होते और पात्र स्वरों को विल्कुल भूल गया। इसके वाद पात्र से उसका नाम लिखने को कहा गया। पात्र ने नाम लिखने मे केवल व्यंजनो का प्रयोग किया,

स्वरो का नही क्योकि निर्देशन द्वारा पात्र की भाषा-स्मृति से स्वरो का विघटन करा दिया गया था।

सम्मोहनावस्था मे स्मृति पर पडने वाले प्रभाव को उत्तर-सम्मोहित निर्देशन (post hypnotic suggestion) द्वारा और अच्छी तरह देखा जा सकता है। सम्मोहनावस्था मे पात्र को यह निर्देशन दिया जाता है कि कुछ देर बाद वह सम्मोहक के खाँसने पर कमरे में झाड़ू देने लगेगा। इसके बाद पात्र को सम्मोहनावस्था से 'जगा' दिया जाता है। जागने के बाद पात्र प्रकृत रूप से व्यवहार करता रहता है। कुछ देर बाद सम्मोहक जान-बूझकर खाँस देता है और पात्र उसका खाँसना सुनते ही कमरे मे झाड़ू देने लगता है। यह पूछे जाने पर कि कमरा तो बिल्कुल साफ था फिर झाड़ू देने की क्या जरूरत थी पात्र असमञ्जस मे पड जाता है और अपने विचित्र व्यवहार का कोई स्पष्टीकरण नही कर पाता। पात्र को यद्यपि जाग्रतावस्था मे सम्मोहनावस्था की घटनाएँ याद नही रहती किन्तु सम्मोहनावस्था में पात्र का जिन प्रतिक्रियाओ से सापेक्षीकरण कर दिया जाता है उन्हे वह जाग्रतावस्था मे भी करता है। उत्तर-सम्मोहित (post hypnotic) निर्देशनग्राह्यता पर व्यक्तिगत भेदो का काफी प्रभाव पडता है जिससे सभी पात्रो का व्यवहार एक रूप और समान नही होता और सभी पात्र सम्मोहक के प्रत्येक निर्देशन का अक्षरश. पालन नही करते।

कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न—पहला महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि सम्मोहनावस्था मे पात्र द्वारा सम्मोहक के निर्देशनो के अनुसार काम करना अभिनय मात्र होता है या वास्तविक। सम्मोहक के निर्देशन देने पर कि कमरे में गर्मी बढती जा रही है सम्मोहित पात्र को पसीना आने लगता है और बेचैनी होने लगती है। इसी प्रकार अगर पात्र से कहा जाय कि उसके सामने शेर खड़ा है तो पात्र डर से सम्बन्धित प्रतिक्रियाएँ करने लगेगा। क्या पात्र केवल डरने का अभिनय करता है या उसे डर लगने का रागात्मक अनुभव भी होता है? इस प्रसंग में विशेष अध्ययन द्वारा यह प्रमाणित हुआ है कि निर्देशन से स्वचालित स्नायु-प्रबंध की क्रियाएँ प्रभावित हो जाती है। सम्मोहक पात्र से कहता है कि उसके दाहिने हाथ की उँगली जलते अंगारे पर रक्खी जायगी। पात्र की आँखे बन्द रहती हैं और सम्मोहक उसकी उँगली को एक ठंडे कोयले पर रख देता है। पात्र दर्द से बुरी तरह चिल्लाने लगता है मानो सचमुच उसकी उँगली अंगारे पर रख दी गई हो। यही प्रयोग अगर पात्र के बाएँ हाथ की उँगली से किया जाय तो पात्र दर्द की प्रतिक्रिया नहीं करता। इसके बाद सम्मोहक पात्र से कहता है कि कुछ देर बाद उसकी उँगली में छाला पड़ जायगा और सचमुच कुछ देर बाद छाला पड़

जाता है। इससे स्पष्ट है कि निर्देशन से स्वचालित स्नायु-प्रबन्ध प्रभावित होता है और चूँकि रागात्मक अनुभव स्वचालित स्नायु-प्रबन्ध की क्रियाओ पर निर्भर होता है इसलिए यह मानना पड़ेगा कि पात्र को दर्द का रागात्मक अनुभव अवश्य होता होगा। किन्तु इस विषय मे निश्चित रूप से कुछ कह सकने के लिए अभी पर्याप्त प्रमाण नही मिल सके है।

दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सकता है या नही। जैने के विचार से हिस्टीरिक प्रवृत्ति के व्यक्ति को ही सम्मोहित किया जा सकता है। इसके विपरीत बर्नहाइम आदि मनोचिकित्सको का यह कहना है कि प्रत्येक प्रकृत व्यक्ति को सम्मोहित किया जा सकता है। यद्यपि आजकल बर्नहाइम का मत ही अधिक प्रचलित है किन्तु सम्मोहित होने के लिए पर्याप्त परिपक्वता का होना आवश्यक है। बच्चो, साइकोसिस के रोगियो और दुर्बल बुद्धि के व्यक्तियो को सम्मोहित करना बडा दुष्कर होता है क्योकि एक तो उनमें पर्याप्त परिपक्वता नही होती और दूसरे वे सम्मोहक के निर्देशनो को ठीक से समझ नही पाते। विभिन्न लोगो में सम्मोहित हो सकने की क्षमता कम या ज्यादा होती है जिसका कारण उनका व्यक्तिगत भेद और सम्मोहक के प्रति विभिन्न स्तर की आस्था का होना होता है।

तीसरा महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या सम्मोहक पात्र से जो चाहे करा सकता है ? यह मानने के पर्याप्त प्रमाण है कि सम्मोहक पात्र से उसके नैतिक स्वभाव के प्रतिकूल कोई काम नही करा सकता। एक जवान लडकी को जब यह निर्देशन दिया गया कि वह अपने सब कपडे उतार देगी तो उसका व्यवहार हिस्टीरिक बन गया और उसकी सम्मोहनावस्था टूट गई। इसी प्रकार सम्मोहनजन्य मतिभ्रम द्वारा पात्र से चोरी, गिरहकटी, बलात्कार, हत्या आदि करा सकना यद्यपि एक अनिर्णीत प्रश्न है किन्तु इस पक्ष की पुष्टि के लिए ज्यादा प्रमाण उपलब्ध है कि सम्मोहित पात्र से अपराध और असामाजिक काम आसानी से नही कराए जा सकते।

२१

प्रक्षेपण विधियाँ

मनोविज्ञान का मुख्य लक्ष्य जन्मजात, अर्जित और गत्यात्मक पक्ष के आधार पर निर्मित होने वाले व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक संगठन को समझना होता है। व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक संगठन को व्यवहार के माध्यम से समझा जाता है और उसके लिए मनोविज्ञानियो ने कुछ विशेष उपायो का आविष्कार किया है। उन उपायो द्वारा व्यक्ति के सामने एक ऐसी स्थिति रख दी जाती है जिसमें व्यक्ति को अपने उद्देश्यात्मक संगठन का अपने से बाहर प्रक्षेपण करने का अवसर मिलता है इसलिए उन्हे प्रक्षेपण विधियाँ (Projective techniques) कहा जाता है। प्रक्षेपण विधियो मे व्यक्ति के कार्य को गलत या सही बताने वाले प्रश्नोत्तर नही होते किन्तु एक नवीन स्थिति होती ह जिसके प्रसग से व्यक्ति के व्यवहार की उद्देश्यात्मक विशेषताओ का पता चलता है।

आपने सिनेमा देखा होगा। सिनेमा में सफेद पर्दे पर रील का प्रक्षेपण कराया जाता है। अगर पर्दा सफेद न हो, समतल न हो और अगर उस पर पहले से ही कुछ बना हो तो रील द्वारा पर्दे पर जो चित्र प्रक्षेपित किए जायँगे वे ठीक से दिखाई नही पड़ेगे। इसी प्रकार प्रक्षेपण विधियो मे व्यक्ति अपना प्रक्षेपण करता है इसलिए उन स्थितियो को जिन पर वह प्रक्षेपण कर रहा हो सिनेमा के पर्दे की भाँति अर्थशून्य और निरर्थक होना चाहिए क्योकि तभी व्यक्ति के प्रक्षेपण को अच्छी तरह देखा जा सकता है। अत प्रक्षेपण विधियाँ (Projective techniques) में ऐसी स्थितियो का प्रयोग किया जाता है जो व्यक्ति के लिए अर्थशून्य होती है। रेत पर बने पदचिन्हो मे जिस प्रकार विभिन्न पशुओ का अनुमानिक ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार प्रक्षेपण विधियो से व्यक्ति की मानसिक और रागात्मक प्रतिक्रियाओ की विशेषताओ और उसकी मनोवैज्ञानिक शक्ति के प्रवाह की दिशा का पता लगाया जा सकता है।

मनोविज्ञान में प्रचलित बुद्धि, मनोनुकूलता (aptitude), सम्प्राप्ति (achievement), निष्पादन (performance) आदि परीक्षणो के विपरीत प्रक्षेपण विधियो से व्यक्ति की किसी विशेष योग्यता की परीक्षा नही की जाती वरन् उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व की परीक्षा की जाती है। प्रक्षेपण विधियो द्वारा

अप्रकृत व्यक्तित्व और असतुलित व्यवहार के कारणो को जानने में बड़ी सहायता मिलती है । प्रक्षेपण विधियो के अनेक रूप प्रचलित है किन्तु यहाँ उनके दो प्रमुख रूपो का सक्षिप्त परिचय ही कराया जायगा।

रोर्शा मस्याकृति परीक्षण—मस्याकृति (Ink Blot) परीक्षण का आविष्कार स्वीजरलैंड के मनोचिकित्सक हर्मन रोर्शा ने किया था। रोर्शा के मस्याकृति परीक्षण का आधार यह है कि मानवी व्यवहार हमेशा सार्थक होता है। व्यवहार पर सज्ञा करने का बहुत बडा प्रभाव पड़ता है । देखने और करने में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और मनुष्य के 'करने' को उसके 'देखने' से अलग करके नही समझा जा सकता। व्यक्ति के असतुलित व्यवहार का कारण उसके 'देखने का ढग' होता है । व्यक्ति का व्यवहार वाह्य जगत को देखने के ढग के अनुरूप होता है। व्यक्ति परिवेश को जिस ढग से देखता है उसी प्रसग मे वह परिवेश से अपना साहचर्य बनाता है। मस्याकृति परीक्षण से सज्ञा करने के स्तर पर व्यक्ति की गत्यात्मक दिशा का पता चलता है।

रोर्शा मस्याकृति परीक्षण मे दस माननिरूपित मस्याकृतियाँ (Ink Blots) होती है। व्यक्तित्व को प्रक्षेपण द्वारा जानने के लिए यो तो व्यक्ति के परिवेश को सर्वथा नही वदला जा सकता किन्तु मस्याकृतियो द्वारा उसके सामने एक ऐसा परिवेश उपस्थित कर दिया जाता है जो उसके लिए अपूर्व, अर्थशून्य और तटस्थ होता है। मस्याकृति का अपने आप मे कोई अर्थ नही होता। उसमें केवल विभिन्न सकेतो की सम्भावना होती है । व्यक्ति मस्याकृति के अनेक सकेतो में से अपने सज्ञा करने के ढग के अनुसार कुछ सकेत चुन लेता है और पूर्व अनुभव की पृष्ठभूमि पर अपने उद्देश्यात्मक मानसिक सगठन का प्रक्षेपण करके चुने हुए सकेतो को सार्थक बनाने की चेष्टा करता है । तुलसीदास से क्षमा माँगते हुए यह कहा जा सकता है कि "जाकी रही भावना जैसी, मस्याकृति देखी तिन तैसी।"

कुछ मस्याकृतियाँ (Ink Blots) रगीन भी होती है क्योकि व्यक्ति के रागात्मक अनुभव मे रगो का एक विशिष्ट स्थान होता है। हमे शाम सुहानी भी लगती है और उदास भी, लेकिन क्यो ? अगर आसमान साफ हो और डूबते हुए सूरज की किरणो से वातावरण सुनहला वन गया हो तो शाम सुहानी लगती है । अगर आसमान पर वदली छाई हो और वातावरण में एक धुधलका सा हो तो शाम उदास लगती है । स्पष्ट है कि शाम के सुहाने या उदास लगने का कारण रगो की चटक और तीव्रता में होता है जो हमारे नेत्रपटल को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करके हमें शाम के सुहाने या उदास लगने का

रागात्मक अनुभव कराते हैं। अतः रंगो और रागात्मक अनुभव की घनिष्ठता को अस्वीकार नही किया जा सकता।

रोर्शा परीक्षण मे पात्र को दसो मस्याकृतियाँ बारी बारी से दिखाई जाती है और पात्र की प्रतिक्रियाओ का लेखा बनाया जाता है। परीक्षण-विधि का सामान्य परिचय दो पात्रो के मूर्त उदाहरण की तुलना से भलीभाँति हो सकेगा।

चित्र ७६

परीक्षक पात्र अ और पात्र ब को चित्र ७६ दिखाकर यह कहता है . "लोग इस मस्याकृति (Ink Blot) मे तरह तरह की चीजें देखते है। आपको क्या दिखाई पड़ता है? आप कैसे देखते है और आपके देखने का क्या अर्थ है? अपने देखने के आधार पर आप क्या सोचते है? आप मस्याकृति को जिधर से घुमाकर देखना चाहे देख सकते है। आप मस्याकृति के विषय मे जो सोचते हो, जिस तरह सोचते हो, जितनी बार सोचते हो, सब कह सकते है।"

पात्र अ का उत्तर—मै दो आदमियो को आमने-सामने मुँह किए अँगीठी तापते हुए देखता हूँ। मालम होता है कि दोनो शिकार खेलकर आए है और शिकार के हिस्सा-बाँट के लिए आपस में बहस कर रहे हैं।

पात्र ब का उत्तर—यह एक ऐसे लड़के का चित्र है जो दूसरे लडके से कुछ छीन रहा है।

उत्तरो का मूल्याकन तीन प्रकार से किया जाता है

(१) पात्र ने क्या देखा? पात्र अ ने 'दो आदमी' और पात्र ब ने 'दो लड़के' देखे। दूसरे शब्दों में दोनो पात्रो ने मनुष्य देखे।

(२) पात्र ने मस्याकृति को कैसे देखा? पात्र अ ने दोनो आदमियो को अँगीठी तापते और शिकार खेल कर आए' देखा और पात्र ब ने एक लड़के को दूसरे लड़के से 'कुछ छीनते' देखा।

(३) पात्रो के देखने के पीछे कितनी वास्तविकता थी ? यद्यपि मस्याकृति की आकृतियाँ मनुष्यो से पूर्ण समानता नही रखती फिर भी वे बहुत कुछ मनुष्यो के समान है। दोनो पात्रो ने मस्याकृति (Ink Blot) में मनुष्य देखे और उनका 'देखना' वास्तविकता से ज्यादा दूर नही था। अगर कोई पात्र मस्याकृति में बाजा या घोड़ा 'देखता' तो उसका 'देखना' वास्तविकता से बहुत दूर होता।

पात्र अ और ब दोनो ने मस्याकृति में मनुष्य देखे। मनुष्यो को देखना प्रत्यक्ष अनुभव से सम्बन्धित होता है। किन्तु कुछ पात्र ऐसे भी होते है जो देश-काल की भौगोलिक सीमाओ के बाहर जाकर 'देखते' है और उनके देखने का उनके प्रत्यक्ष अनुभव से कोई सम्बन्ध नही होता। उदाहरण के लिए कोई पात्र मस्याकृति (Ink Blot) में 'नरक मे दो दैत्यो का मिलन' भी देख सकता है। उसका ऐसा देखना वास्तविकता के समीप तो होगा क्योकि दैत्यो के रूप की कल्पना मानवीय रूप में जाती है किन्तु इस तरह देखने का पात्र के अनुभव से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होगा। अगर कोई पात्र मस्याकृति में 'नरक में दो दैत्यो का मिलन' देखे तो एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न पैदा हो जाता है. पात्र ने भौतिक जगत के अनुभवो की उपेक्षा करते हुए एक ऐसे मनोवैज्ञानिक जगत का निर्माण क्यो किया जिसका दैनिक अनुभव से कोई सम्बन्ध नही है ?

क्या इस प्रश्न का उत्तर पात्र के उद्देश्यात्मक सगठन की दिशा की ओर सकेत नही करता ? पात्र मस्याकृति में जो कुछ देखता है वह सयोग की बात नही होती। पात्र का 'देखना' वास्तविक या काल्पनिक रूप से उसकी मनोवैज्ञानिक क्रियाओ का परिचायक होता है। मानवीय परिवेश के असख्य पक्ष होते है और इसीलिए मानवीय व्यवहार में बहुत बडी विभिन्नता और विचित्रता होती है। प्रकृत व्यक्ति दसो मस्याकृतियो में परिवेश के अनेक पक्ष और उनके प्रति की जाने वाली क्रियाएँ देखता है। किन्तु मस्याकृतियो में अगर किसी व्यक्ति के 'देखने' के किसी विशेष पक्ष की ही प्रधानता हो तो स्पष्ट है कि वह व्यक्ति अपने 'देखने' से सम्बन्धित व्यवहार या सतुलन के पक्ष से अतिशय प्रभावित है। उदाहरण के लिए अगर पात्र अ मस्याकृतियो में 'शिकार' 'हिस्सा-बाँट' 'बहस करना' या उन्ही की सामानार्थक अन्य क्रियाएँ देखे तो उसका 'देखना' अवश्य ही तत्सम्बन्धी क्रियाओ से उत्पन्न होने वाली और पात्र के उद्देश्यात्मक सगठन को असतुलित बना देने वाली किसी समस्या से प्रभावित होगा।

मस्याकृति परीक्षण के मूल्याकन में प्रतिक्रिया-समय का बड़ा महत्व होता है। मानसिक रोगी के लिए मस्याकृति (Ink Blot) परीक्षण एक कठिन

और थका देने वाली स्थिति होती है जिससे उसे मस्याकृति पर प्रक्षेपण (Projection) करके अपने मानसिक जगत का निर्माण करने में बहुत समय लगता है। परीक्षण में लगने वाली देर का दुखदायी ज्ञान रोगी को स्वयं रहता है और वह ज्ञान भी रोगी के मानसिक जगत का एक अंग होता है। प्रत्येक मस्याकृति रोगी के मन मे लगातार तनाव उत्पन्न करती जाती है और तनाव से जल्दी छुटकारा पाने के लिए रोगी पहली मस्याकृति पर जैसा प्रक्षेपण करता है दूसरी मस्याकृतियो पर उसी की पुनरावृत्ति करने लगता है। प्रतिक्रिया-समय में देर लगना इस वात का सकेत होता है कि पात्र की मनोवृत्ति जडतामय है जिससे उसमें आसानी से परिवर्तन या सशोधन नही हो सकता और पात्र के देखने के ढग में कुछ ऐसा स्थायित्व है जो परिवर्तित स्थितियो के अनुरूप शीघ्रतापूर्वक पुनर्व्यवस्थित नही हो पाता।

परीक्षण के मूल्याकन में इस वात का भी बहुत महत्व होता है कि पात्र ने अपने मानसिक जगत का निर्माण पूरी मस्याकृति के आधार पर किया या उसके किसी खण्ड के आधार पर। अगर पात्र मस्याकृति के किसी विशेष खण्ड को ही देखता है तो इसका अर्थ यह है कि उसमे स्थितियो के अन्तर्सम्बन्ध को देखने की क्षमता नही है या वह उसकी अवहेलना करता है। ऐसा पात्र स्थिति के गौण पक्षो से इतना चिपका है रहता कि मुख्य पक्षो पर उसकी दृष्टि नही पड पाती और व्यावहारिक जीवन मे यह उसके हित में नही होता।

ऊपर कौतूहल और जिज्ञासा शान्त करने के लिए मस्याकृति परीक्षण का बहुत साधारण-सा वर्णन कर दिया गया है। वैज्ञानिक रूप में मस्याकृति परीक्षण वहुत जटिल होता है इसलिए उसको समझने और करने के लिए काफी अनुभव की अपेक्षा होती है।

कथानक-पूर्ति परीक्षण—एक और प्रक्षेपण विधि को कथानक-पूर्ति परीक्षण (Thematic Apperception Test) कहा जाता है। कथानक-पूर्ति परीक्षण में कई ऐसे माननिरूपित चित्र होते है जिनमें कोई न कोई घटना कथानक के रूप में अकित रहती है। पात्र को वे चित्र दिखाए जाते है और उससे उन चित्रो द्वारा इंगित कथानको की पूर्ति करने को कहा जाता है।

कथानक-पूर्ति परीक्षण का वही आधार है जो मस्याकृति (Ink Blot) परीक्षण का है। कथानक-पूर्ति परीक्षण में भी पात्र अनजाने में कथानक-पूर्ति अपने गहन मन में सचित पूर्व-अनुभवो के प्रक्षेपण के आधार पर करता है जिससे उसके व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक संगठन की दिशा का निश्चित आभास मिल जाता है। एक मूर्त उदाहरण लीजिए :

परीक्षक पात्र को चित्र ७७ दिखाकर यह कहता है . "चित्र मे अकित कथानक के पीछे क्या कारण हो सकता है, चित्राकित पात्र क्या अनुभव कर रहा

चित्र ७७

है और उसके सोचने की दिशा क्या है और उसका क्या परिणाम हो सकता है ?" देखिए कि तीन पात्रों ने चित्र ७७ के कथानक की पूर्त्ति कैसे की ?

पात्र १—इस लडकी ने कोई ऐसा काम कर डाला है जिसे वह घर में किसी से बताना नही चाहती क्योकि घरवाले उस पर बहुत विश्वास करते है और अपने मन का भेद बताकर वह उनके विश्वास को तोड़ना नही चाहती, इसलिए बेहद परेशान है ।

पात्र २—यह लडकी अपने पिता से बेहद प्यार करती है और इसके मर जाने पर शोकाकुल होकर विलाप कर रही है ।

पात्र ३—इस स्त्री को इसके पति ने किसी अन्य पुरुष के साथ प्रेमालाप करते देख लिया है जिससे वह अपने किए पर पश्चात्ताप करके रो रही है ।

कथानक-पूर्त्ति परीक्षण (Thematic Apperception Test) के विभिन्न चित्रो में अलग अलग स्थितियाँ दी हुई होती है। प्रकृत व्यक्ति के

चिन्तन की दिशा बहुमुखी होती है जिससे उसे स्थिति विशेष के अनुरूप चिंतन कर सकने में कोई कठिनाई नही होती। हमारे सोचने पर अचेतन प्रेरकों और तीव्र रागात्मक अनुभवो का निश्चित प्रभाव पड़ता है। अगर किसी पात्र द्वारा अधिकाश चित्रो में अकित विभिन्न स्थितियो की कथानक पूर्त्ति के लिए केवल एक ही दिशा मे सोचने की प्रधानता हो तो निश्चित है कि उसके व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक सगठन पर कोई विशेष अचेतन प्रेरक या तीव्र रागात्मक अनुभव ज्यादा प्रभाव डाल रहा है जिससे वह स्वस्थ और प्रकृत रूप से बहुमुखी दिशाओ में सोच-विचार करने योग्य नही रह गया है।

पात्र १ और २ ने चित्र ७७ मे 'लड़कियाँ' देखी और पात्र ३ ने 'स्त्री' देखी। पात्र १ ने एक लड़की से प्रेम करना शुरू किया था किन्तु लड़की उसे सीमा से आगे नही वढने देना चाहती थी। पात्र १ के बहुत आग्रह करने पर लड़की मानती तो नही थी किन्तु वेहद परेशान हो जाया करती थी। पात्र १ द्वारा कथानक-पूर्त्ति पर उसकी तीव्र रागात्मक मनोदशा का स्पष्ट प्रभाव मौजूद है। पात्र २ एक लडकी है जिसकी माँ वचपन मे ही मर चुकी थी जिसका लड़की को वड़ा दुख था। लडकी का पिता काफी वृद्ध और मरणासन्न था। लड़की को हमेशा यह चिन्ता घेरे रहती थी कि पिता के मरने के वाद उसका क्या होगा। लड़की (पात्र २) द्वारा की गई कथानक-पूर्त्ति निस्सन्देह उसके इसी समस्या-मूलक विचार से सापेक्षीकृत है। पात्र ३ एक विवाहित व्यक्ति है जिसे अपनी स्त्री के चरित्र पर सन्देह है और वह हमेशा अपने सन्देह की पुष्टि का मौका ढूँढता रहता है। उसकी इस मनोवृत्ति को उसके द्वारा की गई कथानक-पूर्त्ति में देखा जा सकता है। अपनी स्त्री पर सन्देह करने के कारण वह चित्र ७७ में पात्र १ और २ की तरह 'लड़की' न देखकर 'स्त्री' देखता है।

यद्यपि प्रक्षेपण विधियो से व्यक्तित्व के उद्देश्यात्मक सगठन की दिशा को शत प्रतिशत तो नही जाना जा सकता और वैज्ञानिक दृष्टि से एक सीमा के वाहर परीक्षण के परिणामो पर भरोसा भी नही किया जा सकता तो भी व्यक्तित्व को जानने के लिए प्रक्षेपण-विधियो का महत्व कम नही है।

प्रासंगिक पुस्तकें

CHAP I

Alexander, Fundamentals of Psychoanalysis
Freud, S , New Introductory Lectures on Psychoanalysis.
Gray, J S , Psychology Applied to Human Affairs.
Hurlock, E B , Developmental Psychology.
Kohler, W , Gestalt Psychology
Munn N L , Psychology . The Fundamentals of Human Adjustment
Murphy, G , A Historical Introduction to Psychology.
Ruch, F L , Psychology and Life
Woodworth, R S , Contemporary Schools of Psychology.

CHAP 2

Andrews, T G (Ed) Methods of Psychology.
Brown, C. W & Ghiselli, E. E., Scientific Methods in Psychology
Gardner, E , Fundamentals of Neurology.
Heberle, R , Social Movements
Klineberg, O , Social Psychology .
Newcomb, T. M , Social Psychology
Rubinstein, E A and Lorr, M (Eds), Survey of Clinical Practice in Psychology
Richards, T W , Modern Clinical Psychology.
Underwood, B J etc , Elementary Statistics
Woodworth, R S and Schloberg, H. Experimental Psychology.

CHAP. 3.

Campbell, C M , Human Personality and the Environment
Goldschmidt, R. B , Understanding Heredity.
Munn, N L , Evolution and Growth of Human Behaviour.
Zubek J. and Solberg, P. A., Human Development.

CHAP. 4.

Beach, F. A., Hormones and Behaviour.
Fulton J. F. Physiology of the Nervous System.
Jung, C G., Psychology of the Unconscious.
Penfield, W , The Physical Basis of Mind.
Prince M., The Unconscious.

CHAP. 5 and 6

Blake, R. R and Ramsey, G. U. (Eds), Perception : An Approach to Personality
Evans, R M , An Introduction to Color
Geldard, F. A , The Human Senses
Gibson, J. J , The Perception of the Visual World.
Wever, E. G , Theory of Hearing

CHAP 7.

Bruce, H A., Sleep and Sleeplessness.
Freud, S., Beyond the Pleasure Principle.
Three Contribution to the Theory of Sex.
Hebb, D. O., Organisation of Behaviour.
Symonds, P. M , Dynamic Psychology.
Sidis; B , An Experimental Study of Sleep.
Timbergen, N., The Study of Instinct.

CHAP. 8.

Reymert, M. L (Ed), Feelings and Emotions.
Ruckmick, C. A , The Psychology of Feelings and Emotions
Sterba, R , Introduction to the Psycho-analytic Theory of the Libido

CHAP. 9.

Freud, S., Psychopathology of Everyday Life.
Civilisation and its Discontents.
Hall, C. S., A Primer of Freudian Psychology.
Jung, C. G , Modern Man in Search of a Soul
Symonds, P. M The Ego and the Self

CHAP. 10

Deese, James, The Psychology of Learning.
Guthrie, E R , The Psychology of Learning.

Garret, H. E., Great Experiments in Psychology.
Hilgard, E. R., Theories of Learning
Mowrer, O H, Learning Theory and Personality Dynamics.
Pavlov, I P, Lectures on Conditioned Reflexes
Tolman, E C., Purposive Behaviour in Animals and Men

CHAP. 11

Barlett, F C., Remembering · A Study in Experimental and Social Psychology
Ebbinghaus, H, Memory
Ellis, W D, A Source Book of Gestaet Psyohology
James, Wm, Principles of Psychology, Vols I and II

CHAP. 12

Freud, S., The Interpretation of Dreams.
Jones, Ernest, On the Nightmare.
Jaensch, E. R, Eidetic Imagery
L Levy-Bruhl, Primitive Mentality.
Nicoll Maurice, Dream Psychology
Stekel, W, Interpretation of Dreams.
Wertheimer, M, Productive Thinking

CHAP 13

Anastasi, A and Foley, J P Jr, Differential Psychology
Bagby. E, The Psychology of Personality.
Blum, G, S, Psycho-analytic Theories of Personality
Eyesenck, H J, The Scientific Study of Personality.
Freud, S. The Ego and the Id,
Freeman, F S, Theory and Practice of Psychological Testing.
Goddard H H Feeblemindedness Its Causes and Consequences
Jung, C G, Integration of the Personality
Psychological Types
Analytic Psychology.
Jennings, H S, The Biological Basis of Human Nature.
Murphy, G, Personality.

CHAP. 14

Dorcus, R. M and Shaffer, G. W, Textbook of Abnormal Psychology.

Fisher, V. E., An Introduction to Abnormal Psychology.
Klein D B, Abnormal Psychology.
McDougall Wm, Outline of Abnormal Psychology.
Noyes, A P A Textbook of Psychiatry.
Page, J D., Abnormal Psychology
White, Wm, Outline of Psychiatry.

CHAP. 15

Bagby, E, The Etiology of Phobias (Jour. of Abnor. Psychology, 1922, Vol. 17).
Frink, H. W., Morbid Fears and Compulsions.
Fenichel, Otto, The Psychoanalytical Theory of Neurosis.
Hollingworth, H. L., The Psychology of Functional Neuroses

CHAP. 16

Cameron, N., Psychology of the Behaviour Disorder.
Freud, S., Collected Papers, Vols II, IV, V.
Janet, P., Major Symptoms of Hysteria
Kretschmer, E, Hysteria.
Sidis, B. and Goodhart, S. P, Multiple Personality

CHAP 17

Bleuler, E, Textbook of Psychiatry
Farrar, C B and Franks, R M, "Menopause and Psychosis," (Amer. Jour of Psychiat, 1931, 10, 1031-44)
Kretschmer, E, Physique and Character.
Stoddart, W. H. B, Mind and Its Disorders.

CHAP 18

Beck, S. J, Personality Structure in Schizophrenia
Boisen, A T., The Exploration of the Inner World.
Hoskins R G, The Biology of Schizophrenia
Kallmann, F. J, The Genetics of Schizophrenia.
Kasanin, J. S, (Ed), Language and Thought in Schizophrenia
Landis, C, and Page, J. D, Modern Society and Mental Disease.

CHAP. 19

Coleman, J C. Abnormal Psychology and Modern Life.

Dodge, R and Benedict, F G, Psychological Effects of Alcohol

J McV. Hunt (Ed) Personality and the Behaviour Disorders

Rosanoff, A, Manual of Psychiatry and Mental Hygiene.

Snygg D. and Combs, A. W, Individual Behaviour

CHAP. 20

Bramwell, J. M, Hypnotism, Its History, Practice and Theory

Hull C L. Hypnosis and Suggestibility

Le Cron, L M and Bourdeaux, J, Hypnotism Today.

Moll, A, Hypnotism

CHAP 21

Frank, L K, Projective Methods

Harrower, M., Appraising Personality

Klopfer, B and Kelley, D M The Rorschach Technique

निर्देशिका